अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय

(एक गवेषणात्मक अध्ययन)

प्रयाग विश्व-विद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिये स्वीकृत

लेखक

डा० दीनदयालु गुप्त, एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट्०

हिन्दी-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय
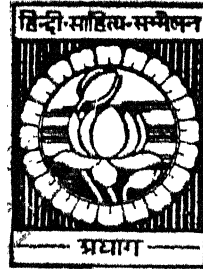
प्रकाशक

हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक
हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग

मूल्य २०) दो भाग

[सम्वत् २००४

मुद्रक
भार्गव-प्रिंटिंग-वर्क्स, लखनऊ

भाग २

विषय-सूची

भाग २

पञ्चम अध्याय

दार्शनिक विचार (३९३—५१५)

षष्ठ अध्याय

भक्ति (५१६-६६२)

सप्तम अध्याय

काव्य-समीक्षा (६९३-८९५)

नन्ददास के प्रामाणिक ग्रन्थों का विशेष विवरण तथा काव्य समीक्षा

विषय-सूची

परिशिष्ट

चित्र-तालिकादि सूची

संक्षेप और संकेत

इन ग्रन्थों का विशेष विवरण सहायक ग्रन्थों की सूची में भी दिया हुआ है।

अष्टछाप	सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा	अष्टछाप, डा० वर्मा
अष्टछाप	प्रकाशक विद्या-विभाग काँकरौली	अष्टछाप, काँकरौली
इम्पीरियल फ़रमान्स	सम्पादक के० एम्० झावेरी बम्बई	इम्पीरियल फ़रमान्स झावेरी
कीर्तन-सङ्ग्रह	प्रकाशक लल्लूभाई छगनलाल देसाई	कीर्त्तनसङ्ग्रह, देसाई
गीता-रहस्य	लेखक लोकमान्य तिलक	गीता-रहस्य
नन्ददास, दो भाग	सम्पादक उमाशङ्कर शुक्ल	नन्ददास, शुक्ल
साहित्य-लहरी	सङ्ग्रहकर्त्ता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्रकाशक खड्गविलास प्रेस सम्पादक रामदीनसिंह	साहित्यलहरी रामदीनसिंह
भक्तमाल	टीकाकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	भारतेन्दु, भक्तमाल
भक्तमाल भक्तिसुधा-स्वादतिलक	टीकाकार श्री सीताराम शरण भगवानदास रूपकला, संस्करण सन् १९३७	भक्तमाल भक्ति-स्वाद-तिलक, रूपकला
भँवरगीत	ले० नन्ददास, सम्पादक विश्वम्भर-नाथ मेहरोत्रा	भँवरगीत मेहरोत्रा
सूरसागर	प्रकाशक वेंकटेश्वर प्रेस, १९६४ वि० संस्करण	सूरसागर, वें० प्रे०
हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज रिपोर्ट	नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी	ना० प्र० स० खोज रिपोर्ट या खो० रि०
नन्ददास-पदावली	लेखक का निजी सङ्ग्रह तथा संग्रह पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी मथुरा और विद्या-विभाग, काँकरौली	ले० नि० नन्ददास पद-संग्रह
पद-सङ्ग्रह कुम्भनदास	लेखक का निजी सङ्ग्रह, मूलप्रति विद्याविभाग, काँकरौली तथा निज पुस्तकालय, नाथद्वार में	ले० नि० कुम्भनदास पद-संग्रह
पद-सङ्ग्रह कृष्णदास	लेखक का निजी सङ्ग्रह, मूलप्रति विद्या-विभाग, काँकरौली तथा निज पुस्तकालय, नाथद्वार में	ले० नि० कृष्णदास पद-संग्रह
पदसंग्रह गोविंदस्वामी	लेखक का निजी सङ्ग्रह, मूलप्रति विद्याविभाग, काँकरौली तथा निज पुस्तकालय, नाथद्वार में	ले० नि० गोविंद स्वामी पद-संग्रह

पद-संग्रह चतुर्भुजदास	लेखक का निजी सङ्ग्रह, मूलप्रति विद्याविभाग, काँकरौली तथा निज पुस्तकालय, नाथद्वार में	ले० नि० चतुर्भुजदास पद-संग्रह
पद-संग्रह छीतस्वामी	लेखक का निजी सङ्ग्रह, मूलप्रति विद्या विभाग, काँकरौली तथा निज पुस्तकालय, नाथद्वार में	ले० नि० छीतस्वामी पद-संग्रह
पद-संग्रह नन्ददास	लेखक का निजी सङ्ग्रह, मूलप्रति विद्याविभाग, काँकरौली तथा निज पुस्तकालय, नाथद्वार में	ले० नि० नन्ददास पद-संग्रह
पद-संग्रह परमानन्ददास	लेखक का निजी सङ्ग्रह, मूलप्रति विद्याविभाग, काँकरौली तथा निज पुस्तकालय, नाथद्वार में	ले० नि० परमानन्द दास पद-संग्रह
तत्वदीप निबन्ध शा- स्त्रार्थ प्रकरण फलप्रक- रण भागवतार्थ प्रकरण	लेखक श्रीमद् वल्लभाचार्य संशोधक पं० गोकुलदास कोटा प्रकाशक पं० श्रीधर शिवलाल जी, ज्ञान सागर यन्त्रालय बम्बई	त० दी० नि० बम्बई
नाट्य-शास्त्र	लेखक महामुनि भरत सम्पादक एम० रामकृष्ण कवि, प्रकाशक सेंट्रल लाइब्रेरी बरौदा, संस्करण १९२६ ई०	नाट्य शास्त्र, भरत प्र० सें० ला० बरौदा
निम्बादित्य दशश्लोकी सिद्धान्त कुसुमाञ्जलिभाष्य	श्रीहरिव्यासदेव प्रणीत प्रकाशक निर्णय सागर प्रेस	निम्बादित्य दशश्लोकी हरिव्यासदेव
लघु भागवतामृत	लेखक श्री रूप गोस्वामी	लघु भागवतामृत
वल्लभ-दिग्विजय	लेखक गोस्वामी यदुनाथ जी, अनुवादक, पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, नाथद्वार से प्रकाशित	वल्लभ-दिग्विजय
श्रीमद्भगवद्गीता	प्रकाशक गीता प्रेस, गोरखपुर	गीता
श्रीमद्भागवत	प्रकाशक गीताप्रेस, गोरखपुर	भागवत
सिद्धान्तलेश	लेखक अप्पय दीक्षित प्रकाशक अच्युत ग्रन्थमाला, काशी	सिद्धान्त लेश, अच्युत ग्र० माला
अकबर दि ग्रेट मुगल	लेखक विन्सेंटस्मिथ	अकबर दि ग्रेट मुगल स्मिथ
वैष्णविज़्म शैविज़्म एण्ड माइनर रेलिजस् सिस्टेम्स्	लेखक सर आर० जी० भण्डारकर	वैष्णविज़्म, शैविज़्म भण्डारकर

पञ्चम अध्याय

दार्शनिक विचार

शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद अथवा पुष्टिमार्ग

पीछे कहा गया है कि श्री वल्लभाचार्य जी ने जिस मत का प्रचार किया था वह पुष्टि-मार्ग कहलाता है। तात्त्विक दृष्टि से इस सम्प्रदाय को शुद्धाद्वैत सिद्धान्तवादी[1], ब्रह्मवादी[2] तथा अविकृत परिणामवादी[3] कहते हैं; और साधन की दृष्टि से यह मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है। श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने 'पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा भेद' नामक ग्रन्थ में तीन मार्ग बताए हैं—(१) मर्यादा मार्ग (२) प्रवाह मार्ग (३) पुष्टिमार्ग।

१—शुद्धाद्वैतवाद—यहाँ 'शुद्ध' का अर्थ है, माया के सम्बन्ध से रहित। माया के सम्बन्ध से रहित ब्रह्म ही जगत का कारण और वही कार्य है। माया-शबलित ब्रह्म कारण और कार्य नहीं है।

> माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
> कार्यकारणरूपं हि शुद्धब्रह्म न मायिकम्॥ २८॥
>
> —शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, श्री गिरिधरजी

२—ब्रह्मवाद—सब कुछ ब्रह्म ही है। जीव ब्रह्म रूप है, यह जगत भी ब्रह्म-रूप है और इसी से ये दोनों सत्य हैं। (सर्वं ब्रह्म इतिवादः ब्रह्मवादः तेन।)

> आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा। १७९।
> इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथा मतिः।
> अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम्। १८०।
>
> —त० दी० नि०, शास्त्रार्थप्रकरण, सर्वनिर्णय प्रकरण।

"यह सब आत्मा ही है, इसी तरह यह सब ब्रह्म ही है, सम्पूर्ण श्रुतियों का यही अर्थ है। इसी को 'ब्रह्मवाद' कहते हैं और यही, वास्तव में ब्रह्मवाद है। अन्य जो कुछ कहा गया है, वह मोहवश कल्पित है।"

३—अविकृत-परिणामवाद—जगत ब्रह्म का विकाररहित परिणाम है। दूध का परिणाम दही सविकारी है। वह फिर दूध नहीं हो सकता।

१—मर्यादामार्ग—वेद-शास्त्रों के बताये हुए कर्तव्य-मार्ग को मर्यादामार्ग कहा गया है। इस मार्ग में लोकरक्षा और लोकसंग्रह के भाव साथ में अवश्य लगे रहते हैं।

२—प्रवाहमार्ग—संसार के साथ चलने और उसमें प्रवृत्तिकारक साधनों के सम्पादन के मार्ग को प्रवाहमार्ग कहा गया है। इसमें लोग लौकिक काम्य कर्मों में लगे रहते हैं। इस मार्ग का अन्त नहीं है। जब तक सृष्टि है तब तक प्रवाहमार्गीय प्राणी भी इस संसार-चक्र में भ्रमण करते रहेंगे। इस मार्ग में चलकर संसार-यातना से मुक्ति नहीं मिलती।

३—पुष्टि-मार्ग—यह मार्ग भगवान् के अनुग्रह अथवा पुष्टि का मार्ग है। इसके अनुयायियों का मुख्य साध्य भगवान् की कृपा द्वारा भगवद्प्रेम प्राप्त करना है। यह मार्ग निस्साधन भक्तों के लिए, वल्लभसम्प्रदाय में, उच्चतम मार्ग कहा गया है। पुष्टिमार्गीय जीव शुद्ध और मिश्र, दो प्रकार के वल्लभाचार्य जी ने बताये हैं,[1]। मिश्र पुष्टि-मार्गीय जीव भी तीन प्रकार के हैं—प्रवाही-पुष्ट-भक्त, मर्यादा-पुष्ट-भक्त और पुष्टि-पुष्ट-भक्त। जो भगवान् के अनुग्रह का थोड़ा आश्रय लेकर प्रवाह-मार्ग में चलते हैं और कर्म में प्रीति रखते हैं, वे प्रवाही-पुष्ट-भक्त कहलाते हैं; जो भगवत्-अनुग्रह का सहारा लेकर मर्यादानुसार भगवान् के गुणों को जानते हुये कर्म करते है, वे मर्यादापुष्ट-भक्त हैं और जो केवल भगवान् के अनुग्रह का अवलम्बन लेते हैं वे पुष्टि-पुष्ट-भक्त हैं। जो भक्त भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त प्रेम से शुद्ध हो गये हैं वे शुद्ध-पुष्ट-भक्त हैं। इस प्रकार भगवान् के भक्त जीवों के वल्लभाचार्य जी ने निम्नलिखित चार भेद किये हैं :—

१—प्रवाही-पुष्ट-भक्त	३—पुष्टि-पुष्ट-भक्त
२—मर्यादा-पुष्ट-भक्त	४—शुद्ध-पुष्ट-भक्त

श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने ग्रन्थ 'अणु-भाष्य' में कहा है—'पुष्टि-मार्ग भगवान् के एक अनुग्रह से ही साध्य है'[2]। उनके 'तत्त्वदीप निबन्ध' नामक ग्रन्थ के भागवतार्थ प्रकरण

१—तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्। १२।
× × ×
तेहि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्रास्त्रिधा पुनः
प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये। १४।
पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णाऽतिदुर्लभाः १५।
—पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा।

२—पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः,—अणुभाष्य, चतुर्थ अध्याय, चतुर्थ पाद, सूत्र ९ टीका।

में भी यही लिखा है—'श्री कृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है'[1] आचार्य जी ने सिद्धान्त-मुक्तावलि'[2] ग्रन्थ में भी इस भगवत्-कृपा को ही भक्त का सब से बड़ा नियामक कहा है। इस प्रकार भगवान् के अनुग्रह अथवा पुष्टि के मार्ग को पुष्टिमार्ग कहा गया है। स्नेहपूर्वक भगवान् की सेवा तथा प्रभु-कृपा अथवा पुष्टि-जन्य प्रेम ही इस सम्प्रदाय की साध्य वस्तु है। इस सम्प्रदाय के अनुसार मोक्ष-सुख की अवस्था भगवान् की कृपा से ही मिलती है। श्री हरिराय जी ने अपने 'श्री पुष्टि-मार्ग-लक्षणानि' नामक लेख में पुष्टि-मार्ग का परिचय दिया है। वे कहते हैं,—'जिस मार्ग में लौकिक तथा अलौकिक, सकाम अथवा निष्काम सब साधनों का अभाव ही श्रीकृष्ण के स्वरूप-प्राप्ति में साधन है अथवा जहाँ जो फल है वही साधन है, उसे पुष्टिमार्ग कहते हैं। और जिस मार्ग में सर्वसिद्धियों का हेतु भगवान् का अनुग्रह ही है, जहाँ, देह के अनेक सम्बन्ध ही साधन-रूप बनकर भगवान् की इच्छा के बल पर फल-रूप सम्बन्ध बनते हैं, जिस मार्ग में भगवद्-विरह-अवस्था में भगवान् की लीला के अनुभवमात्र से संयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है, और जिस मार्ग में सर्व भावों में लौकिक विषय का त्याग है और उन भावों के सहित देहादि का भगवान् को समर्पण है, वह पुष्टिमार्ग कहलाता है।'[3]

कुछ लोगों ने पुष्टिमार्ग को 'खाओ पीओ और पुष्ट रहो' सिद्धान्त के माननेवाला विलासी मार्ग बता कर, उस पर अनेक लाञ्छन और आक्षेपों का आरोप भी किया है और कहा है कि इस मार्ग के अनुयायी विषय सुख की ओर ध्यान देते हुये, शरीर और इन्द्रियों के पोषण को ही अपना ध्येय बनाते हैं। श्री वल्लभाचार्य तथा उनके बाद के महान्

१—कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः,—तत्व-दीप-निबन्ध, भागवतार्थ प्रकरण।

२—अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः। १८।
—सिद्धान्त-मुक्तावलि, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा।

३—सर्वसाधनराहित्यं फलाप्तौ यत्र साधनम्।
फलं वा साधनं यत्र पुष्टिमार्गः स कथ्यते। १।
अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी।
न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते। २।
सम्बन्धः साधनं यत्र फलं सम्बन्ध एव हि।
सोऽपि कृष्णेच्छया जातः पुष्टिमार्गः स कथ्यते।१०।
यत्र वा सुखसम्बन्धो वियोगे संगमादपि।
सर्वलीलानुभवतः पुष्टिमार्गः स कथ्यते।१२।
समस्त विषयत्यागः सर्वभावेन यत्र वै।
समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः स कथ्यते।१४।
—श्री पुष्टिमार्ग लक्षणानि, श्रीहरिराय वाङ्मुक्तावली, भाग १, नडियाद, पृ० ११९—१२१।

आचार्यों द्वारा लिखित ग्रन्थों के देखने से पता चलता है कि वास्तव में पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों में विषय-सुख के पोषण का कहीं भी आदेश नहीं दिया गया। आचार्य जी ने तो कई स्थलों पर अपने ग्रन्थों में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सांसारिक विषयों में मनुष्य को कभी आसक्त नहीं होना चाहिए। 'संन्यास-निर्णय' ग्रन्थ में उन्होंने कहा है,—'जिनका मन विषयों से आक्रान्त है उनमें प्रभु-प्रेरणा का आवेश कभी नहीं होता।'[१] उनके 'विवेकधैर्याश्रय' ग्रन्थ में भी यही भाव है,—'इन्द्रियों के विषयों को शरीर, वाणी तथा मन से त्याग दे। इन्द्रिय-दमन में असमर्थ पुरुष को भी इन्द्रिय-दमन करना चाहिए।'[२] भगवद्-प्रेम-प्राप्ति के लिए उन्होंने सबसे बड़ा बन्धान सांसारिक विषयों का त्याग करना कहा है। 'श्री सुबोधिनी-टीका' में वे कहते हैं,—'जब तक कामादिक दोष नष्ट नहीं होते तब तक भक्ति उत्पन्न नहीं होती।'[३] श्री वल्लभाचार्य जी के बाद श्री विट्ठलनाथ जी ने भी सांसारिक विषयों में अनासक्ति और अन्त में उनके त्याग का ही अपने ग्रन्थों में उपदेश दिया था। इन आचार्यों के कथनों के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के भाषा में लिखनेवाले सूरदास, परमानन्द-दास, नन्ददास आदि बड़े-बड़े भक्त कवियों ने भी संसार की असारता दिखाते हुये लौकिक विषयों से अलग रहने का ही प्रबोधन दिया है और भगवत्-कृपा को ही साधन बताया है। उनके आत्म-दशा-दर्शन तथा अविद्या-माया से छूटने की कामना से युक्त पदों में संसार के विषयों को छोड़ने का ही भाव है।[४]

१—विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वथा हरेः।

—संन्यास-निर्णय, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक ६, पृ० ६२।

२—स्वयमिन्द्रिय कार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत्।
अशूरेणाऽपि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात्।८।

—विवेक-धैर्याश्रय, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, पृ० ६२।

३—कामादिनां शिथिलत्वे भक्तिर्नोत्पत्स्यते।

—श्री सुबोधिनी-टीका, श्री वल्लभाचार्य जी।

४— मनारे करि माधव सों प्रीति।
काम क्रोध मद लोभ मोह तू छाँड़ि सबै विपरीति।

—सूरसागर, वें० प्रे०, पृ० ३१।

जौ लों मन कामना न छूटे।
तौलौं कहा योग यज्ञ व्रत कीने बिनु कन तुस को कूटै।

× × ×

काम क्रोध मद लोभ शत्रु हैं जो इतनो सुनि छूटै,
सूरदास तब ही तम नाशै, ज्ञान अग्नि झर फूटै।

—सूरसागर, वें० प्रे०, पृ० ३७।

पुष्टि-मार्ग के आचार्यों का कहना है कि इस मार्ग के समस्त सिद्धान्त, जिनका प्रचार श्री वल्लभाचार्य जी तथा श्री विट्ठलनाथ जी ने किया था, वेद, उपनिषद, श्रीभागवत, गीता, ब्रह्मसूत्र तथा अन्य अविरोधी शास्त्रों के प्रमाणों पर प्रतिपादित हैं। श्रीवल्लभाचार्य जी ने चार प्रमाण माने हैं। इनको इस सम्प्रदाय में 'प्रस्थान चतुष्टय' कहते हैं।

वेदा: श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधि भाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्।
एतद्विरुद्धं यत्सर्वं न तन्मानं कथंचन।[1]

'चार वेद (ब्राह्मण सहित) श्री गीता में कहे कृष्ण-वाक्य, वेदव्यास जी के रचे ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भागवत की समाधि भाषा[2], ये चार प्रमाण हैं। इनके विरुद्ध अन्य ग्रन्थ मान्य नहीं है।'

ब्रह्म

श्रीवल्लभाचार्य जी ने अपने ग्रन्थ 'तत्वदीप-निबन्ध' के शास्त्रार्थ-प्रकरण में ब्रह्म का बोध कराते हुये कहा है,—'ब्रह्म, सत्, चित् और आनन्द-स्वरूप है। वह व्यापक है, नाश-

---

राग धनासिरी

रे मन सुनि पुरान कहा कीनों।
अनिपावनी भक्ति न उपजी, भूखे दान न दीनों।
काम न बिसर्‍यो क्रोध न बिसर्‍यो लोभ न बिसर्‍यो देवा,
पर निंदा मुखते नहिं बिसरी विफल भई सब सेवा।
× × ×
चरन कमल अनुराग न उपज्यो, भूत दया नहीं पाली।
परमानंद साधु संगति बिनु कथा पुनीत न चाली।
—लेखक के निजी परमानन्द-पद-संग्रह से, पद नं० ३०१।

दार गार सुत पति इन करि कहौ कौन आहि सुख।
बढ़ै रोग सम दिन दिन छिन छिन देंहि महा दुख।
—सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी, 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १८८।

१—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञान सागर, बम्बई, श्लोक ७ तथा ९।
२—भागवत में दो प्रकार का विषय वर्णित है।
क. लोकभाषा—संसार की व्यावहारिक बातें तथा कथाएँ।
ख. समाधिभाषा—ईश्वर, जीव आदि आध्यात्मिक विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली बातें।

रहित और सर्वशक्तिमान् है। वह स्वतन्त्र है, सर्वज्ञ है और गुणों से वर्जित है।[1] इसी ग्रन्थ में आगे आचार्य जी कहते हैं,—'ब्रह्म हजारों नित्य गुणों से युक्त है, वह सजातीय, विजातीय और स्वगत द्वैत रहित है, वह अद्वैत है; अर्थात् सजातीय चेतन-सृष्टि उससे अलग नहीं, विजातीय जड़ सृष्टि उससे भिन्न नहीं और स्वगत अन्तर्यामी रूप भी उससे भिन्न नहीं'।[2] 'ब्रह्म के अनन्त अवयव हैं, सर्वत्र व्याप्त रहते हुये भी उसकी स्थिति है, उसके अनन्त रूप हैं। वह अविभक्त और अनादि है और अपनी इच्छा मात्र से विभक्त होनेवाला भी है।[3] 'वह सम्पूर्ण जगत का आधारभूत है। माया को अपने वशीभूत रखनेवाला, आनन्दाकार और सम्पूर्ण प्रपञ्च पदार्थों से अलग है।[4] 'इस जगत का वही समवायी और वही निमित्त कारण है। वह अपने स्वरूप में और अपनी रचित लीला में नित्य मग्न रहता है'।[5]

जो परमतत्व श्रुतियों में परब्रह्म कहा गया है उसी को वल्लभाचार्य जी ने पुरुषेश्वर पुरुषोत्तम कहा है।[6] 'वह पुरुषेश्वर सर्व शक्तिमान् है। जहाँ जहाँ, जिससे, जिसके लिए

१—सच्चिदानंदरूपं तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम्।
सर्वशक्तिस्वतन्त्रंच सर्वज्ञं गुणवर्जितम्।
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई, पृ० २२१।

२—सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतवर्जितम्।
सत्यादिगुणसाहस्रैर्युक्तमौत्पत्तिकैः सदा।
सजातीय भेद—मनुष्य मनुष्य में भेद।
विजातीय भेद—मनुष्य और पशु में भेद।
स्वगत भेद—अपने ही शरीर के अवयवों में भेद।
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई, पृ० २२१।

३—सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।
अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म ह्यविभक्तं विभक्तिमत्।
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई, पृ० ८७।

४—सर्वाधारं वश्यमायमानंदाकारमुत्तमम्।
प्रापंचिकपदार्थानां सर्वेषां तद्विलक्षणम्।
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई, पृ० २३३।

५—जगतः समवायि स्यात् तदेव च निमित्तकम्।
कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपंचेऽपि क्वचित्सुखम्।
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई, पृ० २३३।

६—यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा,
स्यादिदं भगवान्साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः। ७३।
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई, पृ० २३७।

और जिस सम्बन्ध द्वारा जो जो जब जब होता है, उस देश, उस हेतु, उस सम्बन्ध, उस कार्य और उस पदार्थ के अर्थात् सब कुछ के भगवान् पुरुषोत्तम ही नियन्ता हैं।' 'अनन्त मूर्ति ब्रह्म चल और अचल, दोनों प्रकार का है; वह सम्पूर्ण विरुद्ध धर्मों का आश्रय है।'[1] वल्लभाचार्य जी ने ईश्वर को विरुद्ध धर्मों का आगार कहा है। वह निर्गुण होते हुये भी सगुण है। जो निधर्मक है, वही सधर्मक भी है। जो ब्रह्म मन और वाणी से परे हैं वही योग से, ध्यान से, शुद्ध भाव से, तथा अपनी इच्छा मात्र से गम्य और गोचर भी हो जाता है। तत्व-दीप-निबन्ध में उन्होंने कहा है कि ईश्वर ही जगत का कर्ता है, फिर भी वह सगुण नहीं है। साथ ही, जिन जड़-चेतनों को सगुण कहा गया है, वे भी ब्रह्म के ही अंश हैं।[2] इस प्रकार इस सम्प्रदाय में ईश्वर में विरुद्ध धर्मत्व का भाव माना गया है। वल्लभाचार्य जी का मत है कि ब्रह्म के प्राकृत शरीर और गुण नहीं हैं। इसलिए भी उसे निराकार और निर्गुण कहा गया है। इस विषय को उन्होंने अणु-भाष्य[3] में तृतीय अध्याय के दूसरे पाद में स्पष्ट किया है। तत्व-दीप-निबन्ध में उन्होने कहा है कि ब्रह्म निर्दोष है और सर्व निर्दोष (अप्राकृत) गुणों से युक्त है। वह स्वतन्त्र है और निश्चेतनात्मक (जड़) शरीर के गुणों से रहित है। उसके कर, पाद, मुख आदि अवयव सर्वत्र हैं और आनन्द के बने हुये हैं।[4] ब्रह्म में आविर्भाव और तिरोभाव की शक्ति है। इसी शक्ति से वह एक से अनेक और अनेक से एक होता रहता है।[5] ब्रह्म से ही पदार्थों का आविर्भाव और ब्रह्म में ही उनका

१—अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च।
विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम्।
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई, पृ० २४६।

तथा

अणुभाष्य ३ अध्याय, पाद २, सूत्र २१।

२—स एव हि जगत्कर्ता तथापि सगुणो न हि।
गुणाभिमानिनो ये वै तदंशाः सगुणाः स्मृताः। ८१।
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई, पृ० २७५।

३—प्रकृतैतावत्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः।
—अणु-भाष्य, ३ अध्याय, २ पाद, सूत्र २२।

४—निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो,
निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः
सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा। ४८
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई, पृ० १२८।

५—आविर्भावतिरोभावैर्मोहनं बहुरूपतः।
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई, श्लोक ७६, पृ० २४६

तिरोभाव होता है।[1] श्री भगवद्गीता में भी कृष्ण ने कहा है कि मैं ही सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति का कारण हूँ।[2]

'पुरुषोत्तम सहस्र नाम' में वल्लभाचार्य जी ने ब्रह्म के स्वरूपबोधक अनेक नामों का वर्णन दिया है, यथा—जगत्कर्ता, आदिकर्ता, नानासृष्टि-प्रवर्तक, सर्वाकार, सदानन्द शरीरवान आदि। श्रुतियों का प्रमाण देते हुये उन्होंने अपने ग्रन्थ 'सिद्धान्त-मुक्तावलि' में बताया है—ब्रह्म ही जगत रूप है, यह वेद का मत है"।[3] ईश्वर, जीव और जगत के सम्बन्ध के विषय में वल्लभाचार्य का सिद्धान्त अद्वैतवादी है। वे इन तीनों को अभिन्न मानते हैं। जगत के सब पदार्थ और सब प्राणी उस ब्रह्म से अलग नहीं है।[4] परन्तु शङ्कर मत की अद्वैतता से वल्लभाचार्य की अद्वैतता भिन्न है। शङ्कर-मत में एक ब्रह्म ही सत्य है और सब कल्पना मात्र है। आचार्यजी ने जीव और जगत को ईश्वर के अंश मान कर सत्य माना है। धर्मी ईश्वर और उसके अप्राकृत धर्म अभिन्न है। इसलिए सच्चिदानन्द ब्रह्म धर्म और धर्मी दोनों स्वरूपों में स्थित रहता है। ब्रह्म का धर्म नित्य है और स्वाभाविक है। वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार जड़ जगत्[5] और जीव सृष्टि सच्चिदानन्द ब्रह्म के अंश हैं। जड़तत्व में चिद् और आनन्द दो धर्म तिरोभूत हैं, प्रकट केवल सत् धर्म है, जीव में सत् और

१—आविर्भावतिरोभावौ पदार्थानां यतस्ततः। —त० दी० नि०,।

वल्लभ-सम्प्रदाय में आविर्भाव का अर्थ प्रकट होने का है, नवीन निर्माण का नहीं है, तथा तिरोभाव का अर्थ गुप्त होना अथवा समा जाना है, नाश होने का नहीं। जगत का ब्रह्म में तिरोभाव अर्थात् समावेश होता है, जगत का लयात्मक नाश नहीं होता, इसी प्रकार आविर्भाव के अर्थ में पहिले से ब्रह्म में स्थित ब्रह्मरूप जगत का प्राकट्य होता है। देखिये, त० दी० नि०, सर्वनिर्णय प्रकरण श्लोक १३८-१४०।

२—गीता अध्याय १०, श्लोक ८।

३—तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम्।

—सिद्धान्त-मुक्तावलि, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक ५, पृ० २५।

४—अखंडाद्वैतभाने तु सर्वं ब्रह्मैव नान्यथा।

—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञान सागर, बम्बई, श्लोक ६५, पृ० ३४५।

५—विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि।
आनंदांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः ३२।
सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोरन्यलीनता।
अतएव निराकारौ पूर्वावानन्दलोपतः ३३।
जडो जीवोन्तरात्मेति व्यवहारस्त्रिधा मतः।
विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते ३४।

—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई, पृ० ३२, ३५, ३६।

चिद् दो धर्म प्रकट हैं और आनन्द तिरोभूत है, और उस ब्रह्म का आनन्दांश अन्तरात्मा रूप से प्रत्येक जीव में स्थित है। ब्रह्म अपने तीनों धर्म सच्चिदानन्द सहित अन्तर्यामी रूप से सर्वव्यापाक है। जगत के प्राणी और वस्तुओं में व्याप्त अन्तर्यामी रूप उसी महान् अन्तर्यामी के अंश हैं। जीव-देह में स्थित अन्तर्यामी कर्म अथवा कर्म-फल से अलग रहता है।

शुद्धाद्वैत मार्तण्ड[1] ग्रन्थ में गोस्वामी गिरिधर जी ने भगवद्गीता के इस वाक्य को, 'जिस अव्यक्त[2] को अक्षर कहते हैं; जो परम (अन्त की) गति कहा गया है और जिसे पाकर फिर लौटना नहीं होता, वही मेरा परम स्थान है, उद्धृत करते हुए कहा है कि पूर्ण पुरुषोत्तम का स्थान अक्षर-ब्रह्म है। वस्तुतः इस सम्प्रदाय के अनुसार अक्षर-ब्रह्म तथा अन्तर्यामी ब्रह्म भी पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म के ही स्वरूप हैं। आविर्भाव और तिरोभाव की क्रिया द्वारा अक्षर-ब्रह्म की ही अनेकरूपता होती है। अक्षर-ब्रह्म से ही जीव और जगत की उत्पत्ति है। अक्षर ब्रह्म और परब्रह्म अथवा पूर्ण पुरुषोत्तम अलग-अलग ब्रह्म नहीं हैं, एक परब्रह्म की ही अनेक स्थितियाँ हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म अप्राकृत रूप और अप्राकृत गुणों से युक्त अक्षरधाम में सदैव एकरस, अपने आनन्दाकार में मग्न रहता है। वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार इसी ब्रह्म को एक से अनेक होने की इच्छा हुई और उसने अपने खेल के लिए ही अपना स्वरूप प्रकट किया।[3] वही अक्षर-ब्रह्म बना, जिससे अनेक रूपात्मक सृष्टि की उत्पत्ति हुई। उसकी इच्छाशक्ति ही वल्लभ-सम्प्रदाय में उसकी माया है। यह माया शङ्कर-मत की तरह झूठी नहीं है। परब्रह्म अपनी इच्छा से ही यह खेल रचता है। यह भाव श्री वल्लभाचार्य जी ने 'एकोहंबहुस्याम्[4]' श्रुति के आधार से 'तत्वदीप-निबन्ध' में प्रकट किया है।

'रसोवैसः'[5] परब्रह्म रस है और (सर्व रसः) वह सर्व रस-रूप है, इन श्रुतियों के अनुसार वल्लभ-सम्प्रदाय का पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म आनन्दाकार विग्रह से अक्षर-धाम में

१—शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, श्री गोस्वामी गिरिधरजी, श्लोक ८७।

२—अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।
—भगवद्गीता, अध्याय ८, श्लोक २१

३—अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म ह्यविभक्तं विभक्तिमत्।
बहु स्यां प्रजायेयेति वीक्षा तस्य ह्यभूत्सती। ३०।
तदिच्छामात्रतस्तस्माद्ब्रह्मभूतांशचेतनाः।
सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदिच्छया। ३१।
—ता० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई, पृ० ८७।

४—एकोहं बहुस्याम्।—तैत्तिरीय उपनिषद् २-६।

५—रसो वै सः;—छांदोग्य उपनिषद् ३-१४-२।

अपनी इच्छा-अनुसार अनेक लीला-मग्न रहता है। यह सच्चिदानन्द ब्रह्म नित्य है और उसकी लीला भी नित्य है। अक्षर-ब्रह्म भी सच्चिदानन्द है, परन्तु वह गणितानन्द है। परब्रह्म के अक्षर धाम को गोलोक भी कहा गया है। आनन्दस्वरूप परब्रह्म अपनी आनन्द-प्रसारिणी शक्तियों को अपने में से ही प्रसारित कर अनेक प्रकार की अप्राकृत लीला धारण करता है। अक्षर से परे पुरुषोत्तम का वर्णन श्री मद्भगवद्गीता में भी है, जो ग्रन्थ वल्लभ-सम्प्रदाय में प्रमाण-रूप माना जाता है,—'उत्तम पुरुष तो अन्य ही हैं जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबको धारण और सबका पोषण करता है और अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा कहा जाता है। मैं क्षर से अतीत और अक्षर से भी उत्तम हूँ। लोक में, वेद में, मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।'[1] वल्लभ-सम्प्रदाय में इसी अगणितानन्द रस-रूप पूर्णपुरुषोत्तम के नैकट्य तथा उसकी नित्य-लीला में प्रवेश प्राप्त करने का तथा गणितानन्द अक्षर-ब्रह्म के सायुज्य-लाभ का अर्थात् अंश जीव का अंशी-परमात्मा से मिलन का मार्ग बताया गया है।

रस-रूप पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म छः अप्राकृत धर्मों से व्यक्त है—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। 'तत्वदीप-निबन्ध' में श्रीवल्लभाचार्य जी ने कहा है कि भगवान् की इच्छा से प्रेरित जीव के ऐश्वर्यादि छः गुण तिरोहित हो जाते[2] हैं तभी उसे अन्यथा ज्ञान होने लगता है और वह दुःख का भागी बन जाता है। ईश्वर-भक्ति द्वारा जीव, भगवान् की कृपा को पाता है और उसको उपर्युक्त छः गुण पुनः मिल जाते हैं; तब वह अपने आनन्दस्वरूप को जाननेवाला होकर ब्रह्म के समान हो जाता है। मूल रूप शुद्ध, आनन्दरूप, पूर्णपुरुषोत्तम-परब्रह्म अगणितानन्द है, यह पीछे कहा ही जा चुका है, और अक्षर ब्रह्म गणितानन्द है। उसके रोम-रोम में अनन्त ब्रह्माण्डों का निवास है। सत्रूपा प्रकृति सत्व, रज, तम, इन तीन गुणों से मिलकर परिणाम को ग्रहण करती है। इन तीन प्राकृत गुणों के अतिरिक्त, ब्रह्म की शुद्ध सत् शक्ति के भी वे अप्राकृत तीन गुण हैं। जिस समय अक्षर-ब्रह्म इस जगत को स्थित रखने की इच्छा करता है, उस समय उनका सत्व गुण-युक्त विष्णु रूप स्थित होता है, शुद्ध रजो-गुण से सम्बन्धित ब्रह्मा-रूप है और शुद्ध तमोगुणों से युक्त

१—उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य, बिभर्त्यव्यय ईश्वरः १७।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः। १८।

—श्री भगवद्गीता, अध्याय १५।

२—अस्य जीवस्यैश्वर्यादितिरोहितम्—।

—अणुभाष्य, ३ अध्याय, २ पाद, सूत्र ५ टीका।

उसका शिव-रूप है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश[3], ये अक्षर-ब्रह्म के गुणावतार हैं। इसी प्रकार अक्षर-ब्रह्म के अनेक अंश और कला-रूप से समय समय पर अवतार होते हैं। वल्लभ सम्प्रदाय में ब्रह्म के तीन मुख्य स्वरूप हैं—

क—पूर्ण पुरुषोत्तम, रस रूप, परब्रह्म, श्रीकृष्ण।

ख—अक्षर-ब्रह्म जो गणितानन्द है और अवस्था-भेद से दो प्रकार का है—

अ—पूर्ण पुरुषोत्तम का अक्षर-धाम स्वरूप गणितानन्द अक्षर-ब्रह्म।

आ—अक्षर-ब्रह्म जो काल, कर्म और स्वभाव-रूप[3] में प्रकट होता है तथा प्रकृति और जीव तथा अनेक देवादि रूप में परिणत होनेवाला तथा सृष्टिकर्ता, पालन-कर्ता तथा उसका संहार-कर्त्ता रूप है।

ग—अन्तर्यामी रूप।

वल्लभ-सम्प्रदाय का कहना है कि जहाँ श्रुतियों में ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है वहाँ ब्रह्म प्राकृत गुणरहित है, ऐसा भाव भी है।

वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार श्रीकृष्ण ही पूर्णानन्दस्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म हैं। श्रीवल्लभाचार्य जी ने 'तत्वदीप निबन्ध' के प्रथम श्लोक में परमात्मा की स्तुति करते हुये लिखा है—'अद्भुत अलौकिक कर्म करनेवाले उस कृष्ण को, मैं नमस्कार करता हूँ, जिससे जगत का आविर्भाव हुआ और जो रूप और नामके भेद से इस जगत में रमण कर रहा है।'[4]

१—उत्पत्तिस्थितिनाशानां जगतः कर्तृ वै बृहत्,
वेदेन बोधितं तद्धि नान्यथा भवितुं क्षमम्।
—अणुभाष्य, १ अध्याय, १ पाद, सूत्र २।

२—व्यष्टिः समष्टिः पुरुषो जीवभेदास्त्रयो मताः।
अन्तर्याम्यक्षरं कृष्णो ब्रह्मभेदास्तथा परे।
स्वभावकर्मकालाश्च रुद्रो ब्रह्मा हरिस्तथा। ११६।
—त० दी० नि०, सर्वनिर्णय प्रकरण, श्लोक नं० ११६, पृ० ३१५।

३—अक्षरस्य स्वभावकर्मकाला भेदा रुद्रादयः।
—त० दी० नि०, सर्वनिर्णय प्रकरण, श्लोक ११६, श्रीवल्लभाचार्य विरचित स्वकृत प्रकाशाख्य व्याख्या। तथा व्याख्या श्लोक ६८—१०२ सर्वनिर्णय प्रकरण।

४—नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुत कर्मणे,
रूपनामविभेदेन जगत्क्रीडति यो यतः। १
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, श्लोक १, पृ० १।

'सिद्धान्त-मुक्तावलि' में उन्होंने कहा है—श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं।[१] तथा श्रीकृष्ण के मार्ग में रहनेवाला पुरुष अहंता ममतात्मक संसार के दुख से अलग हो जाता है, इसलिए आनन्द समुद्र में विहार करनेवाले श्रीकृष्ण का स्मरण करना चाहिए।'[२] इस प्रकार वल्लभाचार्य जी ने आनन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ही को मूल परब्रह्म, उन्हीं को अपने मार्ग का इष्ट और उन्हीं की भक्ति को परमानन्द-प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन, माना है।

पुष्टि-मार्ग के पुष्टि-पुरुषोत्तम ब्रह्म और रामानन्दी सम्प्रदाय के मर्यादा पुरुषोत्तम ब्रह्म में अन्तर है। राम का अवतार मर्यादा पुरुषोत्तम का है और कृष्ण का अवतार मर्यादा पुरुषोत्तम और पुष्टि-पुरुषोत्तम रसेश, दोनों का है। ब्रह्म का विष्णु-रूप वेद-मर्यादा की रक्षा तथा सात्विक धर्म के संस्थापन के लिए समय समय पर अवतार लेता है। धर्म-संस्थापन के लिए जो भगवान् का अवतार होता है वह चतुर्व्यूहात्मक है। संसार को केवल आनन्द देने के लिए जो अवतार होता है वह उनका रसरूप है। कृष्णावतार में श्रीकृष्ण ने अपने दोनों रूपों से चतुर्व्यूहात्मक तथा रसात्मक, अवतार लिया था। विष्णु-अवतार देवकीनन्दन रूप से उन्होंने लोक-रक्षा और धर्म की संस्थापना की। वासुदेव रूप मोक्षदाता है, सङ्कर्षण-रूप दुष्टों का संहारकारी है, प्रद्युम्न-रूप सृष्टि का रक्षक, काम और गृहस्थ-रूप है तथा अनिरुद्ध रूप धर्म-रक्षक और धर्मोपदेशक है। अपने रसात्मक रूप से कृष्ण ने अनेक रसात्मक तथा लोक-रञ्जनकारी लीलाएँ कीं। इस प्रकार श्रीकृष्ण के अवतार रूप में दो रूप वल्लभ-सम्प्रदाय में मान्य हैं, एक लोक-वेद प्रथित पुरुषोत्तम और दूसरा लोकवेदातीत पुरुषोत्तम। मथुरा, द्वारिका तथा कुरुक्षेत्र में लीला करने वाले तथा ब्रज में दुष्टों का संहार करने वाले कृष्ण का रूप लोक-वेद प्रथित धर्म-संस्थापक और वेद-रक्षक रूप है तथा बाल-रूप से यशोदा और नन्द को मोहने वाले, वृन्दाबन में ग्वाल-बालों के साथ गाएँ चराने वाले तथा वृन्दा विपिन में गोपियों के साथ रास करने वाले कृष्ण का रूप रसात्मक है। देवकीनन्दन वासुदेव धर्म-रक्षक रूप है और यशोदा और नन्दनन्दन रस-रूप है। वल्लभ सम्प्रदाय में, जैसा कि पीछे कहा गया है, यही रसात्मक रूप, भावात्मक, फलात्मक अथवा स्वरूपात्मक कहा जाता है। ब्रह्म मायातीत है, इसी प्रकार उनका अवतार रूप, चाहे वह अंश, कला, विभूति और अर्चा किसी भी अवतार-रूप में हो, इस मायिक जगत से अलिप्त रहता है। केवल परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम ही इस संसार में अकेला अवतार नहीं लेता; किन्तु वह अपने अक्षर-धाम तथा अपनी अनेक आनन्द-प्रसारिणी शक्तियों सहित अवतरित होता है। उसका लीला-धाम भी मायिक गुणों से अलग रहता

---

[१]—परंब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानंदकं बृहत्।
—सिद्धान्त-मुक्तावलि, श्लोक ३, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, पृ० २४।

[२]—तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः,
आत्मानंदसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्। १९
—सिद्धान्त-मुक्तावलि, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १९ पृ० ३०।

है। ब्रजभूमि रस-रूप भगवान् के लीला-धाम गोलोक या गोकुल का अवतार है। इसलिए पुष्टि-भक्तों की ब्रजभूमि मायिक जगत से परे का लोक है।)

श्री वल्लभाचार्य जी ने जहाँ श्रीकृष्ण की भक्ति का उपदेश दिया है, वहाँ उन्होंने कृष्ण के लिए 'हरि' शब्द का भी प्रयोग किया है। बहुधा लोगों का यह कहना है कि सूरदास आदि कवियों ने भगवान् के लिए हरि शब्द भी लिखा है, इसलिए यह कार्य उन्होंने वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्त के विरुद्ध किया। यह बात निर्मूल है। बाल-बोध ग्रन्थ के आरम्भ में श्री वल्लभाचार्य जी लिखते हैं—

नत्वा हरिं सदानन्दं सर्वसिद्धान्तसंग्रहम्।
बालप्रबोधनार्थाय वदामि, सुविनिश्चितम्॥ १॥

इसी प्रकार उन्होंने अपने अन्य अनेक ग्रन्थों में भी कृष्ण का नाम 'हरि' लिखा है। श्री वल्लभाचार्य जी ने ब्रह्मा, विष्णु और शिव को, ईश्वर (ब्रह्म) का ही रूप कहा है और विष्णु की उपासना को मोक्ष (अहंता ममतात्मक संसार से मुक्ति) देनेवाला कहा है, परन्तु साथ में यही कहा है कि सर्ववस्तुओं सहित आत्मा को भगवान् कृष्ण को अर्पण करने से ब्रह्म-भाव की प्राप्ति होती है।[1] कृष्ण को ब्रह्म-रूप केवल पुष्टिमार्ग ने ही नहीं माना, प्रत्युत जितने साकारोपासना और भक्तिमार्ग के अनुयायी द्वैत अथवा अद्वैतवादी हुये हैं सबने उन्हें परमात्मा-रूप माना है; परन्तु कुछ मार्ग केवल कृष्ण को ही मूल परब्रह्म मानकर उनको ही अपना इष्ट मानते हैं। इसके प्रमाण में गीता और भागवत में कहे हुये श्रीकृष्ण के इस वाक्य—'सब साधनों को त्याग कर तू केवल मेरी ही अनन्य भक्ति कर'—को लेकर इन सम्प्रदायों का यह विश्वास है।

पीछे कहा गया है कि वैष्णव आचार्यों ने श्री शङ्कराचार्य के केवलाद्वैत, मायावाद तथा संन्यास-मार्ग का खण्डन करने के लिए अपने मतों का प्रचार किया था। शङ्कर-मत में शुद्ध ब्रह्म निर्गुण, निधर्मक, निरञ्जन और केवल ज्ञेय है। सगुण, सर्वज्ञ, सर्वशक्तित्व, कर्तृत्व आदि गुण माया-शबलित अथवा माया-उपाधि से आच्छादित ब्रह्म के हैं।[2] अविद्या के कारण माया-शबल चैतन्य को ही जीव जीव-रूप में भासित होता है। व्यवहार-क्षेत्र में ईश्वर, जीव और जगत की सत्ता है, परन्तु वास्तविक रूप में सब भ्रम है और मिथ्या है। शङ्कर-मत में ब्रह्म की अनिर्वचनीय माया ही सम्पूर्ण प्रपञ्च का कारण है। सृष्टि की अनेक

१—मोक्षस्तु विष्णोः सुलभो भोगश्च शिवतस्तथा।
समर्पणेनात्मनो हि तदीयत्वं भवेद्ध्रुवम्॥ १७
—बालबोध, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा' श्लोक १७, पृ० २१

२—सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं मायाशबलमीश्वररूपमेव ब्रह्म उपादानम्।
—सिद्धान्तलेश, अच्युत ग्रन्थ माला, काशी, पृ० ६३।

रूपता और अनेक जीवत्व सत्य नहीं हैं, केवल एक ब्रह्म ही सत्य है। माया के कारण मनुष्य को अनेकरूपता दिखाई देती है। जब माया का आवरण हट जाता है और आत्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान हो जाता है, उस समय ज्ञाता और ज्ञेय दोनों एक हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि "एक शुद्ध बुद्ध नित्य मुक्त ब्रह्म के सिवा दूसरी कोई भी स्वतन्त्र और सत्य वस्तु नहीं है। दृष्टिगोचर भिन्नता मानवी दृष्टि का भ्रम और माया की उपाधि से होनेवाला आभास है।[१]"

अष्टछाप के ब्रह्म-सम्बन्धी विचार

आन्तरिक तथा बाह्य प्रमाणों से यह सिद्ध है कि सूर आदि अष्टछाप-कवि वल्लभ-सम्प्रदायी थे, उनके व्यक्त विचारों में वल्लभ-सम्प्रदाय की ही छाप है।

सूरदास जी के इष्टदेव पूर्ण पुरुषोत्तम श्री कृष्ण हैं जिनके सगुण और निर्गुण दोनों रूप हैं। परब्रह्म श्री कृष्ण इस सम्पूर्ण प्रपञ्च के आदि हैं। वे आदि, अनादि अनूप और सर्वान्तर्यामी हैं। श्रीकृष्ण ही अंश और कला-रूप में अनेक रूप धारण करते हैं। जीवरूप में, जगत रूप में तथा सम्पूर्ण देवता रूप में, जो कुछ भी इस जगत में है, सब उन्हीं का अंश है।

सूरदास

वल्लभ-सिद्धान्त के अनुसार सूर का परब्रह्म भी अंशी है। श्री कृष्ण अखण्ड रस-रूप से अपनी आदि रस-शक्ति राधा के साथ युगल रूप में विहार करते हैं। वे ही अक्षर-ब्रह्म रूप हैं और वे ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। ये सम्पूर्ण रूप उन्हीं से अंश-रूप बन कर प्रसूत हैं। उनके निर्गुण रूप तक हमारा मन और हमारी वाणी नहीं पहुँच सकती; इसलिए उनके सगुण रूप की लीला का गुणगान ही सूर ने आध्यात्मिक सिद्धि का साधन माना है। उक्त विचारों को प्रकट करनेवाले अनेक पद सूरसागर में विद्यमान हैं। वस्तुतः सूर आदि अष्ट कवियों ने वल्लभ-सम्प्रदायी भावों के विरुद्ध कथन नहीं किये। सूर के ईश्वर-सम्बन्धी पदों का आशय देते हुये उनके कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

सोभा अमित अपार अखंडित आप आतमाराम।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम।
आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प अहार।
ऊँकार आदि वेद असुरहन निर्गुन सगुन अपार।

× × × ×

बृन्दाबन निजधाम परमरुचि, बर्णन कियो बढ़ाय।
व्यास पुराण सघन कुंजन में जब सनकादिक आय।

१—गीता-रहस्य, लोक० तिलक, विषय-प्रवेश पृ० १३।

धीर समीर बहत त्यहि कानन बोलत मधुकर मोर।
प्रीतम प्रिया बदन अवलोकन उठि उठि मिलत चकोर।
सहस रूप बहु रूप रूप पुनि एक रूप पुनि दोय।
कुमुद कली विकसित अम्बुज मिलि मधुकर भागी सोय।[1]

× × ×

गोवर्द्धन गिरि रत्न सिंहासन दंपति रस सुख मान।
निबिड़ कुंज जहँ कोऊ न आवत रस विलसत सुख खान।

इस पद में सूरदास जी ने पूर्ण रूप से, ब्रह्म के विषय में, वल्लभ-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म रस-रूप है। ब्रह्म को सगुण और निर्गुण, दोनों बताकर सूर ने ब्रह्म के विरुद्ध धर्मत्व के भाव को स्वीकार किया है। सगुण रूप में वे युगल-रूप से नित्य रास-विहार करते हैं। उनका सौन्दर्य अमित है, उनके अनेक रूप हैं। एक और पद में सूर कहते हैं:—

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
कोटिकल्प बीतत नहि जानत बिहरत युगल-स्वरूप।
सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्री पति नारायन सब हैं अंश गुपाल।[2]

इस पद से विदित है कि सूर ने ब्रह्म, प्रकृति, पुरुष आदि की अद्वैतता स्वीकार की है तथा परब्रह्म और श्रीकृष्ण का एकीकरण किया है, अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्ण ही हैं। वह एक है, रस रूप है, अखण्डित है और अनादि, अनुपम है। सृष्टि के आदि में भी वही था, उससे पहिले अन्य कुछ नहीं था। सृष्टि के सम्पूर्ण तत्व (वल्लभ-सम्प्रदाय तथा सूर ने अट्ठाइस तत्व माने है) ब्रह्माण्ड सम्पूर्ण देवता, माया, प्रकृति तथा आदि पुरुष, श्रीपति लक्ष्मीनारायण ये सब कृष्ण के ही अंश हैं। यहाँ सूरदास ने ब्रह्म को अंशी और सम्पूर्ण जगत, जीव और देवताओं को अंश बताया है।

नित्य रस-मग्न आत्माराम ब्रह्म को इच्छा हुई कि मैं अपनी सृष्टि का विस्तार करूँ। उसने अपनी इच्छाशक्ति से, अपनी अंश-रूप-सृष्टि का प्रसार किया। सूर कहते हैं:—

अविगत, आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनासी।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नितनिजलोक विलासी।
जहँ वृन्दावन आदि अजिर जहाँ कुंज-लता विस्तार।
तहँ विहरत प्रिय-प्रीतम दोऊ निगम भृंग गुंजार।

१—सूर-सारावली, सूरसागर, वे० प्रे० पृ० ३४।
२—सूर-सारावली, वे० प्रे०, पृ० ३८।

जहँ गोवर्द्धन पर्वत मनिमय, सघन कंदरा सार।
गोपिन मंडल मध्य विराजत निसि दिन करत विहार।
खेलत-खेलत चित में आई सृष्टि करन विस्तार।
अपने आप करि प्रकट कियो है हरी-पुरुष अवतार।[१]

इस पद में सूर ने कहा है कि आदि अजिर वृन्दावन में पूर्णपुरुषोत्तम की इच्छा शक्ति से राधा और गोपियों के साथ नित्य रास हो रहा है, इसी आदि सृष्टि का उन्हीं पूर्ण-पुरुषोत्तम श्री कृष्ण ने इस सम्पूर्ण सृष्टि को रचकर विस्तार किया है। और वह आदि पुरुष भी जिसके परिणाम-स्वरूप यह सृष्टि हुई है उन्हीं में से प्रकट हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर के इन विचारों में शङ्कर के आभास अथवा प्रतिविम्बवाद का लेश भी नहीं है। जिस ब्रह्म के सगुण-निर्गुण दोनों स्वरूप हैं, वही इस जगत में अवतार धारण भी करता है। यह भाव सूर ने अनेक पदों में व्यक्त किया है—

वेद उपनिषद यश कहैं निर्गुनहि बतावैं।
सोइ सगुन होय नन्द की दावरी बँधावैं।[२]
ब्रह्म अगोचर मन बानी ते अगम अनन्त प्रभाव।
भक्तन हित अवतार धारि जो करि लीला संसार।[३]
गोविन्द तेरोइ स्वरूप निगम नेति-नेति गावै।
भक्तन के वश स्यामसुन्दर देह धरे आवै।[४]

पीछे लेखक ने कहा है कि वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार सूरदास, परमानन्ददास आदि कवियों ने श्री कृष्ण को ही परब्रह्म माना है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा चौबीस लीला अवतार एक कृष्ण के ही रूप अक्षर-ब्रह्म से प्रसूत माने हैं।[५] विष्णु आदि देव भी लोक रक्षा के लिए अवतार धारण करते हैं। कृष्णावतार में प्रकटित श्री कृष्ण स्वयं साक्षात् परब्रह्म थे।[६] इसके अतिरिक्त कृष्ण विष्णु-रूप से धर्म-संस्थापन और असुरों के संहार के लिए भी इस लोक में अवतार धारण करते हैं—

१—सूर-सारावली, सूरसागर, वें० प्रे०, पृ० २।
२—सूरसागर, वें० प्रे०, प्रथम स्कन्ध, पृ० २।
३—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ३६।
४—सूरसागर, वें० प्रे०, दशम स्कन्ध, पृ० १४७।
५—साहित्य-लहरी, वें० प्रे०, पृ० २ तथा सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वें० प्रे० पृ० ३६।
६—अपने अंस आप हरि प्रगटे पुरुषोत्तम निज रूप।
नारायण भुवभार हर्यो है अति आनन्द स्वरूप।
—सूर-सारावली, सूरसागर, वें० प्रे०, पृ० ६।

जब जब हरिमाया ते दानव प्रकट भये हैं आय।
तब तब धरि अवतार कृष्न ने कीन्हों असुर संहार।[1]

अपने अंश आप हरि प्रकटे पुरुषोत्तम निज रूप।
नारायन भुव-भार हरो है अति आनन्द-स्वरूप।
वासुदेव यों कहत वेद में, हैं पूरन अवतार।
सेष सहस मुख रटत निरंतर तऊ न पावत पार।[2]

बिष्णु रुद्र बिधि एकहि रूप, इन्हें जान मत भिन्न स्वरूप।[3]
तथा
यज्ञ प्रभु प्रकट दिखायो
विष्णु बिधि रुद्र मम रूप ए तीनिहू दच्छ सों, बचन यह कहि सुनायो।[4]

परब्रह्म कृष्ण के अन्तर्यामी स्वरूप और उनके विराट् रूप का वर्णन सूरदास ने दशम स्कन्ध सूरसागर में अनेक स्थानों पर विस्तार से किया है।[5] उन्होंने स्थान-स्थान पर कृष्ण की स्तुति की है, उनसे विदित होता है कि उन्होंने परमानन्द-राशि रस-रूप श्री कृष्ण को ही परब्रह्म कहा है और उन्हीं को अपनी उपासना का इष्ट बताया है और वह इष्ट वल्लभ-सिद्धान्त के अनुकूल ही है। यथा —

परमहंस तुम सबके ईस, बचन तुम्हारे स्तुति जगदीस।
तुम अच्युत अविगत अविनासी, परमानंद सदा सुख रासी।
तुम तनुधारि हरयो भुव-भार, नमो नमो तुम्हें बारंबार।[6]

सूर की अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण में अनन्य भक्ति है, परन्तु कृष्ण के व्यूहात्मक तथा गुणावतारों में भी उनकी पूर्ण आस्था है। सूर ने राम की भी स्तुति[7] की है और रामावतार

१—सूरसारावली, सूरसागर, बें० प्रे०, पृ० २।
२—सूरसारावली, सूरसागर, बें० प्रे०, पृ० ६।
३—सूरसागर, चतुर्थ स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ४६।
४—सूरसागर, चतुर्थ स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ४७।
५—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ३०। तथा
सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृ० १५६ तथा १६०।
६—सूरसागर, दशम स्कंध, उत्तरार्द्ध बें० प्रे०, पृ० ५६४
७—रामहि राम पढ़ो रे भाई, रामहि जहँ तहँ होत सहाई।
सूरसागर, बें० प्रे०, सप्तम स्कन्ध पृ० ५८

की लीलाओं का भी वर्णन किया है[1]; उन्होंने गोपियों से शिव की स्तुति भी कराई है,[2] परन्तु वे, साथ में, यह जानते हैं कि शिव, कृष्ण के ही गुणावतार हैं और राम, कृष्ण के व्यूहात्मक अवतार हैं। हरि राम, गोविन्द वस्तुतः सूर के लिए कृष्ण के ही स्वरूप हैं और इनकी स्तुति भी कृष्ण की स्तुति है तथा कृष्ण प्रेम की प्राप्ति का साधन है।

परमानन्ददास ने अपने काव्य में ईश्वर, जीव, प्रकृति, आदि के बारे में वैसा स्पष्ट विवेचन नहीं किया जैसा महात्मा सूरदास ने किया है, उनका काव्य भाव और भक्ति प्रधान है, फिर भी उनके कुछ पदों में ईश्वर के स्वरूप आदि के विषय में सङ्केत अवश्य हैं और इन थोड़े से उल्लेखों से कवि के विचारों की दार्शनिक भित्ति का पूर्ण परिचय मिल जाता है। परमानन्ददास के गुरू वल्लभाचार्य थे, वे वल्लभसम्प्रदायी थे, इस बात का प्रमाण तो उनकी जीवनी से मिलता ही है, परन्तु उनके वल्लभ सिद्धान्तों के अनुयायी होने की पुष्टि उनकी रचनाओं से भी हो जाती है। परमानन्ददास में भी वल्लभ-सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य किसी सम्प्रदाय की छाप नहीं है।

परमानन्ददास

परमानन्ददास रस-रूप ब्रह्म के उपासक थे। वल्लभ-सिद्धांत के अनुसार वे मानते थे कि श्री कृष्ण ही साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, कृष्ण ही एक से अनेक रूप धारण करते हैं और उन्हीं को वेद नेति-नेति कहते हैं।[3] परब्रह्म गुणरहित तथा सगुण दोनों है। निर्गुण ब्रह्म ही सगुण रूप धारण करता है[4]। पीछे कहा जा चुका है कि ब्रह्म को निर्गुण कहते हुए वल्लभ-सम्प्रदाय का यह भी विश्वास है कि ब्रह्म के प्राकृत गुण नहीं है, इससे भी हम उसे निर्गुण

१—सूरसागर, नवम स्कन्ध, बें० प्रे०।

२—बिहँसि जगदीस कह्यो रुद्र जो तोहि भजै तहाँ मैं जाऊँ यह प्रण हमारो।

× × × ×

करै जो सेव तुम्हारी, सो मम सेव है विष्णु सिव ब्रह्म मम रूप सारी।

सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० १६६ तथा पृ० ५३०.

मोहन नंद राय कुमार।

प्रकट ब्रह्म निकुंज नायक भक्त हेत अवतार।

× × ×

दास परमानन्द स्वामी वेद बोलत नेति।

—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३

हँसत गोपाल नन्द के आगे नन्दस्वरूप न जाने,

निर्गुन ब्रह्म सगुन धरि लीला ताहिब सुत करि माने।

× × × ×

परमानन्द स्वामी मन मोहन खेल रच्यो ब्रज नाथ।

—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १७

कहते हैं। जब वह प्राकृतवत् गुण धारण कर लोक में प्रकट होता है तब हम उसे सगुण कहते हैं। गोलोक के नित्य लीलाबिहारी परब्रह्म श्री कृष्ण भी प्राकृत गुणों से परे हैं; इस तरह वे भी निर्गुण ही हैं। अप्राकृत गुणों से युक्त होने के कारण वे सगुण हैं। परमानन्द-दास का कहना है,—'जो ब्रह्म प्राकृत गुणों से रहित निर्गुण स्वरूप है वही इस लोक में अवतार धारण कर सगुण रूप से लीलाएँ करता है। और सबका आदि-स्वरूप वह परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण ही है। आदि वृन्दावन-बिहारी कृष्ण का स्वरूप आनन्दमय है। उनका परिवार, गाय, गोपी, यशोदा आदि भी आनन्दमूर्ति हैं। उसका धाम गोकुल भी आनन्द-स्वरूप है। कृष्ण ने संसार के आनन्ददान के लिए ही निजरूप से अवतार धारण किया। जिस आनन्द-स्वरूप की आराधना करके सुर और मुनि आनन्दित होते हैं और भक्त जिसके आनन्द-विलास में मग्न रहते हैं; उसी आनन्द-राशि के चरण कमलों के मकरन्दपान के लिए परमानन्ददास भँवर बन रहा है।'[1] इससे स्पष्ट है कि परमानन्ददास ईश्वर के रस-रूप के उपासक थे। एक और पद में उन्होंने इस बात को स्पष्ट किया है। वे कहते हैं,—'कृष्ण रस-रूप हैं अर्थात् उनका सम्पूर्ण विग्रह रस-निर्मित है। उनका धाम भी रस-रूप है। उसी रस-रूप का उपासक परमानन्ददास है, जिसके हृदय में उस कृष्ण के प्रति प्रेम का प्रवाह बह रहा है।[2] यह रस-रूप सगुण ईश्वर अपार सौन्दर्यशाली

1— आनँद की निधि नन्दकुमार।

परमब्रह्म भेष नराकृत जगमोहन लीला अवतार।
स्रवनन आनन्द मन महँ आनन्द लोचन आनंद आनंद पूरित
गोकुल आनंद गोपी आनंद, नंद जसोदा आनँदकंद।
सब दिन आनन्द धेनु चरावत बेनु बजावत आनन्द कंद।
नृतत हँसत कुलाहल आनंद राधापति वृन्दाबन चंद।
सुरमुनि आनँद संतनि आनँद निज जन आनँद रास विलास।
चरण कमल मकरंदपान को अलि आनंद परमानंद दास।

—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १२६।

राग गौरी

रसिक सिरोमनि नँद नंदन।

रसमें रूप अनूप विराजत गोपबधू उर सीतल चंदन।
नैननि में रस चितवन में रस, बातनि में रस उगत मनुज पसु।
गावनि में रस मिलवनि में रस बेनु मधुर रस प्रकट पावन जसु।
जिहि रस मत्त फिरत मुनि मधुकर सो रस संचित ब्रज वृन्दाबिन।
स्याम धाम रस रसिक उपासत प्रेम प्रवाह सु परमानंद मन।

—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १३२

है'[1], इस सौन्दर्य के रस को योगी और ज्ञानी नहीं पा सकते, इसे तो भक्त ही पाते हैं। भगवान् की कृपा के बल पर परमानन्ददास इस रस का थोड़ा सा आस्वाद पाता है'।[2] वल्लभ-सिद्धान्त के अनुसार परमानन्ददास ने इस प्रकार ब्रह्म के सब रूपों से परे रस-रूप पूर्ण पुरुषोत्तम को ही माना है। वे कहते हैं—'कृष्ण सुख के सागर हैं और सन्तों के सर्वस्व हैं। ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि देव उनका मनन करते हैं। पूर्ण-पुरुषोत्तम कृष्ण ही सबके स्वामी हैं वे ही इस जगत में लीला-अवतार रूप में आते हैं'।[3] परमानन्ददास यह भी कहते हैं,—'ये मुख्य तीन देवता, ब्रह्मा, विष्णु, और रुद्र, कृष्ण के ही गुणावतार हैं।

राग सारङ्ग

कान्ह कमल दल नैन तिहारे।
अरुन विलास बंक अवलोकनि हठि मन हरत हमारे ॥
× × ×
मदन कोटि रवि कोटि कोटि ससि ते तुम ऊपर वारे।
परमानन्ददास की जीवनि गिरिधर नंद दुलारे ॥

—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १३०

राग सारङ्ग

आनंद सिंधु बढ्यो हरि तन में।
श्री राधा पूरन ससि निरखत उमगि चल्यौ ब्रज वृन्दावन में।
इत रोक्यो जमुना इत गोपिनि कछु इक फैलि परयो त्रिभुवन में।
ना परस्यो करमठ अरु ग्यानिनु अटकि रह्यो रसिकन के मन में।
मंद मंद अवगाहत बुधि बल भक्ति हेतु नित प्रति छिनु छिनु में।
कछुक लहत नंद सुवनि कृपा तें सो देखियत परमानंद जन में।

—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १३१।

राग-सारङ्ग

नाचत हम गोपाल भरोसे।
गावत बाल बिनोद कान्ह के नारद के उपदेसे।
संतन को सर्वसु सुख सागर नागर नंद कुमार।
परम कृपालु यशोदा नंदन जीवन प्रान अधार।
ब्रह्म रुद्र इन्द्रादिक देवता ताको करत विचार।
पुरुषोत्तम सबही को ठाकुर इह लीला अवतार।
सरग नरक को अब डरु नाहीं बिधि निखेद की आस।
चरन कमल मन राखि स्याम में बलि परमानन्ददास।

—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २०७।

और ये अनेक प्रकार के वर देने में समर्थ हैं। परन्तु मेरे उपास्य देव तो राधिका वल्लभ श्री कृष्ण ही हैं।'[1] उनके विचार में ईश्वर व्यापक और सर्वान्तर्यामी भी हैं।[2]

जीवनी भाग में कवि के दिये हुये आन्तरिक प्रमाणों तथा वार्ता-साहित्य के आधार से कहा गया है कि नन्ददास पुष्टिमार्गीय थे। उन्होंने अपने गुरू गोस्वामी विट्ठलनाथ की स्तुति करते समय पदों में तथा अन्य ग्रन्थों में अपने साम्प्रदायिक विचारों का उल्लेख किया है। ये व्यक्त सिद्धान्त लेखक के विचार से, पूर्ण रूप से वल्लभ-सिद्धान्तों से साम्य रखते हैं। नीचे लिखी पङ्क्तियों से ज्ञात होगा कि उनके ईश्वर, जीव आदि के विषय में क्या विचार थे।

नन्ददास

नन्ददास अद्वैत ब्रह्म को मानते थे।[3] वल्लभ-मतानुसार उन्होंने भी अनेक स्थानों पर कृष्ण के परब्रह्म होने के भाव को व्यक्त किया है।[4] परब्रह्म श्रीकृष्ण गोकुल अथवा गोलोक में

१— मोहि भावै देवाधि देवा।
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन गोकुल नाथ एक मेवा।
तीन देवता मुख्य देवता ब्रह्मा, विष्णु अरु महादेवा।
जे जनिये सकल वरदायक गुन विचित्र कीजियै सेवा।
संख चक्र सारंग गदाधर रूप चतुर्भुज आनंदकंदा।
गोपी नाथ राधिका वल्लभ ताहि उपासत परमानंदा।
—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३०३।

२— काहे न सेईए गोकुल नायक।
भक्तन के ठाकुर भगवान सकल सुखन के दायक।
ब्रह्मा महादेव इन्द्रादिक जाके आज्ञाकारी।
सुर तरु कामधेनु चिंतामणि बरुन कुबेर भँडारी।
औरहु नृपति बह्यो सब माने सन्मुख विनती कीजै।
तुम प्रभु अन्तर्यामी व्यापक द्वितीय साखि कहा दीजै।
जन्म कर्म अवतार रूप गुन नारदादि मुनि गावें।
परमानंद दास श्री पति अधम भले बिसरावें।
—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २८७

३— नाम रूप गुन भेद जे, सोइ प्रकट सब ठौर।
ता बिन तत्व जु आन कछु कहै सो अति बड़बौर॥
—मानमञ्जरी, पद्ममञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, पृ० ६९

४— नन्नमामि पद परम गुरु, कृष्ण कमल दल नैन।
जगकारन, करुनार्णव गोकुल जाको ऐन॥
—मानमञ्जरी, पद्ममञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, छंद नं० १ पृ० ६९
'तथा—ब्रह्मनंद के भवन में [illegible] नचावत तीव।'
—अनेकार्थ मञ्जरी, पद्ममञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, पृ० १४४, छंद नं० ६१

रस-रूप से नित्य लीला-मग्न रहते हैं। वह रस-रूप[1] ब्रह्म नित्य, आत्मानन्द, सदा एक रस, अखण्ड और घट घट में अन्तर्यामी है। नन्ददास इसी रस-रूप के उपासक थे। 'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' में कृष्ण की स्तुति करते समय वे कहते हैं कि कृष्ण के अपार रूप, गुण और कर्म हैं।[2]

मोहन अद्भुत रूप कहि न आवै छबि ताकी।
अखिल अंड व्यापी जु ब्रह्म आभा कछु जाकी।
परमातम परब्रह्म सबन के अंतरजामी।
नारायन भगवान धरम करि सबके स्वामी।
बाल कुमार पौगंड धरम आक्रान्त ललित तन।
धर्मी नित्य किसोर कान्ह मोहत सबको मन।
× × ×
अस अद्भुत गोपाल लाल, सब काल बसत जहँ।
याही ते बैकुंठ बिभव कुंठित लागत तहँ।

—रासपञ्चाध्यायी, 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १२६

१— नमो नमो आनन्द घन सुन्दर नन्दकुमार।
रसमय रस कारण रसिक जग जाके आधार।

—रसमञ्जरी, पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, छंद नं० १

× × ×
सब घट अंतरयामी स्वामी परम एक रस।
नित्य आत्मानन्द अखंड स्वरूप उदारा।
केवल प्रेम सुगम्य अगम्य 'अवर परकारा।

—सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी, नन्ददास, शुक्ल, पृ० १८१

पुनि प्रणमू परमातम जोई, घट घट विघट पूरि रह्यो सोई।

—रूपमञ्जरी, पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, छंद नं० ४, पृ० १५७

२— जै जै जै श्री कृष्ण रूप गुण करम अपारा।
परम धाम जग धाम परम अभिराम उदारा।
× × ×
दस इन्द्रिय अरु अहंकार महतत्व त्रिगुन मन।
यह सब माया कर विकार कहैं परम हंस गन।
सो माया जिनके अधीन नित रहत मृगी जस।
विश्व प्रभव प्रतिपाल प्रलय कारक आयुस बस।
× × ×
षट गुन जो अवतार धरन नारायन जोई;
सबको आश्रय अवधि भूत नंदनद्न सोई।

—'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी,' नन्ददास, शुक्ल, पृ० १८३

जिस माया-शक्ति ने यह सृष्टि रची है, वह उन्हीं कृष्ण की है। उनकी माया ही इस विश्व का सृजन, पालन और संहार करती है। परब्रह्म श्री कृष्ण षट्गुण (ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य)-सम्पन्न हैं और समय समय पर वे ही अवतार धारण करते हैं। नारायण ईश्वर वे ही हैं।

नन्ददास के मतानुसार ईश्वर अजन्मा है[1], उसको किसी ने उत्पन्न नहीं किया। वह अनन्त रूप होते हुये एक है।[2] वह जगत का निमित्त और उपादान दोनों कारण है[3]। वह ज्योति-रूप भी है। इसी ज्योति रूप का योगी ध्यान करते हैं। वह प्रेम-रूप भी है, और रूप-निधि तथा नित्य भी। भक्तजन इस प्रेम रूप का ध्यान करते हैं। इस प्रकार नन्द-दास ने ईश्वर में अनेक धर्मों का आरोप कर उसे धर्मी बताया और उसके व्यक्त-अव्यक्त आदि धर्मों को बताकर उसे विरुद्ध धर्मत्व का आश्रय कहा। ये विचार वस्तुतः पूर्ण रूप से पीछे कहे वल्लभ-सिद्धान्तों के अनुसार ही हैं।

दशम स्कन्ध भाषा में नन्ददास ने ईश्वर-विषयक अपने भाव कृष्ण की अनेक स्तुतियों में भी प्रकट किये हैं। उक्त ग्रन्थ के दशम अध्याय में वे कहते हैं,—'हे प्रभु, आप परम पुरुष हैं, सब जड़ चेतन के आप ही कारण हैं, आप ही पालनकर्ता, आपही तारनेवाले और आपही संहार करनेवाले हैं। जो विश्व व्यक्त अव्यक्त है, वह आपका ही रूप है। काल का विस्तार भी आपकी लीला का विस्तार है। सब प्राणी भी आप ही के विस्तार-स्वरूप हैं अर्थात् प्राणी मात्र आप ही के स्वरूप हैं। आप सर्वव्यापी, अन्तर्यामी हैं, सबके ईश और अच्युत हैं। सम्पूर्ण प्रकृति और सम्पूर्ण शक्ति, तीनों गुण, जीव, जीवन, सब कुछ आप ही हैं। सर्वत्र आपके सिवाय और कोई दूसरा नहीं है। हे करुणानिधि! आप मुझे अपनी भाव भक्ति दीजिये'[4]। इन पङ्क्तियों में नन्ददास ने वल्लभाचार्य के अद्वैत ब्रह्म अथवा ब्रह्मवाद

१—'अज कहिए जगदीस'—अनेकार्थ मञ्जरी, पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसनदस, छन्द नं० ७१, पृ० १४७

२—'हरि अनन्त अरु एक'
—अनेकार्थ मञ्जरी, पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास छंद नं० ६० पृ० १४३

३—जो प्रभु ज्योति मय जगत मय, कारण करण अभेव।
विघन हरण सब सुख करन, नमोनमो तिहिं देव।
—अनेकार्थ मञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, छंद नं १, पृ० १३१।

४—परम पुरुष सबहिन के कारन, प्रतिपालत तारत संघारन।
व्यक्त अव्यक्त जु बिस्व अनूप, बेद बदत प्रभु तुम्हारो रूप।
तुम सब भूतनि को बिस्तार, देह प्रान इन्द्री अहंकार।
काल तुम्हारी लीला श्रीधर, तुम ब्यापी तुम अव्यय ईश्वर।
तुम ही प्रकृति सकति सब तुमही, सत रज तम जे तै तै तुमही।
तुमही जीवन तुम ही जीव, सब ठौं तुम कोउ अपर न बीव।

का प्रतिपादन किया है। परब्रह्म श्री कृष्ण के विश्वरूप; ज्योति-रूप, रस-रूप, जीव-रूप जगत-रूप आदि की अनेकता में जिस एकता का उन्होंने प्रतिपादन किया है, वह न तो शङ्कर के केवलाद्वैत से साम्य रखती है और न रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत से। विशिष्टाद्वैत में प्रकृति और जीव, ईश्वर या ब्रह्म के अङ्ग हैं और दोनों ही ब्रह्म के विशेषण हैं। रामानुज के मतानुसार जीव नित्य और अनेक हैं और वे ब्रह्म के नित्य अंश हैं। इस प्रकार ईश्वर, प्रकृति और जीव से विशिष्ट है। नन्ददास आदि अष्ट कवियों ने कहीं भी ईश्वर की इस प्रकार की विशिष्ट अद्वैतता का लेख नहीं किया। आगे उनके जगत-सम्बन्धी विचारों के विवेचन में यह ज्ञात होगा कि उनका मत शुद्धाद्वैत के ही अनुकूल है।

नन्ददास ने कृष्ण के अतिरिक्त कृष्ण के अन्य अवतार राम, नृसिंह आदि में भी अपनी आस्था प्रकट की है।[1] वे यह भी मानते हैं कि परब्रह्म श्री कृष्ण अपने पूर्ण रस-रूप से इस ब्रज में तथा धर्म-संस्थापन के लिए वासुदेव, राम आदि चौबीस लीला-अवतारों के रूप में, इस लोक में, अवतार धारण करते हैं।[2] नन्ददास ने कृष्ण की उपासना के अतिरिक्त कृष्ण की पूर्ण आनन्द-शक्ति राधा की भी उपासना की है। उन्होंने अनेक पद युगल-रूप की लीला और स्तुति में भी लिखे हैं।

× × ×

हे करुना निधि करुना कीजै, अपनी भाव भगति रति दीजै।

—दशम स्कन्ध, दशम अध्याय, 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० २४१।

१— रामकृष्ण कहिये उठ भोर।

वे अवधेस धनुष कर धारैं, ए ब्रज जीवन माखन चोर।
उनके छत्र चँवर सिंहासन, भरत शत्रुघ्न लछमन जोर।
इनके लकुटि मुकुट पीताम्बर, नित गायन सँग नन्दकिशोर।
उन सागर में सिला तराई, इन राख्यो गिरि नख की कोर।
नन्ददास प्रभु सब तजि भजिए, जैसे निरतत चंद चकोर।

—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० ४२१, पाठ-भेद से।

२—हो प्रभु सुद्ध तत्वमय रूप, एक रूप पुनि नित्य अनूप।
रज गुन तम गुन ए सब डरैं, तुम कहुँ दूर परेते परैं।
हम रज गुन तम गुन के भरे, अंध दुगँध गर्वमद भरे।
कहँ तुम निज आनंद रस भरे, कहँ हम लोभ मोह मद भरे।
दुष्ट दमन तुम्हरो अवतार, हैं अद्भुत ब्रज राजकुमार।
परम धरम रछा जु करत हौ, हम से खलन को दंड धरत हौ।

× × ×

जगत जनक गुरु तुम स्वामी, सब जंतुन के अन्तरयामी।

—दशम स्कन्ध, २७ वाँ अध्याय, 'नन्ददास', शुक्ल, ० ३१९, पाठ-भेद से।

कृष्णदास के काव्य में विचारात्मक ढङ्ग से उनके दार्शनिक विचार प्रकट नहीं हुये हैं। कृष्णदास अन्य अष्टकवियों की तरह ब्रह्म के रस-रूप के ही उपासक थे। उनके लिए भी ब्रह्म का रस-रूप श्रीकृष्ण-रूप में ही है। राधा रस-रूप ब्रह्म की रस-शक्ति है। जहाँ उन्होंने कृष्ण का वर्णन किया है वहाँ उनको उन्होंने युगल-रूप में ही देखा है। वे एक पद में कहते हैं—'राधा और कृष्ण दोनों रसमय हैं, उनके अङ्ग-अङ्ग रस के बने हुये हैं और इस युगल-रस को रसिक जन ही पहिचानते हैं। कृष्णदास को इस उभय-रस-स्वरूप की रति की न्यौछावर मिल रही है।'[1] कृष्णदास ने श्रीकृष्ण के युगल-रूप की अनेक पदों में वन्दना की है, उन्होंने उनमें कृष्ण के रास-क्रीड़ा अथवा युगल-केलि रूपधारी रूप की ही स्तुति की है।[2] उन पदों के देखने से यह भी ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण ही कमलापति राम हैं, वे ही दुष्ट-दमन के लिए व्यूहात्मक रूप धारण करते हैं और वे ही अपनी बाल और किशोर लीलाओं से ब्रजजनों को आनन्ददान करते हैं। उनके लोक-रक्षक प्रनतपालक करुणामय रूप का तथा बाल-क्रीड़ा के रसदान द्वारा लोक-रञ्जन कारी रसेस का, दोनों स्वरूपों का, वर्णन कृष्णदास ने कुछ पदों में किया है।[3] एक पद में राम और कृष्ण का एकीकरण करते हुये वे कहते हैं—

कृष्णदास

१— राग सारङ्ग

रसिकनी राधा रस भीनी,
मोहन रसिक लाल गिरिधर पिय, अपने कण्ठमनि कीनी।
रसमय अङ्ग अङ्ग रस रस मय, रसिक रसिकता चीन्हीं,
उभय स्वरूप की रति न्योछावरि, कृष्णदास को दीनी।

—लेखक के निजी कृष्णदास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ४९

२—जय जय तरुन घनस्याम वर सौदामिनी रुचिवास,
बिमल भूषन तारकागन तिलक चन्द बिलास।
जय जय नृत्य मान सङ्गीत रस बस भागिनी सङ्ग रास,
बदन श्रम जल कन बिराजित मधुर ईषद हास।
जय जय बन्यो अद्भुत भेष गावत मुरलिका उल्लास,
कृष्णदास नमितचरन हरिदासवर्य निवास।

—लेखक के निजी कृष्णदास-पद सङ्ग्रह से, पद नं० ७२

३—जीत्यो जीत्यो जसोदा को नन्दन मघवनि बृष्टि निवारी,
बाम बाहु राख्यो गिरि नायक गोकुल आरत टारी।
इन्द्र खिसाय जोरि कर बिनवै, मैं अपराध कियो प्रभु भारी,
तू दयालु करुणामय माधो प्रनत हृदे भय हारी।
बाल-बिनोद बाल-लीला रस अद्भुत केलिबिहारी,
कृष्णदास ब्रजवासी बोलत लाल गोवर्द्धन धारी।

—लेखक के निजी कृष्णदास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ६९

कि नन्दराय के घर में जो स्वरूप विराजमान है वह राम ही है और वह तीनों लोकों में रम रहा है।[१]

पीछे कहा गया है कि वल्लभ-सम्प्रदाय ने ब्रह्म के रस रूप की उपासना को अपनाया है और साथ में ब्रह्म के लोक-रक्षा के लिए अवतारी-रूप को भी माना है। कृष्णदास के पदों में भी यही भाव व्यक्त है। राधाकृष्ण की युगल क्रीड़ाओं के तथा उनके शृङ्गारिक चित्रणों से ऐसा ज्ञात होने लगता है कि कृष्णदास के विचारों पर स्वामी हरिदास जी के विचारों का तथा उस समय ब्रज में प्रचलित अन्य कृष्ण-पूजा-सम्प्रदायों की भी छाप है, क्योंकि अन्य सम्प्रदायों में भी कृष्ण के रस-रूप तथा उनकी आह्लादिनी रस-शक्ति राधा की उपासना की गई है। वल्लभ-सम्प्रदाय में अवतारी-रूप परब्रह्म, कृष्ण की उपासना, बाल-रूप, सखा-रूप, किशोर, युगल-रूप तथा उनके लोक-रक्षक स्वामी-रूप में, वात्सल्य, सख्य, कान्ता, सखी तथा सेव्य-सेवक भावों से होती है। इन भावों में से सूर ने सभी को अपनाया है। कृष्णदास ने युगल-रूप की विशेष उपासना की है और इसी से उन्होंने राधा-कृष्ण की स्तुति और उनकी रसवती शृङ्गारिक लीलाओं का अधिक चित्रण किया है। कृष्णदास पर वस्तुतः वल्लभ-सम्प्रदाय की ही छाप है। तत्कालीन वल्लभ-सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति पर अवश्य कृष्ण-पूजा के अन्य सम्प्रदायों का प्रभाव हो सकता है। कृष्णदास आदि अष्ट कवियों ने अपने गुरू को भी पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का अवतार माना है। कृष्णदास ने एक पद में गोस्वामी विट्ठलनाथ की वन्दना करते हुये वल्लभ-सम्प्रदाय के परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम को स्वीकार किया है, और शङ्कर के मायावाद और केवल ब्रह्म को अस्वीकार किया है।[२]

१— राम राम रमि रह्यो त्रैलोक,
राम राम रमणीय भेष नट राजत नन्दराय के ओक।
राम राम रामा मनु रञ्जन जल थल विलसत केतक कोक,
गिरिधर पिय बलि कृष्णदास के सब विधि राम बिनासन सोक।
—लेखक के निजी कृष्णदास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ८१।

२— जय जय जय श्रीवल्लभ नन्दन,
सुर नर मुनि जाकी पद रज बन्दन।
मायावाद किये जु निकन्दन।
नाम लिए काटत भव फन्दन।
प्रकट पुरुषोत्तम चरचित चन्दन।
कृष्णदास गावत श्रुति छन्दन।
—लेखक के निजी कृष्णदास-पद-संग्रह से, पद नं० १३२।

कुम्भनदास वल्लभ-सम्प्रदाय के अपार रूपराशि, प्रेममूर्ति युगल-किशोर के उपासक थे। इसलिए उनके पदों में कृष्ण की किशोर-लीलाओं का अधिक चित्रण है। ईश्वर, जीवादि के विषय में उन्होंने स्पष्ट अपने विचार सिद्धान्त-रूप में प्रकट नहीं किये, परन्तु उनके पदों के भाव के आधार से कहा जा सकता है कि कुम्भनदास के इष्ट-देव रस-रूप अद्वैत ब्रह्म श्रीकृष्ण ही हैं, जिसके रूप की माधुरी को पीते-पीते वे छकते नहीं थे।[1] कृष्ण की स्तुति करते हुये कुम्भनदास ने उनके आनन्दस्वरूप मुरलीधर और अपनी अतुल शक्ति से भक्तों की 'आरति' हरनेवाले हरिदासवर्य[2] गोवर्द्धनधर, दोनों स्वरूपों की वन्दना की है, परन्तु उन्होंने 'आरति हर,' दुष्ट-संहारक, मर्यादा के रक्षक कृष्ण-रूप की लीलाओं का चित्रण नहीं किया। उन्होंने कृष्ण की केवल रसवती लीलाओं का ही वर्णन किया है।[3]

कुम्भनदास

चतुर्भुजदास ने कृष्ण की भावात्मक ब्रज-लीलाओं का चित्रण किया है। इन लीला-पदों में उनकी अनन्य कृष्ण-भक्ति का भाव स्पष्ट रूप से व्यक्त है। चतुर्भुजदास वल्लभ-सम्प्रदाय में मान्य रस-रूप परब्रह्म श्री कृष्ण के उपासक थे। एक पद में वे एक गोपी द्वारा कहलवाते हैं,—"कृष्ण रसनिधि और रसिक हैं और वे रस ही से रीझते हैं, जो 'रहस' कर उनको

चतुर्भुजदास

१— गोपाल के बदन पर आरती वारों।
एकचित मन करों साजिनी की जुगति बातीं अगनित घृत कपूरसों बारों।

× × ×

गाऊँ साँवल सुजसु रस में सुस्वाद रस परम हरषित नित चँवर ढारों।
कोटि रवि उदित जानो कांति अङ्ग अङ्ग प्रतिकार सकल लोक केतक वारि डारों।
दास कुम्भन कहे लाल गिरिधरन कौ रूप नयननि भरि भरि निहारों।
—लेखक के निजी, कुम्भनदास-पद-संग्रह से, पद नं० ६१।

२—वल्लभ-सम्प्रदायी कवियों ने गोवर्द्धन पर्वत को हरि के दासों में श्रेष्ठ कहते हुये उसे हरिदासवर्य नाम से पुकारा है।

३— जयति जयति श्री हरिदासवर्यधरने।
वारि वृष्टि निवारि घोष आरति टार देवपति अभिमान भङ्ग करने।
जयति पटपीत दामिनी रुचिर वर मृदुल अङ्ग साँवल सजल जलय वरने।
कर अधर बेनु धरि गान कलरव शब्द सहज ब्रज युवति जन चित्त हरने।
जयति वृन्दा विपिन भूमि डोलनि अखिल लोक वन्दनि अंबरुह चरने।
तरनि तनया विहार नन्दगोपकुमार दास कुम्भन नतयत बसि सरने।
—लेखक के निजी, कुम्भनदास-पद-संग्रह से, पद नं०

हृदय से लगाता है वह रस-रूप कृष्ण की रसता में मिल जाता है।"[1] इसमें कवि ने ब्रह्म को रस-रूप मानते हुये रसनिधि ब्रह्म की रसता में मिलने के भाव द्वारा अद्वैत भाव को ही स्वीकार किया है। परब्रह्म श्री कृष्ण और उनकी आनन्द-शक्ति राधा, दोनों के युगल-रूप की उपासना भी चतुर्भुजदास ने की है, और युगल-लीलाओं का चित्रण किया है।

गोविन्दस्वामी

गोविन्दस्वामी भी रसरूप-कृष्ण के उपासक थे। उनके सिद्धान्तानुसार कृष्ण ही परब्रह्म है तथा वह अपार शोभा-सिन्धु और सर्व शुभगुण-सम्पन्न है। नन्दनन्दन कृष्ण और उनकी सहचरी राधा दोनों रस-रूप हैं।[2] कवि ने दोनों को एक रूप मानकर उनके प्रति अपनी भक्ति प्रकट की है। ईश्वर और जीव का क्या सम्बन्ध है, द्वैत है अथवा अद्वैत आदि दार्शनिक सिद्धान्त गोविन्दस्वामी ने अपने पदों में प्रकट नहीं किये।

छीत स्वामी

छीत स्वामी भी रस-रूप परब्रह्म श्री कृष्ण के उपासक थे। उन्होंने भी अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को सूर की तरह विस्तार से प्रकट नहीं किया। वे सम्पूर्ण जगत को कृष्णमय देखते थे। एक पद में वे गोपी-गोप बनकर कहते हैं—'मैं अपने आगे पीछे, इधर उधर सर्वत्र कृष्ण ही देखती हूँ और सब को

१—रस ही में वश कीने कुँवर कन्हाई।
रसिक गोपाल रस ही रीझत, रसमिल रस त्यज माई।
पिय को प्रेमरस सुन्यो है रसीली बाल रसमें बचन श्रवन सुखदाई।
चतुर्भुज प्रभु गिरिधर सब रस निधि रसता मिलिहै रहसि हृदय लपटाई।
—पुष्टिमार्गीय पद-संग्रह, भाग ३, सूरदास ठाकुरदास। तथा
—लेखक के निजी चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० ११६।

राग कल्याण।

२—नन्दलाल संङ्ग नाचत नवलकिसोरी।
जहाँ रसिक गिरिधर सब्द उघटत ग्र ग्र थुङ्ग थुङ्गन होरी।
गोविन्द प्रभु बनी नवनागरी गिरधर रस जोरी।
लेखक के निजी गोविन्दस्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० १५६।
कही न परै हो रसिक कुँवर की कुँवराई।
कोटि मदन नख ज्योति, विलोकत परसत नव इन्दु किरण की जुन्हाई।
कंकण वलय हारगज मोती देखियत अंग अंग में वह झाई।
सुघर सुजान स्वरूप सुलच्छण गोविन्द प्रभु सब विधि सुन्दरताई।
—लेखक के निजी, गोविन्द स्वामी-पद-संग्रह, से पद नं० १३१।

कृष्णमय पाती हूँ।[१] मैं तो उस कृष्ण की छबि पर ठगी सी हो गई हूँ।' इसके आधार से कहा जा सकता है कि वे अद्वैत सिद्धान्त के माननेवाले थे। जीवनी भाग से यह भी सिद्ध होता है कि उनका वह अद्वैत सिद्धान्त वल्लभाचार्य जी का शुद्धाद्वैत सिद्धान्त ही है, क्योंकि वे श्री विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे।

छीत स्वामी ने एक पद में कृष्ण की स्तुति करते हुये उन्हें दीनों के बन्धु और कृपालु कहा है। उसी समय उन्होंने उन्हें राधारमन, बिहारी, नटवर सुखकारी मोहन भी कहा है।[२] इससे ज्ञात है कि छीत स्वामी कृष्ण के दोनों रूपों में—व्यूहात्मक अथवा धर्म-संस्थापक तथा रस-रूप, अथवा आनन्द-स्वरूप— आस्था रखते थे, परन्तु उनके उपलब्ध पद-संग्रह के देखने से यह भी ज्ञात होता है कि उनके इष्ट ईश्वर का रूप रस-रूपधारी है तथा वह बाल और किशोर लीलाकारी कृष्ण ही है। कृष्ण की दुष्ट संहारकारिणी लीलाओं का कवि ने बहुत अल्प चित्रण किया है। नीचे दिये हुये पद में छीत स्वामी ने गोलोक-बिहारी रस-रूप श्रीकृष्ण का वर्णन किया है और कहा है,—'रास-रस-मग्न कृष्ण ने अपने सुख के लिए ही जगत को उत्पन्न किया। वे सम्पूर्ण जीवों के उद्धार के लिए इस लोक में अवतार भी लेते हैं। श्री वल्लभाचार्य्य जी के घर विट्ठलनाथ जी के रूप में दनुजहारी भगवान् श्री

१— राग पूर्वी।

आगे कृष्ण पाछे कृष्ण, इत कृष्ण, उत कृष्ण, जित देखों तित कृष्ण ही मई री।
मोर मुकुट कुंडल किरनि भरे, मुरली मधुर तान लेत नई नईरी।
काछनी काछे लाल, उपरना पीतपट, तिहि काल देखति ही शोभा थकित भई री।
छीत स्वामी गिरधारी विट्ठलेश वपुधारी, निरखति छवि अंग अंग ठई री।
—लेखक के निजी छीतस्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० ४१।

२— राग ललित।

श्रीकृष्ण कृपालु कृपा निधि, दीन बन्धु दयाल।
दामोदर बनवारी मोहन गोपी नाथ गुपाल।
राधा रमन बिहारी, नटवर सुन्दर जसुमति बाल।
माखन चोर गिरिधर मनहारी सुखकारी नंदलाल।
गोचारी गोविंद, गोप पति भावन मंजुल ग्वाल।
छीतस्वामी सोई अब प्रगटे कलि में वल्लभ लाल।
—लेखक के निजी, छीतस्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० ४०

कृष्ण ने ही अवतार लिया है ।' [१] इससे विदित होता है कि छीत स्वामी पूर्ण रूप से वल्लभ-सिद्धान्तों के ही अनुयायी थे ।

जीव

श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने ग्रन्थ, 'तत्वदीपनिबन्ध' में कहा है कि परमतत्व परब्रह्म को 'मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ', [२] ऐसी इच्छा हुई । उसी इच्छा मात्र से अक्षर-ब्रह्मभूत-अंश रूप असङ्ख्य जीवों की उत्पत्ति हुई । [३] जैसे अग्नि से चिनगारी निकलती है उसी प्रकार से सच्चिदानन्द अक्षर ब्रह्म के चिद् अंश से असङ्ख्य निराकार जीव निकले । उसी ब्रह्म के सद्अंश से जड़ प्रकृति और आनन्ददांश से उसके अन्तर्यामी रूप निकले । [४] इस प्रकार वल्लभ-मत के अनुसार जीव अंश है और परमात्मा अंशी । यह पीछे कहा जा चुका है कि सृष्टि-उत्पत्ति की क्रिया ब्रह्म की इच्छा और उसकी आविर्भाव और तिरोभाव की शक्तियों के द्वारा होती है । सच्चिदानन्द ब्रह्म आनन्द-शक्ति का तिरोभाव करके चित् और सत् धर्म से अनेक जीवों का आविर्भाव करता है । जीवों में चिद् अंश मुख्य है और आनन्द का तिरोधान है । जड़ जगत में चित् और आनन्द दो धर्मों का तिरोधान है, सत् अंश प्रधान है । जड़ जगत् और चिद् जीव में से, आनन्द धर्म का तिरोधान हो जाने से, भगवान् के छः गुणों (ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य) का भी लोप हो जाता है । इसी भाव को स्पष्ट करते हुये श्री वल्लभाचार्य जी ने अणुभाष्य में लिखा है,—'भगवान् की इच्छा से जीव

१— राग नट चर्चरी ।

राधिका रवन गिरवरधरन, गोपीनाथ मदन मोहन कृष्ण नटवर बिहारी ।
रासक्रीड़ा रसिक ब्रज जुवति, प्रान पति, सकल दुख हरन गो गवन चारी ।
सुख करन जगत करन नन्द नन्दन नवल गोपपति नारि वल्लभ मुरारी ।
छीतस्वामी सकल जीव ऊधरन हित प्रकट वल्लभ सदन दनुज हारी ।

—लेखक के निजी छीतस्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० १०

२—एकोऽहं बहुस्याम्,—तैत्तिरीय उपनिषद २ : ६ ।

३—अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म ह्यविभक्तं विभक्तिमत् ।
बहु स्यां प्रजायेयेति वीक्षा तस्य ह्यभूत्सती । ३० ।
तदिच्छामात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतनाः
सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदिच्छया । ३१ ।

—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण ज्ञानसागर बम्बई, पृ० ८७ ।

४—विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि ।
आनन्दांश स्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः ३२ ।

—त० दी० नि, शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई पृ० ३२ ।

के ऐश्वर्यादि छः गुण तिरोहित हो जाते हैं और तभी बन्ध और विपर्यय होता है। ऐश्वर्य के छिपने से दीनत्व और पराधीनता, वीर्य के तिरोभाव से अनेक दुःख, यश के तिरोधान से हीनत्व, श्री के तिरोधान से जन्म-मरण के अनेक दोष, ज्ञान के तिरोभाव से अहं बुद्धि और सब पदार्थों में विपरीत ज्ञान होता है तथा वैराग्य के तिरोभाव से विषयों में आसक्ति पैदा होती है।[1] इस प्रकार जीव भ्रम में बँधकर संसार चक्र में घूमता है। भगवान् के भजन से विमुख जीव अनेक कष्ट उठाता है। अविद्या-रूपी दोष से छुटने के लिए भगवान् के भजन की आवश्यकता है।

जिस जीव में उपर्युक्त छः धर्म और उसका आनन्दांश प्रकट हो जाता है, वह जीव संसार-दुःख से मुक्ति पाता है और भगवान् की कृपा से चार मुक्तियों का भागी होता है। जीव ज्योति-रूप है और प्राकृत आकार से रहित है[2]। जीव देह की प्राकृत इन्द्रियाँ उसके भगवदंश रूप का ज्ञान नहीं कर सकतीं। मन के नियंत्रण से इन्द्रिय-निग्रह का उपाय सभी भारतीय धर्मों ने बताया है। वल्लभाचार्य जी ने स्वरूप-ज्ञान के लिए तीन निम्नलिखित मार्गों का कथन किया है, जो बहुधा भारतवर्ष में प्रचलित रहे हैं—१ - योग-सिद्धि का मार्ग। २—दिव्यज्ञान का मार्ग। ३—उस भगवद् कृपा-दृष्टि के लाभ का मार्ग जिससे प्रसन्न हो भगवान् अनन्दांश का लाभ देते हैं। वल्लभाचार्य जी ने निर्देश तो इन तीनों मार्गों का किया है, परन्तु सबसे उपयोगी और सरल मार्ग उन्होंने भगवद्भक्ति और भगवद्-अनुग्रह-पुष्टि का ही बताया है। जीव और ब्रह्म के अंश और अंशी भाव को श्री वल्लभाचार्य जी ने अणुभाष्य में २ अध्याय, ३ पाद के ४३वें सूत्र में स्पष्ट किया है।

वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार जीव अणुमात्र है और उसका तेज प्रकाश की तरह अथवा

१—अस्य जीवस्यैश्वर्यादि तिरोहितम्।......तस्माद् ईश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्धर्मतिरोभावः। ऐश्वर्यतिरोभावाद्दीनत्वं, पराधीनत्वं, वीर्यतिरोभावात् सर्वदुःखसहनं, यशस्तिरोभावात् सर्वहीनत्वं, श्री तिरोभावाज्जन्मादिसर्वापद्विषयत्वं, ज्ञानतिरोभावाद्देहादिष्वहंबुद्धिःसर्वविपरीतज्ञानं चापस्मारसहितस्येव, वैराग्यतिरोभावाद् विषयासक्तिः, बन्धश्चतुर्णां कार्यो विपर्ययो द्वयोस्तिरोभावादेवैवं नान्यथा......
आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो, येन जीवभावः अतएव काममयः।

—अणुभाष्य, ३ अध्याय, २ पाद, सूत्र, ५।

२—प्रकाशकं तच्चैतन्यं तेजोवत्तेन भासते।
न प्राकृतेंद्रियैर्ग्राह्यं न प्रकाश्यं च केनचित्। ५८।
योगेन भगवद्दृष्ट्या दिव्यया वा प्रकाशते।
आभासप्रतिबिंबत्वमेवं तस्य न चान्यथा। ६०।

—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञान सागर, बम्बई पृ० १७३ तथा १७८।

गन्ध की तरह सम्पूर्ण शरीर में फैला हुआ है[1]। जीव असङ्ख्य हैं, नित्य हैं, और सनातन हैं। अणुभाष्य में भी आचार्य जी ने कहा है,—'जीव का चैतन्य गुण है और उसका चैतन्य सर्व-व्यापी है[2]। जीव अंश होने के कारण अल्प सामर्थ्यवान् है और अल्पज्ञ है इसी से सर्वज्ञ और अपने अंशी परमात्मा के वशीभूत है, भगवद्गीता में भी श्री कृष्ण ने कहा है—'देह में जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है वही जीव त्रिगुणमयी माया में स्थित मन सहित छः इन्द्रियों को खींच रहा है'[3]। जैसे ब्रह्म सत्य है वैसे ही अंश जीव भी सत्य है और अंश-अंशी भाव से जीव और ब्रह्म की अद्वैतता है। संसार में बद्ध-जीव का ऐक्य ईश्वर के साथ नहीं है। अवस्था-विशेष में अंश-अंशी का एकीकरण भी हो जाता है। अविद्या माया को आचार्य जी ने स्वीकार किया है, परन्तु वह माया ब्रह्म को नहीं लगती, वह केवल जीव को लगती है। जब अविद्या माया के कारण बद्ध जीव में से ईश्वरीय धर्मों का तिरोधान हो जाता है, तब वह देह के धर्मों को ही 'मैं दुखी हूँ, मैं सुखी हूँ', अपने धर्म समझने लगता है। इसी से अपने कर्मानुसार अनेक योनियों में भ्रमता फिरता है।

श्री शङ्कराचार्य जी के मतानुसार श्री अप्पयदीक्षित का कहना है—'अनादि, अनिर्वचनीय, सब भूतों की प्रकृति तथा चिन्मात्र से सम्बन्ध रखनेवाली माया में जो चेतन्य ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है वह ईश्वर है और उसी माया के अविद्या नामवाले आवरण और विक्षेप शक्ति-युक्त, परिच्छिन्न अनन्त प्रदेशों में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है[4]। अविद्या के कारण जीव को अपनी अनेकरूपता और सत्य-स्वरूप ब्रह्म से विभिन्नता प्रतीत होती है। यह उसका भ्रम मात्र है। जैसे आँख पर रक्खी उँगली के संसर्ग से एक चन्द्र के दो अथवा अनेक चन्द्र दिखाई देते हैं, परन्तु वास्तव में चन्द्रमा एक ही है। अविद्या के हटने पर न जीव रहता है और न जगत। शङ्कर-मत का सारांश इस महावाक्य में रक्खा जाता है—'ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है और जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है।'[5] श्री शङ्कराचार्य के मायावाद के जीव में और श्री वल्लभाचार्य के ब्रह्मवाद के जीव में अन्तर यह है कि मायावाद में जीव की अनेकता तथा सत्ता

१—जीवस्त्वाराग्रमात्रो हि गंधवद्व्यतिरेकवान्।
व्यापकत्वश्रुतिस्तस्य भगवत्त्वेन युज्यते। ९७।
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई, पृ० १९६।

२—अणुभाष्य टीका, सूत्र २५ तथा २६, अध्याय २, पाद ३।
'जीवस्य हि चैतन्यं गुणः स सर्वशरीरव्यापी।

३—ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।
—भगवद्गीता, अध्याय १५, श्लोक ७।

४—सिद्धान्तलेश, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी पृष्ठ ८२।

५—ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

भ्रम से, अविद्या से प्रतिभासित है, वस्तुतः न जीव है और न जगत, सब जीव, भ्रम हटने पर, एक ब्रह्म ही हैं। वल्लभ के ब्रह्मवाद में जीवों की अनेकता तथा उनकी अंश-रूप से स्थिति सत्य है। अवस्था-विशेष में पृथकता है और दूसरी अवस्था-विशेष में जीव और ब्रह्म की एकता भी है। परन्तु दोनों अवस्थाएँ सत्य हैं। शङ्कर-मत में जीव विभु है और वल्लभ-मत में जीव अणु है। शङ्कर मत में जीव बुद्धि के सम्बन्ध से, अणु-रूप भासित होता है, वह विभु (व्यापक) ही है। श्री वल्लभाचार्य जी ने तथा उनके अनुयायी भक्त साधकों ने शङ्कर-मत का खण्डन किया है।

वल्लभ-सम्प्रदाय के मतानुसार जीव सृष्टि[1] दो प्रकार की है—१—दैवी जीव सृष्टि तथा २—आसुरी जीव-सृष्टि। दैवी जीव-सृष्टि भी दो प्रकार की है—पुष्टि-सृष्टि तथा मर्यादा सृष्टि। पुष्टि-सृष्टि को भगवान् ने अपनी स्वरूप-सेवा के लिए उत्पन्न किया है।[2] मर्यादा-जीव पूर्ण पुरुषोत्तम की स्वरूप-सेवा के योग्य नहीं है। पुष्टि-सृष्टि के जीवों की उत्पत्ति पूर्ण पुरुषोत्तम के श्री अङ्ग से होती है जो पीछे कहे, चार प्रकार के होते हैं—१—शुद्ध पुष्ट भक्त। २—पुष्टि पुष्ट भक्त। ३—मर्यादा पुष्ट भक्त। ४—प्रवाही पुष्ट भक्त। इन्हीं चारों प्रकार के जीवों पर भगवान् का विशेष अनुग्रह होता है।

पीछे कहा जा चुका है कि शुद्ध पुष्ट जीव नित्य तथा मुक्त हैं जो भगवद्रूप ही होते हैं। भगवान् के समान उनके भी ऐश्वर्यादि षट्गुण होते हैं और वे नित्य भगवान् की लीला के योग्य अप्राकृत शरीर धारण कर भगवान् की नित्य सेवा का आनन्द लाभ करते हैं। जब जब भगवान् लोक में अवतार धारण करते हैं तभी तब वे अपने साथ इन शुद्ध पुष्ट भक्तों को भी लाते हैं। पुष्टि दैवी जीवों को भगवान् के लोक तथा उनकी लीला के आनन्द-लाभ की मोक्ष मिलती है और, मर्यादा दैवी जीवों को कर्म और ज्ञान द्वारा स्वर्गादि लोक अथवा अक्षर-सायुज्य-मुक्ति मिलती है। यदि भगवान् चाहें तो अपनी इच्छानुसार अपनी कृपा द्वारा इन मर्यादा दैवी जीवों को भी सायुज्य से निकाल कर अपनी लीला में प्रविष्ट कर लेते हैं, तब ये जीव दैवी पुष्टि-सृष्टि की कोटि में आ जाते हैं। आसुरी जीव-सृष्टि प्रवाही-सृष्टि है, जो दो प्रकार की होती है,—१—दुर्ज्ञ तथा २—अज्ञ।[3] जिन

१—जीव सृष्टि—पुष्टिमार्गीय देशिका, ले० शास्त्री चिम्मनलाल हरिशङ्कर तथा हिन्दी अनुवादक पं०माधव शर्मा, पृ० १२५।

२—तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्।
—पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १२, पृ० ३६।

३—प्रवाहस्थान्प्रवक्ष्यामि स्वरूपांगक्रियायुतान्।
जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे प्रवृत्तिं चेति वर्णिताः
ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदतः। २४।
—पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक २४, पृ० ४४।

आसुरी जीवों का भगवान् के प्रति अथवा भगवान् के अवतारों के प्रति उत्कट द्वेष भाव होता है, भगवान् उनका संहार कर उनका उद्धार करते हैं। आसुरी सृष्टि के अज्ञ जीव ही उद्धार पाते हैं, दुर्ज्ञ आसुरी जीवों का कभी उद्धार नहीं होता। वे सदा संसार-चक्र में भ्रमण करते रहते हैं। वल्लभ-सम्प्रदाय के मतानुसार जीव सृष्टि का विभाजन निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है:—
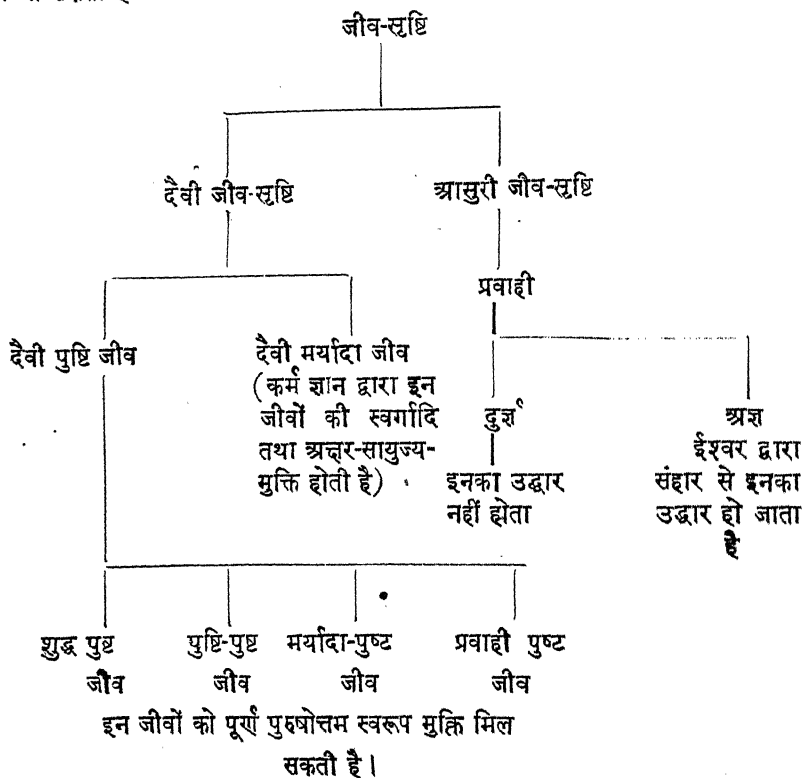
उपर्युक्त विभाजन के अतिरिक्त 'तत्वदीप-निबन्ध' में श्री वल्लभाचार्य ने जीव के तीन भेद और किये हैं—व्यष्टि जीव, समष्टि जीव तथा पुरुष जीव।[1]

अष्टछाप के जीव-सम्बन्धी विचार

जिस विस्तार के साथ सूरदास जी ने, ईश्वर के विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं उस विस्तार से उन्होंने जीव के विषय में विवेचन नहीं किया, परन्तु उनके पदों से ईश्वर और

१—व्यष्टिः समष्टिः पुरुषो जीवभेदास्त्रयो मताः।
—त० दी० नि०, सर्वनिर्णय प्रकरण, श्लोक ११६

सूरदास

जीव के सम्बन्ध, जीव-स्वरूप और जीव की शक्ति-सामर्थ्य के विषय में पर्याप्त परिचय मिल जाता है। पीछे कहा गया है कि श्री-वल्लभाचार्य जी ने ईश्वर-जीव का सम्बन्ध अंशी और अंश का कहा है। सूरदास ने भी इसी सिद्धान्त को ग्रहण किया है कि ब्रह्म ही अपने चित् अंश से अनेक जीव-रूप में स्थित है। जीव और ईश्वर की अद्वैतता[1] का भाव सूर ने कई स्थानों पर बताया है। नीचे[2] दिये हुए पद में केवल एक ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हुये सूर ने अनेक रूप बताये हैं और कहा है कि अन्त में ये अनेक रूप उस एक में ही समा कर एक हो जायँगे। वल्लभ-सिद्धान्त के अनुसार सच्चिदानन्द ब्रह्म के चिद् अंश से जीवों की उत्पत्ति है। सूरदास ने भी जीव को भगवान् की चेतन शक्ति का ही स्वरूप माना है।[3] एक भगवान् की ही चेतन ज्योति घट घट में व्याप्त है—

सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब बिधि काल।
प्रकृति पुरुष श्री पति नारायण, सब हैं अंश गुपाल।[4]

इन पंक्तियों में सूरदास ने इस बात को स्पष्ट किया है कि सृष्टि का सम्पूर्ण प्रसार, सम्पूर्ण

१—सहस रूप बहुरूप रूप पुनि एक रूप पुनि दोय।
—सूरसारावली, सूरसागर, बें० प्रे०, पृ० ३४।
प्राणदाता तुही स्थल छूँछम तुही, सर्वआत्मा तुही धर्म पालक।
ज्ञान तुही कर्म तुही, तुही विश्वकर्मा, तुही अनंत शक्ति प्रभु असुर-शालक।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध, बें० प्रे०, पृ० ५७६।

२—पहले हौं ही हौं तव एक।
अमल अकल अज भेद विवर्जित सुनि विधि विमल विवेक।
सो हौं एक अनेक भाँति करि शोभित नाना भेष।
ता पाछे इन गुननि गाए ते हौं रहि हौं अवशेष।
—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ३६।

३— कर्मद कह्यो तिन्हें सिरनाई, आज्ञा होइ करौं तप जाई।
अभय अछेद रूप मन जान, जो सब घट है एक समान।
मिथ्या तन को मोह बिसारि, जाइ रह्यो भावै गृह दारि।
करत इंद्रियनि चेतन जोई, मम स्वरूप जानो तुम सोई।
—सूरसागर, तृतीय स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ४१।
चेतन घट घट है या भाई, ज्यों घट घट रवि प्रभा समाई।
घट उपजो बहुरो नशि जाई, रवि नित रहे एक ही भाई।
—सूरसागर, तृतीय स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ४३।

४—सूरसारावली सूरसागर, बें० प्रे०, पृ० ३८।

तत्व, प्रकृति, पुरुष, लक्ष्मी नारायण, देवता तथा सम्पूर्ण जीव, सब गोपाल कृष्ण के अंश हैं। उन्होंने इस कथन से ईश्वर और जीव के अंशी-अंश सम्बन्ध का समर्थन किया है। परब्रह्म श्री कृष्ण का अंश-रूप जीव इस संसार की माया में पड़कर अपने सत्य स्वरूप को भूल जाता है। वह जीव अपनी आत्मा में स्थित, परन्तु प्रच्छन्न आनन्दांश और ईश्वरीय ऐश्वर्यादि गुणों को भूल जाता है। घट घट में व्याप्त ईश्वर के अन्तर्यामी स्वरूप से भी वह अनभिज्ञ रहता है। वह यह भी नहीं जानता कि मैं परब्रह्म का ही अंश हूँ। जीव की इस विस्मृति-अवस्था का वर्णन सूर ने कई उदाहरण देकर किया है—'उसको अपने सत्य स्वरूप की विस्मृति इस प्रकार होती है जैसे अपनी नाभि में स्थित कस्तूरी को कस्तूरी-मृग भूल जाता है अथवा जैसे स्वप्न संसार में मनुष्य अपनी जाग्रत अवस्था की वास्तविक स्थिति को भूल जाता है'।[1]

सूर के नीचे दिये हुये पद 'अपुनपौ आपुन ही बिसरयो' के आधार से कुछ लोग

१— अपुनपौ आपुन ही बिसरयो।
जैसे स्वान कांच मन्दिर में भ्रमि भ्रमि भूसि मरयो।
ज्यों सपने में रंक भूप भयो तस्कर अरि पकरयो।
ज्यों केहरि प्रतिबिम्ब देखि के आपुन कूप परयो।
जैसे गज लखि फटिक सिला में दसननि जाय अरयो।
मर्कट मूठ छाँड़ि नहिं दीनी घर घर द्वार फिरयो।
सूरदास नलिनी को सुवटा कहि कौने जकरयो।
—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ३८।

जब लों सत स्वरूप नहिं सूझत।
तों लौं मृग मद नाभि बिसारे फिरत सकल बन बूझत।
अपनो ही मुख मलिन मंदमति देखत दर्पन माँहि
ता कालिमा मेटिबे कारन पचत पखारत छाँहि।
—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ३८।

तथा

अपुनपौ आपुन ही में पायो।
शब्दहि शब्द भयो उजियारो सतगुरु भेद बतायो।
ज्यों कुरंग नाभी कस्तूरी, ढूँढ़त फिरत भुलायो।
फिर चेत्यो जब चेतन ह्वै करि आपुन ही तनु छायो।
× × ×
सूरदास समुझे की यह गति मन ही मन मुसकायो,
कहि न जाय या सुख की महिमा ज्यों गूँगे गुरु खायो।
—सूरसागर, चतुर्थ स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ४०।

कहते हैं कि सूरदास जी शङ्कर के भ्रमवाद और प्रतिबिम्बवाद से प्रभावित थे। शङ्कर-मतानुसार जीव स्वयं ब्रह्म है। वह माया से आक्रान्त, उसी माया में अपने ही प्रतिबिम्ब-रूप अनेक रूप देखता है, वस्तुतः वह अपने में अपने सत्य स्वरूप 'अहं ब्रह्मास्मि' को नहीं जानता। यह भ्रम काँच-मन्दिर में खड़े कुत्ते अथवा स्वप्न में सोये मनुष्य के भ्रम के समान है। इस अनेकरूपता, तथा सम्पूर्ण जगत के प्रसार को वह केवल मिथ्या कल्पना से देखता है। माया में प्रतिभासित माया-शबल ब्रह्म रूप जीव जो भ्रम में पड़ा है, माया के आवरण को हटाकर अपने सच्चे रूप को जान लेता है तो वह ब्रह्म ही हो जाता है। इस प्रकार का अर्थ सूरदास के उक्त पद से निकाला जा सकता है। परन्तु सूरदास के अन्य पद और कथनों के मिलान करने पर तथा वल्लभ-सिद्धान्त को ध्यान में रखने पर हमें ज्ञात होगा कि वास्तव में सूर पर शङ्कर के मायावाद का प्रभाव नहीं था। ऐसे पदों का अर्थ वल्लभ-सिद्धान्तानुसार ही है।

सूरदास ने द्वितीय स्कन्ध, सूरसागर में आत्मप्रबोधन के पद दिये हैं। इस स्कन्ध के अन्य पदों में सूर के सिद्धान्त वल्लभ-मत से पूर्ण रूप से प्रभावित हैं। एक पद में वे कहते हैं—

'नैननि निरखि स्याम स्वरूप,
रह्यो घट घट व्यापि सोई ज्योति रूप अनूप।'[१]

इस पद में उन्होंने घट घट में व्याप्त ईश्वर के अन्तर्यामी रूप की ओर सङ्केत किया है जिसे संसारी जीव भूला हुआ है। कई पदों में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यह सम्पूर्ण सृष्टि 'प्रभु इच्छा रचनी' है, माया के भ्रम से रचा हुआ यह जगत नहीं है। माया के वश में उनके मतानुसार ब्रह्म नहीं है वरन् ब्रह्म का अंश-रूप जीव माया के भ्रम में स्वयं अपने आप पड़ गया है। जीव और जगत में ईश्वर के चिद् और सत् अंश की सत्ता सार-रूप से विद्यमान है। भेद केवल नाम और रूप का है। जीव स्वयं अविद्या या भ्रमवश अपने ईश्वरीय अंश-रूप, सत्य रूप, को भूल जाता है और इन्द्रिय-धर्म, देहधर्म आदि को अपनी आत्मा के धर्म समझने लगता है। यही उसका अज्ञान है, यही स्वप्न है। वल्लभ-सम्प्रदाय ने जगत को संसार से अलग कहा है। जगत ब्रह्म का अंश-रूप है और सत्य है। संसार, माया या अविद्या जन्य है तथा झूठा अथवा भ्रम है। जगत में स्थित जीव, संसार अथवा भ्रम में घुसकर भूल जाता है कि मैं ईश्वर का अंश हूँ और ईश्वरीय गुण सम्पन्न हूँ। यही भ्रम उसके दुख तथा राग-द्वेष का कारण है। यही संसार काँच का मन्दिर है और यही उसका स्वप्न है।

'मरकट मूठि छाँड़ि नहि दीनी घर घर द्वार फिर्‌यो ,
सूरदास नलिनी को सुवटा कहि कौनें जकर्‌यो ।'[१]

इन पङ्क्तियों से स्पष्ट है कि सूर के मतानुसार भ्रम अथवा अविद्या-माया में जीव स्वयं फँसा है, किसी अन्य ने उसे नहीं फँसाया। आप ही इस संसार के भ्रम को रचता है और आप ही उसमें लिप्त हो अनेक क्लेश उठाता है, जैसे मदारी का बन्दर और चिड़ीमार का तोता।[१] दृष्टान्त देकर सूर ने बताया है कि जीव स्वयं ही बन्दर और तोते की तरह माया में फँसा है। यदि किसी प्रकार ज्ञान से, योग से, भक्ति से अथवा भगवान् की कृपा से, यह माया या संसार छुट जाय तो जीव फिर अपने सत्यानन्द स्वरूप में आ जाय। शङ्कर के 'जगन्मिथ्या' वाद के प्रति निम्नलिखित पद में सूर ने अपनी उदासीनता प्रकट की है:—

"मन बच क्रम मन गोविंद सुधि करि ।
शुचि रुचि सहज समाधि साजि शठ दीनबन्धु करुणामय उर धरि ,
'मिथ्यावाद' विवाद छाँड़ि दै, काम क्रोध मद लोभै परिहरि ।
चरण प्रताप आनि उर अन्तर और सकल सुख या सुख तर करि ,
वेदन कह्यो स्मृति हू भाख्यो, पावन पतित नाम निज नरहरि ।"[२]

जैसे ब्रह्म सत्य और नित्य है उसी प्रकार ब्रह्म का अंश जीव भी नित्य और सत्य है। शरीर-भङ्गर है। जगत के नाम और रूपों के साथ इस शरीर का सम्बन्ध है। ब्रह्म की सत् और चिद् शक्तियाँ अनेक नाम और अनेक रूपों में दीख रही हैं। नाम और रूप परिवर्तन-शील हैं, नाशवान हैं, परन्तु जगत् और जीव की सार सत्ता (सत् और चिद्) नाशवान नहीं हैं। संसार की माया में बद्ध जीव अनेक कर्म करता हुआ अपनी देह के धर्मों को अपने

१—बन्दर को जब मदारी पकड़ता है तब वह एक छोटे मुखवाले बर्तन में कुछ नाज या रोटी के टुकड़े रख देता है। बन्दर जब उस खाद्य पदार्थ को बर्तन में देखता है तो आकर उसमें अपना हाथ डाल देता है। हाथ डालते समय हाथ खाली होने से बर्तन के मुख में घुस जाता है। परन्तु हाथ में नाज या रोटी आ जाने से जब मुट्ठी मोटी हो जाती है, तब वह बर्तन के सकरे मुख से नहीं निकलती। मदारी झट उसे पकड़ लेता है और घर घर उसे नचाता है। यदि बन्दर अपने हाथ की मुट्ठी छोड़ देता तो खाली हाथ निकल आता; परन्तु लोभ और भ्रम उसकी मुट्ठी नहीं खुलने देते। इसी प्रकार चिड़ीमार द्वारा लगाई हुई नरसल पर लोभवश बैठा हुआ तोता जब उलट जाता है तब वह अपने पञ्जों से नरसल को और दृढ़ता से जकड़ लेता है। उल्टा होते ही वह अपने पङ्ख और उड़ने की शक्ति को भूल जाता है। और गिरने के भ्रम से पञ्जों को नहीं छोड़ता। बस चिड़ीमार झट उसे पकड़ लेता है।

२—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ३०।

धर्म समझता है। इसी से देह-सङ्ग से जीव अपने को सुखी-दुखी समझता है। वास्तव में शुद्ध जीव अलिप्त हैं। उक्त वल्लभ-मत सूरदास ने नीचे लिखे पद में दिया है।[1] सूर ने एक और पद में कहा है कि जो बद्ध जीव कर्म-बन्धन में फँसकर अनेक योनियों के कर्मचक्र में चलता रहता है, वह कर्म तो करता है, परन्तु अल्प ज्ञानी और अल्प शक्तिवान् होने के कारण अपने पुरुषार्थ का नियन्त्रण उसके हाथ में नहीं है। 'कर्मफल जीव के अधीन नहीं है, कर्म-फलदाता भगवान् ही हैं, जो मनुष्य अपना पुरुषार्थ मानता है वह माया में फँसकर अहं-वादी बना हुआ है।'[2] सूरदास का यह भाव कि मनुष्य कर्म करता है, परन्तु फलदाता

१— राग बिलावल

तनु स्थूल और दूबर होइ, परम आत्म कों एक नहिं दोइ।
तनु मिथ्या छनभङ्गुर जानो, चेतन जीव सदा थिर मानो।
जीव को सुख दुख तनु सङ्ग होई, जोर बिजोर तन के सङ्ग सोई।
देह अभिमानी जीवहि जाने, ज्ञानी जीव अलिप्त करि माने।

× × ×

कबहूँ सुर कबहूँ नर होई, कबहूँ राव रङ्क जिय सोई।
जीव कर्म करि बहु तन पावै, अज्ञानी तिहि देखि भुलावै।
ज्ञानी सदा एक रस जानै, तन के भेद भेद नहिं मानै।
आत्म सदा अजन्म अविनासी, ताको देह मोह बड़ फाँसी।

× × ×

तातै ज्ञानी मोह न करै, तनु कुटुम्ब सों हित परिहरै।
जब लग भजै न चरन मुरारी, तब लग होइ न भव जल पारी।

—सूरसागर, षष्ठ स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ५४।

२—धर्म पुत्र तू देखि विचार, कारन-करन-हार करतार।
नर के किये कछू नहिं होई, करता हरता आपुहि सोई।
ताको सुमिरि राज्य तुम करौ, अहङ्कार चित ते परिहरौ।
अहङ्कार किये लागत पाप, सूरश्याम भजि मिटै संताप।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० २१।

तथा— करी गोपाल की सब होई।
जो अपनों पुरुषारथ मानत, अति झूठौ है सोई।

× × ×

दुख-सुख लाभ-अलाभ, समुझि तुम कतहि मरत हो रोई।
सूरदासस्वामी करुनामय, स्यामचरन मन पोई।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० २१।

ईश्वर ही है, भगवद् गीता के इस मंत "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन,[1] (तेरा कर्म में अधिकार है, फल में नहीं) से साम्य रखता है।

परमान्ददास ने भी ईश्वर और जीव के सम्बन्ध को अंशी-अंश का सम्बन्ध माना है। एक पद में वे कहते है,—'लोगों ने अपने अंशी गोपाल की स्मृति भुला दी है और उन्होंने संसार माँग लिया है। जो योगी हैं, वे योगाभ्यास करें, ज्ञानी ज्ञान करें, कर्ममार्गी कर्म में लगें, परन्तु हमारा व्रत तो अपने गोपाल के गुण-गान करने का है।'[2] इससे यही भाव निकलता है कि परमानन्ददास ईश्वर-जीव की अद्वैतता तथा उनका अंशी-अंश सम्बन्ध मानते थे जैसा कि वल्लभ-सम्प्रदाय में भी मान्य है।

परमानन्ददास

पीछे ईश्वर-प्रकरण में कहा जा चुका है कि नन्ददास अद्वैत ब्रह्म को माननेवाले थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'दशम स्कन्ध भाषा' में कहा है,—'ईश्वर ही जड़-चेतन का कारण है। सम्पूर्ण प्राणी उसी ईश्वर के विस्तार-रूप हैं। ईश्वर ही जीव रूपों में है और ईश्वर ही इस सम्पूर्ण सृष्टि-रूप में है।'[3] इस प्रकार नन्ददास ने ईश्वर और जीव की अद्वैतता स्वीकार की है। अब देखना है कि उन्होंने ईश्वर-जीव की अद्वैतता किस सम्बन्ध से प्रकट की है।

नन्ददास

१—गीता, अध्याय २, श्लोक ४७।

२— राग सारङ्ग

माई हों अपने गोपालहिं गाऊँ।
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन देखि देखि सुख पाऊँ।
जो ग्यानी ते ग्यान विचारो, जोगी ते जोग।
कर्मठ होय ते कर्म विचारो जे भोगी ते भोग।
× × ×
अपने अंसि की सुरति तजी है, माँगि लियो संसार।
परमानन्द गोकुल मथुरा में उपज्यो यहै विचार।

—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ११०।

३—व्यक्त अव्यक्त जु विश्व अनूप, बेद बदत प्रभु तुम्हरो रूप।
तुम सब भूतनि कौ विस्तार, देह प्रान इन्द्री अहङ्कार।
× × ×
तुम ही प्रकृति, सकति सब तुमही, सत रज तम जै लै लै उमही।
तुम ही जीवन तुम जी जीय, सब ठाँ तुमही, कोउ अवर न वीय।

—दशम स्कन्ध भागवत, दशम अध्याय। नन्ददास, शुक्ल, पृ० २७१, पाठ-भेद से।

'दशम स्कन्ध भागवत भाषा' में उन्होंने एक स्थान पर शङ्कर, ब्रह्मा, शारदा, देवता, नारद तथा अन्य मुनीश्वरों से श्री कृष्ण की स्तुति कराई है। उस स्थान पर वे कहते हैं— हे नाथ आप हम सब के स्वामी हैं, सम्पूर्ण विश्व आपके हाथ में है। हम सब प्राणी आपसे इस प्रकार प्रसूत हैं, जैसे अग्नि से अगणित स्फुलिंग निकले हों[1]।' यहाँ पर नन्ददास ने वल्लभाचार्य के ब्रह्मवाद का पूर्णरूप से अनुकरण किया है। दशम स्कन्ध भागवत में उन्होंने अन्य कई स्थानों पर जीव जगत और ईश्वर की अद्वैतता बताते हुये, जीव और जगत को ब्रह्म प्रसूत बताया है।[2]

अंश रूप जीवात्मा के साथ रहने वाला ब्रह्म का एक अन्तर्यामी रूप भी वल्लभ-सम्प्रदाय में माना गया है। नन्ददास कहते हैं कि जीव की देह पाप पुण्य कर्मों से निर्मित है और संसारी जीव की विषय-विदूषित इन्द्रियाँ इस अन्तर्यामी ब्रह्म को नहीं पकड़ सकतीं।[3] बद्धजीव और ईश्वर में यह अन्तर है कि ईश्वर काल, कर्म और माया के बन्धन से अलग और जीव काल कर्म और माया के वश में है, वे विधि-निषेध और पाप पुण्य के विकार से प्रभावित हैं।[4] जो

१—तदनन्तर सङ्कर अज सारद, अवर अमर, वर मुनिबर नारद।
आए दरसन हित अरबरे, अति मुद भरे अचम्भे भरे।
जाके उदर मधि जग सबै, सो देवकी उदर मधि अबै।
× × ×
करि दण्डवत महामुद भरे, इकइ बेर सब पायन परे।
गद्गद कण्ठ प्रेम रस भरे, अंजुलि जोरि स्तुति अनुसरे।
× × ×
तुम परमेश्वर सबके नाथ, विस्व समस्त तिहारे हाथ।
तुमते हम सब उपजत ऐसैं, अगिनि तें विस्फुलिङ्ग गन जैसैं।
—दशम स्कन्ध भागवत, द्वितीय अध्याय, 'नन्ददास, शुक्ल पृ० २०७।

२—अबहौं कहतु कि तुम्हरौ चेरौ, तुमते प्रकट जनम यह मेरौ।
—दशम स्कन्ध भागवत, १४वाँ अध्याय, 'नन्ददास,' शुक्ल पृ० २६३, कुछ पाठ-भेद से।

३—निपट निकट घट मैं जो अंतरजामी आही।
बिषै विदूसित इन्द्री पकरि सकै नहिं ताही। ७२।
—रास पञ्चाध्यायी, पञ्चम अध्याय, उदय नारायण तिवारी, पृ० ८८ तथा नंददास, शुक्ल पृ० १८२, पाठ भेद से।

४—काल करम माया अधीन ते जीव बखाने,
बिधि निषेध अरु पाप पुन्य तिनमें सब साने।
परम धरम परब्रह्म ज्ञान विज्ञान प्रकासी।
ते क्यों कहिए जीव रूढ़ श्रुति शिखा निवासी।
—सिद्धान्त पञ्चाध्यायी, 'नंददास' शुक्ल पृ० १८४।

जीवात्माएँ पुण्य और पाप से निर्मित गुणमय शरीर के धर्मों को छोड़कर ईश्वर का नैकट्य लाभ करती हैं अथवा ब्रह्म को जान लेती हैं, वे अपने सत्य रूप आनन्द तथा ईश्वरीय छः गुणों को धारण करती हैं;[1] जैसे कि गोपिकाओं ने लाभ किया था।

कृष्णदास, कुम्भनदास तथा गोविन्दस्वामी ने जीव की उत्पत्ति, तथा ब्रह्म के साथ उसके सम्बन्ध के विषय में कोई दार्शनिक विचार अपनी रचनाओं में नहीं प्रकट किये। चतुर्भुजदास तथा छीतस्वामी ने, जैसा कि पीछे उनके ईश्वर-सम्बन्धी विचारों के प्रकरण में कहा गया है, ईश्वर और जीव की अद्वैतता स्वीकार की है। पीछे उद्धृत पद में चतुर्भुजदास ने कहा है कि[2] रसिक भक्त रसमय भगवान की प्रेम रस भक्ति द्वारा भगवान की रसता में मिल कर स्वयं रसमय हो जाता है। इससे शुद्धाद्वैत मत का ही प्रतिपादन होता है। इसी प्रकार छीतस्वामी जी भी कहते हैं कि 'मैं जिधर देखता हूँ उधर कृष्ण ही कृष्ण दिखाई देता है।'[3] इससे भी यही भाव निकलता है कि छीतस्वामी सब प्राणी मात्र को कृष्ण रूप देखते थे अथवा यह कहें, कि वे ईश्वर और जीव की एकता को मानते थे।

कृष्णदास तथा अन्य कवि

जगत का स्वरूप।

जगत उत्पत्ति के विषय में श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने विचार तत्वदीप निबन्ध, तथा अणुभाष्य में प्रकट किये हैं। जैसा कि पीछे 'ब्रह्म का स्वरूप' प्रकरण में कहा गया है कि वल्लभ-मतानुसार सच्चिद् गणितानन्द, अक्षर ब्रह्म से, पूर्ण पुरुषोत्तम की इच्छानुसार अग्नि की चिनगारी के समान उसके चिद् अंश से जीव और सत् अंश से जड़ जगत की उत्पत्ति हुई।[4]

१—सुद्ध प्रेममय रूप पंच भूतन ते न्यारी
तिन्हें कहा कोउ कहै जोति सी जग उजियारी।
जे रुकि गईं घर अति अधीर गुनमय सरीर बस।
पुन्न पाप प्रारब्ध रच्यो तन नाहिं पच्यो रस।
—रासपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, उदय नारायण तिवारी, पृ० १६।
तथा 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १६०, पाठ-भेद से।

२—रसिक गोपाल रस ही रीझत, रस मिलि, रस त्यज माई।
—पुष्टि मार्गीय, पद-संग्रह, भाग ३, सूरदास ठाकुरदास।

३—आगे कृष्ण पाछे कृष्ण, इत कृष्ण, उत कृष्ण, जित देखौं तित कृष्ण ही मईरी।
—लेखक के निजी छीत स्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० ४१।

४—विस्फुलिङ्गा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि।
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई श्लोक ३२।
तथाः—विस्फुलिङ्गा इवाग्नेःहि जडजीवाः विनिर्गताः आदि।
—अणुभाष्य, २ अध्याय, २ पाद, ४३ सूत्र, पृ० ७५२।

ब्रह्म की इच्छा इस सम्पूर्ण प्रपञ्च सृष्टि का कारण है। ब्रह्म के आनन्द और चिद् धर्मों के तिरोधान से ब्रह्म का सद् अंश जगत बना। यह जगत अनेक रूपात्मक है; परन्तु यह अनेक रूपता ब्रह्म के एक सद् अंश का ही परिणाम मात्र है। इस अनेकरूपता में जो शुद्ध सार-सत्ता है वह ब्रह्म का अंश होने के कारण सत्य है और अपनी आदि अवस्था में ब्रह्म से अभिन्न है।[1] इसीलिए इस मत को शुद्धाद्वैत मत कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्म कारण है और जगत कार्य। क्योंकि जगत ब्रह्म की इच्छा से ही आविर्भूत होता है, इसीलिए ब्रह्म जगतकर्ता कहा गया है।[2] यह जगत-कार्य, कारण-ब्रह्म में तिरोभूत रहता है, जैसे दूध में घृत; परन्तु जब ब्रह्म स्वेच्छा से परिणाम को धारण करता है, तब जगत-रूप कार्य अलग प्रादुर्भूत हो जाता है। वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार यह परिणाम अथवा परिवर्तन विकारी नहीं है, अविकृत है।

यह जगत ब्रह्म-रूप ही है। इस भाव को आचार्य जी ने कई प्रकार से प्रकट किया है। 'सिद्धान्त-मुक्तावली' में आचार्य जी कहते हैं—'परब्रह्म तो श्री कृष्ण ही है, कृष्ण का बृहत् अक्षर रूप सच्चिदानन्द-स्वरूप है। वही ब्रह्म दो प्रकार का है और साथ में वह सर्व भी है। इसी से विलक्षण है। उस ब्रह्म का एक रूप सर्व जगत है और दूसरा उससे भिन्न है। जगत रूप के विषय में वाद करनेवाले लोग उसके बारे में अनेक मत रखते हैं। कुछ लोग इस जगत को माया से दीखनेवाला बताते हैं, कितने ही इसे गुणों से (सत्व, रज, तम) उत्पन्न बताते हैं और तीसरा एक मत है कि यह जगत ईश्वर का ही कार्य है। उधर कुछ लोगों का मत है कि यह जगत अनादि काल से प्रवाह की तरह स्वतन्त्र रूप से चला आ रहा है।'[3] भिन्न-भिन्न प्रकार के मतों को देते हुये आचार्य जी ने कहा है कि वह अक्षर ब्रह्म ही 'एतत् प्रकारेण' इस प्रकार जगत रूप हो जाता है।

१—यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा।
स्यादिदं भगवान्साक्षात्प्रधान पुरुषेश्वरः।
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई, पृ० २३७।

२—स एव हि जगत् कर्ता।
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई, श्लोक ८१ पृ० २७६।

३—परंब्रह्मस्तु कृष्णोहि सच्चिदानंदकं बृहत्।
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम्। ३
अपरं तत्र पूर्वस्मिन्वादिनो बहुधा जगु:।
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतंत्रं चेति नैकधा। ४।
तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम्।
द्विरूपं चापि गंगावज्ज्ञेयं सा जलरूपिणी। ५।
—सिद्धांत-मुक्तावली श्लोक ३, ४, ५, षोडश ग्रंथ, भट्ट रमानाथ शर्मा, पृ० २४।

पीछे कहा गया है, वल्लभ सम्प्रदाय अथवा पुष्टि-मार्ग जगत के सम्बन्ध में अविकृत परिणामवाद को मानता है। परिणाम अथवा परिवर्तन दो प्रकार का होता है, अविकृत और विकृत। अविकृत परिणाम वह है जब कोई पदार्थ अपना रूप बदलने पर फिर अपने पहिले रूप में आजाय, दूसरा विकृत परिणाम वह है, जब परिवर्तित पदार्थ फिर से अपने पहले असली रूप में न आ सके। रूपान्तर होने पर पदार्थ अपने पूर्व रूप में नहीं आता उस परिणाम को विकार कहते हैं। जैसे दूध का परिणाम दही है, परन्तु दही फिर दूध रूप में नहीं लाया जा सकता। परिणाम में, परिणाम से पूर्व, परिणाम के समय और परिणाम के बाद यदि किसी प्रकार का अन्यथा भाव, कारण और कार्य में, उत्पन्न नहीं होता तब उस परिणाम को अविकृत परिणाम कहा गया है, जैसे सुवर्ण की डली के कंकण, अँगूठी आदि आभूषण भिन्न रूप होने पर भी गलाने पर फिर सब सोना हो जाते हैं, इसी प्रकार यह जगत भी शुद्ध ब्रह्म का (माया शबलित ब्रह्म का नहीं) अविकृत परिणाम है और लय होने पर शुद्ध ब्रह्म ही हो जायगा।

ब्रह्म ही इस जगत का निमित्त और ब्रह्म ही इसका उपादान कारण है।[१] तत्वदीप-निबन्ध के अतिरिक्त अणुभाष्य में भी श्री वल्लभाचार्य जी ने यही भाव प्रकट किया है,[२] इस मत पर वल्लभ-सम्प्रदाय में एक उदाहरण दिया जाता है कि जैसे मकड़ी अपनी इच्छा से तन्तु निकालती है, उसमें रमण करती है और फिर उसे अपने मुख में प्रविष्ट कर लेती है। उसी तरह शुद्ध ब्रह्म ही, जगत-रूप में अविकृत परिणाम को प्राप्त होता है। जैसे इस जगत की उत्पत्ति ब्रह्म की इच्छा से हुई है उसी प्रकार इसका लय भी उसी की इच्छा के अधीन होता है। श्री भगवद्गीता के वाक्यों में भी वल्लभ-सम्प्रदाय शुद्धाद्वैत और अविकृत परिणामवाद को पाता है। गीता में कृष्ण ने कहा है —'सम्पूर्ण जगत का

१—जगतः समवायि स्यात् तदेव च निमित्तकम्।

—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई, पृ० २३३।

उपादान कारणः—इसको समवायिकारण भी कहते हैं। यह किसी कार्य का वह कारण है जो कार्य से सदैव मिला रहे। जो कार्य के आदि और अन्त में, कार्य के अनेक रूपों में सदा एक सा बना रहे। जैसे घड़ा कार्य का उपादान कारण मिट्टी, है घड़े के फूट जाने पर फिर भी मिट्टी रहती है।

निमित्त कारणः—यह वह कारण है जिसकी कार्य से पहिले अलग स्थिति हो और जो कार्य का उत्पादक हो जैसे घड़े का बनाने वाला कुम्हार।

२—ननु ब्रह्म जगत्कारणमिति सिद्धम्। तच्च समवायि निमित्तं चेति च कारणधर्मा एव हि कार्ये भवन्ति।

—अणुभाष्य, २ अध्याय, २ पाद, १७ सूत्र, पृ०. ६१०।

मैं ही प्रभव मूल हूँ और प्रलय अथवा अन्तकर्ता मैं ही हूँ।'[1] तथा 'धनञ्जय, मुझसे परे अथवा मेरे सिवाय और कोई वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत धागे में पिरोई हुई मणियों के समान मुझमें गुँथा हुआ है। सर्व जगत ब्रह्म से ही बना है, ब्रह्म ही से परिपूर्ण है ब्रह्म ही इसका कारण है।'[2] अनीश्वरवादी लोग इस जगत को असत्य कहते हैं।[3] कारण ब्रह्म और कार्य जगत दोनों सत्य हैं।[4] इस बात को कई स्थानों पर वल्लभाचार्य जी ने अपने ग्रन्थों में कहा है।

मायावादी अद्वैत वेदान्त का जगत के विषय में कहना है कि निर्गुण, निराकार और अव्यक्त ब्रह्म अपनी अनिर्वचनीय माया के सम्बन्ध से जगत-रूप विवर्त को प्राप्त हो जाता है। ब्रह्म का एक रूप मायारहित है और दूसरा माया-शबल या माया से आक्रान्त। उस माया शबल ब्रह्म में ही माया-शबल जीव-रूप ब्रह्म को जगत की भ्रान्ति होती है। इस भ्रान्ति को विवर्त कहते हैं। विवर्तवाद के अनुसार माया जगत का उपादान कारण है। जैसे रस्सी में साँप की भ्रान्ति अथवा सीपी में चाँदी की भ्रान्ति प्रतिभासित है। वास्तव में यह जगत कल्पना अथवा भ्रान्ति है। इसी से शङ्कराचार्य जी ने इस जगत को मिथ्या कहा है। 'अद्वितीय कूटस्थ चैतन्य ब्रह्म में जो जगत की उपादान कारणता है वह परमाणुओं के समान आरम्भकत्व रूप नहीं है अथवा प्रकृति के समान परिणाम रूप भी नहीं है, किन्तु अविद्या से आकाश आदि प्रपञ्च के आकार से विवर्तमानता रूप है।[5]

कुछ मायावादी लोगों का इस प्रकार भी कहना है कि जगत सत्य और असत्य दोनों है। जगत माया या अविद्या से बना है। आदि भगवान् की माया अनिर्वचनीय है, इसलिए यह जगत भी अनिर्वचनीय है। इस जगत का प्रत्यक्ष ग्रहण हो रहा है इसलिए इसे

१—'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा'

—गीता, अध्याय ७, श्लोक ६।

'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।'

—गीता, अध्याय १०, श्लोक ८।

२—मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।

—गीता, अध्याय ७, श्लोक ७।

३—असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
—गीता, अध्याय १६, श्लोक ८, तथा त० दी० नि० शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई, श्लोक ६४ पृ० ३४४।

४—कार्यस्य कारणादन्यत्वं न मिथ्यात्वम्।
—अणु भाष्य, २ अध्याय, १ पाद, १४ सूत्र, पृ० ५७५।

५—सिद्धान्त-लेश संग्रह, अप्पय्य दीक्षित, अच्युत ग्रन्थमाला काशी, पृ० ५७।

असत्य अथवा भूठा नहीं कह सकते और कल्पना या अविद्या के उपादान से इसे सत्य भी नहीं कह सकते।

श्री वल्लभाचार्य जी द्वारा दिया हुआ, जगत और ब्रह्म के सम्बन्ध का मत (Pure monotheism) पाश्चात्य सर्वेश्वरवाद (Pantheism) से बहुत मिलता है। डाक्टर भण्डारकर ने अपने 'वैष्णविज़्म' शैविज़्म ऐण्ड अदर रिलीजस सिस्टम्स[1]" नामक ग्रन्थ में भारतीय उपनिषदों में दिये हुये सर्वेश्वरवाद तथा पाश्चात्य स्पनोज़ा (Spinoza) के सर्वेश्वरवाद के अन्तर को स्पष्ट किया है। पाश्चात्य सर्वेश्वरवाद का कहना है कि यह जगत ईश्वर है, इसलिए ईश्वर की प्रतीति इस जगत में ही हो सकती है। इस दृश्यमान जगत से परे ईश्वर नहीं है। इसलिए इस जगत रूप ईश्वर की भक्ति करनी चाहिये। इसी सिद्धान्त का अनुकरण करके वर्डसवर्थ आदि प्रकृति के उपासक कवियों ने ईश्वर रूप प्रकृति की स्तुति की है। इधर श्रीशङ्कराचार्य जी से लेकर श्रीवल्लभाचार्य तक सभी दार्शनिक तत्व-वेत्ताओं ने औपनिषद सर्वेश्वरवाद दिया है जो पाश्चात्य सर्वेश्वरवाद से भिन्न है। भारतीय दृष्टि में ईश्वर इस जगत और जीव रूप में भी है और इनसे भिन्न भी है।

✓तत्व-दीप-निबन्ध के सर्व निर्णय-प्रकरण में श्रीवल्लभाचार्य जी ने कहा है कि सृष्टि के आदि में परम तत्व के परिणाम से २८ तत्वों का प्रादुर्भाव हुआ। इन तत्वों के नाम ये हैं—सत, रज, तम, पुरुष, प्रकृति, महत्, अहंकार, पंचतन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, आकृति रस, गंध), पंच महाभूत (शब्द, वायु, तेज जल, पृथ्वी), पंच कर्मेन्द्रिया, पंच ज्ञानेन्द्रियां (कान, त्वक्, घ्राण, नेत्र, जिह्वा) और मन। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इन २८ तत्वों में परिणाम विकारी नहीं है। सांख्य शास्त्र विकृत परिणामवाद का आश्रय लेकर सृष्टि की उत्पत्ति समझाता है। सांख्य शास्त्र में प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। वल्लभाचार्य जी ने सत्व, रज, तम, इन तीन गुणों को प्रकृति से पृथक् स्वतन्त्र तत्व मान लिया है। वल्लभ-सिद्धान्तानुसार सृष्टि का विकास इस प्रकार है,—सच्चिदानन्द पूर्ण पुरुषोत्तम अपनी इच्छा मात्र से सत् चित् तथा गणितानन्द अक्षर ब्रह्म बनता है। अक्षर ब्रह्म, हरी पुरुष, काल, कर्म और स्वभाव, रूप धारण करता है। तभी अक्षर ब्रह्म के चित् रूप से जीव रूप पुरुष और सत् अंश से प्रकृति का प्रादुर्भाव होता है तभी पुरुष और प्रकृति के साथ पीछे कहे २६ और तत्वों का आविर्भाव होता है। २८ तत्वों से युक्त अण्ड रूप सृष्टि में परब्रह्म जब अन्तर्यामी रूप से प्रवेश कर उसका सञ्चालन करता है तभी अनेक नाम रूपात्मक सृष्टि का प्रसार होने लगता है। इस अण्ड सृष्टि को विराट पुरुष भी कहा गया है। अक्षर, काल, कर्म और स्वभाव, ये सृष्टिकारी ब्रह्म के स्वरूप हैं और इनकी गणना सृष्टि के अट्ठाइस तत्वों में वल्लभाचार्य जी

१—वैष्णविज़्म, शैविज़्म ऐण्ड अदर रिलीजस सिस्टम्स, भण्डारकर संस्क० सन् १९१३ ई०, पृ० १५८–१६१।

ने नहीं की है । जगत का उपादान कारण प्रकृति है जो वस्तुतः ब्रह्म का ही अविकारी परिणाम है ।[1]

जगत और संसार का भेद

तत्व-दीप-निबन्ध में श्री आचार्य जी ने कहा है, कि 'यह प्रपञ्च (जगत) भगवत् कार्य है और यह भगवान् की माया नाम की शक्ति से बना है । इस माया की अविद्या नामक शक्ति के सहारे जीव संसार को बनाता है ।[2], इस प्रकार वल्लभाचार्यजी ने जगत ईश्वर-कृत और संसार जीव-कृत बताया है । जगत एक सत्य तत्व का अविकृत परिणाम है, इसलिए सत्य है । साङ्ख्यवाद के अनुसार, वल्लभ-मत का जगत प्राकृत और स्वभाव जन्य नहीं है और न मायावाद के अनुसार विवर्त अथवा आभास-रूप कल्पित है । यह जगत भगवान् का अंश है और इसीलिए भगवान् का स्वरूप है । संसार को जीव ने अपनी अविद्या, कल्पना, अथवा भ्रम से रचा है । दूसरे शब्दों में, संसार का उपादान कारण अविद्या माया और निमित्त कारण अविद्या माया से प्रच्छन्न जीव है । इसलिए वल्लभ-मत में संसार झूठा है

१—सत्वं रजस्तमश्चैव पुरुषः प्रकृतिर्महान् ।
अहङ्कारः पञ्चमात्रा शब्दस्पर्शाकृती रसः ।९४
गन्धो भूतानि पंचैव खं वायुर्ज्योतिरपः क्षितिः ।
क्रियामयानीन्द्रियाणि वाग्दोर्मेढ्रांघ्रिपायवः ।
श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वा मनः षडितिभेदतः ।९५
—त० दी० नि० सर्वनिर्णय प्रकरण, श्लोक ९४, ९५, पृ० २३१ ।
प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत् पुरा ।
यद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते । ९८
आनन्दांशतिरोभावः सत्वमात्रेण तत्र हि ।
मुख्यजीवस्ततः प्रोक्तः सृष्टीच्छावशगो हरिः ।९९
इच्छामात्रात्तिरोभावस्तस्यापमुपचर्यते ।
ब्रह्मकूटस्थाऽव्यक्तादिशब्दैर्वाच्यो निरन्तरम् ।१००
सर्वावरणयुक्तानि तस्मिन्नंडानि कोटिशः
मूलाविच्छेदरूपेण तदाधारतया स्थितः ।१०१
—त० दी० नि०, सर्वनिर्णय प्रकरण, श्लोक ९८, ९९, १०० तथा १०१ ।

२—प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाभवत् ।
तच्छक्त्याविद्यया त्वस्य जीवसंसार उच्यते । २६
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई, श्लोक २६ पृ० ७५ ।

संसार का स्वरूप क्या है? अहंता ममतात्मक कल्पना का नाम संसार है। 'मैं ही कर्म करने वाला, फल का अधिकारी और भोगनेवाला हूँ। मैं और अन्य प्राणी सब भिन्न-भिन्न है। यह मेरा है, यह तेरा है।' इस प्रकार के कल्पित सुख-दुख में जीव अपने सच्चे स्वरूप को भूल कर देह-धर्म, इन्द्रिय-धर्म आदि को अपनी आत्मा के धर्म समझता है। अविद्या माया की प्रेरणा से अहंता, अहंता से ममता, ममता से भेदभाव और द्वैत बुद्धि और भेद भाव से राग-द्वेष और फिर अनेक दुःख-शोक उत्पन्न होते हैं। राग-द्वेष से घिरी बुद्धि हमारे कर्मों का सञ्चालन करती है और उन्हीं कर्मानुसार जन्म मरण और अनेक सुख-दुख मिलते हैं। यही संसार का चक्र है। जब जीव ज्ञान, योग अथवा भगवद्भक्ति द्वारा अविद्या से छूटता है, तभी यह संसार भी छूट जाता है, परन्तु उस अवस्था में भी वह इस जगत से अलग नहीं होता। जीव के ज्ञान प्राप्त होने पर भी ब्रह्म का सत्य प्रपञ्च जगत ज्यों का त्यों रहता है। जीव की विद्या और अविद्या की दोनों अवस्थाओं में यह अन्तर है कि ज्ञानावस्था में अहंता-ममताजन्य संसार छूट जाता है और उसे संसार से मुक्ति मिल जाती है उधर अविद्या की दशा में संसार की माया जीव को अनेक बन्धन और क्लेशों में लपेटे रहती है। जीव की मुक्ति में संसार का लय है; परन्तु जगत का लय कभी भी नहीं है। जगत का लय तो भगवान की इच्छा पर निर्भर है। इस भाव को श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने ग्रन्थ तत्व-दीप-निबन्ध में प्रकट किया है।[1] इस ग्रन्थ में आचार्य जी ने संसार की कारण-स्वरूपा माया पाँच प्रकार की बताई है, जिसका ज़िक्र आगे किया जायगा। श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है,—'गुण और कर्म से बँधा हुआ यह संसार (ममतात्मक संसार) अज्ञान-मूलक और स्वप्नवत् झूठा है'[2] सुख-दुख संसार के साथ लगे हैं, जगत के साथ नहीं हैं।

अष्टछाप के जगत सम्बन्धी विचार

सूरदास ने अपनी रचनाओं में इस बात को स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यह जगत, जीव, सम्पूर्ण देव आदि सब परब्रह्म गोपाल के अंश हैं।[3] परब्रह्म के अंशरूप इस जगत

१—संसारस्य लयो मुक्तौ न प्रपञ्चस्य कर्हिचित्।
कृष्णस्यात्मरतौ त्वस्य लयः सर्वसुखावहः।२७

—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण ज्ञान सागर बम्बई, श्लोक २७ पृ० ८४।

२—एतद्द्वारो हि संसारो गुणकर्मनिबन्धनः।
अज्ञानमूलो पार्थोऽपि पुंसः स्वप्न इवेष्यते।

—श्रीमद्भागवत। सप्तम स्कं०, अ० ७, श्लो० २७।

३—सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल,
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण, सब हैं अंश गुपाल।

—सूरसागर, सूरसारावली, वें० प्रे०, पृ० ३८।

सूरदास

की उत्पत्ति के विषय में वल्लभ-सिद्धान्तों का अनुकरण करते हुये उन्होंने कुछ पदों में अपने विचार विस्तार से प्रकट किये हैं। एक पद में वे कृष्ण की स्तुति करते हुये कहते हैं कि प्रभु, आप ही इस जगत का सृजन, इसका पालन और संहार करते हैं, यह जगत आपसे इस प्रकार निकला है और इस प्रकार आप ही में लय हो जायगा जैसे पानी का बुदबुदा पानी से ही बनता है और फिर पानी में ही विलीन हो जाता है।'[1] इसमें सूरदास जी ने वल्लभाचार्य जी के अविकृत परिणामवाद का ही समर्थन किया है।[2] पानी का परिणाम बुदबुदा है और फिर वह लौटकर पानी हो हो जाता है, उसी प्रकार यह जगत ब्रह्म के सत् अंश से उत्पन्न हुआ और फिर जब वह अपनी इच्छा से इस सृष्टि को समेटेगा तब वह उसी अंश में समा जायगा। सूरदास जी का मत है, जैसा कि अभी कहा गया है—'पहले केवल ब्रह्म ही था, वही एक ब्रह्म अनेक तरह से अनेक रूपों में शोभा दे रहा है। और अन्त में वही एक ब्रह्म अवशेष रह जायगा।'[3] यहाँ सूरदास शङ्कर के केवलाद्वैत के अनुसार यह नहीं कहते कि एक माया-शबलित ब्रह्म ही अनेक रूप में प्रतिभासित अथवा प्रतिबिम्बित है। वे स्पष्ट कहते हैं कि एक ही तत्व अनेक रूप से विद्यमान होकर शोभा दे रहा है। शोभा देने के भाव से सूरदास जी ब्रह्म के अंश रूप जगत की सत्यता का प्रतिपादन करते हैं। कई स्थानों पर उन्होंने ईश्वर को ही इस जगत का निमित्त और उपादान कारण कहा है।[4]

सूरदास जी ने सूरसागर के कथा प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत से लिये हैं। इस बात को स्वीकार उन्होंने एक नहीं अनेक स्थलों पर किया है। परन्तु जिस भागवत का अनुकरण उन्होंने किया है वह श्रीवल्लभाचार्य जी की सुबोधिनी भागवत है। इसीलिए भागवत के मत

१—प्रभु तुम मर्म समुझि नहिं परयो,
जग सिरजत, पालत, संहारत पुनि क्यों बहुरि करयो।
ज्यों, पानी में होत बुदबुदा, पुनि ता माहिं समाही,
त्यों ही सब जग कुटुम्ब तुमहि ते पुनि तुम माहिं बिलाही।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध, वें० प्रे० पृ० ५६५।

२—प्राकृत लै भए पुरुष जगत सब प्राकृत समाइ।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ३६३।

३—पहिले हौं ही हौं तब एक,
अमल अकल अज भेद विवर्जित सुनि विधि विमल विवेक।
सो हौं एक अनेक भाँति करि शोभित नाना भेष,
ता पाछे इन गुननि गाए ते हौं रहि हौं अवशेष।
—सूरसागर द्वितीय स्कन्ध वें० प्रे० पृ० ३६।

४—धर्म पुत्र तू देखि विचार, कारन करन हार करतार।
—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे० पृ० २१।

को देते हुये सूरदास जी ने उसमें सुबोधिनी टीका के भावानुसार अपने साम्प्रदायिक विचारों का समावेश भी किया है। सूर सारावली के आरम्भ में वे सृष्टि-रचना के विषय में कहते हैं—"अविगत, आदि, अनन्त, अविनाशी, गुणातीत (निर्गुण), अनुपम पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम अपने वृन्दाबन लोक में नित्य लीला में मग्न रहता है। एक बार उसे अपनी लीला के विस्तार की इच्छा हुई। उसी समय पूर्ण पुरुषोत्तम ने अपने आपको 'हरी पुरुष' रूप में स्थित किया। उससे काल पुरुष[1] की उत्पत्ति हुई। भगवान् की इच्छा-शक्ति-स्वरूपा माया ने काल पुरुष के चित्त में क्षोभ पैदा किया जिससे तीन गुण (सत, रज, तम) और सत् अंश-स्वरूपा प्रकृति बने। तीन गुण, प्रकृति और पुरुष के मेल से सृष्टि का विस्तार हुआ और इस प्रकार सम्पूर्ण २८ तत्व सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुये।"[2] सूरदास जी ने सृष्टि विकास को श्रीवल्लभाचार्य जी के मतानुसार ही दिया है। अट्ठाइस तत्वों की संख्या सूर सागर, द्वितीय स्कन्ध में, सूरदास ने श्री वल्लभाचार्य जी के मतानुसार ही दी है। आगे वे कहते हैं कि नारायण भगवान् के नाभि कमल से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। सूर के नारायण अथवा 'हरी' पुरुष वल्लभ-मत के अक्षर ब्रह्म का ही स्वरूप प्रतीत होते हैं जो सहस्रों लक्ष्मियों के साथ क्रीड़ा-मग्न रहते हैं।[3] सूर भी नारायण के विषय में कहते हैं—

१—नाथ, दत्तात्रेय, कबीर आदि पन्थों द्वारा प्रयुक्त ईश्वर विषयक कुछ शब्दों को, जैसे अलख पुरुष, अगम, निरञ्जन, काल पुरुष, पूर्ण पुरुष आदि, जो सूर के समय के उत्तर भारत के धार्मिक वातावरण में प्रचलित थे, सूर ने भी अपनी रचना में प्रयुक्त किया है। ये शब्द उक्त निर्गुण सम्प्रदायी धर्मों के अभिप्रेत भाव के द्योतक नहीं हैं। यहाँ पर 'काल पुरुष' का तात्पर्य ब्रह्म के अक्षर काल, कर्म और स्वभाव रूपों में से 'काल' रूप से है।

२—अविगति आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनासी।
पूर्ण ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित निज लोक विलासी।
जहं वृन्दावन आदि अजिर जहं कुंजलता विस्तार।
तहं विहरत प्रिय प्रीतम दोऊ निगम भृंग गुंजार।
खेलत खेलत चित में आई सृष्टि करन विस्तार।
अपने आप करि प्रकट कियौ है हरी पुरुष अवतार।
माया कियो क्षोभ बहुविधि करि काल पुरुष के संग।
राजस, तामस, सात्विक त्रय गुण प्रकृति पुरुष को संग।
कीन्हें तत्व प्रकट तेही क्षण सबै अष्ट और बीस।
तिनके नाम कहत कवि सूरज निर्गुण सब के ईश।
—सूरसागर सूरसरावली वें० प्रे० पृ० १।

३—नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनं।
लक्ष्मी सहस्रलीलाभिर्सेव्यमानं कलानिधिम्।
—श्रीवल्लभाचार्य जी-कृत सुबोधिनी के मङ्गलाचरण की प्रथम कारिका।

'नारायण भगवान् सहस्रों सुख-स्वरूपा अत्यन्त पवित्र लक्ष्मियों के साथ आनन्द-क्रीड़ा करते हैं। खेलते-खेलते ही उन्होंने अपने नाभि कमल से प्रसूत ब्रह्मा को सृष्टि रचने की आज्ञा दी। तभी ब्रह्मा ने अनेक प्रकार की रचना रची'।[1] द्वितीय स्कन्ध में नारद ब्रह्मा सम्वाद का प्रसङ्ग देते हुये भी सूरदास ने जगत्-उत्पत्ति का विवरण दिया है। वे कहते हैं—

जो हरि करै सो होई कर्ता नाम हरी।
ज्यों दर्पण प्रतिबिम्ब त्यों सब सृष्टि करी।[2]

इन वाक्यों में कुछ पाठक शङ्कर के विवर्तवाद का मान पायेंगे, परन्तु आगे के वाक्यों से तथा उक्त छन्द की प्रथम पंक्ति से स्पष्ट है कि इसमें शंकराचार्य जी का विवर्तवाद नहीं है। सृष्टि का कर्त्ता, सूर ने, हरी भगवान को कहा है और दर्पण का दृष्टान्त उन्होंने यह बताने-के लिए दिया है कि जैसे कोई शिशु अथवा व्यक्ति दर्पण में अपना स्वरूप देख कर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी सृष्टि रूप अपने स्वरूप का विस्तार और उसमें अन्तर्यामी रूप से स्वयं प्रवेश कर प्रसन्न होते हैं। नन्ददास ने भी रास-पञ्चाध्यायी में कहा है,—'रास करते हुये कृष्ण रास का आनन्द इस प्रकार ले रहे हैं; जैसे शिशु दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देख कर आनन्द में भूलने लगता है।'[3] सृष्टि-विकास का वर्णन करते हुये सूरदास जी फिर कहते हैं,—'प्रथम अद्वितीय, निरञ्जन और निराकार ब्रह्म ही था। उसी ब्रह्म को इच्छा हुई कि मैं अपनी सृष्टि का विस्तार करूँ।' यहाँ सूर ने, ब्रह्म को निराकार और निरञ्जन कहा है और साथ में उसे इच्छा करनेवाला भी कहा। निराकार से सूर का तात्पर्य है कि ब्रह्म के प्राकृत शरीर नहीं है, उसका विग्रह आनन्द का है। आनन्द-विग्रह-रूप ब्रह्म के आकार का हमारी पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकतीं, इसीलिए उसे सूर ने निराकार

१—नाभि कमल नारायण की सो वेद गर्भ अवतार।
नाभि कमल में बहुतहि भटक्यो तऊ न पायो पार।
तब आज्ञा भई यह हरि की अज करो परम तप आप।

× × ×

जहां आदि निजलोक महानिधि रमा सहस्र संयूत।
आन्दोलत झूलत करुणानिधि रमा सुखद अति पूत।
—सूरसागर सूरसारावली बें० प्रे०, पृ० १।

२—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, बें० प्रे० पृ० ३६।

३—तब नागर नन्दलाल चाहि चित चकित होत यों।
निज प्रतिबिम्ब विलास निरखि सिसु भूलि परत ज्यों। २०
—रास पञ्चाध्यायी, पञ्चम अध्याय, 'नन्ददास', शुक्र, पृ० १७७।

कहा है। दूसरे, सर्वशक्तिवान् परब्रह्म को वल्लभ-मत ने विरुद्ध धर्मत्व का भी आश्रय कहा है। तीन तत्वों से (सत्, रज और तम से) महत्तत्व, महत् से अहङ्कार, अहङ्कार से मन, तथा दश इन्द्रियाँ, शब्दादि पञ्च तन्मात्राएँ और शब्दादि से पञ्चमहाभूत प्रकट हुये। यहाँ सूर ने वल्लभ-मतानुसार सत, रज, तम, तीन गुणों को स्वतन्त्र तीन तत्व माना है। सत, रज, तम, इन तीन गुणों को प्रकृति के तीन गुण न मान कर, इनको प्राचीन तान्त्रिक ग्रन्थों में भी स्वतन्त्र तत्व माना गया है। इन सम्पूर्ण तत्वों की समष्टि से एक अण्ड बना और परब्रह्म ने अन्तर्यामी रूप से उसमें प्रवेश किया। इस प्रकार आप-रूप अण्ड में अपने आप को ही प्रवेश कर ब्रह्म ने विराट् रूप धारण किया। उसी विराट पुरुष (नारायण के स्वरूप) की नाभि से ब्रह्मा ने उत्पन्न हो कर उसी की इच्छानुसार नाना नाम-रूपधारिणी सृष्टि की रचना की।[1]

भागवत तृतीय स्कन्ध, २६ वें अध्याय में कपिल मुनि ने अपनी माता को सांख्य-दर्शन समझाया है।[2] उसमें उन्होंने सांख्यवाद के अनुसार सृष्टि का विकास-क्रम भी बताया है। सूरदास ने भी सूरसागर के तृतीय स्कन्ध में भागवत का अनुकरण करते हुये कपिल से सृष्टि-विकास का वर्णन कराया है। परन्तु उस वर्णन को, सूर ने, शुद्ध सांख्य दर्शन के अनुसार न देकर उसमें अद्वैत वेदान्त-दर्शन के विचारों का भी समावेश कर दिया है। उन्होंने पुरुष और प्रकृति से पहले ईश्वर (हरी) की सत्ता स्वीकार की है। दूसरे, इस स्थान पर उन्होंने सत, रज, तम, तीन गुणों को प्रकृति के गुण कहा है, जो कथन वल्लभ-सिद्धान्त से कुछ अलग चला जाता है। कपिल अपनी माता को मुक्ति के लिए ज्ञान-मार्ग का उपदेश देते हैं तथा ज्ञान-उत्पत्ति से पहले वर्णाश्रम धर्म कर्म-मार्ग भी समझाते हैं। इस सब वर्णन से अनुमान होने लगता है कि सूर के विचार शुद्ध रूप से वल्लभ-मत के न थे। परन्तु वस्तुतः वे सूर के विचार नहीं हैं। यहाँ भागवत की कथा का

१—आदि निरञ्जन निराकार कोउ हुतो न दूसर।
रचों सृष्टि विस्तार भई इच्छा इस औसर।
निर्गुण तत्व ते महत्तत्व, महत्तत्व ते अहङ्कार।
मन इन्द्रिय, शब्दादि पंची ताते कियो विस्तार।
शब्दादिक ते पञ्चभूत सुन्दर प्रगटाये।
पुनि सब को रचि अण्ड आप में आप समाये।
तीन लोक निज देह में राखे करि विस्तार।
आदि पुरुष सोई भयो, जो प्रभु अगम अपार।

—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वें० प्रे० ३९।

२—सूरसागर, तृतीय स्कन्ध, वें० प्रे० पृ० ४१—४४।

अनुकरण मात्र है। सूर ने अपने साम्प्रदायिक विचारों का समावेश इस प्रसङ्ग में अन्यत्र किया अवश्य है। कपिल के मुख से भक्ति के सरल उपाय तथा वल्लभ सम्प्रदायी प्रेम लक्षणाभक्ति (सुधा भक्ति) का जो बखान कराया है वह वल्लभ-मतानुसार है। प्रकृति और पुरुष अद्वैतता का भाव सूरसागर के अन्य एक स्थान पर भी सूर ने किया है। कृष्ण, राधा से कहते हैं—

प्रकृति पुरुष एकै करि जानो बातनिभेद करायो।
जलथल जहाँ रहों तुम बिनु नहिं भेद उपनिषद् गायो।
द्वै तनु जीव एक हम तुम दोऊ सुख कारन उपजायो।
ब्रह्म रूप द्वितीया नहिं कोई तब मन त्रिया जनायो।[1]

पीछे कहा गया है कि सूरदास जी वल्लभ-मतानुसार जगत को सत्य मानते थे। जगत के मिथ्यत्व और विवर्तवाद के भाव का अस्वीकार उन्होंने गोपी उद्धव संवाद में किया है।[2] उद्धव निर्गुण और निराकार ईश्वर, जगत मिथ्या और ज्ञान और योग के साधन मार्ग का उपदेश देते हैं तथा सूर के विचारों की प्रतिनिधि स्वरूपा गोपी इस विचार को अस्वीकार करती हैं। जगत की बार-बार उत्पति और भगवान् की माया में उसके बार बार लीन होने के चक्र की सूर ने रहट यन्त्र से समता दी है। वे कहते हैं कि यह जगत भगवान्

१—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० १६२।

२—उद्धव बचनः—गोपी सुनहु हरि संदेस।
कह्यो पूरण ब्रह्म धावो त्रिगुण मिथ्या भेस।
मैं कहों सो सत्य मानहु त्रिगुन डारो नाष।
पंच त्रिय गुण सकल देही जगत ऐसो भाष।
ज्ञान बिनु नर मुक्ति नाहीं यह विषै संसार।
रूप रेख न नाम कुल गुनबरन अवर न सार।
मात पित कोउ नाहिं नारी जगत मिथ्या लाइ।
सूर दुख नाहिं जाके भजो ताको जाइ।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ५२५।

गोपी वचनः— फिरि फिरि कहा सिखावत मौन,
बचन दुसह लागत अलि तेरे ज्यों पजरे परलौंन।
सींगी मुद्रा भस्म अधारी अरु आराधन पौन।
हम अबला अहीर शठ मधुकर धरि जानहिं कहि कौन।
यह मत जाइ तिनहिं तुम सिखवहु जिनही यह मत सोहत।
सूर आज लौं सुनी न देखी पोतु पूतरी पोहत।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ५२२।

की इच्छा-रूपिणी सत्य माया से बार बार उत्पन्न होता है और भगवान् की इच्छा के अनुसार उसी माया में यह लीन हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सूरदास जी वल्लभाचार्य जी के अविकृत परिणामवाद तथा ब्रह्मवाद के ही अनुयायी थे और उनके विचारों में शङ्कर मत की कहीं भी स्वीकृति नहीं है।

परमानन्ददास

परमानन्ददास ने जगत की उत्पत्ति, उसके सत्यासत्य होने तथा सृष्टि के विकास के विषय में अपने उन पदों में कुछ नहीं लिखा जिनका अध्ययन लेखक ने किया है। इसलिए उनके पदों के आधार पर उनके जगत सम्बन्धी विचार देना कठिन है। बाह्य प्रमाणों से यह सिद्ध है कि वे वल्लभ सम्प्रदायी थे। और इसलिए इस विषय में उनके सिद्धान्त वे ही थे जो आचार्य वल्लभ के थे।

नन्ददास

नन्ददास ने अपनी रचनाओं में जगत सम्बन्धी विचार कई स्थानों पर दिये हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं कि सम्पूर्ण जड़ और चेतन सृष्टि के मूल में एक ही शुद्ध तत्व हैं जो नाम और रूप के भेद से अनेकरूपता धारण किये हुए हैं।[1] और वह शुद्ध तत्व परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं।[2] ब्रह्म और जगत की अद्वैतता बताते हुये नन्ददास ने ब्रह्म को ही जगत का निमित्त और उसी को उपादान कारण माना है। वे कहते हैं—'जो ब्रह्म ज्योर्तिमय, और जगतमय है वही अभेद रूप से जगत का उपादान कारण है और वही उसका करनेवाला निमित्त है।'[3] एक तत्व अनेक रूपों में किस प्रकार बदलता है, इस सम्बन्ध में नन्ददास ने वल्लभ-सम्प्रदाय के अविकृत परिणाम-वाद का ही समर्थन किया है। कवि कहता है—'एक ही वस्तु अनेक नाम और रूपों में इस प्रकार जगमगा रही है जैसे स्वर्ण से बने हुये अनेक आभूषणों में (कङ्कण, कर्धनी,

---

१—नाम रूप गुण भेद तें सोइ प्रकट सब ठौर।
ता बिनु तत्व जु आन कछु कहै सो अति बड़ बौर।
—मानमञ्जरी, पंचमञ्जरी, दोहा नं० २, बलदेवदास करसनदास पृ० ६९।

२—हो प्रभु सुद्ध तत्व मय रूप, एक रूप पुनि नित्य अनूप।
—दशम स्कन्ध, २७ वाँ अध्याय, 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० ३१५।

तन्नमामि पद परम गुरु, कृष्ण कमल दल नैन,
जग कारण करुणार्णव, गोकुल जाको ऐन।
—मानमञ्जरी, पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, पृ० ६९।

३—अनेकार्थ मञ्जरी पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० १।

कुण्डल आदि में नाम और आकार का भेद होते हुये स्वर्ण-साधारण वस्तु, व्याप्त रहती है।'[१] जगत और ब्रह्म की अद्वैतता बताते हुये नन्ददास ने कई उदाहरण दिये हैं। जगत में जो गुण और भाव हैं वे सब परब्रह्म से ही प्रसूत हैं जैसे समुद्र से बादल बनते हैं और उससे जल लेकर पृथ्वी पर बरसाते हैं, फिर अन्त में समुद्र उनको अपने में ही मिला लेता है। और जैसे अग्नि से अनेक दीपक-ज्योति जलती हैं, परन्तु सब मिलकर वे एक अग्नि मय हो जाती हैं। इस प्रकार उन्होंने जगत को ब्रह्म से प्रसूत, ब्रह्म का ही परिणाम और अन्त में ब्रह्म में ही लीन होनेवाला बताया है।

दशम स्कन्ध भागवत, तृतीय अध्याय में नन्ददास जी कहते हैं—'इस जगत का आधार ब्रह्म की सत्ता अथवा सत् रूप है, जब यह जगत ब्रह्म की माया में लीन हो जायगा उस समय केवल एक ब्रह्म ही रह जायगा।'[२] इस कथन में भी नन्ददास ने वल्लभाचार्य के मत का ही समर्थन किया है। जगत ब्रह्म के सत् अंश का अविकृत परिणाम है और ब्रह्म सत्य है, इसलिए नन्ददास के मत से जगत सत्य है, शङ्कर अद्वैत तथा मायावाद के समान मिथ्या नहीं है। शुद्ध अद्वैत और अविकृत परिणामवाद का समर्थन भँवरगीत की निम्नलिखित पङ्क्तियों में भी नन्ददास ने किया है—

मोमें उनमें अन्तरो, एकौ छिन भरि नाहि,
ज्यों देखौं मो माँहि वे, तो मैं उनही माँहि, तरङ्गिनि वारि ज्यों।[३]

१—**एकहि वस्तु अनेक ह्वै जगमगात जगधाम,**
ज्यों कञ्चन ते किंकिणी कङ्कण कुण्डल नाम।
—अनेकार्थ मञ्जरी, मङ्गलाचरण, दोहा नं० २, पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, पृ० १३१

ज्यों अनेक सरिता जल बहै, आन सबै सागर में रहै।
× × ×
ज्यों जल निधि ते जलधर जलतें, बरखे हरखे अपनो करले।
अग्नि ते अनगन दीपक बरें, बहुरि आप सब तिनमें ररें।
ऐसे ही रूप प्रेम रस जो है, तुमते है, तुम ही कर सोहै।
—रसमञ्जरी, पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, पृ० २३।

२—ब्रह्म निरीह ज्योति अविकार, सत्ता मात्र जगत आधार।
× × ×
अरु जब लोक चराचर जितौ, लीन होत माया में तितौ।
तब तुम ही तहाँ रहत अकेले, छेम धाम निजि रस में झेले।
—दशम स्कन्ध, भागवत, तृतीय अध्याय, 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० २११

३—भँवरगीत, 'नन्ददास', शुक्ल, पङ्क्ति नं० ३६८—३७०, पृ० १४१।

सिद्धान्त पञ्चाध्यायी में) नन्ददास ने कृष्ण की स्तुति में सृष्टि-रचना के तत्वों के नीचे लिखे नाम लिये हैं और ये वे ही अट्ठाइस तत्व हैं जिनको श्रीवल्लभाचार्य जी ने माना है।[१] पञ्च तन्मात्राएँ पञ्च महाभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, अहङ्कार, महत् (बुद्धि) तीन गुन (सत, रज, तम) तथा मन, इन छब्बीस के अतिरिक्त पुरुष और प्रकृति इन दो मुख्य तत्वों को नन्ददास ने शब्दों में प्रकट नहीं किया। इसमें देखना यह है कि नन्ददास ने तीन गुणों को प्रकृति के स्वाभाविक गुण न मानकर वल्लभ-मतानुसार स्वतन्त्र तत्व माना है।

कृष्णदास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, तथा गोविन्दस्वामी की उपलब्ध रचनाओं में जगत की उत्पत्ति, ईश्वर के साथ उसके सम्बन्ध और उसके स्वरूप के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। बाह्य प्रमाणों से यह सिद्ध ही है कि वे वल्लभ-सम्प्रदायी होने के कारण उसी मत के दार्शनिक सिद्धान्तों को माननेवाले थे। छीतस्वामी भी इस विषय में लगभग मौन ही हैं। एक पद में वे इतना तो अवश्य कहते हैं—"कृष्ण ही सुख के करनेवाले, वे ही इस जगत के सृजन करनेवाले तथा वे ही सम्पूर्ण जीवों का उद्धार करनेवाले हैं।"[२] इस कथन से यह ज्ञात होता है कि छीतस्वामी पर शङ्कर के मायावाद का, अथवा माध्व मत के द्वैत भाव का प्रभाव नहीं था। कृष्ण को जगत का 'करनेवाला' कह कर उन्होंने वल्लभ-मत का ही पोषण किया है। पीछे ईश्वर-प्रकरण में एक पद छीतस्वामी का उद्धृत किया गया है जिसमें उन्होंने कहा है—'मैं सम्पूर्ण जगत को कृष्णमय देखता

अन्य अष्टछाप कवि

१—जै जै जै श्रीकृष्ण रूप गुण करन अपारा,
परम धाम जग धाम परम अभिराम उदारा।
× × ×
रूप गन्ध रस शब्द स्पर्श जे पञ्च विषयवर,
महाभूत पुनि अञ्च पवन पानी अम्बरधर।
दस इन्द्रिय अरु अहङ्कार महतत्त्व त्रिगुन मन,
यह सब माया कर विकार कहैं परम हंसगन।
—सिद्धान्त पञ्चाध्यायी 'नन्ददास' शुक्ल नं० ४, पृ० १८३।

२— **राग नट चर्चरी**

राधिका रवन गिरिवर धरन, गोपीनाथ मदन मोहन कृष्ण नटवर विहारी,
रास क्रीड़ा रसिक ब्रज जुबती प्रानपति सकल दुख हरन गो गणन चारी।
सुख करन जगत करन नंदनंदन नवल गोपपति नारि वल्लभ मुरारी,
छीत स्वामी सकल जीव उधरन हित प्रकट वल्लभ सदन दनुज टारी।
—लेखक के निजी, छीतस्वामी पद-संग्रह से, पद नं० १०।

हूँ। आगे पीछे, ऊपर नीचे, जिधर देखता हूँ सब कृष्णमय है।"[1] इस कथन में छीत स्वामी ने इसी बात का समर्थन किया है कि एक ही परम तत्व अनेक रूप और नामों में साधारण भूत सञ्चरण कर रहा है। इससे यह भाव भी निकलता है कि कवि के विचार से ईश्वर और जगत का अद्वैत सम्बन्ध है और जगत ईश्वर का अविकृत परिणाम है।

अष्टकवियों के संसार सम्बन्धी विचार

पीछे कहा गया है कि वल्लभ मत ने जगत और संसार में भेद किया है। इस मतानुसार जगत, ईश्वर-अंश और ईश्वर-कार्य होने के कारण सत्य है। जगत के भीतर माया में बद्ध जीव का जो अहन्ता ममतात्मक व्यवहार है वह अनित्य और असत्य है, इसी को इस मत ने संसार कहा है। अष्टछाप कवियों ने जगत और संसार का शास्त्रीय ढङ्ग से भेद करते हुये कोई विवेचन तो नहीं किया, परन्तु संसार और उसकी पोषिका माया को झूठा और दुखदाई लगभग इन सभी कवियों ने कहा है।

सूरदास

सूरदास जी ने, पीछे कहा जा चुका है, गोपी-उद्धव-सम्वाद में उद्धव के 'जगन्मिथ्या-वाद' को अस्वीकार किया है।[2] इसका स्पष्ट अर्थ है कि सूरदास जी जगत को सत्य मानते थे, परन्तु उन्होंने कई स्थानों पर संसार को झूठा और अनित्य कहा है। "ब्रह्म के रोम रोम में कोटि कोटि ब्रह्माण्ड स्थित हैं। यह जगत ब्रह्म के ही उदर में स्थित है। ब्रह्म ही इसका बनाने-वाला है और ब्रह्म ही जगतरूप बनता है।"[3] आदि सूर के कथनों से जगत सत्यत्व का भाव

१— **राग पूर्वी**

आगे कृष्ण, पाछे कृष्ण, इत कृष्ण, उत कृष्ण
जित देखों तित कृष्ण ही मईरी।

× × ×

छीत स्वामी गिरिधारी विट्ठलेस वपुधारी,
निरखति छवि अङ्ग अङ्ग ठईरी।

—लेखक के निजी, छीत स्वामी-पद-संग्रह से, पद सं० ४१।

२—प्रस्तुत ग्रन्थ, जगत-प्रकरण पृष्ठ ४४२।

३—बदत विरञ्चि विशेष सुकृति ब्रजवासिन के,
ज्योति रूप जगनाथ जगत गुरु जगत पिता जगदीश।
योग यज्ञ जपतप में दुर्लभ गइयाँ गोकुल ईश।
इक इक रोम विराट कोटि तन कोटि कोटि ब्रह्मण्ड।
सो लीन्हों अवछङ्ग यशोदा अपने भरि भुज दण्ड।
जाके उदर लोक त्रय जलथल पञ्च तत्व चौखानि।
सो बालक ह्वै झूलत पलना यशुमति भवनहि आनि।

—'सूरसागर', दशमस्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ट १२१।

निकलता है। परन्तु संसार और संसार की माया, दोनों मिथ्या हैं,[1] यह भाव उन्होंने एक नहीं अनेक पदों में अपनी पुनरुक्तिपूर्ण शैली में प्रकट किया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सूरदास जी वल्लभ-सम्प्रदाय में मान्य जगत और संसार के भेद से भिज्ञ थे, तभी तो उन्होंने एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या कहा है। सूरदास ने अपने पदों में यह भी कहा है कि जगत का निमित्त और उपादान कारण सत्य ब्रह्म है।[2] परन्तु यह झूठा संसार मन और माया की करतूत है। एक पद में सूरदास जी कहते हैं—"हे माधव! मेरा मन सब प्रकार से पोच है। यह अज्ञानी मन अविद्या अन्धकार में पड़ कर अनेक प्रकार के विषय कृत्य करता है। उसके रचित ये कृत्य ऊपर से बड़े सुखकारी, सेंवर फल के समान सुन्दर और सुरँगीले ज्ञात होते हैं; परन्तु जब वह उनकी परीक्षा करता है तब वे अन्त में सारहीन और दुखदाई निकलते हैं और यह मन दुख के कूप में गिर पड़ता है। इसकी इस 'करतूति' कृति का कहाँ तक बखान करूँ। हे प्रभु! आप ही इसका उद्धार कर सकते हैं।"[3] इसी प्रकार

१—मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया।
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि बिसराया।
तुम जाने बिन जीव सब उत्पत्ति प्रलय समाहिं।
शरण मोहि प्रभु राखिये चरण कमल की छांहिं।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे० पृष्ठ १४८।

२—धर्मपुत्र तू देखि विचार कारनकरनहार करतार।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, बें० प्रे० पृ० २१।

३— राग सारङ्ग

माधव जू मन सब ही विधि पोच।
अति उन्मत निरङ्कुश मय गज चिन्ता रहित अशोक।
महामूढ़ अज्ञान तिमिर में मग्न होत सुखमानि।
तेली केर वृषभ ज्यों भरम्यो भजत न सारङ्ग पानि।
× × ×
ज्वाला प्रीति प्रकट सन्मुख हटि ज्यों पतङ्ग तनु जारयो।
विषय असक्त अमित अघ व्याकुल तब हम कछू न संभारयो।
ज्यों कपि शीत हुताशन गुञ्जा सिमटि होत लवलीन।
त्यों शठ वृथा तजत नहिं कबहूँ रहत विषय आधीन।
सेंवर फूल सुरङ्ग शुक निरखत मुदित होत खग भूप।
परसत चोंच तूल उघरत मुख परत दुःख के कूप।
और कहाँ लौं कहौं एक मुख या मन के कृतकाज।
सूर पतित तुम पतित उधारन गहो विरद की लाज।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृष्ठ ८।

संसार की अनित्यता पर तथा इसकी जननी अविद्या माया पर सूर ने और भी अनेक पद लिखे हैं और उन्होंने संसार भ्रम का रचयिता मन को बताया है।[1]

परमानन्ददास ने संसार को बुरा कहते हुये उसके विषयों को छोड़ने का भाव कई पदों में व्यक्त किया है। वे गोपी रूप से एक पद में कहते हैं,—"मैंने संसार के सब सम्बन्ध छोड़ दिये हैं, घर में मैं ऐसे रहता हूँ जैसे कोई पथिक रहता हो।"[2]

१— राग धनाश्री

रे मन मूरख जन्म गँवायो।

करि अभिमान विषय रस गीध्यो श्याम शरन नहिं आयो।
यह संसार सुवा सेंवर ज्यों सुंदर देखि लुभायो।
चाखन लाग्यो रूई गई उड़ि हाथ कछू नहिं आयो।
कहा होत अब के पछिताये पहिले पाप कमायो।
कहत सूर भगवन्त भजन बिनु सिर धुनि धुनि पछितायो।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृष्ठ ३३।

राग गूजरी

हरि बिनु कोऊ काम न आयो।

यह माया झूठी प्रपञ्च लगि रतन सों जन्म गँवायो।

× × ×

पतित उधारन गणिका तारन सो मैं शठ बिसरायो।
लियो न नाम नेकहू धोखे सूरदास पछतायो।

—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, बें० प्रे० पृष्ठ ३८।

जग में जीवत ही को नातो।

मन बिछुरे तन छार होइगो, कोउ न बात बुझातो।
मैं मेरी कबहूँ नहीं कीजै कीजै पञ्च सुहातो।
विषय असक्त रहत निसिवासर सुख सीरो दुख तातो।
सांच झूठ कर माया जोरी आपुन रूखो खातो।
सूरदास कछू थिर नहीं रहही जो आयो सो जातो।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, बें० प्रे० पृष्ठ २८।

२— राग आसावरी

मेरो मन गोविन्द सों मान्यो ताते और न जिय भावे।
जागत सोवत यहै उत्कण्ठा कोउ ब्रज नाथ मिलावै।
बाढ़ी प्रीति आनि उर अन्तर चरन कमल चित दीनों।
कृष्ण विरह गोकुल की गोपी घर ही में बन कीनो।
छाँड़ि अहार विहार देह सुख और न चाली काहू।
परमानन्द बसत हैं घर में; जैसे रहत बटाऊ।

—लेखक के 'निजी' परमानन्ददास, पद संग्रह से, पद नं० ३३१

परमानन्ददास "मेरा सम्बन्ध तो केवल एक कृष्ण से है।"[1] "संसार सागर है, केवल कृष्ण का नाम इस 'सागर से तार सकता' है[2] एक और पद में वे गोपी रूप से ही कहते हैं,—'यह यौवन और धन चार दिन का है, हे सखि, अपने मिथ्या अभिमान को त्याग कर रस-रूप भगवान् से प्यार कर।'[3] इस प्रकार के कथनों में परमानन्ददास ने उन विषयों के प्रति उदासीनता प्रकट की है जो संसार को बनाते हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में तथा दार्शनिक ढङ्ग से जगत और संसार का भेद करते हुये उनका विवेचन नहीं किया। ऐसा होते हुये यही कहा जा सकता है कि इस विषय में उनके विचार वल्लभ-मत के अनुसार ही होंगे। जगत मिथ्या का भाव उनके किसी भी पद में नहीं है इसलिए शङ्कर मत का स्वीकार उनकी रचनाओं में नहीं है। अन्य किसी मत का प्रभाव भी उनकी रचना में नहीं दिखाई देता।

नन्ददास के जगत-सम्बन्धी विचारों का विवेचन करते हुये पीछे बताया गया है कि नन्ददास ने भी सूरदास की तरह जगत को स्पष्ट शब्दों में ब्रह्म के सत् तत्व का अविकारी परिणाम कहा है और इससे यह निष्कर्ष निकाला गया था कि वे

नन्ददास जगत को मिथ्या न मान कर सत्य मानते थे। नन्ददास की रचनाओं के देखने से यह भी ज्ञात होता है कि उन्होंने अविद्या माया जन्य संसार को सारहीन और

१— **राग बिलावल**

मैं अपनो मन हरि सों जोरयो,
हरि सों जोरि सबन सों तोरयो।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ११६।

२— **राग भैरों**

प्रात समैं उठि हरिनाम लीजै आनन्द सों सुख में दिन जाई,
चक्रपानि करुना को सागर विघ्न बिनासन जादों राई।
कलि मल हरन तरन भवसागर भक्त चिन्तामनि कामधेनु,
ऐसो सुलेस नाम कृष्ण को बन्दनीक पावन पदरेनु।
× × ×
भगत वछल ऐसो नाम कल्पद्रुम वरदायक परमानन्ददास।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३५।

३— **राग सारङ्ग**

छांड़ि न देत झूठों अति अभिमान।
मिलि रस रीति प्रीति करि हरिसों सुन्दर हैं भगवान,
यह जोबन धन दिवस चारि को पलटत रङ्ग सोपान (ज्योंपान)
× × ×
परमानन्द स्वामी सुखसागर सब गुर्न रूप निधान।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १२१।

देह तथा देह सुखों को अनित्य माना है।[1] रास पञ्चाध्यायी में एक स्थान पर वे कहते हैं:— 'जो लोग इस असार संसार के आगार में घिर गये हैं अथवा संसार के अन्धकारपूर्ण गर्त में गिर गये हैं, उनके लिए श्री शुकदेव जी ने भागवत रूप में दीपक प्रकट किया है।'[2] सिद्धान्त पञ्चाध्यायी में भी उन्होंने संसार को, बहानेवाली धारा तथा प्राण घोंटनेवाला फन्दा कहा है।[3] असार और अनित्य संसार के श्री मद में अन्धे तथा संसार दुःख के चक्र में पड़े जीवों का वर्णन 'दशम स्कन्ध' भाषा में यमलार्जुन के प्रति नारद वाक्यों में नन्ददास ने किया है। नारद कहते हैं,— सांसारिक ऐश्वर्य, बुद्धि को भ्रम में डालनेवाले और धर्म के विध्वंसक हैं। यह देह नश्वर है परन्तु संसारी जीव इसे अजर अमर मानता है। इस कृमिखेह से उत्पन्न होने वाली देह को, यह भ्रमित जीव, मेरा मेरा कहता है और अनेक दुख जालों में फँसता है। इस प्रकार जो श्री मद से अन्धा है उसके लिए एक उपाय यही है कि वह इस श्री मद पूर्ण संसार को छोड़ कर मद हीनता का दारिद्रय रूपी अञ्जन आँज ले।'[4] इस प्रकार स्पष्ट है कि नन्ददास ने संसार को मिथ्या और सारहीन कहा है और जगत को सत्य।

१—तब पद पङ्कज दरसे परसे, कौन पुन्य धौं मेरे सरसे।
अरु संसार असार अपार, सहज ही भयौ जु ताके पार।
तुम अपने परमातम स्वामी, ब्रह्म रूप सब अन्तर्यामी।
—दशमस्कन्ध, अध्याय २८, 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० ३१८:३१६।

२—तिमिर ग्रसित सब लोक ओक दुख देखि दयाकर,
प्रकट कियो अद्भुत प्रभाव, भागवत विभाकर।
जे संसार अँधियार गार में मगन भए परि,
तिन-हित-अद्भुत दीप प्रकट कीनों जु कृपा करि।
—रासपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १२६।

३—बहे जात संसार धार जिय फन्दे फन्दन;
परम तरुन करुना करि प्रकटे श्रीनन्दनन्दन।
—सिद्धान्त पञ्चाध्यायी, 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १८४।

४—ऐ पर यह श्रीमद है जैसौ, बड़ अनरथ कर अवर न ऐसो।
मति भ्रंसक सब धर्म विधुन्सक, निर्दय महा विरथ पथ हिंसक।
नश्वर देह सबै कोउ जानै, ता कहुँ अजर अमर करि मानै।
रच्यौ पाँच भौतिक करि देह, अन्त सबै कृमि बिष्टा षेह।
जा कहुँ कहत कि यह तन मेरौ, तामें बहुरि बहुत अरुझेरो।
मा कहै मेरौ पितु कह मेरो, मोल लयो सो कहे मो चेरो।
ऐसे साधारन इह देह, तिन सों करि के परम सनेह।
भूत होय आचरत न डरै धमकि धमकि नरकन में परै।
श्री मद कर जू अंध ह्वै जाइ, दरिद अञ्जन परम उपाइ।
— दशम स्कन्ध, दशम अध्याय, नन्ददास, शुक्ल, पृ० २३९–२४०, कुछ पाठ-भेद से।

गोविन्दस्वामी ने एक पद में संसार को 'विषम विषसागर'[१] कहा है और उन्होंने यमुना से प्रार्थना की है कि वह काम क्रोध आदि अज्ञान के अन्धकार से और संसार के दैहिक, दैविक और भौतिक तीनों तापों से, अर्थात् इस विष सागर संसार से उनका उद्धार कर दे। इससे सिद्ध होता है कि गोविन्द-स्वामी अज्ञान जन्य संसार को मिथ्या समझकर इसकी उपेक्षा करते थे। चतुर्भुज दास ने भी कई पदों में सांसारिक सम्बन्ध और लौकिक विषयों को छोड़कर प्रेम भक्ति के परम रस को लेने का भाव प्रकट किया है। वल्लभ-सम्प्रदाय में मान्य है कि ईश्वर की भक्ति से संसार तो छूट जाता है; परन्तु जीव, जगत से अलग, ईश्वर की कृपा से ही होता है। अष्ट भक्तों ने जहाँ संसार के त्याग का उपदेश दिया है अथवा गोपी भाव की भक्ति में अपने लोक-भाव का त्याग कहा है,वहाँ केवल अपने साधन द्वारा माया मोह-जन्य संसार से छुटने का ही भाव प्रकट किया है; उन्होंने साधन द्वारा जगत से अलग होने का भाव कहीं भी अपनी रचना में प्रकट नहीं किया। कम से कम लेखक के जाँचने में नहीं आया। पीछे कहे पद में गोविन्द स्वामी भी यही कहते हैं कि मैं जन्मजन्मान्तर में गोपाल रति पाऊँ और मेरा 'विषम विष सागर संसार' छूट जाय"। इसमें यही भाव है कि ईश्वर कृत सत्य जगत में तो जन्म जन्मान्तर नाम रूप बदलना ही पड़ेगा, परन्तु अहंता ममतात्मक सम्बन्धों की माया का संसार छूट जायगा।

गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास तथा अष्टछाप के अन्य कवि

इसी प्रकार चतुर्भुजदास ने भी, जैसा कि अभी कहा गया है, जहाँ गोपियों के धर्म-कर्म, लोकलाज, सुत, पति आदि सम्बन्ध, छोड़कर केवल कृष्ण प्रेम में मग्न रहने का भाव प्रकट किया है, [२] वहाँ उन्होंने गोपियों से संसार ही छुटवाया है। उन्होंने लौकिक सम्बन्धों

१— **राग रामकली**

श्री यमुनाजी यह विनती चित धरिये।
गिरधरलाल मुखारबिंद की रति जन्म जन्म नित करिये।
विष सागर संसार विषम संग ते मोहि उद्धरिये।
कामक्रोध अज्ञान तिमिर अति उर अन्तर ते हरिये।
तुम्हरे संग बसों निज जन संग रूप देखि मन ठरिये।
गाऊँ गुन गुपाल लाल के अष्ट व्याधि ते डरिये।
त्रिविधि दोष हरि के कालिंदी एक कृपा कर ढरिये।
गोविन्द दास यह वर मांगे तुम्हरे चरण अनुसरिये।

—लेखक के निजी, गोविन्द स्वामी, पद-संग्रह से, पद नं० २६५।

२— **राग धनाश्री।**

गोपाल को मुखारबिंद देषि जी जै।
× × ×
धर्म कर्म लोक लाज सुत पति तजि धाई।
चत्रभुज प्रभु गिरधर मैं आर्चे री माई।

—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० ५८ (अ)।

को तथा वैषयिक सुखों को 'जञ्जाल,'[1] कहा है। अन्य अष्टछाप कवियों ने भी भ्रममयी माया की निन्दा की है, परन्तु उन्होंने स्पष्ट रूप से जगत और संसार के भेद का विवेचन नहीं किया।

माया

तत्व-दीप-निबन्ध के शास्त्रार्थ-प्रकरण में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में बताने के बाद श्री वल्लभाचार्य जी ने भगवान् की शक्ति-स्वरूपा माया के दो रूप बताये हैं,[2]—एक, विद्या माया और दूसरी, अविद्या माया।[3] भगवान् की उपर्युक्त दो रूपधारिणी माया ही इस सृष्टि (जगत) और संसार का प्रसारा करती है। इस माया के अधीन जीव हैं, भगवान् माया के अधीन नहीं है। अविद्या माया से जीव संसार में बँधता है और विद्या माया के द्वारा जीव इस संसार से छुटता है। जैसा कि पीछे कहा गया है कि संसार की रचना जीव की कल्पना से होती है, परन्तु इस कल्पना की प्रेरक उसी की अविद्या माया है।

अविद्या रूपिणी माया दो प्रकार से अन्यथा प्रतीति करती है। एक तो सत्य ज्ञान का आच्छादन करती है[4] और दूसरे सत्य में असत्य का भान कराती है। सब प्राणी और जगत के पदार्थ एक दूसरे से भिन्न हैं, इस प्रकार का अहंभाव और अब्रह्मत्व भाव माया से उत्पन्न होता है। रज्जु में सर्प के भ्रम से जैसा भान होता है उसी प्रकार से अविद्या माया

१— राग जैत श्री।

एकहि आँक जपे गोपाल।
अब यह तन जाने नहि सखि और दूसरी चाल।
मात पिता पति बंधु वेद विधि तजै सबै जंजाल।
स्याम सुरूप चित में चुभ्यो पर बीते जो बहु काल।
गह्यो नेमु तिन तोरि जबै हंसि चितये नैन विसाल।
चतुर्भुजदास अटल भए उरघट परसो गिरधरलाल।

—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद संग्रह से पद नं० ३६।

२—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई श्लोक ३२, ३३ तथा ३४, पृ० ४६, ५०।

३—विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते।
ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता।३४।
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञान सागर बम्बई पृ० ६६—१००।

४—आनन्दांशतिरोधानात्तत्द्वत्तेन भासते।
मायाजवनिकाच्छन्नं नान्यथा प्रतिबिम्बते।६१
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई, श्लोक ६१, पृ० १८६

सत्य का आच्छादन कर देती है। अविद्या माया ही जीव को लौकिक विषयों में फँसा कर उसको अज्ञानता में डालती है। व्यामोह द्वारा जीव, शोक, मोह, सुख-दुःख राग-द्वेष आदि भावों की संसृति में भ्रमता है। माया के विषय में भागवत की सुबोधिनी टीका में श्री वल्लभाचार्य जी कहते हैं—'जो व्यामोहिका माया वस्तुओं में अन्यथा प्रतीति कराती है उसका वर्णन पीछे किया जा चुका है। वही माया जीव के अन्तःकरण बुद्धि आदि को मोहती है और यही मोह अथवा भ्रम में पड़ी बुद्धि, पदार्थों को अन्य प्रकार से देखती है। वस्तुतः पदार्थ अन्य प्रकार के नहीं होते।'[1] तथा 'माया दो प्रकार की रूपधारिणी है, एक प्रकार से तो भ्रम को पैदा करके विद्यमान का प्रकाशन नहीं करती, दूसरे, अविद्यमान को प्रकाशित करती है।'[2]

संसार की अविद्या माया के, आचार्यों ने, कई नाम दिये हैं, जैसे अज्ञान, अध्यास, भ्रम, स्वप्न आदि। तत्व-दीप-निबन्ध में श्री वल्लभाचार्य जी ने इस माया के पाँच भेद और दिये हैं। वे कहते हैं कि अविद्या पञ्चपर्वा है जिसमें बँधकर जीव संसृति (संसार-दुःख) को पाता है। और अविद्या के नाश होने पर विद्या से जीव संसार-दुःख से छूट जाता है।[3] पहला अज्ञान या अध्यास अन्तःकरण का है, दूसरा प्राणाध्यास, तीसरा इन्द्रियाध्यास, चौथा देहाध्यास और पाँचवाँ अज्ञान, स्वरूप का है।[4] इस प्रकार अविद्या के ये पाँच पर्व हैं। अन्य वस्तु में अन्य का भ्रम अथवा आरोप अध्यास अथवा मिथ्यारोप कहलाता है।

१—यद्वस्तुस्वरूपे अन्यथा प्रतिभासते तदात्मनो जीवानो व्यामोहिका माया पूर्वं निरुपिता तस्याःकार्यं सा हि जीवं व्यामोहयित्वा तत्संबन्धिनमन्तःकरणबुद्धयादिकमपि व्यामोहयति तथा व्यामोहिता बुद्धिः। पदार्थानन्यथा मन्यते न तु पदार्थाँ अन्यथा भवंति।
—सुबोधिनी-टीका, भागवत, अध्याय २, स्कन्ध ६, श्लोक ३३।

२—माया च द्विधाभ्रमं जनयति, विद्यमानं न प्रकाशयति अविद्यमानंच प्रकाशयति देशकालव्यत्यासेन। प्रमाणभूतो वेदः सर्वं खल्विदं ब्रह्मैवेत्याह ब्रह्मविदां प्रतीतिरपि तथा भ्रान्तप्रतीतिस्तु नार्थनियामकत्वमन्यथा भ्रमदृष्टिं गृहीतं भ्रमःस्यात्। अतोऽन्यत्रैव सिद्धा भ्रमिः माययापुरःस्थिते विषये समानीयते विषयता मायाजन्या विषयो भगवान् अतो विषयताजन्यं ज्ञानं भ्रान्तं विषयजनितं प्रमेति।
—सुबोधिनी, भागवत, २, ६, ३३।

३—पंचपर्वात्वविद्येयं यद्बद्धो याति संसृतिम्।
विद्ययाऽविद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति। ३६।
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई श्लोक ३६, पृ० १००—१०६।

—स्वरूपाज्ञानमेकं हि पर्वदेहेन्द्रियासवः।
अन्तःकरणमेषां हि चतुर्धाध्यास उच्यते।
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई, श्लोक, ३४ पृ० १००।

'मैं कर्ता हूँ' 'मैं भोक्ता हूँ' इस प्रकार का जो अहङ्कार है, वही अन्तःकरण का अध्यास है। जब जीव प्राणधर्म को अपना स्वरूप मानने लगता है, और कहता है 'मैं भूखा हूँ,' 'मैं तृप्त हूँ,' 'मैं प्यासा हूँ,' तब उसे प्राणाध्यास होता है। जब जीव अपनी इन्द्रियों के धर्मों को ही अपना स्वरूप मानने लगता है, जैसे 'अमुक सुलोचन है, सुन्दर है' अथवा 'मैं नेत्रवान हूँ,' 'मैं काना हूँ' आदि, भाव होते हैं तब इन्द्रिय अध्यास होता है। जब जीव देह को ही अपना स्वरूप मानने लगता है और कहता है 'मैं मोटा हूँ,' 'मैं दुबला हूँ' तब उसकी इस धारणा को देहाध्यास कहते हैं; और जब जीव अपने अन्तःकरण, प्राण इन्द्रिय और देह सबको मिलाकर अपना रूप मानता है तब उसे स्वरूपाध्यास होता है। उस समय वह यह भूल जाता है कि वह भगवान् के चेतन रूप का अंश है। तत्व-दीप-निबन्ध में श्री वल्लभाचार्य जी कहते हैं कि माया भगवान् की है और अविद्या जीव की है।[1]

विद्या अथवा ज्ञान की प्राप्ति के लिए जिससे पञ्चपर्वा माया का ध्वंस हो और जीव अपने सत्य स्वरूप को जान कर मुक्ति लाभ करे वल्लभ मतानुसार साधक को भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त भगवद् प्रेम करना चाहिए। अविद्या के हटाने के मार्ग और भी हैं, परन्तु वे कठिन हैं। श्री वल्लभाचार्य जी ने सरल मार्ग भगवान् के अनुग्रह (पुष्टि या कृपा) द्वारा प्राप्त भगवद्भक्ति को ही बताया है।

अष्टछाप कवियों के माया सम्बन्धी विचार

शङ्कर मत की अनिर्वचनीय माया, जो ब्रह्म को प्रभावित करती है, भ्रम-स्वरूपा है। वल्लभ-मत की माया, जैसा कि ऊपर कहा गया है, सत्य और भ्रम दोनों प्रकार की है; परन्तु ये दोनों ब्रह्म पर प्रभावशालिनी नहीं है। वे उसकी इच्छा की वशवर्तिनी हैं। माया के भिन्न-भिन्न रूप शक्ति-स्वरूपा माया, विद्या-माया, और अविद्या-माया, ब्रह्म की प्रेरणा से ही अपना कार्य करती हैं, ब्रह्म की सत्य शक्ति-स्वरूपा-माया, उसकी इच्छानुसार सम्पूर्ण सृष्टि के प्रसार को, उसकी आविर्भाव-तिरोभाव प्रक्रियाओं को, करती है, जो प्रसारा भगवदांश होने के कारण सत्य है। यह भी ऊपर कहा गया है कि अविद्या माया जीव को लगती है जो उसके आनन्दांश के तिरोधान से उसे संसृति जाल में डालती है और ईश्वर-कृपा से प्रेरित-विद्या-माया के प्रभाव से वह इस अविद्या से छुटता है। शङ्कर-मत में विद्या अथवा ज्ञान से जीव की अविद्या अथवा उसके भ्रम का नाश हो जाता है, तब न जीव रह जाता है न जगत, क्योंकि जीव और जगत दोनों भ्रम-जन्य हैं। वल्लभ-मत में अविद्या के नाश होने पर जीवत्व तथा जगत का नाश नहीं होता, जीव फिर भी ब्रह्म से पृथक सत्य रूप में स्थित रहता है। उसका भ्रम-जन्य संसृति-जाल अवश्य छूट जाता है।

---

[1]—अविद्या जीवस्य प्रकृति अक्षरस्य, माया कृष्णस्य।
—त० दी० नि०, सर्वनिर्णय प्रकरण, व्याख्या, श्लोक १२०।

अष्टछापी भक्त कवियों ने उस अविद्या-रूपिणी माया का बहुत चित्रण किया है जो जीव को अनेक नाच नचाती है और उससे (जीव से) भ्रमपूर्ण संसार की सृष्टि करा कर अनेक दुःख-जाल में उसे बाँधे रहती है। भगवान् की लीला का विस्तार करनेवाली तथा सृष्टि के अनेक रूपों में परिवर्तन करानेवाली भगवान् की शक्ति स्वरूपा माया का उल्लेख इन कवियों के काव्य में इतना प्रचुर नहीं है। सूरदास ने कुछ पदों में विशेष रूप से सृष्टि विकास के प्रसङ्गों में इस शक्ति-स्वरूपा माया का उल्लेख किया है[1]। इनके चेतावनी के पदों में विद्या माया के प्रभाव का वर्णन है तथा अविद्या से छुटने का प्रबोधन है। पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म की रस-शक्ति राधा-रूपिणी माया का गुण-गान भी अवश्य अष्ट भक्तों ने प्रचुर रूप में किया है।

ईश्वर अपनी इच्छा-शक्ति-रूपिणी सत्य माया से इस सृष्टि को क्यों रचता है? और क्यों अपने आनन्दांश का तिरोधान करके अपने अंश-रूप जीवों द्वारा, व्यामोहिका माया को प्रेरित कर, संसृति के कर्म-जाल को रचवाता है? वल्लभ-सम्प्रदाय इसका उत्तर यही देता है कि ब्रह्म केवल अपने खेल के लिए अथवा मौज के लिए ऐसा करता है। परन्तु इस मतानुसार इससे आगे आनन्दस्वरूप परब्रह्म की इस मौज अथवा इच्छा के कारणों का विश्लेषण अकथनीय है। सूरदास ने भी ईश्वर की मौज (माया) के विधानों को अविगत और अकथनीय कहा है—"हे प्रभु आपकी इस माया के विधान कहने और समझने में नहीं आते। रिक्त को आप भर देते हैं और भरे को ढुलका देते हैं, कभी तिनका पानी में डूब जाता है और शिला पानी पर तैरने लगती है। रेगिस्तानों को पानी से भर कर समुद्र बना देते हो और समुद्रों को रेगिस्तान। जल में भी आपने अग्नि का सञ्चार किया है। इस प्रकार प्रभु आप की 'गति' विचित्र है।"[2] इस प्रकार के वर्णनों में सूर ने ईश्वर की जीव जगदादि सृष्टि की रचनेवाली सत्य स्वरूपा माया का भी वर्णन किया है।

सूरदास

१—सूरसागर, तृतीय स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ४२।

२— राग सारङ्ग

अविगत गति जानी न परै।
मन वच अगम अगाध अगोचर केहि विधि बुधि संचरै। १।
× × ×
रीते भरै भरै पुनि ढोरै चाहै फेरि भरै।
कबहुँक तृण बूड़ै पानी में कबहूँ शिला तरै।
बागर ते सागर करि राखे चहुं दिशि नीर भरै।
पाहन बीच कमल बिकसाहीं जल में अग्नि जरै। ४।
राजा रंक रंक ते राजा लै सिर छत्र धरै।
सूर पतित तरि जाइ छनक में जो प्रभु नेकु ढरै। ५।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ८।

अहंता ममतात्मक संसार की सृष्टि करनेवाली माया का वर्णन, जैसा कि अभी कहा गया था, सूर ने बहुत किया है। इस माया को उन्होंने सत्य को भुलानेवाली और मिथ्या में मोह उत्पन्न करनेवाली कहा है। इस माया के अनेक रूप हैं जैसे मन की मूढ़ता, तृष्णा, ममता मोह, अहंकार, काम क्रोध, लोभ तथा अनेक मानसिक विकार। सांसारिक विषय से भ्रमित जीव को दुख-भँवर में डालनेवाले इस माया के अनेक कृत्यों का सूर ने अनेक प्रकार से रूपक और दृष्टान्त देकर वर्णन किया है। वे कहते हैं—'हे प्रभु, यह नटिनी माया मुझे अनेक नाच नचाती है। मुझे लोभ में डाल कर द्वार द्वार मुझसे स्वाँग कराती है। इसने बुद्धि को भ्रम में डाल दिया है, आपका विस्मरण कराया है और मन को मिथ्या अभिलाषाओं की तरङ्गों में डाल दिया है। स्वप्न के से सुखों में मनको लुभा कर यह अनेक पाप कर्म करा रही है, आपके सत्य सम्बन्ध और सत्य ज्ञान से अलग कर लोक के झूठे सम्बन्धों में बहका रही है, जैसे कोई कुटिनी पर-बधू को अपने सतीत्व से हटाकर परपुरुष को दिखाती हो।'[1] एक स्थान पर सूर मन को प्रबोधन देते हुये कहते हैं—'हे मूर्ख मन! अब भी सावधान क्यों नहीं होता? तुझे माया रूपी साँपिन ने काट लिया है; उसका विष तुझ पर चढ़ गया है। इस विष की मूर्च्छा ज्ञान की औषधि खाने से जायगी। तथा जब गुरू विष उतारनेवाला गारुड़ी[2] बन कर कृष्ण नाम का मन्त्र तेरे कान में फूँकेगा तथा कृष्ण-लीला यश का

१— रागकेदार

विनती सुनों दीन की चित दै कैसे तब गुण गावै।
माया नटिनी लकुट कर लीने कोटिक नाच नचावै।
दर दर लोभ लागि लै डोलति नाना स्वांग करावै।
तुम सों कपट करावति प्रभु जु मेरी बुद्धि भ्रमावै।
मन अभिलाष तरङ्गनि करि करि मिथ्या निशा जगावै।
सोवत स्वप्ने में ज्यों सम्पत्ति त्यों दिखाय बौरावै।
महा मोहिनी मोह आत्मा, मन करि अघहि लगावै।
ज्यों दूती परबूध मोरि कै लै पर पुरुष दिखावै।
मेरे तो तुम ही पति तुम गति तुम समान को पावै।
सूरदास प्रभु तुमरी कृपा बिनु को मो दुख बिसरावै।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ४।

२— राग गूजरी

अजहूँ सावधान क्यों न होई।
माया विषय भुजंगिनि को विष उतर्यो नाहिन तोई।
कृष्ण सुमंत्र जियावन मूरी जिन जग मरत जिवायो।
बारंबार निकट श्रवणनि ह्वै गुरु गारुड़ा सुनायो।

गान सुनावेगा तभी तेरा विष उतरेगा।' इसी प्रकार माया के संसार की दुःख-भीषणता के समुद्र का चित्र साङ्गरूपक बाँध कर सूर ने खींचा है।[१]

सूरदास जी ने अविद्या माया को तथा इस माया-जन्य संसार को अनेक पदों में भ्रमात्मक और मिथ्या कहा है।[२] इस भ्रमतात्मक माया से छुटने के अनेक उपाय आध्या-

---

भौतिक देह जीय अभिमानी देखत ही दुख लायो।
कोउ कोउ उबर्यौ साधु संगति जिन राम जीवन पायो।
जाग्यो मोह मयूर प्रति छूटे सुजस गीत के गाए।
सूर मिटै अज्ञान मूरछा ज्ञान मूल के खाये।

—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ३८।

राग केदारा

अबके नाथ मोहि उधारि
मग नहीं भव अम्बुनिधि में कृपा सिंधु मुरारि।
नीर अति गंभीर माया लोभ लहर तरंग।
लये जाति अगाध जल में गहे ग्राह अनंग।
मीन इन्द्रिय अतिहि काटति, मोट अघ सिर भार।
पग न इत उत धरन पावत उरझि मोह सिवार।
काम क्रोध समेत तृष्णा पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत तिय सुत नाम नौका ओर।
थक्यो बीच बिहाल विह्लल सुनो करुणा-मूल।
श्याम भुज गहि काढ़ि लीजै सूर ब्रज के कूल।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ७।

२—मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया।
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि बिसराया।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे० पृ० १९८।

तथा

राग गूजरी

हरि बिनु कोऊ काम न आयो।
यह माया झूँठी प्रपंच लगि रतन सो जन्म गवायो।
कंचन कलष विचित्र चित्र करि रचि पचि भवन बनायो।
तामें तिहि छिन काढ्यो पल भर रहन न पायो।
पतित उधारन गनिका तारन, सो तैं शठ विसरायो।
लियो न नाम नेंकहू धोखे, सूरदास पछितायो।

—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ३८।

त्मिक विषय पर लिखनेवाले आचार्य और साधकों ने बताये हैं। अष्टछाप भक्त-कवियों की प्रेम-भक्ति का साधन इसी माया से छुटने और कृष्ण कृपा के बल पर स्वरूपानन्द पाने के लिये है। एक पद में सूरदास जी कहते हैं—'संसारी जीव को झूठी माया सच्ची प्रतीत होती है, यदि मनुष्य अहं की व्यष्टि-दृष्टि को छोड़कर समष्टि-दृष्टि से जगत को देखे तो माया का सत्य रूप उसे दीखने लगेगा।'[1] एक और पद में सूर इस प्रकार के प्रयत्न में अपनी सफलता का चित्र राजा परीक्षित के वाक्यों में इस प्रकार खींचते हैं—'हे करुणा-निधान प्रभु, आपकी कृपा कटाक्ष से मेरा अज्ञान रूपी अन्धकार नष्ट हो गया। माया मोह की निशा, विवेक-प्रकाश होने पर, भाग गई। ज्ञान-सूर्य के प्रकाश में समष्टि-दृष्टि खुल गई और ~~सर्वत्र~~ आत्मरूप दिखाई देने लगा, मेरी अहंता ममता छुट गई, देह का अध्यास चला गया अब इस देह का ज़रा भी मोह नहीं है। अब केवल यही लालसा है कि मैं दिन-रात प्रभु की लीला का ही श्रवण करूँ।'[2] इस प्रकार, उपर्युक्त विवेचन में हम देखते हैं कि सूर के माया सम्बन्धी विचारों में वल्लभ-सिद्धान्तों की पूर्ण छाया है।

परमानन्ददास ने भगवान् की विद्या और अविद्या माया के विषय में सूर के समान अपने विचार प्रकट नहीं किये। कहीं-कहीं उनके पदों में इस विषय का केवल उल्लेख मात्र

१— राग कान्हरा

× × ×

झूठी है साँची सी लागति मम माया सो जानि,
रवि शशि राहु संयोग बिना ज्यों लीजत है मन मानि।

× × ×

पहले ज्ञान विज्ञान द्वितीया पद तृतीय भक्ति को भाव,
सूरदास सोई समष्टि करि व्यष्टि दृष्टि मन लाव।

—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ३६।

२—नमो नमो करुणा निधान,
चितवत कृपा कटाच्छ तुम्हारी मिटि गयो तम अज्ञान।
मोहनिशा को लेश रह्यो नहिं भयो विवेक बिहान,
आतम रूप सकल घट दरश्यो उदय कियो रविज्ञान।
मैं मेरी अब रही न मेरे, छुट्यो देह अभिमान।
भावै परो आज ही यह तनु, भावै रहो अमान।
मेरे जिय अब यहै लालसा, लीला श्री भगवान।
श्रवण करौं निशि वासर हित सों सूर तुम्हारी आन।

—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ३६।

परमानन्ददास

है। एक पद में अपने मन को चेतावनी देते समय वे अविद्या माया के विषय में कहते हैं—'हे मन! पुराण पढ़ने से क्या लाभ, यदि तूने भगवान् की अलभ्य भक्ति नहीं की। तूने सदैव अविद्या का ही साधन किया, न तो तूने लौकिक काम को छोड़ा, और न क्रोध, लोभ आदि विकारों को। दूसरे की निन्दा करना तैंने नहीं छोड़ा। तूने अनेक अपराध किये। दूसरे का द्रव्य चुराया और सदैव पेट भरने की तृष्णा में लगा रहा। तूने (समष्टि-दृष्टि धारण कर) प्राणी मात्र पर दया का भाव नहीं रक्खा और न तूने साधुओं की सङ्गति का भगवान् के चरणों में अनुराग किया।'[१] एक और पद में परमानन्ददास कहते हैं—'जब तक चित्त से संसार के राग-द्वेष नहीं निकलेंगे तब तक भगवान् का दास कहलाना कठिन है।'[२] इन सब कथनों में परमानन्ददास ने अहंता-ममतात्मक अविद्या माया की ही निन्दा की है। और उसी के कृत्यों का वर्णन किया है।

नन्ददास ने भी परब्रह्म की दो प्रकार की माया के कृत्यों का वर्णन किया है; एक, ऊपर कही हुई ब्रह्म की आदि शक्ति-स्वरूपा माया का, जो सृष्टि का सृजन, पालन और लय

१— राग धनाश्री

रे मन सुन पुरान कहा कीनों,
अनपावनी भक्ति न उपजी भूखे दान न दीनों।
काम न बिसरयो क्रोध न बिसरयो लोभ न बिसरयो देवा,
पर निन्दा मुख ते नहिं बिसरी निष्फल भई सब सेवा।
बाट परी घर मूसि परायो, पेट भरयो अपराधी,
परलोक जायगो ज्याते मूरख सोई अविद्या साधी।
चरन कमल अनुराग न उपज्यो भूत दया नहीं पाली,
परमानन्द साधु सङ्गति बिनु कथा पुनीत न चाली।

—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३०१।

२— राग विहाग

कमल नयन कमला पति त्रिभुवन के नाथ,
एक प्रेम ते सब बनें जो मन होई हाथ।
सकल लोक की सम्पदा लै आगें धरिये,
भक्ति बिना माने नहिं, जो कोटिक करिए।
दास कहावन कठिन है जौ लों चित राग,
परमानन्द प्रभु सांवरो पैयत बड़ भाग।

—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ४८२।

नन्ददास

करती है और दूसरी उस माया का जो मनुष्य से अहंता ममतात्मक संसार की सृष्टि कराकर उसके ईश्वरीय गुणों का आच्छादन करती है। दशम स्कन्ध के अट्ठाइसवें अध्याय में नन्ददास कहते हैं—'माया, लोक (संसार) और सृष्टि (जगत) का सृजन करती है।'[1] इस कथन में दोनों प्रकार की माया का उल्लेख है। भगवान् की शक्ति-स्वरूपा सत्य माया का वर्णन, कवि, 'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी में इस प्रकार देता है—'पञ्च महाभूत, आदि अट्ठाइस तत्वों की बनी सृष्टि माया का ही परिणाम है। यह माया भगवान् के वश में सदैव रहती है और भगवान् की इच्छानुसार जगत का सृजन पालन और प्रलय करती है।'[2] रास पञ्चाध्यायी में कवि कृष्ण की मुरली से भगवान् की आदि शक्ति योगमाया की समता देते हुये कहता है—'यह योगमाया अघटित घटनाओं को घटित करनेवाली है।'[3] इस कथन में भी कवि ने 'योग-माया' शब्द से भगवान् की सृष्टिकारिणी शक्ति का ही सङ्केत किया है। इसी ग्रन्थ में गोपी-मिलन पर कृष्ण गोपियों से कहते हैं—'हे किशोरियो! मेरी माया ने सम्पूर्ण विश्व को वश में कर रक्खा है, परन्तु तुम्हारी प्रेममयी माया ने मुझे वश में कर लिया है जिसके साधन से तुमने लोक-वेद की शृङ्खलाओं को (संसार के बन्धन को) तिनके के समान तोड़ दिया है।'[4] इन कथनों में कवि शक्ति-स्वरूपा माया का ही भिन्न-भिन्न शक्तियों के रूप में वर्णन करता है।

१—लोक सृष्टि सिरजत यह माया, तुमतें दूरि मलमई काया,
हे सरवग्य अग्य जन मेरे जानै नहिंन धर्म प्रभु केरे।
—दशम स्कन्ध भाषा, २८ वाँ अध्याय, नन्ददास, शुक्ल, पृ० ३१९।

२— × × ×

दस इन्द्रिय अरु अहङ्कार महतत्व त्रिगुन मन,
यह सब माया कर विकार कहैं परमहंस गन।
सो माया जिनके अधीन नित रहत मृगी जस,
विश्व प्रभव, प्रतिपाल प्रलय कारक आयुस बस।
—सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी, नन्ददास, शुक्ल, पृ० १८३।

३—तब लीनी कर कमल योगमाया सी मुरली,
अघटित घटना चतुर, बहुरि अधरन रस जुरली।
जाकी धुनि ते अगम निगम 'प्रगटे बड़नागर।
नाद ब्रह्म की जननि मोहिनी, सब सुख सागर।
—रास पञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, उदयनारायण तिवारी, पृ० १५ तथा नन्ददास शुक्ल, पृ० १६०, पाठ-भेद से।

४—सकल विस्व अपबस करि मो माया सोहति है।
प्रेम मई तुम्हरी माया मों मन मोहति है।

'भँवरगीत के गोपी उद्धव संवाद में नन्ददास जी ने गोपियों के वाक्यों द्वारा शुद्ध-स्व-रूपा माया तथा मलमयी अविद्या माया, दोनों, का वर्णन किया है। उस संवाद का भाव इस प्रकार है—'हे उद्धव, तुम कहते हो कि ईश्वर निर्गुण है, तो हमें बताओ, यदि उसके गुण नहीं है तो इस सृष्टि में दीखने वाले गुण कहाँ से आये हैं ? वस्तुतः ईश्वर सगुण है और उसके गुणों की परछाईं ही, उसकी माया (प्रकृति) के दर्पण में पड़ रही हैं। ईश्वरीय गुणों से, प्राकृत गुण क्यों भिन्न दीखते हैं ?, अविद्या माया के संसर्ग से। स्वच्छ जल के समान ईश्वरीय शुद्ध गुणों को जो प्रकृति माया के माध्यम में परिणाम रूप में व्यक्त हो रहे हैं, अविद्या माया की कीच ने सान दिया है और इन्हीं सने हुये गुणों को संसारी जन अप-नाते हैं।'[1] यदि अविद्या माया का मैल अलग कर दिया जाय तथा प्रकृति माया का माध्यम रूप दर्पण हटा दिया जाय तो ब्रह्म के शुद्ध गुण रह जाँयगे। हम शुद्ध सगुण ईश्वर को न देख कर प्रकृति में पड़ी उसकी परछाईं को देखते हैं, जो वस्तुतः सत्य का सङ्केत है।' इन पङ्क्तियों में नन्ददास ने ईश्वर की प्रकृतिस्वरूपा माया तथा अविद्या माया दोनों की तह में सञ्चरण करनेवाले सत्य को स्वीकार किया है और कवि का यह विचार वल्लभ-सम्प्रदाय के तनिक भी प्रतिकूल नहीं है। जिस माया के दर्पण का नन्ददास ने यहाँ उल्लेख किया है वह शङ्कर की मिथ्या माया का मिथ्या दर्पण नहीं है, यह दर्पण ब्रह्म की 'सत' स्वरूपा प्रकृति की माया का दर्पण है। इसमें जो विजातीय विकार है वह अविद्या रूपिणी माया की कीच है, जो अन्यथा प्रतीति कराती है। यहाँ यह दुहराना अनुचित नहीं होगा कि शङ्कर मत में सृष्टि, ब्रह्म का परिणाम नहीं है, उस मत में सम्पूर्ण जीव जगतादि सृष्टि, भ्रम मात्र है। नन्ददास ने परिणामवाद के साथ अविद्या माया द्वारा उपस्थित किये भ्रम को स्वीकार किया है जो अहंता ममतात्मक संसार का कारण है। अन्यथा प्रतीति और भेद का कारण अविद्या है, इस भावको एक उदाहरण से रूप मञ्जरी ग्रन्थ में एक स्थान पर कवि इसप्रकार देता है—

'पुनि जस पवन एक रस आही, वस्तु के मिलत भेद भयो ताही।'[2]

तुम जो करी सो कोउ न करै सुनि नवल किसोरी।
लोक वेद की सुदृढ़ सृंखला तृन सम तोरी।
—रास, पञ्चाध्यायी, चतुर्थ अध्याय, उदयनारायण तिवारी, पृ० ६२। तथा नन्ददास, शुक्ल पृ० १७५ पाठ-भेद से।

१—जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमे मोहि तुम कहो कहाँ ते।
वा गुन की परछाँह री माया दर्पन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये, अमल वारि मिलि कीच,
सखा सुन श्याम के।
—भँवरगीत, नन्ददास, शुक्ल, पृ० १२८- पाठ-भेद से।

२—रूपमञ्जरी, पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, पृ० १४८, छन्द नं० १२।

'रस मञ्जरी' में कवि कहता है—'जो रूप, प्रेम, आनन्द-रस आदि गुण और भाव इस जगत में हैं, उन सब का मूल आधार गिरिधर देव ही है।'[१] इस प्रकार इन कथनों से यह बात पुष्ट होती है कि 'भ्रमरगीत' में नन्ददास ने जिस माया के दर्पण और जिन ईश्वरीय गुणों की परछाईं का उल्लेख किया है, वह शङ्कर के मायावाद से बिल्कुल भिन्न है। नन्द-दास के सम्पूर्ण आध्यात्मिक विचारों के आकलन से लेखक इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उन्होंने अपने माया सम्बन्धी विचारों में वल्लभ-मत का ही अनुकरण किया है। इस बात को तो नन्ददास ने कई स्थानों पर कहा है कि दोनों प्रकार की माया मूल में 'मोहन लाल' की है।[२] विद्या-माया से अविद्या-माया के भ्रम को हटाकर भगवान् की सृष्टिकारिणी सत्, चित और आनन्द-शक्ति रूपिणी माया का दर्शन होता है।

अष्टछाप के अन्य कवि

कृष्णदास, कुम्भनदास, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास तथा छीत स्वामी के उपलब्ध पदों के देखने से ज्ञात होता है कि उनके पदों में अविद्या और भगवान् की शक्तिस्वरूपा माया के विषय में उस प्रकार का स्पष्ट लेख तो नहीं है जैसा सूरदास तथा नन्ददास की रचनाओं में है, परन्तु संसार की अनित्यता, प्रेम में गोपियों के लोकलाज और सांसारिक विषयों के त्याग के इन कवियों द्वारा किये गये उल्लेखों में, अविद्या माया के कृत्यों की ही ओर सङ्केत है और उस माया को कुत्सित समझ कर छोड़ने का ही वर्णन है।

मोक्ष

संसार-दुःख से छूटकर आनन्द-प्राप्ति की मुक्ति-अवस्था लगभग सभी दर्शनों को मान्य है। भिन्न भिन्न मतों में इस आनन्द-भोग की भिन्न भिन्न स्थितियाँ और लोक बताये गये हैं। वल्लभ-सम्प्रदाय में भी दुःखाभाव पूर्वक नित्यानन्द की प्राप्ति, मोक्ष मानी गई है। मुक्त जीव के अधिकार और साधन के अनुसार मोक्ष की अनेक अवस्थाएँ हैं। पीछे कहा गया है कि श्री वल्लभाचार्य जी ने, तीन प्रकार के जीव, पुष्टि, मर्यादा और प्रवाह मार्गी, माने हैं। पुष्टिमार्ग में भक्ति के प्रकार और भगवान् की इच्छा के अनुसार भक्त-जीव को मुक्ति का आनन्द मिलता है। मर्यादा-मार्ग में भी वेदोक्त साधनों द्वारा भगवान् की सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा

१—रूप प्रेम आनन्दरस जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरिधर देव को निधरक बरनों ताहि।
—रस मञ्जरी, पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, पृ० २४, छन्द नं० ८।

२—माया नाम :—
माया मोहन लाल की जिहि मोहे जग जंत।
-अनेकार्थ मञ्जरी, पञ्च मञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, पृ० १२१, छन्द नं० ६६।

सायुज्य मुक्तियों में से कोई एक मुक्ति मिलती है। वेदोक्त यज्ञादि करने वाला कर्ममार्गी जीव स्वर्गादि लोकों को पाकर फिर इस मर्त्यलोक में आता जाता है, परन्तु पुष्टि और मर्यादा-मार्गीय भक्त अथवा ज्ञानी इस संसार के प्रपञ्च में फिर नहीं आता। ज्ञान के साधन से जो शुद्धाद्वैत ज्ञानी सत्यज्ञान प्राप्त करता है, वह ब्रह्म के अक्षर रूप में लीन हो सायुज्य मुक्ति-लाभ करता है, परन्तु जो पूर्ण पुरुषोत्तम श्री कृष्ण की स्नेहपूर्वक भक्ति करता है उसको पूर्ण पुरुषोत्तम प्रभु की कृपा द्वारा उनकी लीला का नित्यानन्द मिलता है।

श्री वल्लभाचार्य जी ने 'तत्व-दीप-निबन्ध' के शास्त्रार्थ-प्रकरण में कहा है—'विद्या (ज्ञान) से अविद्या का नाश होता है और तब जीव मुक्त होता है। उस समय देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि का अध्यास मिट जाता है। संसार-दुःख से छूटा हुआ जीव जीवन्मुक्त कहलाता है। अहङ्कार से मुक्त जीव का संसार तो छूट जाता है, परन्तु उसकी देह का लय नहीं होता[1]।' यह लय तब तक नहीं होता जब तक उस जीव के प्रारब्ध कर्म समाप्त नहीं हो जाते अथवा जब तक कि प्रभु-कृपा उसको नहीं उठाती। पुष्टिमार्गीय भक्त के प्रारब्ध और सञ्चित सब कर्मों का ईश्वर की कृपा शमन कर देती है[2] और भक्त को सद्यो-मुक्ति मिल जाती है। अविद्या के लुप्त होने के बाद भक्ति अथवा ज्ञान के साधन से जीवनमुक्त जीव अपनी मोक्ष-कामनाओं को प्राप्त करता है। पुष्टिमार्गीय फल यह है कि मनुष्य स्थूल-लिङ्ग-शरीर को छोड़ कर तथा भगवल्लीलोपयोगी देह पाने के बाद ब्रह्म के साथ आनन्द रस ले।[3] ज्ञान, योग और भक्ति द्वारा संसार दुःख का निवारण होता है, इस बात को श्री वल्लभाचार्य जी ने स्वीकार किया है। परन्तु ज्ञान और योग के साधन, कलि से प्रताड़ित जीवों के लिए कष्टसाध्य हैं इस कारण उन्होंने मुक्ति का सरल उपाय भक्ति ही

१—विद्ययाऽविद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति,
देहेन्द्रियासवः सर्वे निरध्यस्ता भवन्तिहि। ३७
तथापि न प्रलीयन्ते जीवन्मुक्तगताः स्फुटम्,
आसन्यस्य हरेर्वापि सेवया देवभावतः। ३८
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण ज्ञानसागर बम्बई, पृ० १०६।

२—अथ पुष्टिमार्गीयस्य विनैव भोगं प्रारब्धं नश्यति न वेति विचार्यते।........एकेषां पुष्टिमार्गीयाणां भक्तानामुभयोः प्रारब्धाप्रारब्धयोर्भोगंविनैव नाशो भवति। कुत एतत् तत्राह।
—अणुभाष्य, सूत्र १७, अध्याय ४, पाद १, पृ० १२६४।

३—अग्रे, प्राप्या लौकिकदेहाद्भिन्ने स्थूललिंगशरीरे क्षपयित्वा दूरीकृत्य, अथ भगवत्-लीलोपयोगिदेहप्राप्यनन्तरं भोगेन सम्पद्यते। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सहब्रह्मणा...
—अणुभाष्य, ४ अध्याय, पाद १, सूत्र १६, पृ० १२६७।

माना है। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य, इन चार मुक्ति अवस्थाओं को स्वीकार करते हुये वल्लभ-सम्प्रदाय ने एक और सायुज्य-अनुरूपा-मुक्ति-अवस्था मानी है और उसको सब अवस्थाओं से श्रेष्ठतम बताया है। यह मुक्ति पूर्ण-पुरुषोत्तम की लीला में प्रविष्ट होकर उस लीला का आनन्द लाभ करना है। जीवन-मुक्त-अवस्था में भी जीव भजनानन्द में मग्न रहता है और फिर प्रभु-कृपा के सहारे वह भगवान् की लीला का अनुभव करता है। इस मुक्ति को इस सम्प्रदाय में 'स्वरूपानन्द' कहा गया है।

पुष्टि भक्ति का ध्येय उक्त चारों मुक्त अवस्थाओं को छोड़ कर भगवान् की गोलोक लीला में आनन्द लाभ करना है। श्री वल्लभाचार्य जी ने कहा है—'वैकुण्ठ से गोकुल का अधिक माहात्म्य है।'[1] पुरुषोत्तम की नित्य लीला संयोग और वियोग दोनों रसों से पूर्ण है। मुक्ति की चार अवस्थाएँ, (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य) केवल संयोग की ही हैं। इसलिए लीला का रस अधिक महत्व का माना जाता है। शङ्कर-वेदान्त की मोक्ष संसार-भ्रम अथवा माया-जनित अज्ञान हटने पर ही हो जाती है। वहाँ ईश्वर के निकट जाकर मिलने का सवाल ही नहीं है। जीव, जो स्वयं ब्रह्म है, अविद्या के हटने पर ब्रह्म ही हो जाता है। इसी को उस मत में सायुज्य मुक्ति कहा गया है। वेदान्त के अन्य वादों में लयात्मक तथा प्रवेशात्मक दोनों सायुज्य-अवस्था की मुक्तियों को स्वीकार किया गया है। वल्लभ-मत में लयात्मक सायुज्य मुक्ति शुद्धाद्वैत ज्ञानियों को मिलती है। और लीला में प्रवेशात्मक सायुज्य मुक्ति पुष्टि-मार्गीय भक्तों को मिलती है; ज्ञान के साधन से अंश-जीव अंशी अक्षर-ब्रह्म में लीन हो जाता है; उसकी फिर पृथक् सत्ता नहीं रहती। वल्लभ-सम्प्रदाय ने मोक्ष की उच्च अवस्था में जीव और ब्रह्म का तारतम्य सम्बन्ध रक्खा है, क्योंकि अभेद होने से आनन्दानुभव नहीं हो सकता, इसलिए ब्रह्म-भाव प्राप्त करके भी ब्रह्म से भेद रहे, यही इस मत में श्रेष्ठ अवस्था है। पुष्टि-सेवा के तीन फल हैं[2]—(१) रस-रूप पुरुषोत्तम के स्वरूपानन्द की शक्ति प्राप्त कर उसकी लीला में प्रविष्ट होना (२) भगवान् यदि चाहें तो मुक्त जीव को अपने स्वरूप का अङ्ग भी बना लेते हैं इसलिए दूसरा फल, पूर्ण पुरुषोत्तम के श्रीअङ्ग अथवा आभूषणादि रूप बन जाना (३) तथा तीसरा, प्राकृत देहेन्द्रियादि से रहित हो अप्राकृत शरीर से वैकुण्ठादि भगवान् के लोकों में आनन्द भोग की अवस्था पाना।

श्री वल्लभाचार्य जी ने अणु-भाष्य के चतुर्थ अध्याय द्वितीय पाद में सद्यो-मुक्ति और क्रम-मुक्ति दो प्रकार की मुक्तियों का उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि पुष्टिमार्गीय भक्त की मुक्ति, बिना भिन्न भिन्न लोकों में जाये और बिना प्रारब्ध कर्मों के भोगेही, हो जाती है।[3] भगवान्

१—प्रकृतिकालाद्यतीते वैकुण्ठादप्युत्कृष्टे श्रीगोकुल एव सन्तीति शेषः।

—अणुभाष्य, अध्याय ४, पाद २, सूत्र १५, पृ० १३२३।

२—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई, श्लोक ५४, ५५ तथा ५६।

३—अणुभाष्य, अध्याय ४, पाद १, सूत्र १७।

उसके प्रारब्ध कर्मों का नाश अपनी इच्छा (कृपा) से कर देते हैं। वे ऐसे करुणाशील हैं कि वियोग-दुःख से विह्वल भक्त को दुख से बचाने के लिए उसे जीवन-मुक्त अवस्था में प्रारब्ध कर्म भोगने के लिए संसार में नहीं रहने देते। उसे आनन्द-विग्रह देकर अपनी नित्य रसात्मक लीला में ले लेते हैं।[1] इसी को सद्योमुक्ति कहा गया है। क्रम-मुक्ति ज्ञान-मार्गियों की होती है। अग्निहोत्रादि कर्म, उपासना और ज्ञान के साधन क्रम में अनेक अग्नि, वायु, वरुण इन्द्रादि लोकों में होकर ज्ञानी ज्योतिर्मय ब्रह्म को प्राप्त होता है।[2] इस मोक्ष-अवस्था को 'क्रम-मुक्ति' कहा गया है। मर्यादा-मार्गीय भक्ति में भी साधन क्रम से मोचन की इच्छा होती है और भक्त वेद-मर्यादा से शासित रहता है; उसका लय पञ्चभूतों में होता हुआ पीछे कहीं चार मुक्तियों तक पहुँचता है, लीला का रस उसे नहीं मिलता। श्रीहरिराय जी ने भी 'स्वमार्गीय मुक्ति द्वैविध्यनिरूपणम्' नामक पुस्तक में क्रम-मुक्ति और सद्योमुक्ति, दोनों का भेद दिया है। वे कहते हैं—'जीवों का भगवान् के साथ सम्बन्ध हो जाना भक्ति मार्ग में मुक्ति कहलाता है। मुक्ति दो प्रकार की है—(१) जीवकृति से साध्य मुक्ति, (२) प्रभुकृति से साध्य मुक्ति। भक्ति की निष्ठा के क्रमिक साधन से जीव के ईश्वर-सम्बन्ध होने पर जिस परमानन्द में भक्त की निमग्नता है वह सायुज्य की क्रम-मुक्ति है। जब बिना किसी साधन के निस्साधन भक्त को उसकी प्रपत्ति देखकर भगवान् स्वयं भक्त में प्रवेश कर उसे अपने तुल्य बना लेते हैं वह सद्यो-मुक्ति है। इसमें भगवान् की कृपा ही मुक्ति का कारण है।'[3] वैधी भक्ति से क्रम-मुक्ति-होती है और पुष्टि भक्ति से सद्योमुक्ति मिलती है।

आचार्यजी ने तृतीयपाद, चतुर्थ अध्याय, अणुभाष्य की समाप्ति में अक्षर-ब्रह्म-प्राप्ति और पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म-प्राप्ति रूप फलों में अन्तर करते हुये ब्रह्म-प्राप्ति की विशेषता

१—अणुभाष्य, अध्याय ४, पाद १, सूत्र १९ तथा अध्याय ४, पाद २, सूत्र १।

२—अग्निहोत्राऽऽदि कर्मभिश्चित्तशुद्धावुपासनाभिर्ज्ञानोदये क्रम मुक्त्यधिकारी हि तत्तल्लोकं गत्वा भुक्त्वाऽन्ते ब्रह्म प्राप्नोति।

—अणुभाष्य, अध्याय ४, पाद ३, सूत्र २, पृ० १३४१।

३—जीवनां कृष्णसम्बन्धो भक्ति मार्गे विमोचनम्।
स द्वेधा जीवविहितो भगवद्विहितस्तथा। १।
जीवस्य कृष्णसम्बन्धे मार्गनिष्ठतया क्रमात्।
प्रवेशः परमानन्दे तद्धि सायुज्यशब्दितम्। २।
कृष्णप्रवेशाद्या मुक्तिः सा सद्योमुक्तिरुच्यते।
न तत्र भक्तं सहितः कश्चिद्वै साधनक्रमः। ३।
अत्यन्तकृपया कृष्णो विशते स्वप्रमेयतः
तदैव तत्र भवति मुक्ततावेशलक्षणे। ४

—स्वमार्गीयमुक्तिद्वैविध्य निरूपणम्, श्री हरिरायवाङ्मुक्तावली, भाग १, नड़ियाद,

समझाई है। फिर उन्होंने चतुर्थ पाद में पुरुषोत्तम-प्राप्य रूप फल का किस प्रकार मुक्तजीव अनुभव करता है तथा पुरुषोत्तम का क्या स्वरूप है, इन बातों को स्पष्ट किया है। उन्होंने तैत्तिरीय उपनिषद् की श्रुति 'ब्रह्मविदाप्नोति परमित्युपक्रम्य सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।'[1] [ब्रह्मविद परं (ब्रह्मत्व) को प्राप्त होता है और वह सर्व कामनाओं का ब्रह्म के साथ भोग करता है] को लेते हुये कहा है—'ब्रह्मविद ब्रह्म ही हो जाता है (ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति) और ब्रह्मविद ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है।' भाव यही है कि ब्रह्मविद में परब्रह्म के सब गुण आ जाते हैं, केवल परब्रह्म के अधीन होने के कारण उसमें कर्तृत्व भाव नहीं आता।

'ब्रह्मविद के कर्म का अभाव होता हैं; वह दग्धकर्मा है, तथा श्रुति कहती है कि उसकी फिर आवृत्ति नहीं होती, (न स पुनरावर्त्तते) तो फिर मुक्त जीव किस शरीर से ब्रह्म के साथ कामनाओं का भोग करता है।' इस प्रश्न को उठाते हुये वल्लभाचार्य जी ने अणुभाष्य के अध्याय ४, पाद ४ में कहा है कि ब्रह्मविद की पुनरावृत्ति इस प्रपञ्च जगत में नहीं होती; उसका आविर्भाव भगवान् के अनुग्रहवश उनकी नित्यलीला में होता है जो प्रपञ्चातीत है। परब्रह्म, ब्रह्मलोक, ब्रह्म की लीला और ब्रह्मविद का विग्रह, ये सब अलौकिक और अप्राकृत हैं। ब्रह्मविद मुक्त जीव का विग्रह ब्रह्म की तरह सत्य ज्ञान और आनन्दात्मक होता है।[2] भगवान् का जैसा अनुग्रह जिस जीव पर होता है उसी के अनुसार अलौकिक शरीर में प्रविष्ट कर मुक्त जीव भगवान् की लीला का आनन्द अनुभव करता है।[3] इस प्रकार चरम मोक्ष-लाभ में भगवद्कृपा ही प्रधान कारण होती है और भक्तों को वही एक साध्य है।

१—अणुभाष्य, अध्याय ४, पाद ४, सूत्र १।

२—पूर्वेण मुक्तो जीवो भगवदनुग्रहातिशयेच्छातो बहिराविर्भूतो गुणातीतेन पुरुषोत्तमेनैव सह सर्वान् कामानश्नुत इति सिद्धम्। आविर्भूतो जीवः प्राकृतेन शरीरेण भुङ्क्त, उताप्राकृतेनेति। तत्र भोगस्य लौकिकत्वे तदायतनस्यापि तादृशेनैव भवितव्य मिति मन्वानं प्रत्याह। ब्राह्मेण ब्रह्मसम्बन्धिना ब्रह्मणा भगवतैव स्वभोगानुरूपतया सम्पादितेन सत्यज्ञानानन्दात्मकेन शरीरेण पूर्वोक्तानश्नुत इति जैमिनिराचार्यो मनुते........तथा च परप्राप्तेर्मुक्तिरूपत्वात् पुष्टिमार्गीयायास्तस्या एवं रूपत्वादक्षर ब्रह्मणः पुरुषोत्तमायतन रूपत्वात्तदात्मकमेव शरीरं तस्य वक्तुमुचितं, न तु प्राकृतम्।

—अणुभाष्य, अध्याय ४, पाद ४, सूत्र ५।

३—ब्रह्मसम्बन्धयोग्यानि शरीराणि नित्यानि सन्त्येव। यथाऽनुग्रहो यस्मिञ्जीवे स तादृशं तदाविश्य भगवदानन्दमश्नुत इति सर्वमवदातम्।

—अणुभाष्य, अध्याय ४, पाद ४, सूत्र ७।

मुक्तोऽपि जीवः पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतो भगवद्दत्तं विग्रहं प्राप्य भजनानन्दं प्राप्नोतीति सिद्धम्।

—अणुभाष्य, अध्याय ४, पाद ४, सूत्र १०।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, वल्लभमतानुसार ज्ञानमार्गीय ज्ञानी को अक्षर-ब्रह्म में लीनता जिसमें विग्रहादि का अभाव होता है, प्राप्त होती है; और पुष्टिमार्गीय भक्त को परब्रह्म की प्राप्ति होती है जिसमें मुक्त जीव को भगवद् संकल्प निर्मित विग्रह मिलता है।[१] पुरुषार्थपूर्ण साधन से मुक्त जीव अक्षर-ब्रह्म में लीन होता है और भगवद् कृपा से वह परब्रह्म पुरुषोत्तम का वरण करता है। परब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में भी ब्रह्म के साथ भक्त के प्राणादि की तल्लीनता होती है।[२] परन्तु यह लीनता आनन्द-विग्रह-प्राप्ति से पहले की अवस्था है। भक्त जब चरम विरह में आत्मविस्मृति कर देता है उस समय भक्त और भगवान् का एकीकरण हो जाता है। यह अवस्था जीवन-मुक्त होने पर प्रेम भक्ति द्वारा इसी शरीर के रहते हुए एक प्रकार की सायुज्य अवस्था है। इसीलिए सूर आदि वल्लभ भक्तों ने 'विरह की सायुज्य अवस्था तथा परमार्थ मुक्ति की सायुज्य अवस्था में तादात्म्य माना है।'[३] पूर्ण पुरुषोत्तम के लोक में पहुँच कर पूर्ण पुरुषोत्तम की आनन्द लीलाओं का आनन्द विग्रह से अनुभव करना वल्लभसम्प्रदायी भक्त का चरम लक्ष्य है। जिस समय पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म अपनी लीला का संवरण करते हैं, उस समय लीला में प्राप्त जीव की पृथक् सत्ता नहीं रहती। परब्रह्म के आनन्दांश में उसकी सायुज्य मुक्ति हो जाती है।

अष्टछाप कवियों के मोक्ष-सम्बन्धी विचार

ऊपर कहा गया है कि मुक्ति अवस्था के सर्वमान्य दो पक्ष हैं—एक, संसार दुःख से मुक्ति; दूसरा, नित्य सुख की प्राप्ति। भारतीय दर्शन से प्रभावित मुसलमान सूफ़ी साधकों ने भी 'फ़ना' और 'बक़ा' के रूप में ये ही दो मोक्ष अवस्थाएँ कही हैं। इन दोनों अवस्थाओं में साधक का ईश्वर से पृथक् अस्तित्व रहता है। इनके अतिरिक्त जो सायुज्य मुक्ति की तीसरी लय अवस्था है, उसमें द्रष्टा और दृश्य दोनों का एकीकरण हो जाता है, उसमें सुख-भोग का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। पीछे यह भी कहा गया है कि वल्लभ-मत ने प्रवेशात्मक सायुज्य मुक्ति को माना है जो ज्ञानी साधकों के अक्षर-ब्रह्म में लय होने में होती है। इसके अतिरिक्त उक्त मत में रस-रूप भगवान् के अथवा उनके अक्षर-धाम के अङ्ग बन जाने में भी भक्ति की सायुज्य मुक्ति कही गई है।

१—ज्ञानमार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानेनाक्षरब्रह्मप्राप्तिः, पुष्टिमार्गीयभक्तस्य तु सोऽश्नुत इत्यनेनोक्त परप्राप्तिरिति।

—अणुभाष्य, अध्याय ४, पाद ४, सूत्र ११।

२—अणुभाष्य, अध्याय ४, पाद ४, सूत्र १२।

३—ऊधौ, तुम ब्रज की दसा विचारो,
ता पाछे यह सिद्धि आपनी जोग कथा विस्तारो।
× × ×
कितनौ बीच विरह परमारथ जानत हौ किंधौ नाहीं।

सूरदास, परमानन्ददास तथा नन्ददास आदि अष्टभक्त कवियों ने संसार दुःख से छूटे जीवन-मुक्त भक्त की मुक्त अवस्था का अनेक प्रकार से वर्णन किया है।[1] इस मुक्ति-अवस्था में जो परमसुख होता है उसकी अनुभूति का भी उनके पदों में परिचय है। इस अवस्था के बाद भगवान् की कृपा के बल पर सालोक्य, सामीप्य तथा विशिष्ट प्रवेशात्मक सायुज्य की जो अवस्थाएँ इस मत में मानी गई हैं इनके भी पाने की कामना इन कवियों के पदों में है।

सूरदास

मानसिक प्रबोधन, संसार की अनित्यता, तथा माया मोह की निन्दा में जितने पद सूरदास ने लिखे हैं, उन सब में जीवन-मुक्त अवस्था प्राप्त करने के उपायों को उन्होंने बताया है। इस अवस्था के अपूर्व आनन्द-अनुभव के सामने उन्होंने जीवन-मुक्ति-अवस्था के बाद के मोक्ष-सुख की उपेक्षा कर दी थी।[2] एक पद में सूरदास आत्मानुभूति प्रकट करते हुए कहते हैं—'हे करुणानिधान प्रभु, आपकी कृपा कटाक्ष से मेरा मोह रूपी अन्धकार नष्ट हो गया। ज्ञान का प्रकाश मुझे मिल गया। 'मैं और मेरी' का जो अभिमान रूप संसार था, वह भी छूट गया। अब यह देह चाहे आज छूट जाय और चाहे अहङ्कार शून्य होकर स्थित रहे मुझे इसकी परवा नहीं, मेरे चित्त में तो अब यही लालसा है कि मैं नित्य आपकी लीला का प्रेम पूर्वक श्रवण करूँ।'[3]

इस जीवन-मुक्त-अवस्था के सुख को सूरदास कितने प्रकार से लेते हैं—ईश्वर की

१—निर्गुण मुक्ति हू को नहिं चहै, मम दर्शन ही ते सुख लहै।
ऐसो भक्त सुमुक्त कहावै, सो बहुरयो चलि भव नहिं आवै।
—सूरसागर, तृतीय स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ४३।

२—गोपी उद्धव प्रति उत्तरः—
योगी होइ सो योग बखाने, नवधाभक्ति दास रति मानै
भजनानन्द अली ! हम प्यारौ, ब्रह्मानन्द सुख कौन विचारौ
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, पूर्वार्द्ध, बें० प्रे०, पृ० ५६१।

३— नमो नमो करुणानिधान,
चितवत कृपा कटाक्ष तुम्हारी मिटि गयो तम अज्ञान।
मोह निशा को लेश रह्यो नहिं, भयो विवेक बिहान,
आतम रूप सकल घट दरश्यो उदय कियो रवि ज्ञान।
मैं मेरी अब रही न मेरे छुट्यो देह अभिमान,
भावै परौ आजु ही यह तनु भावै रहो अमान।
मेरे जिय अब यहै लालसा, लीला श्री भगवान्,
श्रवण करों निशि बासर हित सों 'सूर' तुम्हारी आन।
—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ३८।

लीला के गुण-गान से, उनकी लीला के श्रवण से, उनकी दैहिक तथा मानसिक सेवा से, सत्सङ्गति से तथा ईश्वर रूप गुरु की भक्ति से। प्रेम-रस-भक्ति के जितने स्वरूप 'नारद भक्ति सूत्र[१]' आदि ग्रन्थों में कहे गये हैं और जिनके साधन से अष्टछाप भक्तों ने ईश्वर-प्रेम प्राप्त किया था, उन सब में वे आनन्द का आस्वाद करते थे। यह पराभक्ति का वह स्वरूप है जहाँ भक्त को भक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई कामना नहीं रहती। कृष्ण-गुणगान के सुख की मुक्ति के विषय में सूर कहते हैं—'जो सुख गोपाल के गुणगान में है वह जप, तप, धर्म आदि के करने में नहीं है। ब्रज-निवास के सामने बैकुण्ठ का सुख भी त्याज्य है। हरि के सुमिरन से संसार-दुःख छूट जाता है और जीवन-मुक्ति का परमानन्द मिलता है।[२] सूरदास के विचार और अनुभूति में जो सुख आत्मज्ञान होने पर होता है वह इस प्रकार से अनिर्वचनीय होता है जैसे गूँगा मिठाई के स्वाद को कहने में असमर्थ रहता है।[३] इस प्रकार सूर ने प्रेम-भक्ति-सुख की प्रशंसा अनेक पदों में की है। वे अपने मन को भृङ्ग-रूप में सम्बोधन कर कहते हैं—'हे भृङ्गी, भगवान् के चरण-कमलों की उस प्रेम-भक्ति में चल, जहाँ नवधाभक्ति, कर्म

१—गुण महात्म्यासक्ति रूपाशक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्ति आत्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति।

—नारद-भक्ति-सूत्र, गीता-प्रेस, सूत्र ८२।

२— राग सारङ्ग

जो सुख होत गुपालहिं गाये,
सो नहिं होत जप तप के कीन्हें कोटिक तीरथ न्हाये।
दिये लेत नहिं चारि पदारथ चरण कमल चित लाये,
तीनि लोक तृण करि सम लेखत नन्द नन्दन उर आये।
बंशीवट वृन्दाबन यमुना तजि बैकुण्ठ को जाये,
सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भव चलि आये।

— सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ३५।

तथाः—सहज भजै नन्दलाल को सो सब शुचि पावै,
सूरदास हरिनाम लिये दुख निकट न आवै।

—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ३५।

३—अपुन पौ आपुन ही में पायो,

× × ×

सूरदास समुझे की यह गति मन ही मन मुसिकायो,
कहि न जाय या सुख की महिमा ज्यों गूँगो गुर खायो।

—सूरसागर, चतुर्थ स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ५१

और ज्ञान सब मिलकर एक प्रेम रस के आनन्दास्वाद में मिल जाते हैं। अनेक ऋषि और मुनियों ने इस प्रेम-पराग को भृङ्ग बनकर पिया है।'[१] इस प्रकार की जीवन मुक्ति का रस किस स्थान पर मिलता है ? इस विषय में सूर ने सन्त-सङ्गति को बताया है। वे कहते हैं—'हे मन रूपी तोते, उस मुक्ति के क्षेत्र-रूप बन में चल जहाँ कृष्ण नाम का अमृत रस तुझे पीने को मिलेगा।'[२]

संसार-दुःख से छुटकर प्रेम-भक्ति-सुख की मुक्ति-अवस्था के बाद की सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्तियों का भी स्वरूप सूर के अनेक पदों में मिलता है। ईश्वर के लोक, लीलाधाम तथा उनके चरणों के नैकट्य को पाने की लालसा में सूरदास एक पद में, मन को चकई बनाकर कहते हैं—'हे चकई उस सरोवर में चलो जहाँ प्रेम में लौकिकवत् दुःख नहीं है, जहाँ भ्रम की रात्रि नहीं होती। वह लोक आनन्द का सागर है, जहाँ किसी भी प्रकार का भय नहीं है, वेद जहाँ भ्रमर बनकर गान करते हैं, वहाँ तुझे मुक्ति का अमृत-रस पीने को मिलेगा। उस स्थान पर भगवान् अपनी आदि शक्ति लक्ष्मी (अथवा राधा) सहित क्रीड़ा करते रहते हैं। उस रस-समुद्र के सामने संसार के विषय रस

१— राग रामकली

भृङ्गीरी भजि चरण कमल पद जहँ नहिं निशि को त्रास,
जहाँ बिधु भानु समान प्रभा-नख, सो वारिज सुख रास।
जिहिं किंजल्क भक्ति नव लच्छण काम, ज्ञान रस एक,
निगम सनक शुक नारद सारद मुनि जन भृङ्ग अनेक।
शिव विरञ्चि खञ्जन मन रञ्जन छिन छिन करत प्रवेश,
अखिल कोष तहाँ बसत सुकृत जन प्रगटत श्याम दिनेश।
सुनु मधुकरी भरम तजि निर्भय राजिव रवि की आस,
सूरज प्रेम सिन्धु में प्रफुलित तहाँ चलि करैं निवास।

—सूरसागर प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० २६

२— राग देव गन्धार

सुवा चलि वा बन को रस पीजै,
जा बन कृष्ण नाम अमृत रस श्रवण पात्र भरि पीजै।
को तेरो पुत्र पिता तू काको घरनी घर को तेरो,
काम कराल स्वान को भोजन तू कहै मेरो मेरो।
बड़ो बाराणसी मुक्ति क्षेत्र है चलि तोको दिखराऊँ,
सूरदास साधुन की संगति बड़ो भाग्य जो पाऊँ।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० २६

की यह छिछली पोखर अब अच्छी नहीं लगती।'[1] आगे इसी 'सालोक्य' मुक्ति का सङ्केत करते हुये कवि ईश्वर के लोक का परिचय देता है—'हे सखि, उस लोक में पहुँचकर फिर इधर उधर उड़ना नहीं पड़ेगा।'[2] दूसरे शब्दों में, उन्होंने इस गीता वाक्य का—'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम, जहाँ पहुँचकर फिर लौटना नहीं होता ऐसा मेरा धाम है।'[3]—का ही अनुसरण किया है। पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के लीलाधाम में पहुँचने की सालोक्य, उनके चरणारविन्दों के नैकट्य-सुख की सामीप्य तथा कृष्ण ग्वालवत् बनकर उनके अनुकूल व्यापार करने की सारूप्य मुक्तियों के अतिरिक्त, सूर ने कृष्ण के नित्य रास के वर्णन में प्रवेशात्मक सायुज्य मोक्ष स्वरूप खड़ा किया है।[4] कृष्ण की रासलीला

१— राग देव गन्धार

चकई री चलि चरण सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग,
जहँ भ्रम निशा होत नहिं कबहूँ, वह सायर सुख जोग।
जहाँ सनक से मीन हंस शिवमुनि जन नख रवि प्रभा प्रकाश,
प्रफुलित कमल निमिष नहिं शशि डर गुंजत निगम सुवास।
जिहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल सुकृत अमृत रस पीजै,
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि विहंगम इहाँ कहा रहि कीजै।
लक्ष्मी सहित होत नित क्रीड़ा शोभित सूरजदास,
अब न सुहात विषय रस छीलर वा समुद्र की आस।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० २१।

२— राग देव गन्धार

चलि सखि तिहि सरोवर जिहि जाहिं,
× × ×
सूर क्यों नहिं चलो उड़ि तहाँ बहुरि उड़िबो नाहिं।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० २१।

३—गीता, अध्याय १५, श्लोक ६।

४— राग कान्हरो

धनि शुक मुनि भागवत बखान्यो,
गुरु की कृपा भई जब पूरण तब रसना कहि गान्यो।
धन्य श्याम वृन्दावन को सुख सन्त मया ते जान्यो,
जो रस रास रङ्ग हरि कीन्हें वेद नहीं ठहरान्यो।
सुर नर मुनि मोहित तब कीन्हें शिवहिं समाधि भुल्यानो,
सूरदास वहाँ नैन बसाए और न कहूँ पत्यान्यो।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, पूर्वार्द्ध, वें० प्रे०, पृ० ३६०।

के रस का आस्वाद पाना वल्लभ-पुष्टि-भक्ति का चरम लक्ष्य है। बैकुण्ठ लोक निवासी नारायण के लोक से भी परे के वृन्दाबन अथवा गोकुलधाम में आनन्द देहधारी तथा प्राकृत गुणातीत, श्रीकृष्ण का रस-शक्ति-स्वरूपा गोपिकाओं के साथ यह रास मोक्ष के आनन्द का सर्वोच्च रूप, वल्लभ-सम्प्रदाय में, माना गया है। इस रासलीला के आनन्द-प्राप्ति की गति (मोक्ष) का वर्णन सूर ने सूरसागर दशम स्कन्ध[1] में विस्तार से किया है।

सायुज्य मुक्ति के उपर्युक्त स्वरूप के अतिरिक्त, जैसा कि पीछे दुहराया गया है, इस मुक्ति के उन दो लयात्मक रूपों का भी सूर ने उल्लेख किया है जिनमें से एक में भक्त रस-रूप ईश्वर के वेश का अङ्ग तथा उनके रस-रूप अक्षरधाम वृन्दावन का अङ्ग बन जाता है, और दूसरे में वह जीवन-मुक्ति-अवस्था की विरहासक्ति में ही आत्मविस्मृति कर प्रिय भगवान् के साथ तन्मयता का अनुभव करता है। प्रथम प्रकार की इस लयात्मक मोक्ष की कामना कवि सूर इस प्रकार करता है—'हे प्रभु, आप मुझे ब्रज वृन्दावन की धूल बना दीजिये। मैं आपसे यह प्रसाद माँगता हूँ, आप मुझे वृन्दाबन के लता, वृक्ष, जल, ग्वाल, गाय आदि में से कोई एक बना दीजिये।'[2] भगवान् के साथ भक्त की तन्मयता तथा आत्मविस्मृति पूर्वक एकीकरण का भाव हमें सूर के संयोग तथा वियोग, दोनों प्रकार के प्रेम-वर्णनों में मिलता है। इस एकीकरण में यही नहीं है कि भक्त भगवान् में लय हो जाता है, वरन् भगवान् स्वयं भी भक्त के रोम-रोम में आ जाते हैं और भक्त के सम्पूर्ण शरीर को अपने से व्याप्त कर देते हैं। भक्त और भगवान् का यह एकीकरण जल-तरङ्गवत् हो जाता

१—जो कोई भरता भाव हृदय धरि हरि पद ध्यावै,
नारि पुरुष कोउ होई श्रुति ऋचा गति सो पावै।
तिनके पद रज जो कोई वृन्दाबन भूमाहिं,
परसै सोऊ गोपिका गति पावै संशय नाहिं।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ३६४।

जाको व्यास वर्णत रास।
लेत या रस रास को रस रसिक सूरजदास।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ३४८।

२—करहु मोहि ब्रज रेणु देहु वृन्दावन वासा।
माँगों यहै प्रसाद और नहिं मेरे आसा।
जोई भावै सो करहु लता सलिल द्रुम गेहु।
ग्वाल गाइ को भृतु करौ मनौ सत्य व्रत एहु।
—सूरसागर; दशम स्कन्ध, पूर्वार्द्ध, बें० प्रे०, प्र० १९८।

है।[1] दधि बेचने के लिए ग्वालिनी घर से निकलती हैं। उनकी इन्द्रियों की सम्पूर्ण शक्तियाँ कृष्ण में लगी हैं, वे कृष्ण में इतनी तल्लीन हैं कि उनको न अपने शरीर का भान है और न अपने दही का[2]। वे 'दही लेहु री' के स्थान पर 'गोपाल लेहु री' कहने लगती हैं।[3] तल्लीनता की इस अवस्था का वर्णन सूर ने बड़े रोचक ढङ्ग से किया है। वे कहते हैं—'विधाता ने हृदय तो बहुत छोटा बनाया और कृष्ण की शोभा का समुद्र अपार है, इस हृदय-पात्र में समुद्र कैसे समाए ? इसलिए गोपिका स्वयं इस शोभा समुद्र में निमज्जित हो गई। वह इस प्रकार समुद्र में मिल गई जैसे नदी अपना अस्तित्व और नाम मिटाकर समुद्र में मिल जाती है तथा संसार को उसने इस प्रकार छोड़ दिया जैसे सर्प केंचुली को छोड़ देता है।'[4]

१—**गोपीवचनः—** राग सुघराई।

आँखिन में बसै जियरे में बसै हियरे में बसत निसि दिन प्यारो।
मन में बसै तन में बसै रसना में बसै अङ्ग अङ्ग में बसत नन्दवारो।
सुधि में बसै बुधि हू में बसै उरजन में बसत पिय प्रेम दुलारो।
सूर श्याम बनहू में बसत घरहू में बसत सङ्ग ज्यों जल तरङ्गन होत न्यारो।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० २११।

२— राग बिलावल।

चली प्रात ही गोपिका मटुकिन लै गोरस।
नयन श्रवण, मन चित बुधि ये नहिं काहू के वश।
तनु लिये डोलति फिरें रसना अटक्यो जस।
गोरस नाम न आवई कोऊ लैहै हरि रस।
जीव परयो या ख्याल में अरु गए दशा दस।
बभ्केजाइ खग बृन्द ज्यों प्रिय छवि लटकनि लस।
छाँड़ि देहु डरात नहिं कीन्हों पावै तस।
सूरस्याम प्रभु भौंहि की मोरनि फाँसी गस।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० २५७।

३— राग कान्हरो

गोरसको निज नाम भुलायो।
लेहु लेहु कोहू गोपालहि गलिन गलिन यह शोर लगायो।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ०, २५७

४— राग गौड़ मलार।

ग्वालिनि प्रगट्यो पूरन नेहु,
दधि भाजन सिर पर धरे कहति गुपालहिं लेहु।
कौन सुने काके श्रवण काके सुरति संकोच।

सूर ने अपने कुछ पदों में, विरहासक्ति में लगी, भक्त-स्वरूपा गोपियों का कृष्ण के साथ एकीकरण दिखाया है और गोपियों से कहलवाया है कि विरह-सुख में और परमार्थ-मोक्ष में कोई अन्तर नहीं है। उनको विरह में ही ब्रह्मानन्द से अधिक आनन्द मिलता है।[1] गोपियाँ इस विरहावस्था में इस प्रकार कृष्णमयी हो गई हैं जैसे एक बूँद जल, समुद्र में गिर कर, एक हो जाता है और फिर उसे कोई पहिचान नहीं सकता।[2] उपर्युक्त अनेक प्रकार के आध्यात्मिक सुख और मोक्ष-अवस्था विषयक विचारों के साथ-साथ सूर का यह भी मत है कि जो जिस भाव से भगवान् को भजता है उसको उसी प्रकार से भगवान् मिलते हैं

कौन निडर डर आपको को उत्तम को पोच।
प्रेम पिये बस बारुनी बलकत बल न सँभार,
पग डगमग जित तित धरति मुकुलित अकल लिलार।

× × ×

विधि भाजन ओछो रच्यो शोभा सिंधु अपार,
उलटि मगन तामें भई तब कौन निकासनिहार।
जैसे सरिता सिंधु में मिली जु कूल विदारि,
नाम मिट्यो सलिलै भई तब कौन निबेरै बारि।

× × ×

प्रेम मगनि ग्वालनि भई सूर सु प्रभु के सङ्ग,
नैन बैन मुख नासिका ज्यों कैंचुलि तजै भुजङ्ग।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० २९७।

१— × × ×

भजनानन्द अली हम प्यारौ, ब्रह्मानन्द सुख कौन विचारौ।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ५६१।

२— राग मलार

मधुकर कौन मनायो माने,

× × ×

सिखवहु जाइ समाधि योग रस जे सब लोग सयाने,
हम अपने ब्रज ऐसेहि रहिहैं बिरह बाइ बौराने।
जागत सोवत स्वप्न दिवस निशि रहिहैं रूप परवाने,
बारक बाल किशोरी लीला शोभा समुद्र समाने।
जिनके तन मन प्रान सूर सुनि मुख मुसकानि बिकाने,
परी जो पय निधि अल्प बूँद जल सुपुनि कौन पहिचाने।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, भ्रमरगीत, बें० प्रे०, पृ० ५३८।

तथा उसको इच्छित मोक्ष मिलती है ।[1] इसी प्रकार का भाव अन्य अष्टभक्त कवियों ने श्री भगवद्गीता से प्रभावित होकर लिखा है ।[2] इसमें सूर ने सब प्रकार की मुक्तियों को स्वीकार कर लिया है; केवल शङ्कराचार्य के मत में मान्य सायुज्य मुक्ति को उसने स्वीकार नहीं किया । गोपी-उद्धव-सम्वाद के अन्त में गोपियाँ उद्धव से कहती हैं— हे उद्धव, तुम्हारा निर्गुण ईश्वर और योग का उपदेश अब हमारे काम का नहीं है, हमको तो सगुण कृष्ण की सेवा से ही चारों प्रकार की (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य) मुक्तियाँ मिल गई हैं । हम तो सदैव सालोक्य और सामीप्य अवस्था में रहती हैं । इन सुख-अवस्थाओं को छुटाने के लिए अब तुम क्या और की और कह रहे हो । हमें तो सदैव उन्हीं का ध्यान रहता है और जहाँ हमारी आँख जाती है हम सर्वत्र उन्हीं को देखती हैं ।'[3]

सूर ने मोक्ष की जिन सुखअवस्थाओं का परिचय दिया है वे उपर्युक्त विवेचन के आधार से संक्षेप में इस प्रकार रखी जा सकती हैं:—

देह रहते जीवन-मुक्ति-अवस्था के सुख—

१—आत्मज्ञान से संसारदुःख की त्याग-अवस्था अर्थात् दुःखाभाव की मोक्ष-अवस्था ।

१— राग गौरी

करत अचगरी नन्द महर कौ,

× × ×

इह लीला सब श्याम करत हैं व्रज युवतिन के हेत,
सूर भजे जेहि भाव कृष्ण को ताको सोइ फल देत ।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० २०५ ।

२—ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

—गीता, अध्याय ४, श्लोक ११ ।

३—ऊधो सूधे नेंकु निहारो,
हम अबलनि को सिखवन आए सुनो सयान तिहारो ।
निर्गुण कहो कहा कहियत है तुव निर्गुण अति भारी,
सेवत सगुण स्याम सुन्दर को मुक्ति लहीं हम चारी ।
हम सालोक्य, स्वरूप सरो ज्यों, रहत समीप सदाई,
सो तजि कहत और की औरे तुम अलि बड़े अदाई ।

× × ×

अहो अज्ञान कहति उपदेशत, ज्ञान रूप हम हीं,
निशि दिन ध्यान 'सूर' प्रभु को अलि देखति जित तितहीं ।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ५४४ ।

२—प्रेम-भक्ति में भजनानन्द-प्राप्ति की अवस्था, जो वल्लभ-सम्प्रदाय में बहुत उच्च-कोटि का आनन्द माना गया है। यह भजनानन्द-प्रेम की संयोग तथा वियोग-दोनों अवस्थाओं में सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य चारों मुक्ति-अवस्थाओं के अनुरूप अनुभूत होता है।

देह त्याग के पश्चात् ईश्वर-कृपा के बल पर प्राप्य मोक्ष-अवस्था के सुख —

३—रस-रूप भगवान् के लीलाधाम में प्रवेश पाकर सालोक्य मुक्ति।

४—सामीप्य मुक्ति।

५—कृष्ण के नित्य रास में गोपी-रूप से प्रवेश पाकर उनके अधरामृत के आनन्द-लाभ की मुक्ति।

६—तथा आनन्दस्वरूप भगवान् के अङ्ग-रूप तथा लीलाधाम के अङ्ग-रूप बन जाने की प्रवेशात्मक सायुज्य मुक्ति।

परमानन्ददास

परमानन्ददास ने संसार की आसक्ति और लोकव्यवहारों को त्यागने का भाव अनेक पदों में व्यक्त किया है। इन पदों में उन्होंने वस्तुतः उस जीवन-मुक्त अवस्था का ही परिचय दिया है जब भक्त को सांसारिक दुःखाभाव के साथ ईश्वर-प्रेम में ही चरम आनन्द मिलता है। भजनानन्द की अनुभूति में जिन चार मुक्ति-अवस्थाओं का अनुभव भक्त करता है उनका भी स्पष्ट उल्लेख परमानन्ददास ने किया है। एक पद में वे कहते हैं—'हे माई! मेरा तो हरि से ही अनन्य स्नेह है। जब से मैंने कृष्ण को देखा है तभी से घर बार सब छुट गया, मन के सब भ्रम जाते रहे। अब मुझे लोकापवाद का भय नहीं। मेरा मन तो उस प्रकार के ऐक्य का (उस लयात्मक सायुज्य मुक्ति का) अनुभव कर रहा है जहाँ भक्त और भगवान् सरिता-सिन्धु की तरह एक होकर मिल जाते हैं।'[1]—इस लोक में कृष्ण की प्रेम-भक्ति में जो सामीप्य का आनन्द है वह परलोक की मोक्ष-अवस्थाओं से अधिक सुखकार

१— राग आसावरी

मेरे माई हरि नागर सों नेह।

× × ×

अंग अंग बर्यो निपुन यदुनंदन स्याम बरन तन देह।
जब ते दृष्टि परे नंद नंदन तब ते बिसर्यो गेह।
कोऊ बंदो कोऊ निन्दो मन को गयो संदेह।
सरिता सिंधु मिल परमानन्द भयो एक रस गेह।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ६४।

है,[१] इस भाव को परमानन्ददासजी ने अनेक तरह से व्यक्त किया है। वे गोपी रूप बनकर कहते हैं— 'मैं मदन मोहन के बिना नहीं रह सकती, उनके चरण-सरोज को पकड़कर जो मुझे आनन्द मिलता है वह मुझे अन्यत्र नहीं मिलता'।[२] 'मेरे मन ने तो मुरली के राग को पकड़ा है, मैं न तो योग के, आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि अङ्ग जानती हूँ, न ज्ञानियों का संन्यास और न कर्ममार्गियों का धर्म-संचय। भगवान् संन्यासियों को मुक्ति देदें, लोक-कामना करनेवालों को काम-राशि देदें, मर्यादा-धर्म के रक्षकों को धर्म-मार्ग का सुख देदें, परन्तु मेरा मन तो सदा कृष्ण के पद-पङ्कजों में रहता है। यदि कोई कहता है कि योगाभ्यास से ज्योतिर्ब्रह्म की लयात्मक मुक्ति मिलती है तो मुझे ऐसी मुक्ति नहीं चाहिए। मैं तो एक श्याम-रङ्ग में रँगी हुई हूँ। इस एक से मिलकर मैं सब का अपवाद सह लूँगी।'[३] इस

१— राग सारङ्ग

सेवा मदन गोपाल की मुक्ति हू ते मीठी,
जाने रसिक उपासिक शुक मुख जिन दीठी।
चरन कमल रज मन बसी सब धर्म बहाए,
श्रवण कथन चिंतन बढ़यो पावन गुन गाए।
वेद पुरान निरूपि के रस लियो निचोई,
पान करत आनन्द भयो डारयो सब छोई।
परमानन्द विचारि के परमारथ साध्यो,
रामकृष्ण पद प्रेम बढ़यो लीला रस बाध्यो।

—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३१५।

२— राग सारङ्ग।

हौं नंदलाल बिना न रहौं।
मनसा वाचा और कर्मना हित की तोसों कहौं।
जो कोऊ कछु कहो सिर ऊपर सो हों सबै सहौं।
सदा समीप रहौं गिरधर के सुंदर बदन चहौं।
यह तन अर्पन हरि कों कीनों वह सुख कहाँ लहौं।
परमानन्द मदन मोहन के चरन सरोज गहौं।

—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से,

३— राग सारङ्ग।

मेरो मन गह्यो माई मुरली के नाद।
आसन पवन ध्यान नहिं जानों कौन करे अब बादविवाद।
मुक्ति देहु सन्यासनि कों हरि कामिन देहु काम की रासि।
धर्मिन देहु धर्म को मारग, मेरो मन रहै पद अम्बुज पासि।
जो कोउ कहि जोति यामें, सपने न छुवें तिहारो जोग,
परमानन्द स्याम रङ्ग रातो सबै सहौं मिलि एक अङ्ग लोग।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १०६।

कथन में परमानन्ददास ने ज्ञान, योग और कर्म, तीनों मार्गों की मोक्ष-अवस्थाओं का निराकरण किया है। वस्तुतः कवि की मोक्ष-धारणा तो केवल कृष्ण की प्रेम-भक्ति का आनन्द-लाभ है।

कवि ने अपने अनेक पदों में गोपियों के मुख द्वारा कृष्ण के नैकट्य प्राप्त करने की कामना भी प्रकट की है। भक्ति की अवस्था में मिलन का जो भाव कवि ने दिया है वह परलोक की सामीप्य मुक्ति के अनुरूप ही है। इन वर्णनों में वल्लभसम्प्रदाय में मान्य सिद्धान्तों को ही कवि ने अपनाया है। वृन्दावन-धाम में पहुँचकर रस-रूप कृष्ण के सहवास के आनन्द का जो चित्रण इन वर्णनों में है वह पूर्ण पुरुषोत्तम के मिलन का ही है।[1] एक पद में परमानन्ददास जी कहते हैं—'अंश जीवों ने अपने अंशी के मिलन की मुक्ति छोड़कर संसार माँग लिया है। ज्ञानी ज्ञान का साधन करें और योगी योगाभ्यास करें, परन्तु मैं तो अपने गोपाल के गुणगान में मस्त हूँ और उन्हीं के कमल-नेत्रों को देख-देखकर सुख पाता हूँ।'[2] इस अंश-अंशी भाव के कथन में कवि ने वल्लभाचार्य जी के सिद्धान्तों को ही स्वीकार किया है।

सिद्धान्त-रूप से परमानन्ददास वल्लभ-मत में मान्य मोक्ष के सिद्धान्त को मानते हैं

१— राग सारङ्ग

मदन गोपाल के रँगराती,
गिरि गिरि परत सँभार न तन की अधर सुधारस माती।
वृन्दावन कमनीय सघन बन फूलीं चहु दिस जाती।
मन्द सुगन्ध बहै मलयानिल अति जुड़ात मेरी छाती।
आनन्द मगन रहत प्रीतम सङ्ग द्योस न जानति राती,
परमानन्द सुधाकर हरि मुख पीवत हू न अघाती।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १११।

२— राग सारङ्ग

माई हौं अपने गोपालहिं गाऊँ,
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन देखि देखि सुख पाऊँ।
जो ज्ञानी ते ज्ञान बिचारो जो जोगी ते जोग,
कर्मठ होय ते कर्म बिचारो जे भोगी ते भोग।
कबहुँक ध्यान धरत पद अम्बुज कबहुँक बाजै बेनु,
कबहुँक खेलत गोपवृन्द सङ्ग कबहूँ चारत धेनु।
अपने अंस की मुकति तजी है माँगि लियो संसार।
परमानन्द गोकुल मथुरा में उपज्यो यहै बिचार।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ११०।

और अपने साधन और निजी लक्ष्य की दृष्टि से उनके लिए सबसे बड़ा मोक्ष सुख यह है कि—

१—कृष्ण के चरणों में दास्य, सख्य, कान्ता और वात्सल्य भाव से निरन्तर प्रेम रहे[1] और

२—सन्तों का संग रहे।[2]

इस सुख के सामने मोक्ष-सुख उन्हें नहीं चाहिए। वे भगवान् के लीला-धाम के अङ्ग बनने की लयात्मक मुक्ति की कामना नीचे लिखे पद में करते हैं:—

मल्हार

वृन्दाबन क्यों न भये हम मोर।
करत निवास गोवर्धन ऊपर निरखत नन्दकिशोर।

१—यह माँगौं संकरषन बीर।
चरन कमल अनुराग निरंतर भावत है भगतनि की भीर।
संग देहु तो हरि भगतन को वास देहु तो जमुना तीर।
भक्ति देहु तो श्रवन कथा रुचि ध्यान देहु तो स्याम सरीर।
यह वासना घटो जिनि निसदिन मज्जन पावन सुरसरी नीर।
परमानन्ददास को ठाकुर गोकुल मंडन सब बिधि धीर।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २८३।

तथा

माधो यह प्रसाद हू पाऊँ।
तब भृत भृत्य परिचारक दास को दास कहाऊँ।
यह परमारथ मोहिं गुरु सिखयो स्याम धाम की पूजा।
यह वासना घटे नहिं कबहूँ देव न देखौं दूजा।
परमानन्ददास तुम ठाकुर यह नातो जिन टूटै।
नन्दकुमार जसोदा नन्दन हिलि मिलि प्रीति न छूटै।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २८४।

२—सब सुख सोही लहै जाहि कान्ह प्यारो।
करि सतसंग विमल जस गावै रहै जगत ते न्यारो।
तजि पद कमल मुक्ति जे चाहै ताको दिवस अँध्यारो।
कहत, सुनत, फिरत हैं भटकत छांडि भक्ति उजियारो।
जिन जगदीश हृदे धरि गुरु मुख एको छिन न चितारो।
बिनु भगवन्त भजन परमानन्द जनम जुआं ज्यों हारो।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २८५।

क्यों न भये बंशी कुल सजनी, अधर पिवत घनघोर।
क्यों न भये गुंजा बन बेली, रहत श्याम की ओर।
क्यों न भये मकराकृत कुंडल स्याम श्रवण झकझोर।
परमानन्ददास को ठाकुर गोपिन के चित चोर।[1]

संसार की माया के दुःख से छूट कर प्रेम-भक्ति की संयोग तथा वियोग दोनों मानसिक अवस्थाओं में नन्ददास ने भी परम आनन्द की अनुभूति का, अपनी रचनाओं में, स्थान स्थान पर, चित्रण किया है। इस आनन्द-अवस्था में भक्त ईश्वर के सतत् ध्यान में जिस सानिध्य भाव का अनुभव करता है, उसका वर्णन कवि की रास पञ्चाध्यायी की निम्नलिखित पङ्क्तियों से प्रकट होता है—

नन्ददास

पुनि रञ्चक धरि ध्यान पीय परिरम्भ दियो जब।
कोटि सरग सुख भोग, छिनक मंगल भुगते तब।[2]

प्रेम-भक्ति की इस सानिध्य-अवस्था का उल्लेख नन्ददास ने 'दशम स्कन्ध भाषा' में भी किया है और जीवन-मुक्ति-अवस्था के भगवद्-सानिध्य के बाद पूर्ण पुरुषोत्तम श्री कृष्ण के साक्षात्कार में होनेवाली मोक्ष की सानिध्य अवस्था का सङ्केत किया है। दशम स्कन्ध के अध्याय २ में देवता, कृष्ण की स्तुति करते हैं—'हे प्रभु! आप विश्व के पालन के लिए जगत में अवतार धारण करते हैं और भक्तों के लिए दुर्लभ मुक्ति सुलभ कर देते हैं। आपके चरण-कमलों की नौका द्वारा भक्तजन इस संसार-सागर से पार हो जाते हैं और आपके चरणों का सानिध्य पाकर वे मोक्ष के अधिकारी होते हैं। जो जीवन-मुक्त (जिनका संसार छुट गया है) अपने अभिमान में आकर आपके चरणों का निरादर कर देते हैं वे ऊँचे चढ़कर भी नीचे गिरते हैं और बार बार नरक में जाते हैं।'[3] भगवान् के सानिध्य में मानसिक सुख की निजी अनुभूति-

---

१—वर्षोत्सव-कीर्तन-संग्रह, भाग २, देसाई, पृष्ठ २८३।

२—रासपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, पृष्ठ १७, उदयनारायण तिवारी।

३—ये अद्भुत अवतार जु लेत, विस्वहि प्रतिपालन के हेत।
जो दिन दिन दिनमनि न उवाय, तो सब अन्ध धुन्ध ह्वै जाय।
अस अपने भक्तन है हेतु, दुर्लभ मुक्ति सुलभ करि देत।
तब पद पङ्कज नौका करि के, पार परे भवसागर तरि के।
पद पङ्कज के सन्निधि मात्र, तबहीं भये मुक्ति के पात्र।
× × ×
जे बिमुक्त मानी मद भरे, तुव पद कमल निरादर करे।
वे ऊँचे चढ़ि कै खर हरे, धमकि धमकि नरकन में परे।
—दशम स्कन्ध, अध्याय २, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० २०८।

का वर्णन नन्ददास एक पद में उल्लास के साथ इस प्रकार करते हैं—'देखो देखो ! कृष्ण, यमुना-तट पर किस सौन्दर्य के साथ गोपियों के बीच नाच रहे हैं ! और नन्ददास वहाँ निपट निकट से इस नाच की ताल में स्वर मिला कर गा रहा है।'[1]

वल्लभ-मतानुसार नन्ददास मानते हैं कि यह देह गुणमय है और पाप और पुण्य कर्मों से बनी हुई है। बिना प्रारब्ध कर्मों के भोग के ईश्वर का सानिध्य-सुख नहीं मिलता। परन्तु प्रेम-भक्ति की दुःसह विरहाग्नि में सभी प्रकार के (सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण) कर्मों का भस्मीकरण हो जाता है। जो प्रारब्ध-कर्म बचते भी हैं, उन कर्मों के भार से, भगवान् अपनी कृपा के बल द्वारा छुटा देते हैं,[2] तब भक्त को सानिध्य सद्यो-मुक्ति मिलती है।

१—देखो देखो री नागर नट निर्तत कालिंदी तट,
गोपिन के मध्य राजे मुकुट लटक।
× × ×
तत थेई ताता थेई शब्द सकल उघट,
उरप तिरप गति परै पग की पटक।
रास में राधे राधे मुरली में एक रट,
नन्ददास गावै तहँ निपट निकट।

—नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० ३३३।

उक्त पद के विषय में अष्टछाप-वार्ता में लिखा है कि एक बार अकबर ने यह पद किसी गुणी से सुना। उसे पद के भाव से यह जानने का कौतूहल हुआ कि वह नन्ददास भक्त कौन सा है जो रास में पहुँचकर बिल्कुल निकट से गाता है, और कैसे वह वहाँ पहुँचता है। उसने नन्ददास से भेंट की और उनसे यही पूछा कि वे कृष्ण के निपट निकट कैसे पहुँचे। नन्ददास ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया और उन्होंने उसी समय अपने प्राण त्याग दिये।

२—बहुरि कहत यह गुन मय देह, पाप पुण्य प्रारब्ध के गेह।
भुगते बिनु न बाटि है जाहीं, अब भुगते यह मो मन माहीं।
दुसह बिरह जु कमल नैन को, अनेक भाँति के दुःख दैन को।
सो दुख आनि परयो जब इनमें, कोटि नरक दुष भुगये छिन में।
ता करि पापनि को फल जितौ, जरि बरि मरि सरि गिरि गयौ तितौ।
पुनि रञ्चक हिय में धरि ध्यान, कीन्हों परिरम्भन रस पान।
कोटि सुरग सुख छिन में लिये, मङ्गल सकल बिदा कर दिये।

—दशम स्कन्ध, २६वाँ अध्याय, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० ३२२, पाठ-भेद से।

तथा

तजि तजि तिहि छन गुन मय देह, जाइ मिलीं करि परम सनेह।
जदपि 'जार बुद्धि' अनुसरी, परमानन्द कन्द रस भरी।
× × ×
ये हरि प्रिया परम रस ओपी, जिनहुँ सबै बिधि इहि बिधि लोपी।

रास पञ्चाध्यायी, और सिद्धान्त पञ्चाध्यायी में तथा रूपमञ्जरी ग्रन्थ में, जहाँ नन्ददास ने रूप मञ्जरी को कृष्ण के नित्य रास में प्रविष्ट करा कर और फिर उस रास में उसे दर्शक और अभिनेत्री रूप दे अखण्ड रस की अनुभूति का चित्रण किया है, पुष्टि-भक्ति में मान्य सर्वोत्तम मोक्षावस्था का वर्णन किया है। जहाँ कवि ने पुरुषोत्तम के लीलाधाम वृन्दावन का वर्णन किया है वहाँ भी उसका लक्ष्य इसी मोक्ष-धाम की ओर है। इस प्रकार रास के वर्णन में कवि ने सालोक्य[1], सीमाप्य[2], सारूप्य[3] तथा सायुज्य[4] चारों प्रकार की मुक्तियों का

आवृत ब्रह्म जियनि में मानि, कृष्ण अनावृत ब्रह्म है जानि।
नरन के श्रेय करन हित तेही, दिखियत आत्मा परम सनेही।
—दशम स्कन्ध भाषा,—२९वाँ अध्याय, नन्ददास, 'शुक्र', पृ० ३२१, पाठ-भेद से।

१—इह बन दुर्लभ आइबो, इन्दुमती सुनि बात।
जाकी रञ्चक रज गरज, अज से मरि पचि जात।
—रूपमञ्जरी, पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, पृ० २३८, छन्द नं० ५६१।

२—तब क्रम क्रम वह सखी सुहाई, रचे रास मण्डल में लाई।
मृदु कञ्चन मनि मय तहँ धरनी, मन हरनी छबि परत न बरनी।
× × ×
ठाड़े नंद सुवन तेहि माहीं, वृषभानु दुलारी के गलबाहीं।
—रूपमञ्जरी पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, पृ० २३८ छन्द नं० ५६६, ५६७ तथा ५७१।

तथा

मन निर्मल भये सुबुध तहाँ विज्ञान प्रकासै,
सत्य ज्ञान आनन्द आत्मा तब आभासै।
तब तुम्हरी निज प्रेम भगति रहि सोई आवै,
तौ कहुँ तुम्हरे चरन कमल को निकटहिं पावै।
—सिद्धान्त पञ्चाध्यायी, नन्ददास, 'शुक्र', पृ० १८८।

साँवरे पिय कर परस पाइ सब सुखित भई ज्यों,
परम हंस भागवत मिलत संसारी जन यों।
—सिद्धान्त पञ्चाध्यायी, नन्ददास, 'शुक्र', पृ० १९२।

३—कमल नैन करुनामय सुन्दर नन्द सुवन हरि,
रम्यों चहत रस रास इनहिं अपनी समसरि करि।
—सिद्धान्त पञ्चाध्यायी, नन्ददास, 'शुक्र', पृ० १८९।

४—तजत भई तिय सम तन सोई, ज्यों जीरन पट त्यागत कोई।
ज्यों रवि और रवि की गरमाई किरण माँझ हो रवि में जाई।
सखी जब वृन्दाबन ढिग गई, विपिन विलोकि चकित अति भई।
× × ×
सुधि न रही एही छबि मोहन, राग मई किधौं प्रेम मई बन।
—रूपमञ्जरी, पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, पृ० २३५-२३६ छन्द नं० ४४४-४४६ तथा ५२१।

समावेश कर दिया है और इनके अतिरिक्त नित्य रास में गोपियों द्वारा आस्वादित रास रस को भी नित्य कह कर उन्होंने वल्लभ-सम्प्रदाय में मान्य स्वरूपानन्द-मोक्ष का परिचय दिया है।

'रूपमञ्जरी' में कवि रूपमञ्जरी के देहत्याग कर कृष्ण के नित्य रास में प्रवेश पाने के बारे में कहता है कि जैसे सूर्य की गर्मी सूर्य की किरणों में होकर सूर्य में ही समा जाती है उसी प्रकार रूप मञ्जरी अपने प्रिय कृष्ण से जा मिली। इस कथन में नन्ददास ने लयात्मक सायुज्य मुक्ति को स्वीकार किया है।

सूरदास, परमानन्ददास तथा नन्ददास के अतिरिक्त अन्य अष्टछाप कवियों ने भी गोपी-कृष्ण-रास का वर्णन किया है और उन्होंने उसके द्वारा फलस्वरूपा अथवा मोक्षस्वरूपा पूर्ण पुरुषोत्तम की नित्य रसवती लीला का ही चित्रण किया है। चतुर्भुजदास ने कुछ पदों में, सानिध्य, सारूप्य तथा सायुज्य मोक्ष प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा प्रकट की है। सानिध्य मुक्ति की कामना करते हुये वे कहते हैं—'हे मोहन। मेरा ध्यान आपकी मुरली के नाद में लगा है, मुझे अपने सम्मुख ही सदा रखिये'[1] तथा हे श्यामसुन्दर, मैं मेह से बचने को आपके निकट आई हूँ, मेरी चूनरी भीग रही है। आप अपना पीताम्बर मुझे उढ़ा कर मेरी ओट कर दीजिये। मैं बिजली से डरती हूँ, अपने निकट रख कर अपना स्नेह मुझे दीजिये।'[2] एक पद में कवि कृष्ण के तद्रूप होने की कामना करता है और फिर कहता है—'हे प्रभु, अपने बृन्दाबन धाम के खग, मृग, पशु आदि किसी की भी गति मुझे नहीं

१— राग सारङ्ग

नैकु सुनावहु हो उहि रीति।
जिहि विधि अमृत प्याय स्रवन पुट सरबस लीनो जीति।

× × ×

लाग्यो ध्यान चतुर्भुज प्रभु मोहिं तुम्हारे बेनु रसाल।
राखहु दास अधर धरे सन्मुख सुख निधि गिरधर लाल।

—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० ७६।

२— राग मल्हार

स्याम सुन नियरो आयो मेहु।
भीजेगी मेरी सुरंग चूनरी ओट पीत पट देहु।
दामिनि ते डरपति हों मोहन निकट आपुनो देहु।
दास चतुर्भुज प्रभु गिरधर सों बाँध्यो अधिक सनेहु।

— लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० ८१।

देते तो आप मुझे अपने अधर-सुधारस का पान ही करने दीजिये।[१]" इसी प्रकार चतुर्भुज-दास ने गोपियों की प्रेम में उस तल्लीन-अवस्था का वर्णन किया है जिसको लेखक ने पीछे मोक्ष की सायुज्य-अवस्था के अनुरूप कहा है।[२]

छीत-स्वामी ने मोक्ष सुख की इस प्रकार कामना की है—'हे विधाता, तुझसे मैं अञ्चल पसार के माँगता हूँ कि तू मुझे जन्मजन्मान्तर ब्रज का वास दे, अहीर की जाति और नन्द के घर के पास घर दे, जिससे मैं नन्द के घर में कृष्ण की सुन्दरता को देख देख कर मुसकराया करूँ। दधिदान के बहाने मैं अपने अङ्गों का कृष्ण से स्पर्श कराया करूँ और शरद रात्रि के रास-रस का आनन्द लूटा करूँ।'[३] इस कामना में कवि ने अन्त में कृष्ण की नित्य लीला में ही प्रवेश पाने की अभिलाषा की है। छीतस्वामी की मुक्ति की कल्पना भी पुष्टि-भक्ति सम्मत ही है।

१— राग सारङ्ग

ऐसेहि मोहू क्यों न सिखावहु।
कैसें मधुर मधुर कल मोहन तुम मुरलिका बजावहु।
सारंग राग सरस नंदनदन सजि सप्तक सुर गावहु।
ता बंधान सुजान सहज में बहुत अनागत लावहु।
श्रुति संगीत करी परिमित ताहू में अतित बढ़ावहु।
खग मृग पशु कुल बधू देव मुनि सब की गति बिसरावहु।
चतुर्भुज प्रभु गिरिधर गुन सागर जो तुम यह न बनावहु,
तो बहुरयौ आपुही अधर सुधा स्रवन पुट प्यावहु।

—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० ८०।

२— राग गौरी

आज सखी तोहि लागी है यह रट,
'गोविन्द लेहु लेहु कोउ गोविन्द' कहति फिरत बन में औघट घट।
दधि को नाम बिसरि गयो देखत स्याम सुन्दर ओढ़ें पीरो पट,
माँगत दान ठगोरी मेली चतुर्भुज प्रभु गिरिधर नागर नट।

—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० १२१।

३— राग गौरी

अहो विधना! तो पै अँचरा पसारि माँगौं,
जनम जनम दीजो मोहि याही ब्रज बसिबो।
अहीर की जाति समीप नन्द घर हेरि,
हेरि स्याम सुभग घरी घरी हँसिबो।
दधि के दान मिस ब्रज की बीथिन,
झक झोरन अङ्ग अङ्ग को परसिबो।
छीत स्वामी गिरिधरन श्री विट्ठल,
सरद रैन रस रास बिलसिबो।

—लेखक के निजी, छीत स्वामी पद संग्रह से, पद नं० ४३।

गोलोक—गोकुल अथवा वृन्दाबन (निजधाम)

पीछे कहा गया है कि वल्लभ-सम्प्रदाय के मतानुसार, पूर्ण पुरुषोत्तम, परब्रह्म रस-रूप श्री कृष्ण अपने आनन्द-विग्रह से तथा ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन षट्गुण और अप्राकृत धर्मों से युक्त हो अक्षर-धाम में नित्य लीला-मग्न रहते हैं। इन्हीं पूर्ण पुरुषोत्तम के लीलाधाम का नाम गोलोक, गोकुल या वृन्दाबन है। इस लोक को इस सम्प्रदाय में ब्रह्म का ही स्वरूप माना गया है और इसको अक्षर-ब्रह्म कहा गया है। गोलोक सर्वत्र व्यापक है। इसमें भगवान् अपनी आनन्द-प्रसारिणी शक्तियों सहित नित्य और व्यापक लीलाएँ करते रहते हैं। भक्तजनों के आनन्ददान के लिए जब भगवान् इस जगत में अवतार लेते हैं, उस समय उनकी सम्पूर्ण रसमयी लीलाएँ, उनकी अनेक शक्तियाँ, उनका लीलाधाम आदि, उनका सम्पूर्ण गोलोक इस जगत में अवतरित होता है। नित्य लीलाधाम गोलोक का अवतरित रूप ब्रज-वृन्दाबन अथवा गोकुल है। जैसे भगवान् मायिक जगत में प्रकट होकर माया से अलग और उस माया को अपने वश में रखनेवाले होते हैं, उसी प्रकार इस जगत में उनकी लीला का धाम ब्रज-वृन्दाबन भी माया के गुणों से अलग है। गोकुल की महत्ता वल्लभ-सम्प्रदाय में बैकुण्ठ आदि लोकों से कहीं अधिक मानी जाती है।[१] भगवान् की रस-समूह रास-लीला तथा उनके अक्षर-धाम गोलोक में पहुँचना वल्लभ-सम्प्रदायी भक्त की चरम अभिलाषा होती है जिसको वह अपने साधन के अन्त में भगवान् की कृपा से ही पाता है। इसलिए इस सम्प्रदाय में ब्रजभूमि, कृष्ण-रसवती-रास-लीलाओं के भिन्न भिन्न स्थान, वहाँ के निवासी, वहाँ की भाषा, गो, ग्वाल, पक्षी तथा वृक्षादि की बड़ी भारी मानता होती है। हिन्दी के अष्टछाप कवियों ने इस ब्रज-वृन्दाबन की बहुत महिमा गाई है।

गोलोक, गोकुल, वृन्दाबन अथवा ब्रजधाम सम्बन्धी अष्टछाप कवियों के विचार

पीछे कहा गया है कि सूरदास, परमानन्ददास आदि कृष्ण भक्तों ने रसरूप कृष्ण और उनकी लीलाओं की उपासना की है। यह भी बताया गया है कि इन भक्तों ने कृष्ण के लीलाधाम वृन्दाबन की बड़ी महिमा गाई है। जहाँ उन्होंने वृन्दाबन की शोभा और वहाँ के आनन्दों का वर्णन किया है, वहाँ उन्होंने परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम श्री कृष्ण के अक्षर-धाम आदि वृन्दाबन की ओर ही

सूरदास

१—अणुभाष्य, अध्याय ४, पद २, सूत्र १६।

सङ्केत किया है।[1] इस लोक का यह ब्रज-वृन्दाबन ठीक परब्रह्म के आदि लोक का स्वरूप है, ऐसा वल्लभसम्प्रदायी भक्तों का विश्वास है। इस लोक के वृन्दाबन की प्रसंशा में सूरदास जी कहते हैं—'ब्रज के निवासी, गोपी, ग्वाल, गाय, गोवत्स, यमुना और मथुरा को धन्य है, इनके दर्शनों से पाप नष्ट होते हैं। भगवान् श्री कृष्ण का इनके साथ संसर्ग है। ब्रज वृन्दाबन का महत्व कौन वर्णन कर सकता है।'[2] तथा 'इस वृन्दाबन की रज भी प्रशंसनीय है जहाँ कृष्ण ने गायों को चराया। हे मन! इस स्थान का क्या कहना! यहाँ पुरातन पूर्ण पुरुष श्री कृष्ण नित्य निवास करते हैं। इस ब्रज धाम में कुछ लेना-देना नहीं है, यहाँ तो मदन-मोहन के ध्यान में रहकर सर्व आनन्द है। इसलिए तू यहीं रह। यहाँ की बराबरी कल्पवृक्ष और कामधेनु तक नहीं कर सकते।'[3] इस कथन में भी सूरदास ने पूर्ण पुरुषोत्तम के लीला-

---

१—धनि गोपी धनि ग्वाल धन्य ये ब्रज के वासी,
धन्य यशोदा नन्द भक्ति वश किये अविनाशी।
धनि गोसुत धनि गाइ ये कृष्ण चराये आपु,
धनि कालिंदी मधुपुरी जा दरशन नाशै पापु।
× × ×
वृन्दाबन ब्रज को महतु कापै बरन्यो जाइ।
चतुरानन पग परसि के लोक गयो सुख पाइ।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० १२८।

२—शोभा अमित अपार अखंडित आप आत्मा राम,
पूरण ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम।
× × ×
वृन्दाबन निजधाम परम रुचि वर्णन कियो बढ़ाय,
व्यास पुराण सघन कुंजन में जब सनकादिक जाय।
धीर समीर बहत त्यहि कानन, बोलत मधुकर मोर।
प्रीतम प्रिया बदन अवलोकत, उठि उठि मिलत चकोर।
गोबर्द्धन गिरि रत्न सिंहासन दम्पति रस सुख मान।
विपिन कुञ्ज जहँ कोऊ न आवत रस बिलसत सुख खान।
—सूरसागर, सूरसारावली, बें० प्रे०, पृ० ३४।

३—धनि यह वृन्दावन की रेनु।
नन्दकिशोर चराई गैया, मुखहि बजाई बेनु।
मदन मोहन को ध्यान धरत जो, अति सुख पावत चैनु,
चलत कहा, मन, बसत पुरातन जहाँ कछु लैन नहिं दैनु।
इहाँ रहौ जहाँ जूठनि पावे ब्रजबासी के ऐनु,
सूरदास यहाँ की सरवरि नहिं कलपवृच्छ सुरधेनु।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० १६०।

तथा—करहु मोहि ब्रज रेणु देहु वृन्दाबन वासा।
माँगौं यहै प्रसाद, और नहिं मेरे आसा।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० १५८।

धाम की ओर सङ्केत किया है। इस कृष्ण-लीला-धाम के अन्तर्गत मधुर भाव की क्रीड़ा-स्थलि, बृन्दाबन, के प्रति सूर का मन अत्यन्त रूप से आकर्षित है।[1] पीछे मोक्ष के प्रकरण में उद्धृत पदों में सूरदास ने चकई और भृङ्गी की अन्योक्तियों द्वारा मन को उस लोक में चलने के लिए कहा है, जिसमें भ्रम की निशा नहीं है, जहाँ सुख का सागर हिलोरे लेता है और जहाँ पहुँच कर फिर उड़ना नहीं पड़ता; वहाँ उन्होंने ईश्वरीय लोक का ही वर्णन किया है। जैसे वल्लभाचार्य जी ने कहा है कि गोकुल का महत्व बैकुण्ठ से भी अधिक है[2] उसी प्रकार सूरदास ने भी लक्ष्मीनारायण के लोक बैकुण्ठ से भी परे बृन्दाबन धाम को माना है। पीछे कहा गया है कि बैकुण्ठ में शेष-शैया पर शयन करनेवाले और ब्रह्मादि देवों की उत्पत्ति करनेवाले नारायण भी, वल्लभ-मतानुसार पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के अंशावतार हैं। रास-प्रकरण में मुरली-ध्वनि का वर्णन करते हुए सूरदास जी एक पद में कहते हैं—'जब मुरली की ध्वनि बैकुण्ठ में पहुँची तो नारायण वृन्दाबन की लीला का ध्यान करने लगे और लक्ष्मी जी से बोले कि हे प्रिये ! वह वृन्दाबन, जहाँ कृष्ण रास-विलास कर रहे हैं, हमसे बहुत दूर है, उस धाम को धन्य है, वहाँ का सा आनन्द तीनों लोकों में नहीं है।[3]

परमानन्ददास ने भी ब्रज-प्रेम और वृन्दाबन-सुख के सामने बैकुण्ठ-सुख की उपेक्षा की है। वे कहते हैं—'बैकुण्ठ जाकर मैं क्या करूँ, वहाँ न तो नन्द है, न गोपी और न

१—वृन्दाबन मोको अति भावत।
सुनहु सखा तुम सुबल श्री दामा, ब्रज ते बन गऊ चारन आवत।
× × ×
यह वृन्दाबन यह यमुना तट ये सुरभी अति सुखद चरावत।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० १२४।

२—अणुभाष्य, अध्याय ४, पाद २, सूत्र १२।

३— राग विहागरो
मुरली ध्वनि बैकुण्ठ गई,
नारायण कमला सुनि दम्पति अति रुचि हृदय भई।
सुनहु प्रिया यह बाणी अद्भुत, वृन्दाबन हरि देख्यो,
धन्य धन्य श्रीपति मुख कहि कहि, जीवन ब्रज को लेख्यो।
रास विलास करत नँदनन्दन, सो हमते अति दूरि,
धनि बन धाम, धन्य ब्रजधरनी, उड़ि लागे ज्यों धूरि।
यह सुख तिहूँ भुवन में नाहीं जो हरि सङ्ग पल एक,
सूर निरखि नारायण इकटक भूले नैन निमेक।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ३४७।

परमानन्ददास

ग्वाल बाल। निर्मल यमुना का जल और कदम्ब की छाँह भी वहाँ नहीं है।'[1] परमानन्ददास ने कृष्ण के रास का भी चित्रण किया है, परन्तु उन्होंने कृष्ण-रास-स्थलि वृन्दाबन की शोभा का वैसा वर्णन नहीं किया जैसा सूर अथवा नन्ददास ने किया है। फिर भी कवि का ध्यान नित्य रास और नित्य रास-क्रीड़ा के कृष्ण-लीला-धाम की ओर ही है।

नन्ददास

नन्ददास ने भी अपने कई ग्रन्थों में तथा पदों में ब्रज और कृष्ण की रास-स्थलि वृन्दाबन की शोभा का वर्णन करते हुए उसकी बहुत महिमा गाई है तथा उसे दिव्य रूप में देखते हुए उसमें बसने की कामना प्रकट की है। ब्रज-प्रेम में कवि कहता है—'मुझे नन्दग्राम अच्छा लगता है। वहाँ के गोपी ग्वाल धन्य हैं, जिनके हृदय से कृष्ण लगे हुए हैं। वहाँ देवता तथा बड़े बड़े मुनीश्वर रहते हैं और एक पल भर भी उस स्थान को नहीं छोड़ते। प्रभु-कृपा से गिरिधर को देख देख कर नन्ददास का मन भी सजग हो रहा है।'[2] कृष्ण के अन्तर

१—कहा करौं बैकुण्ठहि जाइ,
जहाँ नहीं नन्द जहाँ नहीं गोपी, जहाँ नहीं ग्वाल बाल नहीं गाइ।
जहाँ नहीं जल जमुना को निर्मल और नहिं कदमन की छाँय,
परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३३८।

तथा

राग मालकोस

भोगी के दिन अभ्यङ्ग स्नान कर साज सिङ्गार श्याम सुभग तन।
× × ×
श्रीघनश्याम मनोहर मूरति करत बिहार नित्य (ब्रज) वृन्दाबन,
परमानन्ददास को ठाकुर करत रङ्ग निशि दिन मन भावन।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३३१ तथा कीर्तन-संग्रह, भाग २, देसाई, पृ० १७१।

२— राग बिलावल

नन्द गाँव नीको लागत री।
प्रात समैं दधि मथत ग्वालिनी विपुल मधुर धुनि गाजत री।
धन गोपी धन ग्वाल सङ्ग ब्रज जिनके मोहन उर लागत री।
× × ×
जहाँ बसत सुरदेव महामुनि एको पल नहिं त्यागत री।

लीलाधाम वृन्दाबन का वर्णन कवि ने 'रूपमञ्जरी', 'रास पञ्चाध्यायी' तथा 'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' ग्रन्थों में विस्तार से किया है। 'रूपमञ्जरी' में नन्ददास ने अन्त में रूपमञ्जरी को कृष्ण के नित्य रास में प्रवेश दिया है। उसी समय उसने वृन्दाबन की दिव्यता का चित्रण किया है। वहाँ कवि कहता है—'इस स्थान पर सदैव वसन्त रहता है। यहाँ जरा का प्रभाव नहीं है, यह स्थान प्रेममय है। इसका वर्णन अनन्त मुखों से नहीं हो सकता। इस बन में आना बड़ा कठिन है। ब्रह्मादि देव भी यहाँ आने के लिए प्रयत्नशील हैं। जो रज ब्रज-वृन्दाबन की है वह बैकुण्ठादि लोकों में भी नहीं है। इस स्थान को अधिकारी जन ही पाते हैं।'[1]

'रास पञ्चाध्यायी' तथा 'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' के कवि ने कृष्ण के नित्य लीला-धाम को कृष्ण की चित् शक्ति का ही स्वरूप कहा है। 'इस स्थान के दिव्य जीवों पर काल का प्रभाव नहीं है, लौकिक विकार से सब मुक्त हैं, लोक के बन इसी बन की विभूति से शोभा पा रहे हैं। इस अपूर्व बन में श्री यमुनाजी प्रेम से भरी बह रही हैं। यहाँ अनेक प्रकार की प्राकृतिक शोभा है। इस स्थान पर परमात्मा परब्रह्म, अन्तर्यामी कृष्ण, बालकुमार, पौगण्ड

नन्ददास प्रभु कृपा को इहि फल गिरिधर देखि मन जागत री।
—नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० ४०३, पाठ-भेद से।

तथा—जो गिरि रुचै तो बसौ श्री गोवर्द्धन गाम रुचे तो बसौ नन्दगाम।
× × ×
नन्ददास कानन रुचै तौ बसौ भूमि वृन्दाबन धाम।
—लेखक के निजी, नन्ददास-पद-संग्रह से।

१—धरनी चिन्तामनि मन हरे, वंछित अनवंछित सब करे। ५४७
सब रितु बसत बसन्त नित जहाँ, पात पुरातन होत न तहाँ। ५४८
× × ×
सुधि न रही एही छबि गोहन, राग मई किन्धो प्रेम मई बन। ५५१
× × ×
जो मुख होय अनन्त सखि, रसता ताहि अनन्त।
बृन्दावन गुन कथन को तऊ न पहुँचे अंत। ५५४।
इह बन दुर्लभ आइबो, इंदुमती सुनि बात।
जाकी रंचक रज गरज, अज से मरि पचि जात। ५६१।
× × ×
जो रज ब्रज बृन्दाबन माहीं, बैकुण्ठादि लोक में नाहीं। ५७७।
जो अधिकारी होय तो पावे, बिन अधिकारी भये न आवे। ५७८।
—रूपमञ्जरी, पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, पृ० २३६, २३७, २३८, २४९।

और किशोर अवस्था में नित्य लीला करते हैं।[1] इस प्रकार नन्ददास ने ब्रज और वृन्दाबन के वर्णन में वल्लभ-सम्प्रदाय में मान्य रस-रूप पूर्ण पुरुषोत्तम श्री कृष्ण के नित्य, अक्षर-ब्रह्म-स्वरूप लीला-धाम तथा उसी के अवतरित रूप इस लोक में स्थित ब्रज-वृन्दाबन, दोनों का वर्णन किया है। पीछे कहा जा चुका है कि कवि लौकिक वृन्दाबन में भी उसी दिव्य वृन्दाबन को देखता है। रास पञ्चाध्यायी में कवि कहता है—'वृन्दाबन का सच्चा रूप, बिना कृष्ण भक्त का अधिकार पाए, नहीं दीख सकता। जब तक हमारी इन्द्रियाँ विषयों से विदूषित

१—अब सुन्दर श्री वृन्दाबन कों गाइ सुनाऊँ।
सकल सिद्धि दाइक नाइक पै सब बिधि पाऊँ।
श्री वृन्दाबन चिद्घन, कछु छबि बरनि न जाई।
कृष्ण ललित लीला के काज धारि रह्यो जड़ताई।
जहँ नग खग मृग लता कुञ्ज बिरुधी तन जेते।
परत न काल प्रभाव सदा सोभित हैं ते ते।
सकल जन्तु अविरुद्ध जहाँ हरि मृग संग चरहीं।
काम क्रोध मद लोभ रहित लीला अनुसरहीं।
सब रितु संत वसंत रहति जहँ दिन मनि ओभा।
आन बनन जाकी विभूति करि सोभित सोभा।
× × ×
श्री अनन्त महिमा अनंत को बरनि सकै कवि।
संकरषन सों कछुक कही श्री मुख जाकी छवि।
—रासपञ्चध्यायी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० १५७, पाठ-भेद से।
× × ×
श्री जमुना अति प्रेम भरी, तट बहति जु गहरी।
मनि मंडित महि माँहिं, परत जनु अद्भुत लहरी।
× × ×
परमातम परब्रह्म, सबन के अन्तर्यामी,
नारायन भगवान धर्म करि सबके स्वामी।
बाल कुमार पौगण्ड धरम आक्रान्त लसत तन,
धर्मी नित्य किसोर कान्ह मोहत सब कौ मन।
× × ×
अस अद्भुत गोपाल लाल, सब काल बसत जहँ,
ताही तें बैकुण्ठ विभव कुण्ठित लागत तहँ।
—रास पञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० १५८, १५९।
तथा
श्री वृन्दाबन चिद्घन छन छन घन छवि पावै,
नन्द सुवन कौ नित्य सदन श्रुतिगन जिहि गावै।
—सिद्धान्त पञ्चाध्यायी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० १८४।

रहेंगी तब तक न तो अन्तर्यामी कृष्ण को, जो हमारे सदैव बिल्कुल पास ही है, और न उनके लीलाधाम वृन्दाबन को ही वे देख पावेंगी'।[1]

ब्रज की महिमा का धार्मिक वर्णन पद्म पुराण[2], श्रीमद्भागवत[3] आदि ग्रन्थों में भी हुआ है। कृष्णोपासना के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के भक्तों ने भी इसके माहात्म्य के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है। अष्टछाप भक्तों ने इस लोक की ब्रजभूमि के प्रति अपना अनुराग यहाँ के पशु, पक्षी, यमुना तथा प्रकृति के प्रति अपनी सौन्दर्य-भावना तथा यहाँ के सुखद निवास की कामना[4] अपने पदों में प्रकट की है। यमुना के प्रति तो धार्मिक भाव रखते हुए

१—बिनु अधिकारी भयें नाहि वृन्दाबन सूझै,
रेनु कहाँ तें सूझे जब लगि वस्तु न बूझै।
निपट निकट घट में जो अन्तरजामी आही,
विषै विदूषित इन्द्री पकरि सकै नहिं ताही।
—रास पञ्चाध्यायी, पाँचवाँ अध्याय, उदय नारायण तिवारी। तथा नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० १८२, पाठ-भेद से

२—पद्मपुराण, पाताल खण्ड, ६९वाँ तथा ७२वाँ अध्याय।

३—श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय १४, श्लोक ३१, ३२, ३४।

४— राग सारङ्ग।

ऐसे बसिए ब्रज की बीथिनि।
ग्वालन के पनवारे चुनि चुनि उदर भरैये सीथिनि।
पैंड़े के सब वृक्ष विराजत छाया परम पुनीतनि।
कुञ्ज कुञ्ज प्रति लोटि लोटि रति, ब्रज लागै रंग रीतनि।
निसि दिन निरखि यशोदा नंदन, अरु जमुनाजल तीरनि।
परसत सूर होत तन पावन दरशन करत अतीतनि।
—सूरसागर, बें० प्रे०, पृ० १६०।

कहाँ सुख ब्रज को सो संसार।
कहाँ सुखद बंसीबट यमुना, यह मन सदा बिचार।
× × ×
कहाँ लता तरु तरु प्रति झूलनि कुंज कुंज बन धाम।
कहाँ विरह सुख बिनु गोपिन संग, सूर स्याम मम काम।
—सूरसागर, बें० प्रे०, पृ० ५०३।

यह माँगौं जसोदा नंदन।
चरण कमल मेरो मन मधुकर या छवि नैनन पाऊँ दर्शन।
× × ×
ब्रज बसिबो जमुना जल अचिबो श्री वल्लभ को दास यही पन।
महाप्रसाद पाऊँ हरि गुन गाऊँ परमानन्ददास जीवन धन।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३१२।

उसकी स्तुति में इन्होंने बहुत यश गान किया है।[1] स्वयं श्री वल्लभाचार्य जी ने यमुना की

१— राग रामकली

श्री यमुनाजी तिहारो दरश मोहिं भावै।
वंशीवट के निकट बसत हौं लहरनि की छवि आवै।
दुख हरनी सुखदेनी श्री यमुना प्रातहि जो यश गावै,
मदन मोहन जू की अधिक पियारी पटरानी जु कहावै।
वृन्दाबन में रास विलासै मुरली मधुर बजावै,
सूरदास दम्पति छबि निरखत विमल विमल यश गावै।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, उत्तरार्द्ध, वें० प्रे०, पृ० ५८१।

परमानन्ददास जी यमुना से प्रार्थना करते हैं:—

श्री यमुना जी यह प्रसाद हौं पाऊँ,
तुम्हारे निकट रहूँ निस बासर राम कृष्ण गुण गाऊँ।
मज्जन करूँ विमल जल पावन चिन्ता कलेश बहाऊँ,
तिहारी कृपा तें भानु की तनया हरि पद प्रीति बढ़ाऊँ।
विनती करौं यही वर मांगों अधमन संग बिसराऊँ,
परमानंद प्रभु सब सुखदाता मदन गोपाल लड़ाऊँ।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० २८२।

नन्ददास जी यमुना का यशगान इस प्रकार करते हैं:—

तातैं श्री जमुना जमुना जू गावौं,
सेस सहस्र मुख निसदिन गावत पार नाहिं पावत ताहि पावौं
सकल सुख दैनहार तातें करो उच्चार कहत हौं बार बार जिनि भुलावौं।
नन्ददास की आस श्री जमुना पूरन करी तातें घरी घरी चित लावौं।

—लेखक के निजी, नन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १।

गोविन्द स्वामी की यमुना के प्रति प्रार्थना:—

राग रामकली।

श्री यमुना जी यह विनती चित धरिये,
गिरिधर लाल मुखारविन्द रति जन्म जन्म नित करिये।
विष सागर संसार विषम संग तें मोहिं उद्धरिये,
काम क्रोध अज्ञान तिमिर अति उर अन्तर ते हरिये।
तुम्हारे संग बसौं निज जन संग रूप देख मन ठरिये,
गाऊँ गुन गोपाल लाल के अष्ट व्याधि ते डरिये।
विविध दोष हरि के कालिंदी एक कृपा कर ढरिये,
गोविंद दास यह वर मागै तुम्हारे चरण अनुसरिये।

—लेखक के निजी, गोविन्दस्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० २६५।

प्रशंसा में एक 'यमुनाष्टक' नामक ग्रन्थ लिखा है जिसमें उन्होंने अपना धार्मिक विश्वास प्रकट करते हुए कहा है कि जो गुण और स्वरूप श्री कृष्ण में हैं वे ही उनकी प्रिया यमुना में हैं। यमुना कृष्ण के प्रति प्रीति का दान देनेवाली है।[1]

रास

'रस्यते इति रसः' जो आस्वादित हो वह रस है। रस और आनन्द दोनों शब्द समानार्थी हैं। रसानां समूह रासः,—रस-समूह को रास कहते हैं। 'रस' अथवा आनन्द तीन प्रकार का है, एक, लौकिक विषयानन्द, दूसरा, अलौकिक ब्रह्मानन्द, तीसरा, काव्यानन्द। षट्रस आदि जिह्वा के विषयानन्द हैं। तीसरे आनन्द को काव्याचार्यों ने 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा है। लौकिक विषयों के संसर्ग की काव्यानुभूति से जो रस जाग्रत होता है वह विषयानन्द और ब्रह्मानन्द दोनों के बीच की सी स्थिति है, इसीलिए आचार्यों ने उसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है। साहित्य-दर्पण में रस के स्वरूप का निरूपण करते समय दर्पणकार ने कहा है:—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः,
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मस्वाद सहोदरः[2]

"अन्तःकरण में रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सत्व गुण के स्वच्छ प्रकाश होने से अखण्ड अद्वितीय, स्वयं प्रकाश स्वरूप आनन्दमय और चिन्मय रस का साक्षात्कार होता है। इस रसास्वाद के समय दूसरे वेद्य (विषय) का स्पर्श नहीं होता। विषयान्तर ज्ञान से शून्य यह काव्य रस ब्रह्म-स्वाद-समाधि के समान होता है।"

काव्य रस का आस्वादन, जैसा कि ऊपर कथित है, आचार्यों ने अलौकिक बताया है। परन्तु हम अनुभव करते हैं कि काव्य रस और उसके स्थायी भाव का आधार विभाव

कृष्णदास—
नमो तरणि तनया परम पुनीत जगपावनी, कृष्ण मन भावनी रुचिरनामा।
अखिल सुख दायिनी सब सिद्धि हेतु श्री राधिका रमण रति कारण स्यामा।
बिमल जल सुमन कानन मोदयुत पुलिन अति रम्य प्रिय ब्रज किशोरा।
गोप गोपी नवल प्रेमरति वंदिता तट मुदित रहत जैसे चकोरा।
लहरि भाव ललिता बालुका सुभग ब्रजबाल व्रत पूरण रास फलदा।
ललित गिरिवर धरन प्रिय कलिंदनंदिनी निकट कृष्णदास बिरहित प्रबलदा।
—लेखक निके जी, कृष्णदास अधिकारी-पद-संग्रह से, पद नं० १३२।

१—'मुकुंद रति वर्धिनी जयति पद्मबन्धोः सुता।'
—यमुनाष्टक, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक २।

२—साहित्य-दर्पण, तृतीय परिच्छेद, टीका पं० शालिगराम शास्त्री, पृ० ६३।

रूप में यह नामरूपात्मक संसार ही होता है, इसलिए काव्य रस का संसर्ग, इस संसार से, स्थिति विशेष में, अलग रहते हुए भी, इसी के भीतर है। ब्रह्मानन्द रस के विषय में अनेक भक्तजनों ने इस नाम-रूपात्मक संसार को विभाव न बनाकर आनन्द-स्रोत भगवान् को ही स्थायी भाव का कारण, विभाव बताया है। इस प्रकार भगवान् और उनके विषयक स्थायी भाव के आस्वाद से जो रस उत्पन्न हो वही ब्रह्मानन्द है। लौकिक विषयों से संसर्ग रखनेवाला रसास्वाद 'काव्य रस' कहलाता है, उसको, काव्याचार्यों ने, लौकिक आलम्बनों पर अवलम्बित होते हुए भी, ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा है। अब यदि शृङ्गार भक्ति का मधुरानन्द जो अप्राकृत नायक ईश्वर से सम्बन्ध रखता है, ब्रह्मानन्द ही कह दिया गया तो इसमें कोई आश्चर्य और आपत्ति की बात नहीं। कृष्ण-भक्त श्रीवल्लभाचार्य ने इस ब्रह्मानन्द से भी बड़ा एक आनन्द अथवा रस और बताया है। केवल भगवान् श्रीकृष्ण को विभाव-रूप बनाकर, उनके प्रेम-संसर्ग से जो रस उत्पन्न होता है वह ब्रह्म रस अथवा ब्रह्मानन्द से भी अधिक महत्व का है, इसको श्री वल्लभाचार्य जी ने भजनानन्द कहा है। श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी टीका में रास-प्रकरण के आरम्भ में वे कहते हैं:—

'ब्रह्मानन्दात्समुद्धृत्य भजनानन्दयोजने,
लीलाया युज्यते सम्यक् सातुर्ये विनिरूप्यते।'

'भगवान् ने ब्रज में लीलाएँ इसलिए कीं कि मुक्त जीवों का ब्रह्मानन्द से उद्धार हो कर उन्हें भजनानन्द मिले।' इस प्रकार लौकिक विषयानन्द तथा काव्य-रस से इतर रसरूप श्री कृष्ण (रसोवै सः) के संसर्ग की लीलाओं में जो रस-समूह मिले वह 'रास' है और यह रस-समूह गोपी-कृष्ण की शरदरात्रि की लीला में अपने पूर्ण रूप में स्थित बताया गया है।

'रास' शब्द का संसर्ग 'रहस' शब्द से भी है जो एकान्त आनन्द का सूचक है। श्रीधर स्वामी ने भागवत की टीका में 'रास' का परिचय इस प्रकार दिया है—'बहुनर्तकि-युक्तो नृत्यविशेषो रासः' अर्थात्:—'बहुत सी नर्तकियों सहित विशेष नृत्य का नाम रास है।'

श्री चैतन्य सम्प्रदायी श्री जीवगोस्वामी जी ने अपनी भागवत की टीका बृहत क्रम-सन्दर्भ' में 'रास' की व्याख्या इस प्रकार की है—

'नटैर्गृहीतकंठेन अन्योन्यातकर्षिश्रियाम्,
नर्तकीनां भवेत् रासो मंडलीभूय नर्तनः'।

नट के साथ गले में बाँह डालकर मण्डलाकार होकर नाचना 'रास' कहलाता है।

श्री वल्लभाचार्य जी ने सुबोधिनी टीका में इस विषय पर लिखा है कि जिसमें बहुत सी नर्तकियाँ हों और नाच करें, उसमें रस की अभिव्यक्ति होती है, इसी रस-युक्त नाच का

नाम 'रास' है।[1] रास-प्रकरण में वे कहते हैं कि रास-क्रीड़ा के मानसिक अनुभव से रस की अभिव्यक्ति होती है, देह द्वारा प्राप्त अनुभव से नहीं—

रसस्याभिव्यक्तिर्यस्मादिति रसप्रादुर्भावार्थमेव नृत्यं
रासक्रीडायां मनसो रसोद्गमः नत्ये देहस्य।

उपर्युक्त विवरण और अष्टकवियों द्वारा वर्णित रास के अवलोकन के आधार से कहा जा सकता है कि अप्राकृत देहधारी, रस-रूप-कृष्ण की अप्राकृत गोपियों के साथ की नृत्य-लीला का जो रस-समूह है वह 'रास' है। भक्त जनों ने रास के तीन रूप माने हैं—(१) नित्य रास। (२) अवतरित रास या नैमित्तिक रास। (३) अनुकरणात्मक रास, जो दो प्रकार का है—(क) भावात्मक अथवा मानसिक (ख) देहात्मक। गोलोक में अथवा निजधाम ब्रज-वृन्दावन में भगवान् श्रीकृष्ण अपने आनन्द-विग्रह से अपनी आनन्द-प्रसारिणी शक्तियों के साथ नित्य रस-मग्न रहते हैं। उनकी यह क्रीड़ा अनादि और अनन्त है। यही भगवान् का नित्य रास है।[2]

भगवान् श्री कृष्ण ने द्वापर में अपनी आनन्द-शक्तियों सहित अपने रसात्मक रूप से अवतरित हो जो रास इस जगत में किया वह अवतरित रास अथवा वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार नैमित्तिक रास कहलाता है। जिस रास का कृष्ण-भक्तों की भावना में मानसिक अनुभव होता है और जिनके अनुभव में वे अखण्ड रस का अनुभव करते हैं वह अनुकरणात्मक मानसिक रास है। और जिस रास का अभिनय मण्डली बना कर कृष्ण-रास-लीला रूप में भक्त जन करते हैं वह अनुकरणात्मक दैहिक रास है। कृष्ण भक्तों का कहना है कि गोपी-कृष्ण-रास का अनुकरण और इसका अनुभव निरोध[3] का साधन है। निरोध-प्राप्ति से भगवान् श्री कृष्ण का प्रेम प्राप्त होता है और प्रेम का फल प्रभु की कृपा के सहारे उस भावात्मक प्रभु का नैकट्य और उसके नित्य रास में रमण की अवस्था प्राप्त करना है। रास-रस की अनुभूति कृष्ण की चार प्रकार की भक्ति—दास्य, वात्सल्य, सख्य और कान्ता अथवा माधुर्य—में से, केवल माधुर्य भाव से होती है। वल्लभाचार्य के मतानुसार कृष्ण-भक्ति

१—फलप्रकरण, सुबोधिनी, अध्याय ५, श्लोक २ की टीका।

२—'नित्य रास रस नित्य नित्य गोपीजन वल्लभ,'—नन्ददास, रास-पञ्चाध्यायी, पञ्चम अध्याय।

३—निरोध—समस्त सांसारिक विषयों से इन्द्रियों को खींचना और उन्हें परमात्मा की ओर लगाना निरोध कहलाता है।
अथवा प्रपञ्च के विस्मरण पूर्वक भगवान् में आसक्ति ही निरोध है।
निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः। ८। लौकिक तथा वैदिक कर्मों के त्याग को निरोध कहते हैं। नारद-भक्ति-सूत्र, सूत्र ८।

के चार रूप हैं:—(१) वात्सल्यभाव से यशोदा और नन्दरूप, (२) सखा-भाव से श्री दामा, विशालादि गोप रूप, (३) माधुर्य-भाव से केवल गोपी रूप तथा (४) दास्य भाव से रक्तक, पत्रक, ब्रजजन। रास पञ्चाध्यायी, श्री सुबोधिनी टीका की आरम्भिक कारिकाओं में श्री वल्लभाचार्य जी कहते हैं—'गोपी-कृष्ण का रास-रमण दो प्रकार का है, वाह्य तथा अभ्यन्तर। इनमें आन्तरिक रमण परम फल रूप है।'[१]

अष्टछाप कवियों के रास-सम्बन्धी विचार

पूर्ण पुरुषोत्तम कृष्ण के नित्य-रास और इस लोक में कृष्ण-अवतार के समय के नैमित्तिक रास, दोनों का एकीकरण करते हुए, इन अष्टकवियों ने गोपी-कृष्ण-रास का वर्णन किया है। सूरदास और नन्ददास ने रास-लीला का चित्रण विस्तार के साथ किया है; अन्य छः कवियों ने उतने विस्तार से नहीं। पीछे कहा गया है कि गोपी-रूप कृष्ण-भक्तों का रास में कृष्ण से मिलन वल्लभ-सम्प्रदायी भक्ति का फलात्मक रूप है। इस बात को नन्ददास ने स्पष्ट शब्दों में कहा है। वे कहते हैं—'रास नित्य है, कृष्ण और रास में रमण करनेवाली गोपी नित्य हैं और रास का रस नित्य तथा अद्भुत है।'[२] सूरदास[३]

१—वाह्याभ्यंतरभेदेन आन्तरं तु परं फलम्,
ततः शब्दात्मिका लीला निर्दुष्टा सा निरूप्यते।
—श्री सुबोधिनी-फल-प्रकरण-कारिका।

२—धरम नेम जप तप ब्रत संजम फलहि बतावै,
यह कहुँ नाहिन सुनी जु फल फिर धरम सिखावै।
× × ×
सुन्दर प्रिय को बदन निरखि अस को नहिं भूलै,
—रासपञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, पृ० २४, तिवारी।
तथा नन्ददास, शुक्ल, पृ० १६४, कुछ पाठ-भेद से।
नित्य रास रस नित्य नित्य गोपी जन वल्लभ।
नित्य निगम जो कहत नित्य नव तन अति दुल्लभ। ६६।
यह अद्भुत रस रास कहत कछु कहि नहिं आवै,
सेस सहस मुख गावै अजहूँ पार न पावै।
—रासपञ्चाध्यायी, पाँचवाँ अध्याय, पृ० ८८।
तथा नन्ददास, शुक्ल, पृ० १८१ पाठ-भेद से।

राग केदारा।

—आजु हरि अद्भुत रास उपायो।
एकहि सुर सब मोहित कीन्हें मुरली नाद सुनायो।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ३२८।

ने भी इस रास-रस को लोकानुभूत रसों से तथा ब्रह्मानन्द से भी इतर अद्भुत रस कहा है। सूर का अन्तिम लक्ष्य इसी रास में ही प्रवेश पाना है।[1] वे कहते हैं—'इसको समझने के लिए, भ्रम से मुक्त बुद्धि चाहिए। जिन लोगों में भक्ति का भाव है, वे ही इस रस का आस्वादन कर सकते हैं। वेद और शास्त्रों में दिया हुआ ज्ञान भी बिना ईश्वर की कृपा के इस रास-रस के रहस्य को नहीं जान सकता।[2] इस रस की अधिकारिणी तो केवल गोपी हैं। बैकुण्ठनिवासी नारायण भी इस रस को पाने के लिए तरसते हैं।'[3] 'सिद्धान्त

१— राग कान्हरो

धनि शुक मुनि भागवत बखान्यो।
गुरु की कृपा भई जब पूरन तब रसना कहि गान्यो।
धन्य श्याम बृन्दाबन को सुख संत मया ते जान्यो।
जो रस रास संग हरि कीन्हे वेद नहीं ठहरान्यो।
सुर नर मुनि मोहित सब कीन्हें शिवहि समाधि भुलान्यो।
सूरदास तहाँ नैन बसाए और न कहूँ पत्यानो।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे० पृ० ३६०।

२— राग मलार

रास रस रीति नहिं बरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं कहाँ इह चित्त जिय भ्रम भुलावै।
जो कहौं कौन माने अगम निगम जो कृपा बिन नहीं या रसहि पावै।
भाव सों भजै, बिन भाव में ए नहीं, भाव ही मोहभाव यह बसावै।
यहै निज मंत्र यह ज्ञान यह ध्यान दरश दम्पति भजन सार गाऊँ।
यहै माँगौं बार बार सूर के नैन दुवौ रहैं नर देह पाऊँ।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ३४०।

३— राग केदारो।

रास रस मुरली ही ते जान्यो।

× × ×

यह अपार रस रास उपायो सुन्यो न देख्यो नैन,
नारायण ध्वनि सुनि ललचाने श्याम अधर सुनि बैन।
कहत रमा सों सुनि सुनि प्यारी बिहरत हैं बन श्याम,
सूर कहाँ हमको वैसो सुख जो विलसति ब्रज बाम।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ३४७।

पञ्चाध्यायी' ग्रन्थ में नन्ददास ने रास-रस को सब रसों का सार तथा सब सिद्धान्तों का निचोड़ रूप 'महारस' कहा है।[1]

अष्टकवियों द्वारा वर्णित रास की गोपियों में से कुछ तो पति भाव को लेकर और कुछ 'परकीया' अथवा 'जार' भाव के साथ, कृष्ण के पास उनकी मुरली के नाद से प्रेरित होकर गई थीं। इस वर्णन में 'जार' सम्बन्ध के मधुर भाव में लोक-मर्यादा का उल्लङ्घन भी हो गया है। सूर ने कई पदों में इस बात को स्वीकृत किया है कि इस रास में कृष्ण-गोपी-मिलन लोक की दृष्टि से कुल-मर्यादा के विरुद्ध है।[2] रास के लिए जब गोपियाँ अपने गृह-बन्धनों को त्याग कर प्रेमोन्मत्त हो कृष्ण के पास पहुँचीं, तब कृष्ण ने उनको प्रथम स्त्री-धर्म

१—अवधि भूत गुन रूप नाद तरजन जहँ होई,
सब रस को निर्यास (निर्तास) रास रस कहिये सोई।
—सिद्धान्त पञ्चाध्यायी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० १८४, पाठ-भेद से।

हो सज्जन जन रसिक, सरस मनकै यह सुनिये।
सुनि सुनि पुनि आनन्द हृदै ह्वै नीके गुनिये॥
सकल सास्त्र सिद्धान्त परम एकान्त महारस,
जाके रंचक सुनत गुनत श्रीकृष्ण होत बस।
—सिद्धान्त पञ्चाध्यायी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० १६५।

२— राग गुण्ड मलार।
संग ब्रजनारि हरि रास कीन्हों।
सबन की आस पूरन करी श्याम लै त्रियनि पिय हेत सुख मानि लीन्हों,
मेंटि कुल-कानि मर्याद-विधि वेद की त्यागिं गृहनेह सुनि बैन धाई।
फबी जै जै करी मनहिं सब जै धरी शंक काहू न करी आप माई,
—सूरसागर, दशम स्कन्ध बें० प्रे०, पृ० ३२८।

राग बिलावल।
यह युवतिन को धर्म न होई,
धृग सो नारि पुरुष जो त्यागे धृग सो पति जो त्यागे जोई।
पति को धर्म रहे प्रतिपालै युवती सेवा ही को धर्म,
युवती सेवा तऊ न त्यागे जो पति करै कोटि अपकर्म।
घर ही में तुम धर्म सदा ही, सुत पति दुःखित होत तुम जाहु,
सूर श्याम यह कहि परबोधत सेवा करहु जाइ घर नाहु।
—सूरसागर, दशमस्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ३०१।

तथा, 'यह विधि वेद-मारग सुनो।'—सूरसागर, दशम स्कन्ध बें० प्रे०, पृ० ३०१।
और, 'कहा भयो जो हम पै आई' कुल की रीति गमाई।'
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ३०१

समझाया, उस समय सूर ने कृष्ण-मुख से, वेद-मर्यादा की दृष्टि लेते हुए, गोपियों के गृहत्याग और उनके परपुरुष के पास रात्रि में आने की निन्दा कराई है। ठीक ऐसा ही भाव नन्ददास की रास पञ्चाध्यायी में भी है। दोनों कवि इस विषय में श्रीमद्भागवत के ऋणी हैं। गोपियाँ अपने सत्यव्रत से नहीं टलतीं, फिर अन्त में कृष्ण ने उनकी कामनाओं की पूर्ति की। वल्लभ-सिद्धान्तानुसार रास में प्रवेशात्मक मोक्ष मधुर-भाव के उपासक पुष्टि-भक्तों को ही मिलती है, मर्यादा-भक्तों को नहीं। अष्टकवियों ने रास-रस के अधिकारी गोपी-रूप शुद्ध पुष्टि-भक्तों को मर्यादा की उपेक्षा करनेवाला चित्रित किया है। इनकी गोपियाँ जीवनमुक्त-अवस्था-प्राप्त वे सिद्ध आत्माएँ हैं जो पाप और पुण्य कर्मों के प्रभाव से मुक्त हो चुकी हैं और जो कृष्ण-कृपा की विशेष अधिकारिणी हैं।[1]

अष्टछाप कवियों ने गोपी-कृष्ण-रास में आध्यात्मिक दृष्टि का आरोप कर उसे दिव्य रूप दिया है। इन भक्तों ने तथा कृष्ण की उपासना करनेवाले सभी सम्प्रदायों ने रास के शृङ्गारिक भावों को, परब्रह्म कृष्ण के संसर्ग के कारण, निर्दोष ही बताया है। नन्ददास ने तो रासलीला की निर्दोषिता सिद्ध करते हुए एक छोटा सा 'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी' नामक ग्रन्थ ही लिखा है, जिसके विषय का विवरण लेखक ने पृथक् रूप में आगे दिया है। साधारण लोक के लिए यह रास-लीला केवल एक शृङ्गार-काव्य है जो गोपी-कृष्ण काल्पनिक पात्रों की प्रेम-लीला में वर्णित है। उसका कहना है कि इस लीला के सुनने और विशेष रूप से हिन्दी-भाषा-कवियों द्वारा वर्णित लीला से लौकिक काम की उद्दीप्ति होती है। दूसरा आक्षेप यह लगाया जाता है कि गोपियों का परपुरुष के पास रात्रि में जाने का आचरण निर्लज्जता और अश्लीलता की पराकाष्ठा है। ये आक्षेप नये नहीं है। आचार्य वल्लभ ने भी इन

१— राग रामकली।

तुमहिं विमुख धृग धृग नर नारि।
हमतो यह जानति तुव महिमा, को सुनिये गिरिधारि।
साँची प्रीति करी हम तुम सों अंतर्यामी जानें,
गृह जन की नहिं पीर हमारे वृथा धर्म हम ठानें।
पाप पुण्य दोऊ परित्यागे, अब जो होइ सु होई,
आस निरास सूर के स्वामी, ऐसी करै न कोई।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ३४२।

हरि रस ओपी गोपी सबहिं तियन ते न्यारी,
कमल नैन गोविंद चंद की प्रानन प्यारी।

—रास पञ्चाध्यायी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृष्ठ १६२, पाठ-भेद से।

सुद्ध प्रेममय रूप पंच भूतिन ते न्यारी,
तिन्हें कहा कोउ कहै ज्योति सी जगत उजारी।

—रास पञ्चाध्यायी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० १६०, पाठ-भेद से।

आक्षेपों का उत्तर अपनी सुबोधिनी टीका में दिया है। अन्य आचार्यों ने भी इस लीला का आध्यात्मिक अर्थ समझाया है। श्री वल्लभाचार्य जी सुबोधिनी की कारिकाओं में कहते हैं—"कृष्ण के रास में काम की सब क्रियाएँ हैं; परन्तु उसमें काम नहीं है। गोपियों के लौकिक काम का शमन और अलौकिक काम की पूर्ति निष्काम भगवान् द्वारा हुई थी। यदि लौकिक काम से काम की पूर्ति होती तो उससे संसार उत्पन्न होता; परन्तु यहाँ तो गोपी-कृष्ण दोनों में लौकिक काम का अभाव है और संसार से निवृत्ति है। इस रास-कार्य में किसी मर्यादा का भङ्ग भी नहीं हुआ, इससे तो गोपियों को 'स्वरूपानन्द की मुक्ति' ही मिली थी। इसलिए इस लीला के सुनने से लोक निष्काम ही बनता है, (अपने काम की आहुति भगवान् में कर देता है), भगवान् का चरित्र सर्वथा निष्काम है, इससे काम का उद्बोध ही नहीं होता।"[1] काम की क्रियाओं के रहते हुए काम का अभाव इस प्रकार का कहा गया है जैसे वात्सल्य-स्नेह में चुम्बन-आलिङ्गन आदि क्रियाएँ होती हैं, परन्तु वहाँ काम का संचार नहीं होता। रास के प्रकरण के अन्त में श्रीमद्भागवत् में भी श्री शुकदेव जी ने यही कहा है—'रसात्मक विष्णु भगवान् ने व्रज-बधुओं के साथ जो क्रीड़ा और रास किया उसको श्रद्धापूर्वक सुनने और वर्णन करने से काम-रोग-रूपी हृदय-रोग का नाश होता है।'[2] रास की निर्दोषिता के विषय में जो तर्क आचार्यों ने दिये हैं वे संक्षेप में इस प्रकार रक्खे जा सकते हैं—

१—रास-लीला के नायक श्रीकृष्ण वस्तुतः अप्राकृत देहधारी, रस-रूप साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं।

२—गोपियाँ अपने पाप-पुण्य से बने पञ्च महाभूतात्मक भौतिक शरीर से कृष्ण के

१—क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते,
तासां कामस्य सम्पूर्तिर्निष्कामेति तास्तथा।
कामेन पूरितः कामः निष्कामः संसारं जनयेत्स्फुटम्,
कामाभावेन पूर्णस्तु निष्कामः स्यात् न संशयः २।
अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापिच,
अत एतच्छ्रुतेर्लोको निष्कामः सर्वदा भवेत् ३।
भगवच्चरितं सर्वं यतो निष्काममीर्यते,
अतः कामस्य नोद्बोधः ततः शुकवचः स्फुटम् ४।
—भागवत की सुबोधिनी टीका, रास-प्रकरण की कारिका।

२—विक्रीडितं व्रजबधूभिरिदं च विष्णोः।
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं,
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ४०।
—दशमस्कन्ध, भागवत, अध्याय, ३३, श्लोक ४०।

पास जा ही नहीं सकती थीं। वे तो इनसे अलग होकर अपने ज्योतिर्मय शरीर से भगवान् के पास पहुँची थीं और रास का पूर्ण रस लेने से पहले ही उनके लौकिक काम का दमन हो चुका था। भक्तों को इसी प्रकार की गोपियों के अनुकरण से रास-रस का आनन्द मिल सकता है।

३—विकारपूर्ण लौकिक भावों का, कृष्ण के साथ आरोप, उनके संसर्ग से शुद्ध हो जाता है। श्रीमद्भागवत के १० वें स्कन्ध, अध्याय २९, श्लोक १५ में कहा गया है—'काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सुहृदभाव, इनमें से कोई भी भाव भगवान् हरि के साथ लगाया जाय तो ये भाव लौकिक रूप को छोड़ ईश्वरमय हो जाते हैं।'[1] इसी अध्याय के ११ वें श्लोक में भागवतकार ने कहा है—'जिन्होंने परमात्मा का जार बुद्धि से ध्यान किया उनके भी बन्धनों का क्षय हो गया और गुणमय शरीरसे मुक्ति मिलगई।'[2] गोपियों का काम-भाव, भक्ति की साधनावस्था में लोक से हटकर भगवान् से लगा था। इसी प्रकार भक्ति में जब तक लौकिक भाव भगवान् के साथ जुड़कर अलौकिक रसदाता नहीं बनते तब तक यह साधन पूरा नहीं होता। पूर्ण और सिद्ध अवस्था तब है जब विषय-सुख परमानन्द में परिणत हो जाय। यह अवस्था तभी आती है जब भाव ससीम से निस्सीम हो जाय[3] और भाव और भावुक एक बन जायँ।

४—जैसे भगवान् के साथ माता, पिता, बन्धु, सखा आदि के सम्बन्ध जोड़े जाते हैं उसी प्रकार उसके साथ पति अथवा 'जार' का भी सम्बन्ध जुड़ सकता है। वस्तुतः लोक को छोड़कर ईश्वर के साथ के सम्बन्ध ऐहिक नहीं, पारमार्थिक हैं और वे कल्याणप्रद ही कहे गये हैं। अष्टछाप कवियों ने यही भाव लेकर लोक के श्रृङ्गार भावों को ईश्वर कृष्ण के साथ जोड़ा है। महात्मा तुलसीदास जी ने भी, जो अष्टछाप के समकालीन भक्त थे, कहा है—

१—कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च,
नित्यं, हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते।
—भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय २९, श्लोक १५।

२—तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः।
—भागवत, १० स्कन्ध, अध्याय २९, श्लोक, ११।

३—तैसेई गोपी प्रथम काम, अभिराम रसी रस।
पुनि पाछे निःसीम प्रेम जिहि कृष्न भये बस।
—सिद्धान्त पञ्चाध्यायी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० १९३।

'हमारी प्रीति प्रतीति के जो भिन्न भिन्न सम्बन्ध इस संसार के साथ जुड़े हुये हैं, सब सिमट कर केवल एक प्रभु के साथ लग जायँ[1]।'

उक्त तर्कों के अनुसार कृष्ण भक्तों ने संसार के सभी सम्बन्ध, चाहे वे समाज की दृष्टि से अच्छे हों या बुरे, भगवान् कृष्ण के साथ जोड़े हैं। गोपियों का रास में 'परकीय' भाव ऐहिक दृष्टि से गर्हित है, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से मान्य है। माधुर्य भाव की भक्ति ही शृङ्गार-प्रेममयी है। काम-शृङ्गार को मिटाने के लिए इस भक्ति में काम-शृङ्गार का ही प्रयोग किया गया है। यह 'विष की दवा विष' वाला सिद्धान्त है। इस विष के प्रयोग में सावधानी की आवश्यकता है, अन्यथा यह घातक भी हो सकता है। नन्ददास जी ने रूपमञ्जरी ग्रन्थ में मधुर भाव की भक्ति के विषय में कहा है—'इस भक्ति में विष और अमृत एक जगह रक्खे हुये हैं। जो 'नीर-क्षीर-विवेक' से इसको अलग कर अमृत ग्रहण करता है वही भगवान् के चरणों को पाता है'।[2] वस्तुतः यह बात भक्त और साधकों के अनुभव की है, लोकबुद्धि के समझने की नहीं।

नन्ददास की रास पञ्चाध्यायी तथा सिद्धान्त पञ्चध्यायी के विवेचन में, जैसा आगे कहा गया है, कवि ने पाठकों को सचेत किया है कि वे इस उज्ज्वल रसपूर्ण रासलीला को सावधान होकर पढ़ें और सुनें। सूरदास और नन्ददास ने रास-लीला का बहुत माहात्म्य गाया है। अष्टभक्तों में से अन्य ने रास की निर्दोषिता तथा उसके रस की श्रेष्ठता के बारे में कुछ नहीं कहा; उन्होंने कृष्ण-रास की केवल विविध क्रीड़ाओं का ही चित्रण किया है। काव्य की दृष्टि से मण्डलाकार बने गोपी-कृष्ण की, नृत्य, गान और वाद्य आदि सभी नाटकीय कलाओं से युक्त, ये विविध रहस-लीलाएँ, अष्टकाव्य में सजीव हैं। नन्ददास के काव्य-विवेचन में आगे उनके द्वारा लिखित रास-लीला के काव्य-सौन्दर्य को तथा आध्यात्मिक भाव को विस्तार से लेखक ने दिया है।

। गोपी ।

वल्लभसम्प्रदाय के मतानुसार गोपी-भाव में कई भावों का समावेश है। नित्य गोलोक में होनेवाले रस-रूप कृष्ण के नित्य रास की गोपिकाएँ भगवान् की आनन्द-

---

१—यहि जग में जहँ लगि या तनु की, प्रीति प्रतीति सगाई,
ते सब तुलसीदास प्रभु ही सों, होहु सिमिटि एक ठाई।
—तुलसीदास, विनयपत्रिका, पद नं० १०३, तुलसी-ग्रन्थावली, खण्ड २, पृ० ५१६।

२—गरल अमृत एकठाँ करि राखे, भिन्न भिन्न करि विरले चाखे।
नीर छीर निरवारे जोई, यह मग प्रभुपद पावै सोई।
—रूपमञ्जरी, पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास-करसनदास। छं० नं० १८, १६,

प्रसारिणी सामर्थ्य-शक्ति हैं। राधा भगवान् के आनन्द की पूर्ण सिद्ध-शक्ति है। एक से अनेक होनेवाले भगवान् की इच्छा-शक्ति द्वारा उनके अक्षर-ब्रह्म रूप से सत्-रूप जगत और चिद्-रूप जीव देवता आदि की उत्पत्ति हुई और स्वयं आनन्दस्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम रूप से गो, गोप-गोपी आदि गोलोक की आनन्द रूप शक्तियों की उत्पत्ति हुई। पूर्ण पुरुषोत्तम श्री कृष्ण का रस-रूप, बिना उनकी रसात्मक शक्तियों के अपूर्ण है। कृष्ण धर्मी हैं और गोपिकाएँ उनका धर्म हैं। दोनों अभिन्न हैं। सिद्ध-शक्ति राधा और कृष्ण का सम्बन्ध चन्द्र और चाँदनी का है। गोपियाँ उस चाँदनी को प्रसार देनेवाली किरणें हैं। राधा भगवान् की आदि रस-शक्ति है और गोपिकाएँ इस रस-शक्ति के भिन्न भिन्न रूप हैं। इसीलिए भगवान् की रस-शक्तियों के बीच रस की सिद्ध-शक्ति राधा स्वामिनी-स्वरूपा है। भगवान् रस-शक्तियों के बीच पूर्ण रस-शक्तिस्वरूपा राधा के वश में रहते हैं। ऊपर कहा गया है कि गोपिकाएँ और राधा, कृष्ण से अभिन्न हैं, क्योंकि वे उन्हीं की अंशस्वरूपा शक्ति हैं। जैसे बालक अपना रूप देखकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार रस-रूप भगवान् अपने आनन्दांश का भिन्न भिन्न रस-शक्तियों में रूप देखकर प्रसन्न होते हैं, वे अपने में अपनी ही शक्तियों का प्रसार कर अपने में रमते हैं।

वल्लभ भक्तों के लिए गोपिकाएँ रसात्मकता (आनन्द के आविर्भाव की स्थिति) सिद्ध करानेवाली शक्तियों की प्रतीक भी हैं। और राधा रसात्मक सिद्धि की प्रतीक हैं। पीछे बताया जा चुका है कि भगवान् की जैसी कृपा भक्त पर होती है वैसा ही उसे आनन्द का विग्रह देकर वे उसे अपनी लीला में प्रविष्ट कर लेते हैं। कृष्णावतार में श्रीकृष्ण ने अपनी सम्पूर्ण रस-शक्ति (राधा, गोपी-गोप, गो, गोवत्स आदि) और सम्पूर्ण लीलाधाम सहित इस लोक में अवतार लिया, यह बात भी पीछे आ चुकी है। कृष्ण की व्रज-लीलाएँ नित्य लीलाओं का अवतार हैं। अपने आनन्दांश के खोजी भक्त, गोपी-स्वरूप बनने की अभिलाषा करते हैं और उन्हीं की लीलाओं का अनुसरण करते हैं। उन्हें बिना गोपी अथवा गोप बने भगवान के साथ आनन्दास्वाद नहीं मिल सकता। भक्ति में गोपियों का स्वरूप उन भक्तों का भी है जो या तो सिद्ध होकर भगवान् की कृपा से रास के पूर्ण आनन्द के अधिकारी हो गये हैं अथवा जो अभी सिद्धि-प्राप्ति के मार्ग पर लगे हुये हैं।

कृष्ण लीला का अन्योक्ति रूप लेनेवाले विद्वान् यह भी कहते हैं कि गोपी आत्मा है और कृष्ण परमात्मा। आत्मा भगवान् का अंश होने के कारण अपने अंशी से मिलने का प्रयत्न करती है और आत्मा-रूप गोपियों का, कुञ्ज में कृष्ण-मिलन ही, आत्मा का भगवान् से मिलन है।

कृष्णावतार के व्रज की स्त्रियाँ तीन प्रकार की थीं—(१) अन्यपूर्वा, (२) अनन्य पूर्वा और (३) सामान्या। अन्यपूर्वा वे गोपी थीं जिनके विवाह हो गये थे, परन्तु जो श्रीकृष्ण में आसक्त थीं। उन्होंने सांसारिक पतियों के सम्बन्ध को तोड़कर 'जार'

भाव से कृष्ण को भजा था। उन्होंने लोकलाज और वेदमर्यादा छोड़ दी थी और वे परकीय भाव को लेकर चली थीं। प्रेम का यह उत्कट रूप, जो समाज और मर्यादा की दृष्टि से हेय है, भक्ति में सर्वोत्कृष्ट माना गया है। अनन्यपूर्वा गोपी एक तो वे कुमारिकाएँ थीं, जिन्होंने कृष्ण को पति बनाने की साध की थी; इस साध की पूर्ति के लिए उन्होंने व्रत पूजा आदि उपाय किये थे, और जो सदैव अविवाहित रहीं। दूसरे, वे गोपियाँ थीं जिनका केवल कृष्ण से ही विवाह हुआ था। वस्तुतः दोनों प्रकार की अनन्यपूर्वा गोपियों ने कृष्ण को वरण किया था। इसीलिए वे स्वकीया ही कही जायँगी। इन गोपियों के पूर्वराग प्रेम की आरम्भिक अवस्था में मर्यादा का लगाव था, परन्तु पूर्वराग की उत्कट अवस्था में वे कुल-मर्यादा को छोड़कर कृष्ण से मिली थीं। सामान्या वे व्रज-युवतियाँ थीं जिन्होंने कृष्ण को बालरूप में देखा था और जिन्होंने यशोदा की तरह मातृ हृदय के भाव से कृष्ण के प्रति स्नेह धारण किया था।

रास-रस की अधिकारिणी अन्यपूर्वा तथा अनन्यपूर्वा दो प्रकार की गोपियाँ ही बनी थीं। प्रथम भाव अन्यपूर्वा अथवा 'जार' में, जिसे पुष्टि-पुष्ट-भक्ति भी कहते हैं, भक्ति का उच्चतम रूप अथवा सोपान माना जाता है। दूसरे, अनन्यपूर्वा अथवा स्वकीया में जिसमें मर्यादा पुष्टिभक्ति का लगाव रहता है, भक्ति का उच्चतर रूप है। सामान्या भाव प्रवाही-पुष्टि का है। प्रवाही पुष्टि-भक्ति में भक्ति का उच्चरूप है। वल्लभसम्प्रदाय में भक्ति की प्रथम सीढ़ी तृतीय भाव होता है। इसीलिए कृष्ण-मन्दिरों में सेवा, विशेष रूप से बालभाव की होती है।

वल्लभसम्प्रदाय में रास-रस को लेनेवाले गोपी-स्वरूप भक्तों में एक प्रकार के तामस भक्त भी कहे गये हैं। ये ज्ञान और योग के मार्ग को छोड़कर केवल प्रेम के माधुर्य भाव तथा भगवान् की कृपा द्वारा भगवान् के पास पहुँचते हैं। इन भक्तों को केवल प्रेम और भगवत्कृपा का ही सहारा होता है। बुद्धि अथवा तर्क का उनमें ज्ञानप्रद प्रकाश नहीं, योग-अभ्यास की उनमें सामर्थ्य नहीं और भक्ति के भी साधनों का उनमें साहस नहीं, वे निस्साधन हैं। श्री वल्लभाचार्य जी ने ऐसे भक्तों को स्त्री की संज्ञा दी है। इस प्रकार की माधुर्य-प्रेम-भक्ति का अधिकारी उन्होंने केवल स्त्रियों को ही बताया है। आचार्य जी ने अपनी सुबोधिनी टीका के 'तामस फल' प्रकरण में कहा है कि निस्साधन भक्त केवल स्त्रीत्व भाव से ही भगवान् के साथ 'रस-समूह' रास का आनन्द प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं।[1] सर्वात्म भाव के बिना यह रस-समूह नहीं मिलता और सर्वात्म भाव के लिए 'प्रपत्ति'

१—स्त्रिय एव हि तं पातुं शक्तास्तासु ततः पुमान्।
अतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमेऽहर्निशम्। ४
—तेलीवाला की श्री सुबोधिनी टीका, तामस फल प्रकरण, पृ० २

(निस्साधन होकर पूर्णरूप से कृष्ण को सर्वस्व का समर्पण) का होना आवश्यक है। रास में गोपियों ने अन्त में दैन्य भाव से आत्मसमर्पण किया; तभी कृष्ण ने प्रकट होकर उनको रास का परमानन्द दिया।

सुबोधिनी टीका के रास पञ्चाध्यायी, फल प्रकरण, अध्याय ३ में श्रीवल्लभाचार्य जी ने रास में प्रवेश पानेवाली गोपियों को १६ प्रकार का बताया है[1] जो मुख्यतः तीन वर्ग की थीं—(१) अनन्य पूर्वा (विवाहिता तथा कुमारिका), (२) अन्य पूर्वा (३) निर्गुणा। अनन्य पूर्वा तामस, राजस, सात्विक, तीन गुणों के प्रभाव से तथा इन गुणों के मेल के अनुसार ६ प्रकार की थीं, अन्य-पूर्वा भी इसी प्रकार तीन गुणों के मेल के अनुसार ६ प्रकार की थीं। उन्नीसवीं गोपी निर्गुणा थीं।

इसीलिए गोपी-गीत में उन्होंने १६ प्रकार के वाक्यों में विरह भाव प्रकट किया था। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि श्री वल्लभाचार्य जी ने गोपियों के प्रकार बताते हुए 'राधा' नाम की स्वामिनी-स्वरूपा गोपी का उल्लेख नहीं किया; उन्होंने अन्य किसी ग्रन्थ में भी राधा का उल्लेख नहीं किया है। भागवत के अनुसार रासप्रकरण में तो कृष्ण की विशेष प्रिया रूप में एक गोपी का उल्लेख अवश्य है, राधा नाम का समावेश श्री विट्ठलनाथ जी ने अपने सम्प्रदाय में किया था और अष्टछाप कवियों ने गोस्वामी विट्ठलनाथ के ही मत

१—एकोनविंशतिविधा गोप्यः स्वस्याधिकारतः, एकोनविंशतिविधां स्तुतिं चक्रुरितीर्यते। २। राजसी तामसी चैव सात्विकीर्निगुर्णा तथा, एवं चतुर्विधा गोप्यः पतिमत्यो निरूपिताः। ३। तथैवानन्यपूर्वाश्च प्रार्थनामाहुरुत्तमाम्, गुणातीता सात्विकी च तामसीराजसी तथा। ४। कृष्णभावनया सिद्धा, विशेषणाह वै शुकः, अनन्यपूर्विका इव पुनस्तिस्रो मुदा जगुः। ५। आदि।

—रास पञ्चाध्यायी, फल प्रकरण, अध्याय ३, श्री वल्लभाचार्य कृत।

को इस सम्बन्ध में ग्रहण किया है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने राधा की स्तुति में दो ग्रन्थ 'स्वामिन्याष्टक' तथा 'स्वामिनी स्तोत्र' लिखे थे।

वल्लभ-सम्प्रदाय में माना जाता है कि मधुर भाव से भक्ति करनेवाले भक्त सखी-रूप होते हैं और सख्य भाव से भक्ति करनेवाले भक्त सखा-रूप होते हैं। सर्वानन्द की सिद्ध शक्ति-स्वरूपा राधा अथवा चन्द्रावली सम्पूर्ण अन्य शक्ति-स्वरूपा गोपियों में स्वामिनी है। मुख्य सखियाँ इस सम्प्रदाय में आठ मानी गई हैं और मुख्य सखा भी आठ ही माने गये हैं। इन अष्टसखा और अष्टसखियों के अलग अलग यूथ भी हैं जिनमें सखा और सखियाँ सैकड़ों की सङ्ख्या में हैं। अष्टछाप के भक्त कवि वल्लभसम्प्रदाय में अष्टसखा और अष्ट सखियों के अवतार माने जाते हैं। कृष्ण की गोचारण-लीला में ये भक्त, सखा-रूप हैं और कृष्ण की शृङ्गारिक कुञ्ज-लीला में ये सखीरूप हैं। इन अष्टसखा और सखियों के नाम तथा इनके अनुसार अष्ट कवियों के मान्य स्वरूप निम्नलिखित प्रकार से हैं—

सखा	सखी	भक्त कवि का स्वरूप
कृष्ण	चम्पकलता	सूरदास[१]
तोक	चन्द्रभागा	परमानन्ददास[२]
अर्जुन	विशाखा	कुम्भनदास[३]
ऋषभ	ललिता	कृष्णदास[४]
सुबल	पद्मा	छीतस्वामी[५]
श्री दामा	भामा	गोविन्द स्वामी[६]
विशाल	विमला	चतुर्भुजदास[७]
भोज	चन्द्ररेखा	नन्ददास[८]

अष्टछाप काव्य में, गोपी-भाव के अन्तर्गत उनके दो रूप मिलते हैं—एक ईश्वर की आनन्द और सृष्टि-कारिणी शक्ति का रूप, दूसरा, कान्ता भाव से ईश्वर की भक्ति करनेवाले अनन्य भक्तों का रूप। रस-रूप ईश्वर की आदि रस-शक्ति

१—चौरासी वैष्णवन की तथा अष्ट सखान की वार्ता, श्री हरिराय जी की भावना सहित। अष्टछाप, काँकरौली पृ० २।
२— ,, ,, ,, ४८।
३— ,, ,, ,, १०१।
४— ,, ,, ,, १७६।
५— ,, ,, ,, २४७।
६— ,, ,, ,, २६४।
७— ,, ,, ,, २६०।
८— ,, ,, ,, ३२६।

अष्टछाप कवियों के गोपी सम्बन्धी विचार

और भक्ति में सिद्ध भक्त, ये दो रूप राधा नाम की गोपी के हैं। कृष्ण सदैव राधा के वश में रहते हैं और उसके साथ क्रीड़ा कर नित्य आत्मानन्द में मग्न रहते हैं। एक पद में सूरदास कहते हैं—'राधा प्रकृति है और कृष्ण पुरुष है।'[1] अद्वैत भाव को लेते हुए सूर इसी पद में आगे कहते हैं कि दोनों, राधा और कृष्ण, एक हैं, अभिन्न हैं। एक और पद में उन्होंने राधा को भगवान् की जगत-उत्पादिका शक्ति कहा है और उन्होंने इस शक्ति-स्वरूपा राधा की कई पदों में कृष्ण-भक्ति पाने के लिए वन्दना की है।[2] इसी प्रकार परमानन्ददास ने भी राधा की प्रशंसा की है उसके चरणों की वन्दना करते हुए उन्होंने कहा है—'राधा के चरण कृष्ण-वियोग-रूप सागर के तरने के लिए नौका हैं।'[3] अष्टछाप-कवियों ने राधा को अनन्य

१—ब्रजहि बसे आपहु विसरायो।
प्रकृति पुरुष एकै करि जानों बातनि भेद करायो।
जल थल जहाँ रहों तुम बिन नहिं भेद उपनिषद गायो।
द्वै तनु जीव एक हम तुम दोऊ सुख कारन उपजायो।
ब्रह्म रूप द्वितीया नहिं कोई तब मन त्रिया जनायो।
सूर स्याम मुख देखि अलप हँसि आनँद पुंज बढ़ायो।

सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ २६२।

२— राग सारङ्ग

नीलाम्बर पहिरे तनु भामिनि, जनु घन में दमकत है दामिनि।

× × ×

जग नायक जगदीश पियारी जगत जननि जगरानी,
नित बिहार गोपाल लाल सङ्ग वृन्दाबन रजधानी।
अगतनि को गति भक्तन की पति श्रीराधा पद मङ्गल दानी,
अशरण शरनी, भव भय हरनी वेद पुरान बखानी।
रसना एक, नहीं शत कोटिक शोभा अमित अपारी,
कृष्ण भक्ति दीजै श्रीराधे सूरदास बलिहारी।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ३४५-३४६।

३— राग रामकली

धनि यह राधिका के चरण,
हैं सुभग शीतल अति सुकोमल कमल कैसे वरन।
रसिक लाल मन मोद कारी बिरह सागर तरन,
विवश परमानन्द छिन छिन श्याम जी के शरन।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १३४।

पूर्वा स्वकीया नायिका-रूप में चित्रित किया है। सूरदास ने तो रास के आरम्भ में ही राधा और कृष्ण का विवाह करा दिया है।[1]

अष्टकाव्य में वर्णित, राधा के अतिरिक्त अन्य गोपियों में कुछ अन्य पूर्वा[2] हैं और

---

१ – जाको व्यास वर्णित रास,
है गन्धर्व बिवाह चित दै सुनों विविध विलास।
कियो प्रथम कुमारि यह व्रत धर्‌यो हृदय निवास,
नन्द सुत पति देव देवी पूजै मन की आस।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ३४८।

परमानन्ददास ने भी राधा के मान के समय के एक पद में कहा है:—

राग कानहरा

मनावत हार परी मेरी माई।

× × ×

तनक सुहागो डारि के जड़ कञ्चन पिघलाय,
सदा सुहागिन राधिका क्यों न कृष्ण ललचाय।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३५२।

२ —अन्य पूर्वा:—
कहत ब्रज नागरी।
जु पै चाहि लै श्याम करत उपहास घनेरो,
हम अहीरि गृह नारि लोक लज्जा के जेरो।
तादिन हम भई बावरी, दियो कण्ठ ते हार,
तब ते घर घैरा चल्यो, श्याम तुम्हारो जार।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० २९३।

राग धन्याश्री

गोपाल को मुखारविन्द देषि जु जीजै,
तन मन त्रै ताप तिमिर निरषत ही नसाई।

× × ×

धर्म कर्म लोक लाज सुत पति तजि धाई,
चत्रभुज प्रभु गिरिधर मैं जाँचे री माई। ३
—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० ४८ (अ)।

कुछ अनन्य पूर्वा¹। सरल प्रकृति-धारिणी ये भावुक गोपियाँ सब साधन और सब प्रकार की उपासना छोड़कर केवल कृष्ण को भजती हैं। उन्होंने कृष्ण-शरण में आत्मसमर्पण कर दिया है। उन्होंने सांसारिक बन्धन कच्चे धागे के समान तोड़ दिये हैं। परमानन्ददासजी, इन गोपियों को प्रेम-मार्ग की अग्रगामिनी ध्वजा-स्वरूपा कहते हुए उनकी प्रशंसा इस प्रकार करते हैं—'गोपियाँ अत्यन्त पुनीत आत्माएँ हैं। बहुत उच्च वर्ण की यद्यपि वे नहीं हैं, परन्तु ब्राह्मणों से भी अधिक पूजनीय हैं। जिस ब्राह्मण ने हरि की सेवा नहीं की वह

आसावरी

१—अनन्य पूर्वाः—

गौरी पति पूजति ब्रजनारि।
नेम धर्म सों रहति, क्रिया सुत बहुत करति मनुहारि,
इहै कहति, पति देहु उमापति गिरिधर नन्द कुमार।

× × ×

महादेव पूजति मन बच क्रम करि सूर स्याम की आस।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० १६६।

मलार

मधुकर कहि कैसे मन मानै,
जिनके एक अनन्य व्रत सूझै क्यों दूजो उर आनै।
यहु तौ योग स्वाद अलि ऐसो पाय सुधा खरिसानै।
कैसे धौं यह बात प्रतिव्रत सुनि शठ पुरुष बिरानै।

× × ×

सूरस्याम निर्गुण रति मानी मधुप प्राण जिनि छानै।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ५२७।

राग सारङ्ग

हरि गुन गावत चलीं ब्रज सुन्दरि यमुना नदिया के तीर।

× × ×

जल प्रवेस करि मज्जन लागीं प्राथम हेम के मास।
हमारे प्रीतम होंय नंद सुत तप ठान्यो इह आस।
तब लै चीर हरे नंद नंदन चढ़ि कदंब की डारि।
परमानंद प्रभुबर देवे कों उद्यम कियो मुरारि।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ६१।

ब्राह्मण घर में जन्म लेने से ही उच्च नहीं होता।'[1] नन्ददास ने भी 'रास पञ्चाध्यायी' और 'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी' ग्रन्थों में गोपियों के स्वरूप और भक्ति में उनके अधिकार के विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं जिनका उल्लेख लेखक ने उक्त दोनों ग्रन्थों के विवेचन में किया है। नन्ददास ने रास की निर्दोषिता का सङ्केत करते हुए कहा है कि गोपियाँ सिद्ध अवस्था पर पहुँची हुई आत्माएँ थीं और कृष्ण-कृपा को तथा उनके स्वरूपानन्द की विशेष अधिकारिणी थीं।[2] उन्होंने भी गोपियों को सन्तों की शिरोमणि कहा है।[3]

श्रीनाथजी तथा अन्य स्वरूप

भारतवर्ष में ईश्वर के अनेक नाम और रूपों की प्रस्तर अथवा धातु मूर्तियाँ देव मन्दिरों में, अर्चावतार रूप में, पूजी जाती हैं। उसी प्रकार से वल्लभ सम्प्रदाय में भी कृष्ण की मूर्तियों की सेवा और पूजा होती है। इस सम्प्रदाय में इन मूर्तियों को मूर्ति नहीं कहा जाता, वरन् ये भगवान् के साक्षात् रूप माने जाते हैं, इसीलिए इन्हें 'स्वरूप' कहा जाता है। अन्य साम्प्रदायिक मन्दिरों में भगवान् की मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठा होती है, परन्तु वल्लभ-सम्प्रदाय में सेव्य स्वरूपों की कभी प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हुई और न अब की जाती है। उनका विश्वास है कि इन स्वरूपों में भगवान् साकार रूप में भूतल पर विराजते हैं।

१— राग सारङ्ग

गोपी प्रेम की ध्वजा,
जिन जगदीश किये वश अपने उर धरि श्याम भुजा।
सिब विरंच प्रसंसा कीनी, ऊधो संत सराहीं।
धन्य भाग गोकुल की बनिता अति पुनीत सुख माहीं।
कहा विप्र घर जन्महि पाये हरि सेवा बिधि नाहिं।
ते ही पुनीत दास परमानंद जे हरि सन्मुख जाहिं।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० २७१।

२—धन्य कहति भई ताहि नाहिं कछु मन में कोपीं।
निरमत्सर जे संत तिननि चूरामनि गोपीं। ३८।
इन नीके आराधे हरि ईश्वर वर जोई।
तातें अधर सुधारस निधरक पीवति सोई। ३१।

—रासपञ्चाध्यायी, अध्याय २,
उदयनारायण तिवारी, पृ० ४४। तथा नन्ददास, शुक्ल, पृ० १७०।

३—शुद्ध प्रेममय रूप पञ्चभूतन ते न्यारी।
तिन्हें कहा कोऊ कहै जोति सी जग उजियारी। ६२।

—रास पञ्चाध्यायी, अध्याय १, उदयनारायण तिवारी, पृ० १६।

श्री वल्लभाचार्यजी, श्री विट्ठलनाथ जी तथा अष्ट-छाप कवियों के समय से ही इस सम्प्रदाय में आंठ स्वरूपों[1] की विशेष सेवा और पूजा होती आई है। इनमें परम सेव्य स्वरूप श्रीनाथ जी का है। श्रीवल्लभाचार्य जी के समय में श्रीनाथ जी को छोड़कर सात स्वरूप आचार्य जी के सेवकों के सेव्य-स्वरूप थे। परन्तु जब वे स्वरूप भक्तों ने आचार्य जी के घर वापिस पधरा दिये, तब श्रीविट्ठलनाथ जी ने अपने अन्त समय में उनकी सेवा अलग-अलग अपने सात पुत्रों को सौंप दी। आठवें श्रीनाथ जो अथवा श्रीगोवर्द्धननाथ जी सबके सेव्य-स्वरूप रहे। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है मुग़ल सम्राट् औरङ्गज़ेब के हिन्दू-मन्दिर तोड़ने की नीति के कार्य-रूप में आने से पहिले ये आठों स्वरूप ब्रज में ही विराजते थे। बाद में औरङ्गज़ेब के अत्याचार से वल्लभ वैष्णव इन्हें जगह-जगह देशी रियासतों में ले गये। कुछ वल्लभ भक्तों का यह भी कहना है कि 'श्रीनाथ जी' का स्वरूप तो साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म का है; और अन्य स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम की विभूति तथा उनके व्यूहात्मक स्वरूपों के स्वरूप हैं। ये आठ स्वरूप इस प्रकार हैं:—

स्वरूप	सेवा का वर्तमान स्थान
१—श्रीनाथ जी	संवत् १७२६ वि० तक ब्रज में श्रीगोवर्द्धन पर्वत पर थे। उसके बाद नाथद्वारा उदयपुर स्टेट (राजपूताना) में ले जाए गये और तब से आज तक वहीं विराजमान हैं।
२—श्रीमथुरेश जी	कोटा।
३—श्रीविट्ठलनाथ जी	नाथद्वार।
४—श्रीद्वारिकेश जी	काँकरौली।
५—श्रीगोकुलनाथ जी	गोकुल।
६—श्रीगोकुलचन्द्रमा जी	कामबन, भरतपुर स्टेट।
७—श्रीबालकृष्ण जी	सूरत।
८—श्रीमदनमोहन जी	कामबन, भरतपुर स्टेट।

इन आठ मुख्य स्वरूपों के अतिरिक्त और भी स्वरूप श्रीविट्ठलनाथ जी के सेव्य थे जैसे श्री नवनीत प्रिय जी।

पीछे कहा गया है कि वल्लभसम्प्रदाय में श्रीनाथ जी अथवा श्रीगोवर्द्धननाथ जी को पूर्ण पुरुषोत्तम का ही साक्षात् स्वरूप समझा जाता है। यह स्वरूप गोवर्द्धन धारण करते

१—वल्लभ सम्प्रदायी आठ स्वरूपों का इतिहास इस सम्प्रदाय में वार्ता रूप में प्रचलित है।

समय के भाव का है। कहा जाता है कि श्रीमद्भागवत में जैसा स्वरूप भगवान् का वर्णित है ठीक वैसा ही श्रीगोवर्द्धननाथ जी का स्वरूप है। श्रीनाथ जी के स्वरूप के प्राकट्य का वृतान्त श्रीवल्लभाचार्य जी की जीवनी तथा श्रीहरिराय जी-कृत 'श्रीगोवर्द्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' में दिया हुआ है।

अष्टछाप कवियों की जीवनी से ज्ञात होता है कि उन्होंने जो पद लिखे थे, उनको वे श्रीनाथ जी के ही समक्ष गाया करते थे। कृष्ण की सम्पूर्ण लीला के वर्णन और उनके प्रति स्तुतियाँ वस्तुतः उनके स्वरूप श्रीनाथ जी के समक्ष ही व्यक्त किये गये थे। परन्तु सूर के काव्य को छोड़ कर अन्य सात कवियों द्वारा रचित तथा उपलब्ध पदों में 'श्रीनाथ' जी के स्वरूप अथवा 'श्रीनाथजी' नाम, का उल्लेख नहीं मिलता। अपने विनय के पदों में केवल सूरदास जी ने एक पद में श्रीनाथ जी के नाम का उल्लेख करते हुए उनकी स्तुति की है।[1]

१— राग आसावरी।

'श्रीनाथ' शारङ्गधर कृपाकर दीन पर, डरत भव त्रास ते राखि लीजै।
नाहिं जप नाहिं तप नाहिं सुमिरन भक्ति शरण आपन की लाज कीजै।
जीव जलधर जिते भेष धरि धरि तिते रचे लघुर्द.घं बहु अचल भारे।
सुशल मुद्गर हनत त्रिबिध कर्मनि गनत मोहिं दंडत धर्म दूत हारे।
बृषभ केशी मल्ल धेनुक अरु पूतना रजक चाणूर से दुष्ट तारे।
अजामिल गणिका तैं कहा मैं घट कियो तुम जु अब सूर चित तें बिसारे।
—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ११।

षष्ठ अध्याय

भक्ति

श्रीवल्लभाचार्य की पुष्टि भक्ति

संसार-दुःख से छूटकर मुक्ति-लाभ करने के, प्राचीनकाल से, भारतवर्ष में तीन निवृत्ति मार्ग प्रचलित रहे हैं—ज्ञानमार्ग, योगमार्ग तथा भक्तिमार्ग। श्री वल्लभाचार्य और अष्टछाप भक्तों के कई शताब्दी पूर्व से ही साङ्ख्य और वेदान्त के विवेक और वैराग्यपूर्ण साधन, लययोग, हठयोग और राजयोग के कष्टसाध्य अभ्यास और निर्गुण ब्रह्मोपासना का चिन्तन संसार-दुख से निवृत्ति पाने के इच्छुकों को इतने अनुकूल और साध्य नहीं जान पड़ने लगे थे जितने कि मन्त्रयोग और प्रेमयोग की भक्ति के सरल साधन। ज्ञान और योग के गहन ब्रह्मज्ञान विषयों को लोग आश्चर्य[1] और सामर्थ्यहीनता के भाव से सुनते थे। उधर भक्ति-मार्ग को आचार्यों ने इतना आशावादी और सरल बनाया कि लोगों ने इसे सहज ही में अपना लिया, यहाँ तक कि कर्म, ज्ञान और योग तीनों मार्गों में भी भक्ति को साधन-रूप में प्रविष्ट कर लिया गया। कर्म और भक्ति, ज्ञान के साथ साधन-रूप भक्ति, और योग के साथ गुरु की श्रद्धा-रूप में भक्ति, इस प्रकार अन्य मार्गों में भी भक्ति का समन्वय हुआ। स्वतन्त्र रूप से तो भक्तिमार्ग इतना प्रचलित हुआ कि इसकी लहर ने दक्षिण से उठकर सम्पूर्ण उत्तरी भारत को आप्लावित कर दिया। (भक्तिमार्ग में शूद्र, स्त्री और वैश्य वर्ग के व्यक्तियों को भी आध्यात्मिक उन्नति का अधिकार दिया गया, यहाँ तक कि दुराचारियों को भी इस साधन से आत्मिक सुधार का अवसर मिला।)

१—ज्ञानमार्ग के आत्मतत्व की दुर्लभता के विषय में गीता में कहा गया है—"कोई तो आश्चर्य समझकर इसकी ओर देखते हैं, कोई आश्चर्य के साथ इसका वर्णन करते हैं और कोई आश्चर्य से इसको सुनते हैं। वस्तुतः इसको सुनकर भी कोई नहीं जानता।"

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

—गीता, अध्याय २, श्लोक २९।

ज्ञान और योगमार्गों में निर्गुण ईश्वर की उपासना हैं और भक्ति मार्ग का ईश्वर सगुण है। गीता में कृष्ण ने अर्जुन से कहा है—'अव्यक्त, निर्गुण अक्षर-ब्रह्म में आसक्त चित्तवाले पुरुषों के लिए साधन मार्ग में क्लेश विशेष है, क्योंकि देहाभिमानियों से अव्यक्त गति दुःख से प्राप्त की जाती है।[1] और जो मेरे में मन को लगा कर तथा निरन्तर परम श्रद्धा से मेरे भजन में लग कर मेरी उपासना करते हैं[2] वे योगियों में अत्यन्त श्रेष्ठ योगी हैं, वे भक्त मुझको ही प्राप्त करते हैं।'[3] नारद-भक्ति-सूत्र में भी भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठ बताया गया है।[4] भागवत दशमस्कन्ध, अध्याय १४ में भी ब्रह्मस्तुति में कहा गया है—'हे विभो! जो लोग कल्याणकारिणी आपकी भक्ति को छोड़ कर ज्ञान के लिए क्लेश करते हैं उनके हाथ में क्लेश ही लगता है और कुछ नहीं, जैसे खोखले धानों के कूटनेवालों को भूसी और परिश्रम के सिवाय और कुछ नहीं मिलता।'[5] शास्त्रों के उपर्युक्त जैसे वाक्यों से प्रभावित होकर, आचार्य वल्लभ और अष्टकवियों के विद्या-हीनता और बुद्धिहीनता के युग में, उत्तरी भारत में, जाति-पाँति के भेद से मुक्त सभी वर्ग के लोगों ने इस सरल भक्तिमार्ग को अङ्गीकार किया। इस समय के ब्रज में प्रचलित कुछ भक्ति के ग्रन्थों का संक्षेप परिचय पीछे दिया जा चुका है। इस ग्रन्थ में लेखक ने भक्तिमार्ग के क्रमिक विकास और भिन्न-भिन्न भक्ति सम्प्रदायों के मतभेद को नहीं दिया है। यह विषय इतना विस्तृत है कि इस पर विचार करना प्रस्तुत कार्य के विषय के दायरे से बहुत बाहर जा पड़ेगा। इस अध्याय में केवल अष्टछाप-भक्ति का, वल्लभसम्प्रदायी भक्ति तथा भक्ति के साधारण स्वरूप के अन्तर्गत ही विवेचन किया जायगा।

१—क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
—गीता, अध्याय १२, श्लोक ५।

२—मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
—गीता, अध्याय १२, श्लोक २।

३—मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव॥
—गीता, अध्याय ११, श्लोक ५५।

४—सातु कर्म ज्ञान योगेभ्योऽप्यधिकतरा॥२५॥ फलरूपत्वात्॥२६॥
—नारद-भक्ति-सूत्र, सूत्र २५—२६।

५—श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो,
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते,
नान्यद्यथा स्थूल तुषावघातिनाम्।
—भागवत दशमस्कन्ध, अध्याय १४, श्लोक ४।

अष्टछाप-भक्ति के स्वरूप का दिग्दर्शन करने के पहले श्री वल्लभाचार्य जी के ही शब्दों द्वारा पुष्टिमार्गीय भक्ति-पद्धति का संक्षेप में परिचय लेना अधिक अच्छा होगा। श्री वल्लभाचार्य जी 'भक्ति' के विषय में अपने ग्रन्थ 'तत्व-दीप-निबन्ध' में कहते हैं[1]—"भगवान् के प्रति माहात्म्य ज्ञान रखते हुए जो सुदृढ़ और सबसे अधिक स्नेह हो वही भक्ति है।" भक्ति की इस परिभाषा में आचार्य जी ने दो बातें मुख्य बताई हैं—(१) ईश्वर के प्रति सुदृढ़ और उत्कट प्रेम (२) ईश्वर की महत्ता का निरन्तर ज्ञान और ध्यान। "सोऽश्नुते सर्वान्‌कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता"[2] आदि श्रुति-वाक्यों को देकर आचार्य जी ने अणुभाष्य में जिस फलस्वरूपा मोक्षावस्था का वर्णन किया है, उनके मत में उसकी प्राप्ति किसी साधन अथवा पुरुषार्थ से नहीं मिलती; वह तो भक्त को केवल भगवान् की कृपा के बल पर ही मिलती है। आचार्य जी ने यहाँ तक कहा है—'पुष्टिमार्गीय भक्ति केवल प्रभु-अनुग्रह द्वारा ही साध्य है',[3] तथा 'भगवान् का अनुग्रह ही पुष्टिमार्गीय भक्त के सम्पूर्ण कार्यों का नियामक है।'[4] 'पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा' नामक ग्रन्थ में उन्होंने कहा है कि पुष्टिमार्गीय जीवों की सृष्टि भगवान् की स्वरूप-सेवा के लिए है।[5]

भगवान् का प्रेम बिना अविद्या का नाश हुए नहीं मिल सकता। तो फिर अविद्या का नाश कैसे हो? आचार्य जी का कहना है कि अविद्या विद्या से नष्ट होती है और भक्ति विद्या का एक पर्व है,[6] 'सब छोड़ कर दृढ़ विश्वास के साथ सदा श्रवण, कीर्तन आदि साधनों द्वारा हरी का भजन करो; इसी से अविद्या का नाश होगा।'[7]

१—माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तयामुक्तिर्न चान्यथा।
—त० दी० नि० शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई, श्लोक ४६, पृष्ठ १२७।

२—अणुभाष्य, चतुर्थ अध्याय, चतुर्थ पाद, सूत्र १।

३—"पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः"—अ० भा०, चतुर्थ अध्याय, चतुर्थ पाद, सूत्र ९ टीका।

४—अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः।
—सिद्धान्त मुक्तावली, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १८, पृ० २१।

५—तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥१२॥
—पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १२।

६—वैराग्यं सांख्य योगौ च तपो भक्तिश्च केशवे ॥४९॥
पञ्चपर्वेति विद्येयं यथा विद्वान्हरिं विशेत्॥
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई, श्लोक ४९।

७—तस्मात्सर्वं परित्यज्य दृढविश्वासतो हरिम्।
भजेत श्रवणादिभ्यो यद्विद्यातो विमुच्यते ॥५३॥
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई, श्लोक ५३, पृ० १४४।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, श्री वल्लभाचार्य जी ने संसार के जीवों को तीन प्रकार का बताया है—पुष्टिमार्गी जीव, मर्यादामार्गी जीव और प्रवाहमार्गी जीव। इन्हीं तीन वर्गों के आधार पर तीन प्रकार की भक्ति भी कही जा सकती है—पुष्टि-पुष्ट भक्ति, मर्यादा-पुष्ट-भक्ति तथा प्रवाही-पुष्ट-भक्ति। इनमें आचार्य जी के मत से सर्वश्रेष्ठ भक्त पुष्टिपुष्ट मार्गीय है। चौथे शुद्ध-पुष्ट-भक्त लोकातीत हैं, यह भक्त-स्थिति जीव की सिद्ध अवस्था है। भगवान् की भक्ति किस भाव से की जाय? इस विषय में आचार्य जी का मत है कि भगवान् सर्वभाव से भजनीय हैं। 'इस लोक के दुख-हर्ता तथा परलोक के बनानेवाले कृष्ण भगवान् ही हैं।'[1] द्रोह में, भक्ति में, भाव और कुभाव में, सभी भावों में कृष्ण की ही शरण है।'[2] 'श्री हरि ही मेरे रक्षक हैं,' वल्लभ-मतानुसार भक्त को सदैव यही विचार करने का आदेश है। 'यदि फल-प्राप्ति में विलम्ब हो तो फल के विषय में न सोच कर भक्त यही सोचे कि मैं भगवान् का सेवक हूँ।'[3]

आचार्य जी ने अपनी सुबोधिनी-टीका के फल-प्रकरण में भी भागवतकार के इस कथन की—'जो कोई भगवान् में काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य अथवा सौहार्द्र भाव नित्य रखता है वह भगवान्मय हो जाता है।'[4]—समीक्षा करते हुए, कहा है कि काम स्त्रीभाव में, क्रोध शत्रुभाव में, भय वधिक भाव में, स्नेह सम्बन्धियों में, ऐक्य-ज्ञान अवस्था में, सौहार्द्र सख्य भाव में होते हैं। इनके अतिरिक्त किसी भी भाव से भगवान् भजे जा सकते हैं। ये भाव प्रत्येक समय भगवान् में लगे होने के कारण भगवन्मय ही हो जाते हैं। यदि जीव, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, देह, विषय, गृह और पुत्रादिकों में सदैव हरि का

१—ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः
दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥१०॥
—श्री वल्लभाचार्य-कृत विवेकधैर्याश्रय।

२—भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चापि क्रमे कृते।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वत्र शरणं हरिः ॥११॥
× × ×
किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥१६॥
—श्री वल्लभाचार्य-कृत विवेकधैर्याश्रय।

३—पाश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं नचाऽन्यथा
लौकिक प्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥७॥
—अन्तःकरण-प्रबोध, श्लोक ७।

४—कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च,
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते। १५
—श्रीमद्भागवत, अध्याय २९, श्लोक १५।

ही सम्बन्ध समझे तो ज्ञानियों की तरह उसके भी प्रपञ्च का लय हो जाता है।[1] इस कथन से आचार्य जी ने यह ही सिद्ध किया है कि भगवान् में मन लगाना चाहिए चाहे किसी भी भाव से लगे। 'चतुःश्लोकी' में भी उन्होंने यही भाव प्रकट किया है कि सब समय में सब भावों से केवल ब्रज-कृष्ण ही भजनीय हैं। भक्तों का यही धर्म है, अन्य धर्म नहीं है। फलदान हरि के हाथ में है; इसलिए ऐहिक और पारलौकिक कामना-रहित होकर भगवान् की भक्ति करो। यदि सर्वभाव से गोकुलाधीश कृष्ण को हृदय में धारण कर लिया तो फिर भक्त के लिए क्या फल पाना रह गया। इसलिए मेरा मत है कि सर्वात्मभाव से कृष्ण का स्मरण, भजन करना चाहिए।[2]

श्रीवल्लभाचार्य-जी का भक्ति के साधन में यह भी मत है कि भक्त को संसार के विषयों[3] का, काया से वचन से तथा मन से, त्याग करना आवश्यक है। विषयों से आक्रान्त देह में भगवान् का वास नहीं होता। यदि सांसारिक विषय न छूटते हों तो उन विषयों को ही ईश्वर में लगाना चाहिए। निरोध-लक्षण ग्रन्थ में वे कहते हैं—"अहन्ता[4]-ममतावाले

१—जीवेऽन्तःकरणे चैव प्राणेष्विन्द्रियदेहयोः,
विषयेषु गृहेऽर्थे च पुत्रादिषु हरिर्यतः। १
तादृशी भावना कुर्यात् कामक्रोधादिभिर्यथा,
पूर्वप्रपञ्चविलयो यथा ज्ञाने तथा यतः। २
—श्रीसुबोधिनी टीका, फल प्रकरण, अध्याय १, श्लोक १२ टीका।

२—सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिपः,
स्वस्याऽयमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन। १।
एवं सदा स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति,
प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततांव्रजेत्। २।
यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि,
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि। ३।
अतः सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वर पादयोः,
स्मरणं भजनं चाऽपि न त्याज्यमिति मे मतिः। ४।
—चतुःश्लोकी, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक नं० १,२,३,४।

३—स्वयमिन्द्रिय कार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत्,
अशूरेणाऽपि कर्तव्य स्वस्यासामर्थ्यभावनात्।
—विवेक धैर्याश्रय, श्लोक ८। षोडश ग्रन्थ

४—संसारावेशदुष्टनामिन्द्रियाणां हिताय वै।
कृष्णस्य सर्व वस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्। १२।
—निरोध-लक्षण, श्लोक १२। षोडश ग्रन्थ

तथा—'विषयाक्रान्त देहानां नावेशः सर्वथा हरेः,
—संन्यास-निर्णय, श्लोक ६।

संसार में लग्न दोषवाली इन्द्रियों के शुद्ध होने के लिए उन सब सांसारिक विषयों को सर्वत्र व्यापक हरी में लगावे।" श्री सुबोधिनी, फल प्रकरण, अध्याय १, में "श्रवणाद् दर्शनात्" आदि भागवत (दशम) अध्याय २६, श्लोक २७ की टीका करते हुए श्री वल्लभाचार्य जी कहते हैं—'साधन भक्ति नौ प्रकार की है तथा दशवीं प्रेमरूपा है।'[1] आगे सुबोधिनी के छठे अध्याय, फल-प्रकरण की कारिका में वे कहते हैं कि प्रेम-भक्ति-रस का आस्वादन दो प्रकार का है—एक, स्वरूपानन्द; दूसरा, नामलीला का आनन्द। भगवान् के प्रेम को पाने के लिए और दोषों के नाश करने के लिए उन्होंने भागवत आदि भक्ति-ग्रन्थों में कही हुई नवधा[2] भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, बंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—के साधन-क्रम को करने की आज्ञा दी है। 'जलभेद' ग्रन्थ में वे कहते है कि नवधा भक्ति के साधनों के प्रकार से प्रेम की परिपूर्णता होती है; इस प्रेम की पूर्णता से भगवद्धर्मों (श्री, वैराग्य आदि) का प्रादुर्भाव होता है।[3] इस विषय में उन्होंने श्रवण, कीर्तन आदि भक्ति के साधन-अङ्गों की अपने ग्रन्थों में कई स्थानों पर सराहना की है। उनका मत[4] है कि प्रभु-कृपा के पूर्णानन्द फल के पहले साधन-दशा में ईश्वर के गुण नामादि के श्रवण, कीर्तन आदि ही आनन्द के देनेवाले होते हैं। इसलिए लौकिक, वैदिक साधनों को छोड़कर सर्वदा भगवान् के गुणों का कीर्तन करना चाहिए। नवधा भक्ति के साधन में श्रीवल्लभाचार्य जी ने

१—एवं रूप प्रपंचस्य पंचधा रस वर्णनम्।
निरूप्य नामलीलातो रसार्थमिदमुच्यते १।
एवमद्भुत भक्तास्तु, यद्वन्यं समुपासते।
दुःखभाजो भवन्त्येव मुच्यन्ते हरिणैव तु २।
—श्री सुबोधिनी, फल-प्रकरण, अध्याय ६, कारिका।

२—जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा,
श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यंहि सिद्ध्यति।
—बालबोध, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १६।

३—साधनादि प्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्पन्दमानाः प्रकीर्तिताः १०।
—जलभेद, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १०।

४—महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति,
तावदानन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि। ४
—निरोध-लक्षण, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक ४।

तथा

सर्वानन्दमयस्याऽपि कृपानन्दः सुदुर्लभः,
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः श्लाघयते जनान्। ८
—निरोध-लक्षण, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक ८।

आत्म-निवेदन अथवा आत्मसमर्पण को बड़ी महत्ता दी है। 'अन्तःकरण-प्रबोध' ग्रन्थ में वे कहते हैं —'हे मन आत्मा-सहित अपनी सम्पूर्ण वस्तुओं को कृष्ण के प्रति समर्पण करके कृतार्थ हो जा और इस कार्य से सुख ले।"[१]

श्री वल्लभाचार्य जी का आगे मत है कि भक्त को सर्व-भाव धारण कर भगवान् की सेवा[२] तीन प्रकार से करनी चाहिए—तन से वित्त से तथा मन से। भक्त भगवान् को अपना तन समर्पण कर उनके निमित्त ही उस शरीर का प्रयोग करे। पुत्र, स्त्री, धन, यशादि जितना भी भक्त का वैभव है वह सब भगवान् और उनके भक्तों की सेवा के निमित्त लगे। सबसे अधिक फल-सम्पादिनी और सर्वदुःख-निवारिणी सेवा, आचार्य जी के मत में, मानसिक है, यह बात पीछे कही जा चुकी है। वस्तुतः प्रथम मन के निरोध के लिए ज्ञान, योग, भक्ति आदि के साधन, आध्यात्मिक शास्त्र में बताए गये हैं। इसलिए आचार्य जी ने, मन को प्रभु की सेवा में लगाना सब सेवाओं से श्रेष्ठ बताया है। 'सिद्धान्त-मुक्तावली' में वे कहते हैं—"सब दुःखों को दूर करनेवाले कृष्ण की मानसी सेवा ही करनी चाहिए, यह सेवा परा (फलस्वरूपा है।"[३] भगवान् की श्रवणादि भक्ति तथा तनुजा, वित्तजा और मनजा, सेवा की महत्ता बताते हुए आचार्य जी कहते हैं—"ईश्वर की सेवा और उनकी तथा उनके भक्तों को चरित-कथाओं में दृढ़ विश्वास और आसक्ति करनेवाले भक्त की काया का नाश नहीं होता।"[४] भगवान् की इस सेवा-भक्ति के मार्ग को बतानेवाला गुरु होता है। इसलिए उनके मतानुसार गुरु-आज्ञा[५] का पालन करना भी ईश्वर की सेवा का ही एक अङ्ग है।

भक्ति-वर्द्धिनी ग्रन्थ में श्री वल्लभाचार्य जी ने, हृदय में भक्ति-भाव बढ़ाने के साधन-

---

१—सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव।
—अन्तःकरण-प्रबोध, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक ८।

२—चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा,
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्। २।
—सिद्धान्त-मुक्तावली, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक २।

३—नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्।
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता॥१॥
—सिद्धान्त-मुक्तावली, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १।

४—सेवायां वा कथायां वा यस्याऽऽसक्तिर्दृढा भवेत्।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वाऽपीति मे मतिः॥६॥
—भक्तिवर्द्धिनी, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक ६।

५—सेवाकृतिर्गुरोराज्ञाऽबाधनं वा हरीच्छया।
अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम्॥७॥
—नवरत्न, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक ७।

क्रम का भी निर्देश किया है। वे कहते हैं कि त्याग से और श्रवण, कीर्तनादि साधनों से प्रेम का बीज हृदय में जमता है।[1] साथ ही मन में लोक से निस्सङ्ग और नवधाभक्ति में रुचि लाने के लिए भक्त इस प्रकार साधन करे। भक्ति की प्रथम अवस्था में गृहस्थाश्रम में धर्म का पालन करते हुए, ईश्वर की प्रेमपूर्वक पूजा करे और उनके चरित्र और गुणों के श्रवण और कीर्तन से उनका भजन करे।[2] यदि गृहस्थाश्रम और भक्ति साथ-साथ न बनें तब भी गृहस्थाश्रम न छोड़ कर उन्हीं श्रवण कीर्तन आदि साधनों से भक्ति ही करे जिससे भगवान् के प्रति स्नेह, आसक्ति और व्यसन बढ़ें।[3]

श्री वल्लभाचार्य जी ने ईश्वर के भजन और सेवा के अधिकारी भक्तों की भी श्रेणियाँ बताई हैं। वे कहते हैं कि भक्त तीन प्रकार के हैं—उत्तम, मध्यम और हीन।[4] 'भगवान् ही सब कुछ हैं, सब कुछ उन्हीं से प्रकट हुआ है' ऐसा ज्ञान धारण कर जो हरी भगवान् की प्रेम से श्रवण, कीर्तन आदि भक्ति के साधनों द्वारा सेवा करता है वह भक्ति उत्तम है जो श्रवण कीर्तन आदि साधनों द्वारा सेवा तो करता है तथा ईश्वर की सर्वज्ञता और उसके सर्व होने का भी उसे ज्ञान है, परन्तु अभी प्रभु के प्रति उत्कट प्रेम उसके हृदय में उत्पन्न नहीं हुआ वह भक्त मध्यम अधिकारी है। और जो भक्त श्रवणादि साधनों से भगवान् की सेवा तो करता है, परन्तु उसके हृदय में ईश्वर के माहात्म्य क ज्ञान और उसके प्रति प्रेम उदित नहीं हुए, वह हीन हैं। महत्व तो इस हीन भक्त का भी है; क्योंकि उसके साधन से उसके पापों का नाश तो हो ही जाता है। यहाँ पर आचार्य जी ने भक्ति की प्रथमावस्था में ज्ञान की आवश्यकता को स्वीकार किया है। 'तत्वदीप-निबन्ध' के शास्त्रार्थ-प्रकरण में उन्होंने कहा है—"श्रवणादि भक्ति का साधन

१—यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवण कीर्तनात् ॥१॥
—भक्तिवर्द्धिनी, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १।

२—बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥२॥
—भक्तिवर्धिनी, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक २।

३—व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा।
ततः प्रेम तथाऽऽसक्तिर्व्यसनं च सदा भवेत् ॥३॥
—भक्तिवर्धिनी, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक ३।

४—एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतः।
यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुत्तमः। १०५।
प्रेमाभावे मध्यमः स्याज्ज्ञानाभावे तथादिमः।
उभयोरप्यभावे तु पापनाशस्ततो भवेत्। १०६।
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई, श्लोक १०६।

ज्ञान, वैराग्य, योग, तप आदि साधनों के साथ भी होता है और इन सब साधनों की चलती अवस्थाओं में भी फल-सिद्ध होती है।"[१] ज्ञान के अभाव में पुष्टिमार्गीय भक्त को भागवत में कहे हुए कीर्तन आदि पूजा के साधनों को करने का आदेश आचार्य जी ने दिया है।[२]

भगवान् की कृपा द्वारा साध्य भक्ति के लिए हृदय में उत्कट प्रेम का होना आवश्यक है। प्रेम के उत्कर्ष के लिए, आचार्य जी के मत में, ईश्वर से बिछुड़ने का ज्ञान और उससे मिलने की अतुल अभिलाषा और विकलता का होना आवश्यक है। 'निरोध-लक्षण' ग्रन्थ में अपनी निजी अभिलाषा प्रकट करते हुए उन्होंने कहा है—"मेरे हृदय में भी गोपियों के विरह की प्रबल वेदना उत्पन्न हो जाय।"[३] सुबोधिनी रास पञ्चाध्यायी, फल प्रकरण अध्याय ४ की प्रथम कारिकाओं में श्री वल्लभाचार्य जी कहते हैं—'किसी साधन-सम्पत्ति द्वारा भगवान् भक्त से सन्तुष्ट नहीं होते, परन्तु उसके केवल एक दैन्य भाव से ही वे सन्तुष्ट होते हैं। जब भगवान् सन्तुष्ट होते हैं तब वे सब दुःखों का नाश कर देते हैं।"[४] इसीलिए वल्लभमत में प्रेम-भक्ति की पुष्टि के लिए भगवान्-मिलन की विकलता और विरह-भाव की स्थिति बहुत महत्व की मानी गई है। 'संन्यास निर्णय' ग्रन्थ, में वे कहते हैं—"विरह के अनुभव के लिए गृहत्याग करना उत्तम है। गृह त्यागने पर भक्त जो वेष धारण करे उसे, वह स्त्री आदि

१—तपोवैराग्य योगे तु ज्ञानं तस्य फलिष्यति।
योगयोगे तथा प्रेम स्तुतिमन्त्रं ततोऽन्यथा १०७।
—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ—प्रकरण, ज्ञानसागर, बम्बई, श्लोक १०७।

२—ज्ञानाऽभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु। १७।
मर्यादास्थस्तु गंगायां श्रीभागवततत्परः।
अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः। १८।
—सिद्धान्त-मुक्तावली, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १७, १८।

३—यच्च दुःखं यशोदाया नंदादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम क्वचित्। १।
—निरोध लक्षण, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १।

४—कारिका :—
नहिं साधन सम्पत्त्या हरिस्तुष्यति कस्यचित्।
भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषण साधनम्। २।
सन्तुष्टः सर्वदुःखानि नाशयत्येव सर्वतः।
अतो निर्णयवाक्यानि भजनार्थं निरूपयेत्। ३।
—सुबोधिनी फल-प्रकरण, अध्याय ४।

के सम्बन्ध से निवृत्ति पाने के लिए ही समझे।"[1] भक्ति के प्रेम की तीन अवस्थाएँ आचार्य जी ने बताई हैं—स्नेह, आसक्ति और व्यसन। वे कहते हैं—"ईश्वर के प्रति स्नेह से लोक के प्रति होनेवाले राग का नाश होता है, आसक्ति से गृह में अरुचि होती है। ईश्वरीय प्रेम की प्राप्ति में इस आसक्त अवस्था को पाने पर घर-बार सब बाधक प्रतीत होने लगते हैं। व्यसन से भक्त को पूर्ण प्रेम की कृतार्थता मिलती है।"[2]

श्री वल्लभाचार्य जी के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवरण देते हुए कहा गया है कि पुष्टि-भक्ति के सेव्य रस रूप श्री कृष्ण हैं। इस बात को आचार्य जी ने अनेक स्थलों पर अपने ग्रन्थों में प्रकट किया है।[3] भक्ति में अनन्यता के भाव को उन्होंने बहुत महत्व दिया है। उनका इस विषय में कहना है कि कृष्ण का पूर्ण आश्रय लेकर भक्त को दृढ़ विश्वास इस प्रकार रखना चाहिए जैसे चातक का मेघ से होता है।[4] उनका विश्वास है कि अंश-रूप जीव का अपने अंशी परमात्मा के साथ, प्रेम-भक्ति द्वारा ब्रह्म-सम्बन्ध स्थापित होने से सब दोषों की निवृत्ति हो जाती है, अन्यथा निवृत्ति नहीं होती। इसलिए भगवान् को बिना सम-

---

१—विरहानुभवार्थं तु परित्यागः सुखावहः
स्वीयबंधनिवृत्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा। ७।
—सन्यास-निर्णय, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा श्लोक ७।

२—व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा।
ततः प्रेम तथाऽऽसक्तिर्व्यसनं च सदा भवेत्। ३।
× × ×
स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः। ४।
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि। ५।
—भक्तिवर्द्धिनी, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक ३, ४, ५,

३—तस्माच्छ्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः
आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्।
—सिद्धान्त-मुक्तावली, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १५, १६।

४—अन्यस्य भजनं तत्र स्वतोगमनमेव च
प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत्। १४।
अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः
ब्रह्मास्त्र चातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः। १५।
—विवेक-धैर्याश्रय, षोडश ग्रथ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १४, १५

र्पण किये कोई वस्तु भक्त के ग्रहण करने योग्य नहीं है।[1] वल्लभ-सम्प्रदाय में 'ब्रह्म-सम्बन्ध' एक प्रकार का संस्कार है जो पुष्टिमार्ग में प्रवेश पाते समय भक्त को करना होता है। इस क्रिया में भक्त प्रथम तो अपने सर्वस्व का अर्पण कृष्ण को करता है और फिर गुरु-द्वारा दिये हुए कृष्ण-शरण के मन्त्र को ग्रहण करता है। श्री आचार्य जी का आदेश है—"जीव ब्रह्म के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करके हमेशा यह ध्यान करे कि मैं सब प्रकार से सदैव कृष्ण की ही शरण हूँ।"[2] वल्लभ-सम्प्रदाय का वस्तुत यही "श्री कृष्णः शरणं मम" भजनीय तथा अनुकरणीय मन्त्र है। मर्यादा-पालन के सम्बन्ध में जो पुष्टि भक्ति की आरम्भिक अवस्था है, आचार्य की आज्ञा है—"मनुष्य को लौकिक और वैदिक कार्य इस प्रकार से भगवान् को अर्पण करके करना चाहिये जैसे लोक में सेवक सर्वकार्य अपने स्वामी के निमित्त करता है।"[3]

भक्ति की साधन अवस्था में हरिमूर्ति के ध्यान की भी आवश्यकता वल्लभाचार्य जी ने बताई है। निरोध लक्षण ग्रन्थ में वे कहते हैं—"हरि के स्वरूप का सदा ध्यान करना चाहिए, भगवान् का दर्शन और स्पर्श, भाव में भी होते हैं।" इस प्रकार आचार्य जी ने वाह्य और मानस प्रत्यक्ष हरिमूर्ति के ध्यान की आवश्यकता बताई। उनके सबसे बड़े सेव्य स्वरूप श्री गोवर्द्धन नाथ जी (श्रीनाथ जी) थे जिनका वर्णन पीछे किया जा चुका है। अष्टछापी भक्त भी कृष्ण के स्वरूप श्रीनाथ जी का ही सदा ध्यान और गान करते थे।

श्री विट्ठलनाथ जी के समय में वल्लभ-सम्प्रदाय

श्री वल्लभाचार्य जी के भक्ति-सम्बन्धी उपर्युक्त विचारों का परिचय उनके भिन्न भिन्न ग्रन्थों में कहे हुए वाक्यों के आधार पर लिया गया है। आचार्य जी ने भक्ति-शास्त्र पर कोई अलग ग्रन्थ नहीं लिखा; परन्तु उन्होंने भक्ति का जो व्यावहारिक रूप दिया उस पर

१—ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पंचविधा स्मृताः २।
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथंचन,
असमर्पित वस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत् ४।
—सिद्धान्त-रहस्य, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक २, ४।

२—तस्मात्सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णशरणं मम।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ६।
—नवरत्न, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक ६।

३—सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्धयति।
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः
—सिद्धान्त-रहस्य, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक ७, ८।

अमल उनके अनुयायी भक्तों ने उनके जीवन काल में ही किया था। श्री गोवर्द्धननाथ जी का मन्दिर, जो उन्हीं का स्थापित किया हुआ था, उनके बताये हुए भक्ति-सिद्धान्तों को कार्यरूप में लानेवाले भक्तों का मुख्य स्थान था। आचार्य जी ने भगवान् के स्थूल स्वरूप श्रीनाथ जी की जिस मनजा, तनुजा तथा वित्तजा सेवा की व्यवस्था की थी वह बालभाव की ही थी और अब तक वल्लभ-सम्प्रदायी लगभग सभी मन्दिरों में इसी भाव को लेकर ही सेवा होती है। केवल श्रीनाथजी की सेवा निकुञ्ज भाव को भी होती है। सूरदास तथा परमानन्ददास की वार्ताओं को देखने से ज्ञात होता है कि आचार्य जी ने उनके शरणागति के समय उन्हें पहले बालभाव की भक्ति का ही उपदेश दिया था और उनसे उसी प्रकार के पद गाने के लिए भी कहा था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्य जी ने पहले माहात्म्य ज्ञान-पूर्वक वात्सल्य-भक्ति का ही प्रचार किया था। बाद को उन्होंने अपने उत्तर जीवन-काल में तथा उनके उत्तराधिकारी गो० विट्ठलनाथ जी ने किशोर कृष्ण की युगल-लीलाओं का तथा युगल-स्वरूप की उपासना-विधि का भी समावेश अपनी भक्ति-पद्धति में कर लिया।

श्री वल्लभाचार्य जी के समय में कृष्ण भक्ति के जितने सम्प्रदाय व्रज में प्रचलित थे उनका एक दूसरे की भक्ति-पद्धति पर प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। वल्लभाचार्य जी तथा श्री विट्ठलनाथ जी से पूर्व के व्रज में प्रचलित कृष्ण-भक्ति के सम्प्रदायों का कुछ परिचय पीछे दिया जा चुका है। श्री वल्लभाचार्य जी की जीवनी से 'निजवार्ता' तथा 'वल्लभदिग्विजय'[1] आदि ग्रन्थों से विदित है कि उनका विशेष सम्पर्क चैतन्य महाप्रभुजी तथा उनके अनुयायियों से था और उनके प्रति उनका प्रगाढ़ प्रेम-भाव था। चैतन्य महाप्रभु की भक्ति से प्रभावित होकर उन्होंने उनके अनुयायी बङ्गाली ब्राह्मणों को श्रीनाथ जी की सेवा में रखा था इस विषय पर पीछे भी प्रकाश डाला जा चुका है। श्रीनाथ जी के सेवक एक भक्त माधवेन्द्रपुरी माधवी सम्प्रदाय के थे जो निज वार्ता[2] के अनुसार श्री चैतन्य महाप्रभु और श्री विट्ठलनाथ जी, दोनों, के शिक्षा गुरु रह चुके थे। 'दो सौ बावन वार्ता'[3] के अनुसार वे अन्त में वल्लभ-सम्प्रदायी ही हो गये थे। उनका भी सम्प्रदाय पर प्रभाव था। इस प्रकार हम देखते हैं कि मधुरभाव की भक्ति का समावेश लेखक के विचार से आचार्य जी ने भागवत के अतिरिक्त चैतन्य महाप्रभु से भी लिया। हाँ, राधा की उपासना का समावेश इस सम्प्रदाय में विट्ठलनाथ जी के समय में हुआ, क्योंकि हम देखते हैं कि श्री विट्ठलनाथ जी ने राधा की स्तुति में 'स्वामिन्याष्टक' तथा 'स्वामिनी-स्तोत्र' दो ग्रन्थ लिखे हैं और श्री

१—वल्लभदिग्विजय, श्री यदुनाथ, नाथद्वार, पृष्ठ ५२।

२—निजवार्ता, देसाई, पृ० ४१।

३—'२५२ वैष्णवन की वार्ता,' वें० प्रे०, सम्वत् १९८८ संस्करण, पृ० २६४।

वल्लभाचार्य जी के किसी भी ग्रन्थ में इस प्रकार राधा का वर्णन नहीं है। उन्होंने अनेक स्थलों पर अपने ग्रन्थों में गोपी भाव से मधुर भक्ति का उपदेश अवश्य दिया है। इससे ज्ञात होता है कि सब भावों से कृष्ण की उपासना का समावेश तो उन्होंने अपने सम्प्रदाय में स्वयं कर लिया था, परन्तु राधा की अथवा युगल रूप की उपासना का समावेश गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने ही किया। सूरदास आदि भक्तों की रचना में युगल स्वरूप तथा राधा की स्तुति के अनेक पद विद्यमान हैं। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के राधा भाव सम्बन्धी विचारों पर माध्व-सम्प्रदाय, चैतन्य महाप्रभुजी तथा हितहरिवंश जी के विचारों का प्रभाव माना जा सकता है, क्योंकि चैतन्य महाप्रभु जी तथा हितहरिवंश जी के सम्प्रदाय में कृष्ण के साथ राधा की भक्ति की भी बड़ी मानता थी। वल्लभसम्प्रदाय में राधा स्वकीया है और गौड़ीय सम्प्रदाय में राधा परकीय रूपा है।

श्री विट्ठलनाथ जी के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि एक बार उन्होंने 'छप्पन भोग' का उत्सव किया था। उस समय उन्होंने ब्रज के सभी सम्प्रदाय के भक्तों को बुलाया था तथा उनके कीर्तन कराये थे। कहा जाता है कि तभी से वल्लभसम्प्रदायी मन्दिरों में चारों सम्प्रदाय के (पुष्टि, राधावल्लभीय, हरिदासी तथा गौड़ीय) भक्तों द्वारा रचित पदों के गाने की प्रथा चली थी, जिनमें युगल-लीला के पदों का विशेष समावेश है। उस समय अष्टछाप के कवि जीवित थे। कृष्ण की किशोर-लीला-विषयक, उक्त चारों सम्प्रदाय के कवियों द्वारा रचित पदों में इसी कारण से समान-भावता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सूरदास, परमानन्ददास आदि अष्ट भक्त कवियों में भक्ति का जो सर्वभावमय रूप हमें मिलता है वह उनके ऊपर व्यक्तिगत किसी सम्प्रदाय का प्रभाव नहीं है वरन् उनका वल्लभ-सम्प्रदाय ही अन्य अन्य सम्प्रदायों के भक्ति भावों को समेट कर उनके सामने उस रूप में आया था। इस लिए यह कहना कि सूरदास आदि अष्ट भक्तों पर वल्लभ-सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों का प्रभाव था भूल करना होगा।

श्री विट्ठलनाथ जी ने सिद्धान्त तथा साधन दोनों पक्षों में अपने पिता तथा गुरू श्री वल्लभाचार्य जी का अनुकरण करते हुए भक्ति के साधन मार्ग को बहुत विस्तार दिया। श्रीनाथ जी के स्वरूप-पूजन में आठ पहर की भावना, शृंगार सजावट तथा कीर्तन आदि का 'मण्डान' उन्होंने बहुत वैभव के साथ किया। उन्होंने नवधा-भक्ति के साधन का हेतु आचार्य जी की तरह प्रेम-प्राप्ति के लिए ही माना[1] और श्री गोकुलनाथ जी, श्री हरिराय जी आदि बाद के वल्लभसम्प्रदायी आचार्यों ने भी भक्ति का फल मोक्ष-प्राप्ति अथवा लौकिक वैभव-प्राप्ति नहीं माना। उनके लिए भी भक्ति का साधन भगवान् के अनुग्रह अथवा पुष्टि द्वारा प्राप्य प्रेमावस्था के लिए ही रहा।

१—भक्ति-हेतु-निर्णय ग्रंथ, श्री विट्ठलनाथ जी-कृत।

श्री वल्लभाचार्य, श्री विट्ठलनाथ श्री गोकुलनाथ तथा श्री हरिराय जी, इन चार आचार्यों के ग्रन्थों के तथा अष्टछाप भक्तों की रचनाओं के देखने से ज्ञात होता है कि यद्यपि भक्ति-सिद्धान्त के आकलन में इन आचार्य और भक्तों ने ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भागवत और गीता का तो मुख्य आधार लिया ही है, महाभारत के अन्तर्गत 'नारायणीयोपाख्यान', 'शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र,' 'नारद-पाञ्चरात्र' तथा 'नारद-भक्ति सूत्र' के वचनों का भी इनके कथनों में तथा भक्ति-अभ्यास में प्रभाव है। इस प्रकार अष्टछाप की रचना में रागानुगा-भक्ति का जो स्वरूप हमें मिलता है उसमें सभी व्यापक भाव (दास्य, वात्सल्य, सख्य, कान्ता) तथा 'नारद-भक्ति-सूत्र' में बताई हुई ग्यारह आसक्तियों के रूप मिलते हैं।

अष्टछाप-भक्ति

भक्ति की व्याख्या और महिमा।

'शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्रों' में भक्ति की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'सा परानुरक्ति-रीश्वरे' ईश्वर में अत्यन्त अनुरक्ति ही भक्ति है।[1] और 'नारद-भक्ति-सूत्र'[2] में भक्ति का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—'ईश्वर के प्रति प्रेम का नाम ही भक्ति है।' 'वह अमृत-स्वरूपा है जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध और तृप्त हो जाता है, जिसको पाकर मनुष्य किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करता। न वह शोक करता है और न द्वेष करता है न किसी वस्तु में (संसारी वस्तु) आसक्त होता है और न उस वस्तु से उत्साहित होता है।' आगे 'नारद-भक्ति-सूत्र' में कहा गया है--'भगवान् के प्रेम की व्याकुल अवस्था में भी माहात्म्य-ज्ञान की विस्मृति न हो, क्योंकि उसके बिना भक्ति लौकिक जार-प्रेम के समान हो जाती है।" भागवत में भक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—संसारिक विषयों का ज्ञान देनेवाली इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्काम रूप से भगवान् में जब लगती है तब उस प्रवृत्ति को भक्ति कहते हैं।"[3] श्री वल्लभाचार्य जी ने इन सब व्याख्यानों का समन्वय करके भक्ति का लक्षण जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, बताया है—"भगवान् में माहात्म्य ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ और

१—सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे ॥ २ ॥ शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र भक्ति-चन्द्रिका, सम्पादक श्री गोपीनाथ कविराज, पृष्ठ ५।

२—अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः। १। सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा। २। अमृत स्वरूपा च। ३। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति। ४। यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति न शोचति, न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति। ५। ... ... तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः। २२। तद्विहीनं जाराणामिव। २३।—नारद-भक्ति-सूत्र।

३—श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ३, अध्याय २५, श्लोक ३२-३३।

सतत स्नेह ही भक्ति है। मुक्ति का इससे अधिक सरल उपाय नहीं है।"[१] 'नारदभक्ति-सूत्र' में भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठतर कहा गया है।[२]

माहात्म्य-ज्ञान तथा उसके प्रति स्नेह के विषय में श्री हरिराय जी इस प्रकार कहते हैं—"श्री आचार्यजी के मारग को स्वरूप कहा है। जो माहात्म्य ज्ञानपूर्वक दृढ़ स्नेह सो सर्वोपरि है सो, ठाकुर जी कों बहुत प्रिय है, परन्तु जीव माहात्म्य राखे। सो काहे ते। जो माहात्म्य बिना अपराध को भय मिट जाय तासों प्रथम दशा में माहात्म्य-युक्त स्नेह आवश्यक कहिए......सो ठाकुरजी भक्तन के स्नेहवश होय भक्तन के पाछे पाछे डोलत हैं सो जहाँ ताईं ऐसो स्नेह नाहीं होय तहाँ ताईं माहात्म्य राखनो.........तासों माहात्म्य बिचारै और अपराध सों डरपै तो कृपा होय। जब सर्वोपरि स्नेह होयगो तब आपही ते स्नेह ऐसो पदार्थ जो माहात्म्य कूं छुड़ाय देयगो।"[३] अष्टछाप कवियों की भक्ति का जो स्वरूप तथा इस विषय में उनके जो विचार उनकी रचनाओं में हमें मिलते हैं उनमें श्री वल्लभाचार्य जी के मत का ही अनुकरण मिलता है। जहाँ उन्होंने अपने उपास्यदेव कृष्ण की लीलाओं का वात्सल्य, सख्य, दास्य और कान्ता भाव से वर्णन किया है वहाँ सर्वत्र उन्होंने कृष्ण के ईश्वरत्व के भाव की महत्ता को ध्यान में रखा है। कृष्ण की बालचेष्टाओं अथवा अन्य भावों के स्वाभाविक चित्रण करते करते वे उनके ईश्वर-भाव को प्रकट करना नहीं भूलते। विनय के पदों में तो ईश्वर की महत्ता का चित्रण है ही। ऐसा करने में उनका ध्येय यही है कि कहीं ईश्वर के लोक-चरित्रों के वर्णन करने में भक्त की चित्त-वृत्ति लोक में ही न फँसी रह जाय। इसीलिए वे बार-बार याद दिला देते है कि ये बालवत् तथा किशोरवत् लीला भगवान् की हैं, मनुष्य की नहीं है।

भक्ति की व्याख्या इन कवियों ने नहीं की। हाँ, भक्ति की महिमा का वर्णन इन्होंने बहुत किया है, श्री वल्लभाचार्य तथा भक्ति मार्ग के अन्य आचार्यों का समर्थन करते हुए इन्होंने कहा है कि संसार दुःख से निवृत्ति का सरल मार्ग ज्ञान और योग की अपेक्षा प्रेम भक्ति का ही है और जहाँ इन्होंने भगवान् की स्तुति की है वहाँ उनसे उनकी प्रेम भक्ति ही माँगी है। एक पद में प्रेम भक्ति की महिमा में सूरदासजी कहते हैं—"भक्ति बिना भगवान् दुर्लभ हैं।"[४] यहाँ सूरदास ने ज्ञान तथा योग के अन्य मार्गों का

१—त० दी० नि०, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई श्लोक ४६।

२—सातु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा। २५। —नारद भक्ति-सूत्र।

३—अष्टछाप वार्ता, काँकरौली पृ० १८।

४—रे मन समुझि सोच विचारि।
भक्ति बिनु भगवंत दुर्लभ कहत निगम पुकारि।
× × × ×
सूर श्री गोविंद भजन बिनु चले दोउ कर झारि।
—सूरसागर, वें० प्रे० पृष्ठ ३०।

खण्डन नहीं किया, उन्होंने तो यही कहा है कि ज्ञान और योग मार्ग से भगवान् कठिनता से मिलते हैं तथा भावमय प्रकृति रखने वाले व्यक्तियों के लिए तो भक्ति का प्रेम-मार्ग ही सरल उपाय है। सूरसागर के गोपी-उद्धव-सम्वाद में यही बात सूर ने सिद्ध की है। परमानन्ददास जी ने भी कई पदों में यही कहा है—"जो ज्ञान और योग के मार्ग पर लगे हैं वे लगे रहें, परन्तु मैं तो गोपाल का उपासक हूँ और मुझे उसी में सुख-प्राप्ति हुई है"।[१] अपनी स्तुतियों[२] में भी उन्होंने कृष्ण के प्रति स्नेह ही माँगा है। ज्ञान-योग-मार्गों की कठिनता को बताते हुए वे कहते हैं—"इन मार्गों की कष्ट-साधना में शरीर को क्यों कष्ट

राग सारङ्ग

भाई हों अपने गोपालहिं गाऊँ।
सुन्दर स्याम कमलदल लोचन देखि देखि सुख पाऊँ।
जो ग्यानी ते ग्यान विचारो जे जोगी ते जोग,
कर्मठ होंय ते कर्म विचारो जे भोगी ते भोग।
× × × ×
अपने अंसि की सुरति तजी है माँगि लियो संसार।
परमानन्द गोकुल मथुरा में उपज्यो यहै विचार।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से पद नं० ११०।

तथा

राग सारङ्ग

मेरो मन गह्यो माई मुरली को नाद।
आसन पवन ध्यान नहिं जानो कौन करे अब वाद विवाद।
मुक्ति देहु सन्यासिन को हरि कामिन देहु काम की रासि।
धर्मिन देहु धर्म को मारग मेरो मन रहै पद अम्बुज पासि।
जो कोउ कहि जोति सब यामें सपने न छुवें तिहारो जोग।
परमानन्द स्याम रंग राती सबै सहों मिलि एक अंग लोग।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २१२।

२—माधो यह प्रसादहु पाउँ।
तव भृत भृत्य भृत्य परिचारक दास को दास कहाउँ।
यह परमारथ मोहि गुर सिखयो स्याम धाम की पूजा।
यह बासना घटे नहिं कबहुँ देवन देखों दूजा।
परमानन्ददास तुम ठाकुर यह नातो जिन टूटे।
नन्दकुमार जसोदानन्दन हिलिमिलि प्रीति न छूटे।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २८४।

देते हो, हरि-भजन के सरल मार्ग में सर्वसिद्धि है।"[1] नन्ददास भक्ति की श्रेष्ठता बताते हुए, 'दशम स्कन्ध-भाषा-भागवत'[2] में कहते है—"हे प्रभु! तुम्हारी भक्ति के बिना ज्ञानादि का जो लोग साधन करते हैं उनको बहुत श्रम करना पड़ता है। अष्टाङ्ग योगी और कर्ममार्गी सब अपने अपने मार्गों में अत्यन्त क्लेश जानकर उन्हें छोड़ देते हैं और अन्त में वे आपकी ही शरण लेते हैं और आपकी भक्ति पाकर और आपकी कथा सुनकर सहज में मुक्ति और परमगति पाते हैं।" गोविन्द स्वामी प्रेम-भक्ति की महिमा के विषय में कहते हैं—"प्रीतम प्रेम ही से मिलते हैं, बिना स्नेह किए भगवान् को पाने की लालसा सेंवर-फल से निराश हुए तोते की लालसा की तरह होती है।"[3] चतुर्भुजदास जी भगवान् के प्रति अपनी स्नेहमयी भक्ति का भाव निम्नलिखित पद में बड़े सुन्दर रूप से प्रकट करते हैं—

१— राग सारङ्ग

हरि के भजन में सब बात।
ज्ञान कर्म सो कठिन करि कत देत हो दुख गातु।
बदत वेद पुरान छिनु छिनु साँझे अरु परभात।
सन्त जन मुख द्रवत हरि जसु नन्दलाल पद अनुरात।
नाहिन भव जलधि कोउ औरों बिघन के सिर लात।
दास परमानन्द प्रभु पें मारि मुख ये जात।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से नं० ३११।

२—अब बिधि कहत ग्यान है जोई, भक्ति बिना सोउ सिद्ध न होई।
तुम्हरी भगति अमी रस सरवर, मोक्षादिक जाके बस निर्झर।
तिंहि तजि जे केवल बोध कौं, करत कलेस चित सोध कौं।
तिन कहुँ छिन ही छिन श्रम बढ़े,-और कछूँ न तनक कर चढ़े।
जैसे कन बिहीन जे धान, धमकि धमकि कूटत अज्ञान।

× × ×

हो प्रभु पाछे बहुतक भोगी, तजि तजि भोग भये भल जोगी।
हिद अष्टांग जोग अनुसरे, ग्यान हेतु बहुते तप करे।
अति श्रम जानि कहाँ तैं फिरै, तुम कहुँ कर्म समर्पन करे।
तिनकर सुद्ध भयो मन मर्म, तब कीने प्रभु तुम्हरे कर्म।
कथा श्रवन करि पाई भक्ति, जाके सङ्ग फिरत सब मुक्ति।
ता करि आत्म तत्त्व कौं पाइ, बैठे सहज परम गति पाइ।

—दशम स्कन्ध, अध्याय १४, 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० २६१।

३— राग नट

प्रीतम प्रीति ही ते पैये,
यद्यपि रूप गुण सील सुघरता इन बातन न रिझैये।
सत कुल जन्म करम शुभ लक्षण वेद पुराण पढ़ैये,
गोविन्द बिना स्नेह सुआ लौं रसना कहा नचैये।

—लेखक के निजी, गोविन्दस्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० ७८।

राग मल्लार

स्याम सुन नियरो आयो मेहु,
भीजेगी मेरी सुरङ्ग चूनरी ओट पीत पट देहु।
दामिनि ते डरापत हों मोहन निकट आपुनो देहु,
दास चतुर्भुज प्रभु गिरिधर सों बाँध्यो अधिक सनेहु।[1]

सगुण-निर्गुण ब्रह्म तथा भक्ति

पीछे कहा गया है कि वल्लभसम्प्रदाय में ईश्वर के दोनों रूप, सगुण तथा निर्गुण मान्य हैं। परन्तु उस मार्ग का इष्ट रस-रूप सगुण ब्रह्म ही है। इस सम्प्रदाय ने कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति मार्गों में से भक्ति को अपनाया है। सूरदास, परमानन्ददास आदि अष्ट भक्तों ने भी सगुण ईश्वर ही की उपासना का भाव अपनी रचनाओं में प्रकट किया है। अनेक पदों में उन्होंने अपना यह निश्चित् मत तथा अनुभूति प्रकट की है कि सगुण भक्ति व्यावहारिक रूप में सरल और सीधा मार्ग है तथा वह मार्ग परमानन्द का शीघ्र फल देनेवाला है। सूरदास तथा नन्ददास के भँवर गीतों का गोपी-उद्धव-सम्वाद इसी सगुण-निर्गुण तथा भक्ति और ज्ञान के विवाद को प्रकट करता है। इन कवियों ने इस विवाद के अन्त में सगुण ईश्वर की भक्ति को ही अधिक प्रभावमयी सिद्ध किया है। यहाँ इन्होंने निर्गुण ईश्वर और ज्ञान तथा योग मार्गों का खण्डन नहीं किया, प्रत्युत् उनकी काल और पात्र के अनुसार अपने युग में अनुपयुक्तता दिखाई है। सूरसागर के आरम्भ में सूर ने निर्गुणोपासना में होनेवाली कठिनाई का उल्लेख किया है। वे कहते हैं—"निर्गुण ईश्वर की गति न तो कहने में आती है और न उस अव्यक्त पर मेरे मन की भावमयी वृत्ति ही ठहरती है, इसलिए सब प्रकार से अव्यक्त ब्रह्म तक पहुँचने में अपने को असमर्थ पाकर मैं सगुण ईश्वर की भक्ति करता हूँ और उसकी लीला के पद गाता हूँ।"[2] गोपियों को भी

१—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद सं० ८१।

२— राग कान्हरा

अविगत गति कछु कहत न आवे,
ज्यों गूँगे मीठे मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावे।
परम स्वाद सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावे,
मन वाणी को अगम अगोचर जो जानै सो पावै।
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चक्रत धावै,
सब विधि अगम विचारै ताते सूर सगुण लीला पद गावै।

—सूरसागर प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० १।

इन भक्तों ने श्रीमद्भागवत के अनुसार तथा अपनी प्रकृति के अनुकूल भावुक जन ही चित्रित किया है। सूर ने स्वयं कृष्ण के मुख से कहलाया है—"योग, कर्म और ज्ञान के मार्ग से लोग मुझे नहीं पा सकते, और जो गद्गद् कण्ठ से मग्न होकर मेरा गान करते हैं, उनके हृदय में मेरा निवास है।"[१] गोपी-उद्धव-सम्वाद में सूर की गोपी कहती हैं—"हे उद्धव! ज़रा, सही बुद्धि से विचारो, तुम हम अबलाओं को ज्ञान और योग तथा निर्गुण ईश्वर का वाद सिखाने आए हो। तुम्हारा निर्गुण ईश्वर बहुत भारी है जो हमसे नहीं सँभल सकता। हमको तो सगुण की भक्ति में ही चारों प्रकार की मुक्तियों का (सालोक्य, सानिध्य, सारुप्य और सायुज्य) लाभ मिल गया; हम योगाभ्यास करने योग्य नहीं और न ज्ञान के सार को जानने की हममें बुद्धि है।"[२] "इस ज्ञान के उपदेश को तो काशी

तथा

कहाँ लौं कीजै बहुत बड़ाई,
अति अगाध मन अगम अगोचर मन सो तहाँ न जाई।
जाके रूप न रेख बरन वपु नाहिन सङ्गत सखा सहाई,
ता निर्गुण सों नेह निरन्तर क्यों निबहै री माई।
जल बिन तरङ्ग भीति बिन लेखन बिन चेतहिं चतुराई,
या ब्रज में कछु नयी चाह है ऊधौ आनि सुनाई।
मन चुभि रही माधुरी मूरति अङ्ग अङ्ग उरझाई,
सुन्दर श्याम कमल दल लोचन सूरदास सुखदाई।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ५४७।

१—कहत नन्द लाडिलो।
जटा भस्म तनु दहै वृथा करि कर्म बँधावै,
पुहुमि दाहिनी देहि गुफा बसि मोहि न पावै।
तजि अभिमान जो गावही गद्गद् सुरहि प्रकाश,
तासु मगन हो ग्वालिनी ता घट मेरो बास।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, दानलीला, वें० प्रे०, पृ० २९३।

२—ऊधौ सूधे नेकु निहारो,
हम अबलनि को सिखवन आये सुनो सयान तुम्हारो।
निर्गुण कहो कहा कहियत है तुम निर्गुण अति भारी,
सेवत सगुण स्याम सुन्दर को मुक्ति लहीं हम चारी।
हम सालोक्य स्वरूप सरो ज्यों रहत समीप सहाई,
सो तजि कहत और की औरै तुम अलि बड़े अदाई।
अहो ज्ञान कतहि उपदेशत ज्ञान रूप हमहीं,
निस दिन ध्यान सूर प्रभु को अलि देखत जित तितहीं।

की ओर ले जाओ; वहाँ लोग इसे अपना लेंगे, यहाँ पर तो सब गोपाल कृष्ण के उपासक हैं।"[1] इस प्रकार सूर ने अनेक पदों में ज्ञान और योग-मार्ग तथा निर्गुण ईश्वर की ओर अपनी उपेक्षा के भाव को प्रकट किया है और सगुण ब्रह्म कृष्ण के रूप, नाम और लीला की प्रेम-भक्ति की ही महिमा गाई है। 'सूरसारावली' में वे एक स्थान पर कहते हैं—"मैं कर्म, योग, ज्ञान तथा वैधी भक्ति के साधनों में भटकता रहा, परन्तु मेरा भ्रम नहीं छूटा। मैं भ्रम में ही घूमता रहा, अन्त में श्रीवल्लभाचार्य जी ने भगवान् की लीला का रहस्य मुझे बताया, तभी से मैंने हरि की लीला का गुणगान किया है।"[2]

सूरदास की तरह परमानन्ददास ने भी भँवरगीत के पदों[3] में निर्गुण ईश्वर का

तथा राग आसावरी

ऊधो जोग जोग हम नाहीं।
अबला सार ज्ञान कहा जानैं कैसे ध्यान धराहीं।
ते ये मूदन नैंन कहत हैं हरि मूरति जा माहीं,
× × ×
योगी भरमत जेहि लगि भूले सो तो हैं अपु माहीं,
सूर स्याम ते न्यारे न पलछिन ज्यों घटते परछाहीं।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ५४६।

१—गोकुल सब गोपाल उपासी।
जो गाहक साधन को ऊधौ ते सब बसत ईशपुर काशी।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे० पृ० ५४७।
सूर के समय में काशी में शङ्कर-वेदान्तियों की साधन स्वरूपा भक्ति तथा नाथ पन्थियों के अनुयायी, निर्गुण ब्रह्म के उपासक ज्ञानी और योगी बहुत थे।

२—कर्म योग, पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनाओ लीला भेद बताओ।
ता दिन ते हरि लीला गाई एक लक्ष पद बन्द।
ताको सार सूर सारावली गावत अति आनन्द।
—सूरसारावली, सूरसागर, वें० प्रे०, पृष्ठ ३८।

३—कमल नैन मधुबन पढ़ि आए।
× × ×
ऊधौ पढ़ि पढ़ि अब भए ज्ञानी, नीति अनीति सबै पहिचानी।
निर्गुण ध्यान तबहि तुम कहते, सत समय व्रत दृढ़ कर गहते,
नैनन ते सरिता कत बहती, हरि बिछुरन की सूल न सहती।
-लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३२५।

निराकरण करके सगुण भक्ति को ही अपनाया है। एक पद[1] में उन्होंने भी सूर की भाँति निर्गुण उपासना के योग-साधन का काशी में प्रचार करने को कहा है और कहा है—"भस्म लगाकर उदासी वेश धारण करनेवाले संन्यासी तो काशी में हैं, यहाँ ब्रज में हम तो सुन्दर श्याम के उपासक हैं।" 'दशम स्कन्ध-भाषा' के १४वें अध्याय[2] में नन्ददास जी ने भी निर्गुण ईश्वर की दुर्लभता तथा उसको छोड़ सगुण ईश्वर की भक्ति को अपनाने का ही भाव प्रकट किया है। अन्य अष्टभक्तों ने यद्यपि निर्गुण ईश्वर और भक्ति के विषय में कोई कथन नहीं किया, परन्तु उन्होंने जितना भी काव्य लिखा है वह सब सगुण ईश्वर और उसकी भक्ति विषयक ही है।

भक्ति के प्रकार

भक्ति दो प्रकार की है—गौणी तथा परा। साधन दशा की भक्ति गौणी कहलाती है और सिद्ध दशा की भक्ति परा है। गौणी भक्ति के पुनः दो भेद हैं—वैधी तथा रागानुगा।[3] जिस भक्ति का साधन शास्त्रोक्त विधिपूर्वक होता है और जिसके विविध अङ्गों

१— राग विहाग

धन्य धन्य वृन्दाबन के बासी।
निसि दिन चरन कमल अनुरागी स्यामा स्याम उपासी।
अष्ट महा सिधि द्वार तें ठाढ़ीं रमा चरण की दासी,
पारस को जो मरम न जानो जाय बसो किन कासी।
भस्म रमाय गरे लिंग बांधी निस दिन फिरो उदासी,
परमानन्द दास को ठाकुर सुन्दर घोष निवासी।

—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ४८६।

२—अब विधि कहत कि निर्गुण ज्ञान, तिहि समान दुघट नहिं आन।

× × ×

जाके रूप न रेख न किया, तिहि लालच अबलंबै हिया।
सहजहि सून्य समाधि लगाई, जेत है तामैं तुमकों पाई।
पै यह सगुण सरूप तुम्हारौ, ह्यौ मन खोयो जात हमारौ।
ये अद्भुत अवतार जु लेत, विस्वहिं प्रतिपालन के हेत।
नाम रूप गुन कर्म अनन्त, गनत गनत कोऊ लहै न अन्त।

× × ×

तातें तव भगतिहिं अनुसरै, तुम्हरी कृपा मनायौ करै।
कब मो पर नन्द नन्दन ढरिहैं मधुर कटाच्छ चितै रस भरिहैं।

—दशम स्कन्ध, अध्याय १४ 'नन्ददास', शुक्ल, पृष्ठ २६२।

३—वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा।
यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते।

—हरि भक्ति-रसामृत-सिन्धु, पूर्व विभाग, लहरी २, श्लोक ३।

का नियमपूर्वक साधन होता है उसे वैधी भक्ति[1] कहते हैं। वधी भक्ति तथा रागानुगा भक्ति भाव-रूपधारिणी हैं। वैधी भक्ति[2] को कुछ लोग मर्यादा-भक्ति भी कहते हैं। भगवान् की कृपा अथवा उनकी पुष्टि (अनुग्रह) द्वारा, बिना किसी साधन के ही, भक्त के हृदय में भाव-भक्ति जाग्रत हो सकती है। ये भक्त भगवान् के विशेष कृपापात्र होते हैं। जिस भाव से भगवान् के प्रेम में अपूर्व रस का अनुभव होता है और जिस प्रेम भाव की अनुभूति से भक्त के हृदय में परम शान्ति और आनन्द का उदय हो जाता है उसे रागानुगा-भक्ति[3] कहते हैं। श्री रूपगोस्वामी ने इसे दो प्रकार का कहा है—१—काम-रूपा, २—सम्बन्ध-रूपा।[4] वैधी और रागानुगा दोनों भक्तियाँ साधन दशा की भक्ति ही हैं। जब भक्त पूर्ण शान्ति की अवस्था को पहुँच जाता है तब उसे किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं रहती। कामना-रहित प्रेमानन्द में ईश्वर से प्रेम करना ही परा भक्ति है। गौणी-भक्ति को साधन-भक्ति और परा-भक्ति को साध्य-भक्ति भी कहते हैं।

भक्ति मन्त्रयोग का एक अङ्ग भी है, जिसका चित्त-वृत्ति का निरोध करने के लिए साधन-रूप में सहारा लिया जाता है। इस साधन से मन्त्रयोगी भाव-समाधि में साकार ईश्वर का साक्षात् दर्शन करता है। मनुष्य की चित्तवृत्ति इस नाम-रूपात्मक संसार में संलग्न रहती है। इसलिए नाम और रूप दोनों आलम्बनों का सहारा लेकर जो चित्तवृत्ति के निरोध की साधन-विधि है, वही मन्त्र योग कहलाती है। चित्त से लौकिक भावों को दूर करने के लिए

१—शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते।
इत्यसौ स्याद्विधिर्नित्यः सर्ववर्णाश्रमादिषु।
—भक्ति-रसामृत-सिन्धु, पूर्व विभाग, लहरी २, श्लोक ५।

२—वैधी भक्तिरियं कैश्चिन्मर्यादामार्ग उच्यते।
—भक्ति-रसामृत-सिन्धु, पूर्व विभाग, लहरी २, श्लोक ६०।

३—इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः साऽत्र रागात्मिकोदिता।
—भक्ति-रसामृत-सिन्धु, पूर्व विभाग, लहरी २, श्लोक ६२।

४—सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद्द्विधा।
—भक्ति-रसामृत सिन्धु, पूर्व विभाग, लहरी २, श्लोक ६३।

सा कामरूपा सम्भोग तृष्णां या नयति स्वताम्।
—भक्ति-रसामृत-सिन्धु लहरी २, श्लोक ६८।

विषय-सम्भोग-तृष्णा का नाम काम है। इन्द्रियों की तृप्ति की कामना, लोक से न कर भगवान् से करने की इच्छा, भक्ति पक्ष में, काम है। तथा दास, सखा, पिता माता, पुत्र, पति आदि के सम्बन्ध में जो काम-रहित प्रेम है वह सम्बन्ध-स्वरूपा रागात्मिका भक्ति है।

सांसारिक नाम और सांसारिक रूपों की जगह ईश्वर के किसी नाम तथा ईश्वर के किसी रूप में ध्यान लगाने की विधि मन्त्र-योग में है। इसमें भगवान् की किसी स्थूल मूर्ति की पूजा और उसके साथ लौकिक भावों का आरोप किया जाता है। मूर्ति में मन की सम्पूर्ण वृत्तियों को अर्पण करके मन्त्रयोगी संसार के मोहादि भावों से छूट जाता है और वे भाव और मन परमात्मा में लग जाते हैं। मन्त्र-योग में प्राचीनकाल से पञ्च पूजा का विधान प्रचलित रहा है। ईश्वर के पाँच साकार रूप ये हैं—विष्णु, सूर्य, देवी, गणपति तथा शिव। जैसा कि पीछे कहा गया है, यह पञ्चोपासना कहलाती हैं। अन्त में जब इस योग की अवस्था सिद्ध होती है तभी योग की भाव-समाधि होती है। मन्त्र-योगी के निम्नलिखित सोलह अङ्ग हैं—भक्ति, शुद्धि, आसन, पञ्चाङ्गसेवन, आचार, धारणा, दिव्यदेश-सेवन, प्राण-क्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, याग, तप, ध्यान और भाव-समाधि।

मन्त्र-योग की अङ्ग-स्वरूपा भक्ति के अतिरिक्त, वैधी और रागानुगा भक्ति को, एक स्वतन्त्र साधन, भक्तिशास्त्र के आचार्यों ने माना है। और इसमें मन्त्र-योग के कुछ विधान, जैसे ईश्वर-मूर्ति की पूजा-अर्चना तथा ईश्वर-नाम-रूप का ध्यान भी प्रविष्ट कर लिये गये हैं 'शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र', 'नारद भक्ति-सूत्र', 'हरि-भक्ति-रसामृत-सिन्धु' आदि ग्रन्थों में स्वतन्त्र भक्ति-मार्ग की वैधी, रागानुगा तथा परा-भक्तियों का विवेचन है। साधन-स्वरूपा-भक्ति की सिद्धि की दो अवस्थाएँ है—एक, पूर्ण ज्ञान की अवस्था; दूसरी, पूर्ण प्रेम-भाव की अवस्था। श्री वल्लभाचार्य जी ने ज्ञान के साधन-रूप में भक्ति का प्रचार नहीं किया। यद्यपि वल्लभ-सम्प्रदाय में साधन भक्ति और साध्य भक्ति दोनों प्रकार की भक्तियों को अङ्गीकार किया गया है, परन्तु साधन-भक्ति का लक्ष्य ज्ञान अथवा मोक्ष न होकर, इस मार्ग में पूर्ण प्रेम-अवस्था का प्राप्त करना ही है। वैधी-साधन-भक्ति में आचार्य जी तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने पूजा, अर्चा, सेव्य स्वरूप (मूर्ति) का ध्यान, नाम-स्मरण आदि तथा आठ प्रहर की स्वरूप-सेवा-विधि को स्थान दिया है। भाव-भक्ति द्वारा पराभक्ति का (निष्काम प्रेम) प्राप्त करना इस सम्प्रदाय की भक्ति का ध्येय है। पराभक्ति अहेतुकी है उस समय भक्त को भगवान् के प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य काम्य पदार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—नहीं चाहिए।

वल्लभ-मतानुसार प्रभु-अनुग्रह के सहारे, प्रेम-भक्ति अथवा पराभक्ति की अवस्था प्राप्त करने के बाद, फिर भक्त को किसी साधन, नियम तथा किसी मोक्षादि हेतु की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए इस भक्ति को प्रेम-लक्षणा-भक्ति, अनुग्रह या पुष्टि भक्ति अथवा 'निस्साधन' भक्ति कहा गया है। प्रेम, भक्ति की भाव-समाधि में भगवान् के नाम और लीला द्वारा जिस चरम आनन्द का तथा ईश्वर की रूप-सुधा के आस्वादन का अनुभव भक्त करता है, उसीको श्री वल्लभाचार्य जी ने 'भजनानन्द' कहा है। साधन-स्वरूपा, रागानुगा-भक्ति की सिद्ध अवस्था में आकर भक्त प्रेमोन्मत होकर विधि-निषेध को भूल जाता है, और प्रेम-भक्ति की विरहाग्नि में उसके सब पाप-कर्म भस्म हो जाते हैं।

श्रीमद्भागवत[1] में साधक के स्वभावानुसार भक्ति चार प्रकार की कही गई है। इस प्रकार का विभाजन वल्लभ-सम्प्रदाय में भी किया गया है। और सूरदास ने भी इन चार प्रकार की भक्तियों का विवरण दिया है। यह भक्ति तामसी, राजसी, सात्विकी तथा निर्गुणा, चार प्रकार की है। प्रथम तीन प्रकार की गुणा भक्तियाँ काम्य हैं और चौथी निर्गुणा भक्ति निष्काम है। सूरदास जी ने इस चौथी भक्ति को 'सुधासार भक्ति'[2] भी कहा है। श्रीमद्भागवत का गुरु-सम्मत अनुकरण करते हुए सूरदास जी कहते हैं—"भक्ति (मनुष्य की वृत्तियों के अनुसार) चार प्रकार की है—सात्विकी, राजसी, तामसी और निर्गुणा अथवा सुधासार। सात्विकी-भक्त मुक्ति चाहता है, राजसी भक्त धन-कुटम्ब चाहता है, तामसी भक्त पर-अपकार, 'मेरा बैरी मर जाय' इस भाव से चाहता है, परन्तु सुधा-भक्ति का करनेवाला भक्त मुक्ति को भी नहीं चाहता। यह अनन्य भक्त कुछ नहीं माँगता। इसका न कोई शत्रु होता है और न मित्र, इसको संसार की माया का संताप नहीं होता। वह केवल ईश्वर के दर्शन मात्र से ही परम सुख का अनुभव करता है।"[3] इस प्रकार से सूरदास ने दो प्रकार के भक्त कहे हैं—एक, 'सकाम' भक्त; दूसरे, 'निष्काम' भक्त।

१—भागवत, तृतीय स्कन्ध, २९ अध्याय, श्लोक ७-१४ तक।

अनुवादः—कपिलजी कहते है—"हे माता! भक्ति-योग अनेक प्रकार का है; स्वभाव की वृत्तियों के अनुसार भक्तियों के भी विभेद होते हैं। ७—हिंसा, दम्भ, क्रोधादि के वश अपनी अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिए जो मेरी पूजा-भक्ति की जाती है उसे तामसी भक्ति कहते हैं। ८—लौकिक विषय, यश अथवा ऐश्वर्य की कामना से भेद-दृष्टि-पूर्वक मेरी भक्ति राजसी-भक्ति है। ९—जब भक्त अपना पाप नष्ट करने के लिए अपने सब कर्मों को मुझे अर्पण कर देता है, परन्तु जीव को मुझसे अलग देखता है तथा अपनी आशा पूर्ण करने को मुझमें आसक्त है उसकी भक्ति सात्विकी है। १०—जो जन मेरे गुणों के श्रवण से, मुझको सब में समान जानता है और अपनी कर्मगति को अविच्छिन्न भाव से मुझमें अर्पण करता है उस आसक्ति को निष्काम या निर्गुणा भक्ति कहते हैं। ये भक्त मेरी दी हुई पाँच प्रकार की मुक्ति को भी ग्रहण नहीं करते। ११-१२ भागवत।

२—सूरसागर, तृतीय स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ ४२-४४।

३—माताभक्ति चारि परकार, सत रज तम गुण सुधासार।
भक्ति सात्विकी चाहनि मुक्ति, रजोगुणी धन कुटुम्ब अनुरक्ति।
तमोगुणी चाहे या भाई मम बैरी क्यों ही मर जाई।
सुधा भक्ति, मोच को चाहे, मुक्ति हू कों नहिं अवगाहै।
मन क्रम बच मम सेवा करै, मनते भव आशा परिहरै।
ऐसो भक्त सदा मोहि प्यारो, इक छिन जाते रहों न न्यारो।

पीछे कहा गया है कि भक्ति को साधन-रूप से कर्म, ज्ञान और योग के साथ भी, आध्यात्मिक साधकों ने जोड़ा है। भक्ति के साथ कर्म और ज्ञान का योग करते हुए सूर ने तीन तरह के भक्त और कहे हैं—कर्मयोगी भक्त, भक्तियोगी भक्त, तथा ज्ञान-योगी भक्त। वे कहते हैं—"कर्म योगी भक्त वर्ण और आश्रम की मर्यादा का पालन करते हुए भगवद्भक्ति करता है। वह अधर्म कभी नहीं करता और इस आचरण से वह संसार से निस्तार पा जाता है। दूसरे भक्त भक्ति-योगी हैं जो विधिपूर्वक हरि भगवान् का स्मरण, उनकी पूजा तथा उनके चरण-कमलों में सदा प्रीति करते हैं। ये भक्ति-योगी भक्त क्रम-क्रम करके मुक्ति का लाभ करते हैं, तथा क्रम-क्रम से ही ईश्वर के चरणों में सायुज्य लाभ करते हैं।"[1]

पीछे वल्लभ-मत देते हुए कहा गया है कि क्रम-मुक्ति विधिपूर्वक ज्ञान के साधकों को अथवा ज्ञान-भक्ति के उपासकों को भी मिलती है। और सद्योमुक्ति भगवान् की कृपा

त्रिविधि भक्त मेरे हैं जोई, जो माँगे तिहि देहुँ मैं सोई।
भक्त अनन्य कछू नहिं माँगे, ताते मोहि सकुच अति लागे।
ऐसो भक्त जानि है जोई, जाके शत्रु मित्र, नहिं दोई।
हरि माया सब जग सन्तापै, ताको माया मोह न व्यापै।
—सूरसागर, तृतीय स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ ४२।

तथा

तमोगुणी रिपु मरनो चाहै, रजोगुणी धन कुटुम्ब अवगाहै।
भक्त सात्विकी सेवै संत, लखै तबै मूरति भगवन्त।
मुक्ति मनोरथ मन में ल्यावै, मम प्रसाद ते सो वह पावै।
निर्गुण मुक्ति हू को नहिं चहै, मम दर्शन ही ते सुख लहै।
ऐसो भक्त सुभक्त कहावै, सो बहुरयो चलि भव नहिं आवै।
—सूरसागर, तृतीय स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ४२।

१—भक्त सकामी हुँ जो होई, क्रम क्रम करिकै उधरै सोई।
शनै शनै बिधि पावै जाई, ब्रह्म सङ्ग हरि पदहि समाई।
निष्काम बैकुंठ सिधावै, जन्म मरन तिहि बहुर न आवै।
त्रिविधि भक्ति अब कहौं सुनु सोई जाते हरिपद प्रापति होई।
एक कर्म योग को करै, वर्ण आश्रम धरि निस्तरै।
अरु अधर्म कबहू नहिं करैं ते नर याही बिधि निस्तरैं।
एक भक्ति योग को करै, हरि सुमिरन पूजा विस्तरै।
हरि पद पंकज प्रीति लगावै, क्रम क्रम करि हरि पदहि समावै।
एक ज्ञान योग बिस्तरै, ब्रह्म जानि सब सों हित करै।
—सूरसागर, तृतीय स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ ४५।

से पुष्टि-भक्तों को मिलती है। यहाँ सूर ने इसी क्रम-मुक्ति का सङ्केत किया है। तीसरे भक्त ज्ञानी हैं, जो सम्पूर्ण जगत को ब्रह्म जानकर सब से हित करते हैं। भगवद्गीता में चार प्रकार के भक्त कहे गये हैं—"हे अर्जुन। उत्तम कर्मवाले अर्थार्थी (सांसारिक वैभव के चाहनेवाले), आर्त (अपना सङ्कट-निवारण के लिए भजनेवाले), जिज्ञासु (मेरे यथार्थ रूप के जानने की इच्छावाले), तथा ज्ञानी (सर्वत्र सबमें मुझे देखनेवाले निष्काम भक्त) ये चार प्रकार के भक्त जन मुझे भजते हैं।"[१]

पीछे श्री वल्लभाचार्य जी के भक्ति-सम्बन्धी विचारों में यह निर्देश किया गया है कि भक्ति की प्रथम साधन-अवस्था में आचार्य जी ने गृहस्थाश्रम में रहकर धर्म पालन करने का आदेश दिया है. और गृहस्थ के कर्मों को कृष्ण की इच्छा मान कर करने का उपदेश दिया है।[२] वहाँ पर आचार्य जी ने प्रेम-भक्ति का अङ्कुर उगाने के लिए कर्म और भक्ति का मेल कर दिया है। इसी प्रकार जब उन्होंने यह कहा है—"भगवान् सब कुछ हैं, उन्हीं का रूप सर्वत्र है और उन्हीं से सब कुछ उत्पन्न हुआ है, भक्त को ऐसा माहात्म्य-ज्ञान धारण करना चाहिए।"[३] उस समय उन्होंने ज्ञान को भक्ति के साथ मिलाया है। इस प्रकार

१—चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।

—गीता, अध्याय ७, श्लोक १६।

२—भक्ति वर्द्धिनी, श्लोक ५।

तुलना कीजिये—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गंत्यक्त्वा करोति यः,
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।

—गीता, अध्याय ५, श्लोक १०।

तथा, अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।

—गीता, अध्याय १२, श्लोक १०।

तथा, चेतसा सर्व कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव।

—गीता, अध्याय १८, श्लोक ५७।

३—तत्वदीप-निबन्ध, शास्त्रार्थ-प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई, श्लोक १०५।

तुलना कीजिये—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।

—गीता, अध्याय १८, श्लोक ५४।

आचार्य जी ने कर्म और ज्ञान का भक्ति के साथ भक्ति की साधनावस्था में मेल कर दिया है। परन्तु यह बात ध्यान में रखने की है कि कर्म और ज्ञान, ये प्रेम-भक्ति की अवस्था प्राप्त करने के साधन मात्र ही हैं, लक्ष्य-रूप नहीं है। अष्टछाप के भक्तों में सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास तथा गोविन्द स्वामी ने गृहस्थ-आश्रम में रह कर कर्म-मार्ग का पालन नहीं किया था, शेष चार भक्त गृहस्थाश्रम में भी रहे थे और उन्होंने निष्काम कर्मयोग के साथ भक्ति का साधन किया था। कर्म-पालन की साधन-अवस्था में भक्त सब कर्मों को, स्वार्थत्याग कर, भगवान् के निमित्त, करता है। इससे ऊँचा उठकर फिर उस अवस्था में आता है जब वह सोचता है कि मुझे केवल भगवान् की सेवा का ही कार्य करना है अन्य कार्य नहीं करने हैं। इसके आगे आत्म-समर्पण की अवस्था आती है। तब वह प्रेम-भक्ति की अवस्था पर पहुँचता है। शरीर की रक्षा की आवश्यकता उसको इसलिए है कि यह शरीर भगवान् का सेवक है और यह उसी की सेवा के निमित्त है।

श्रीमद्भागवत में भक्ति के नौ प्रकार और दिये गये हैं जो इस प्रकार हैं—"श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन बंदन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन"[1]। इन नव भक्तियों में श्रवण, कीर्तन और स्मरण, भगवान् के नाम और लीला से सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाएँ हैं। पाद-सेवन, अर्चन और बन्दन, इन कृत्यों का उनके स्वरूप से लगाव है तथा दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन ये भाव हैं, जिनका अर्पण भगवान् को होता है। वस्तुतःपीछे कहे तीन भावों के अतिरिक्त वात्सल्यादि अन्य भाव भी भक्तों ने भगवान् के साथ लगाए हैं। श्री वल्लभाचार्य जी ने नवधा भक्ति के करने की आज्ञा दी है, परन्तु उनके मत में नवधा भक्तियाँ भी भगवान् की अनन्य प्रेमावस्था की प्राप्ति के साधन हैं। इन साधनों को आचार्य जी ने वैकल्पिक नहीं माना, प्रेम-भक्ति के लिए इन साधनों का करना आवश्यक बताया है। तथा दास्य, सख्य, और आत्मसमर्पण भावों के साथ वात्सल्य तथा मधुर भावों को जोड़ कर उन्हें विशेष महत्व दिया है। श्री वल्लभाचार्यजी के बाद श्रवण, कीर्तन आदि भक्ति-साधनों के अभ्यास का 'मण्डान', जैसा कि पीछे कहा गया है, श्री विट्ठलनाथ जी तथा श्री गोकुलनाथ जी ने बहुत विस्तार के साथ किया था। अष्टछाप के भक्तों ने इन्हीं साधनों के बल पर कृष्ण का अनन्य प्रेम पाया था, जिसका स्पष्ट परिचय हमें उनकी रचनाओं में मिलता है।

१—श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं बंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।
इति पुंसार्पिता विष्णौभक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्।

—भागवत, सप्तम स्कन्ध, अध्याय ५ श्लोक २३–२४।

'श्रवण कीर्तन, स्मरण, पादसेवा, पूजा, वन्दना, दास्यभाव, सख्यभाव तथा आत्मसमर्पण भाव, ये विष्णु की नवधा भक्ति हैं। जो व्यक्ति इन्हें करे और विष्णु में इन्हें अर्पण करे तो यह उसकी सबसे बड़ी शिक्षा है।' भागवत।

इस प्रकार वल्लभ-मत में भागवत की नवधा भक्ति के अतिरिक्त दसवीं 'प्रेम-लक्षणा' भक्ति भी कही गई है और यही भक्ति उस मत में मुख्य है जिससे भगवान् के स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है। सूरदास जी, नवधा भक्ति और दसवीं प्रेम-लक्षणा भक्तियों का उल्लेख इस प्रकार करते हैं:—

श्रवण कीर्तन स्मरण पाद रत, अरचन बंदन दास।
सख्य और आतम निवेदन, प्रेम लक्षणा जास॥[1]

परमानन्ददास जी ने भी एक पद में इन्हीं दसधा[2] भक्तियों का उल्लेख किया है और प्रत्येक भक्ति के करनेवाले भक्तों के दृष्टान्त भी दिये हैं। 'रासपञ्चाध्यायी' के माहात्म्य-वर्णन में नन्ददास जी ने कहा है—"यह कृति मेरे श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि भक्ति-साधनों का फलस्वरूप सार है।"[3] इस कथन में उन्होंने नवधा भक्ति को साधनरूप में स्वीकार किया है। रूपमञ्जरी में नवधा भक्तियों में जो क्रियाएँ भगवान् के नाम, लीला और रूप से सम्बन्ध रखती हैं उनको भी दो मार्गों के रूप में रख दिया गया है—एक, भक्ति का नाद-मार्ग; दूसरा, रूपमार्ग। नाद के अन्तर्गत, श्रवण, कीर्तन और स्मरण आते हैं तथा रूप मार्ग में पाद-सेवन, अर्चन, और वन्दन हैं। नन्ददास ने रूपमञ्जरी में जहाँ रूपमार्ग की उपासना का उल्लेख किया है वहाँ उन्होंने दास्य भाव से भगवान् के पाद सेवन, अर्चन, वन्दन के स्थान पर रूपासक्ति पूर्ण जार-भाव की सर्वत्यागमयी और सर्व अर्पणमयी भक्ति में आनेवाली सेवा, अर्चना का रूप दिया है। नन्ददास ने भी सर्वसाधनों का फल प्रेम-भक्ति प्राप्ति ही माना है।

१—सूरसारावली, सूरसागर, वें० प्रे०, पृष्ठ ५ तथा पृष्ठ ६१।

२— राग सारङ्ग।

तातै दसधा भक्ति भली।
जिन जिन कीनी तिनके मनते नेकु न अनत चली।
श्रवण परीछत तरे राजरिषि कीर्तन करि शुकदेव।
सुमिरन करि प्रह्लाद निर्भय भयो कमला करी पद सेव।
पृथु अरचन, सुफलक सुत बंदन, दासभाव हनुमंत।
सखा भाव अर्जुन बस कीने श्री हरि श्री भगवंत।
बलि आतम समर्पन करि हरि राखे अपने पास।
अविरल प्रेम भयो गोपिन को बलि परमानंद दास।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद संग्रह से, पद नं० ३१४।

३—श्रवन कीर्तन सार, सार सुमिरन कौ है पुनि।
ज्ञानसार हरिध्यानसार श्रुतिसार गुही गुनि।

—रासपञ्चाध्यायी, अध्याय ५, 'नन्ददास' 'शुक्ल', पृ० १८२।

सूरदास, परमानन्ददास तथा नन्ददास को छोड़कर अन्य अष्ट भक्त कवियों के भक्ति के इस प्रकार के भेद और विभाजनों का वर्णन करनेवाले पद लेखक को उपलब्ध नहीं हुये। परन्तु उनकी उपलब्ध रचना में साधन-भक्ति तथा साध्य प्रेम-भक्ति का रूप स्पष्ट मिलता है।

पीछे कहा गया है कि श्री वल्लभाचार्य जी ने 'भक्तिवर्द्धिनी' ग्रन्थ में प्रेमलक्षणा भक्ति की तीन अवस्थाएँ कही हैं—स्नेह, आसक्ति और व्यसन।[1] भगवान् के प्रति स्नेह की अवस्था में लोक के सम्पूर्ण सम्बन्ध लोक से छूट कर भगवान् में ही लग जाते हैं। आसक्ति की अवस्था में मिलन की विकलता रहती है। आसक्ति-अवस्था विरह की है और व्यसन में प्रत्येक समय प्रिय भगवान् का ही सदैव ध्यान रहता है और अन्य कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। इसके बाद प्रेम की तन्मय अवस्था आती है. जब भक्त भगवान् के मिलन का भावात्मक आनन्द लेता है। अष्टछाप भक्त कवियों की रचनाओं में इन चारों दशाओं को प्रकट करनेवाले अनेक पद विद्यमान हैं, जिनमें उनके प्रेम का बहुत ही उत्कृष्ट रूप पाठक के सामने आता है।

श्री वल्लभाचार्य जी ने यह तो कहा है कि भगवान् सभी भाव से भजनीय हैं, परन्तु भक्ति में मुख्य स्थान उन्होंने प्रेम को ही दिया है। भक्ति-शास्त्र के सभी आचार्यों ने प्रेम ही को भक्ति का स्थायी भाव माना है। इसके लिए लोक में प्रेम-सम्बन्ध के जितने रूप हो सकते हैं, उतने ही भावों को प्रकट करनेवाले भक्ति के प्रकार भी होते हैं। इन्हें आचार्यों ने भक्ति के रस कहा है, जैसे— वात्सल्य, सख्य, दास्य और कान्ता भाव अथवा मधुर रस। इन भावों का आगे विवेचन किया जायगा। इन भावों के अतिरिक्त 'नारद-भक्ति सूत्र[2]' में प्रेम की आसक्ति अवस्था के ग्यारह भाव बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं :—

१—ईश्वर के गुण और महत्ता में आसक्ति।
२—रूपासक्ति
३—पूजासक्ति
४—स्मरणासक्ति
५—दास्यासक्ति
६—सख्यासक्ति
७—कान्तासक्ति
८—वात्सल्यासक्ति
९—आत्मनिवेदनासक्ति
१०—तन्मयतासक्ति
११—परमविरहासक्ति

'नारद-भक्ति-सूत्र' में दिये हुए उक्त सभी भावों की भक्ति पूर्णरूप से कृष्ण के प्रति गोपी भाव में मिलती है; इसलिए कृष्ण-भक्ति के सभी भक्तों ने गोपियों को

१—भक्ति-वर्द्धिनी, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक ३।

२—नारद-भक्ति-सूत्र, सूत्र नं० ८२।

भक्ति-मार्ग की आचार्या माना है और उन्हें प्रेम की ध्वजा[1] कहा है, अष्टछाप भक्तों की रचना में हमें उक्त ग्यारहों भक्ति के उदाहरण मिलते हैं। कान्ता भाव के साथ इन भक्तों की रचनाओं में 'जार भाव' की मधुर-भक्ति का भी अल्प रूप मिलता है, जिसका वर्णन श्रीमद्भागवत में है तथा कृष्ण-भक्ति के कुछ अन्य सम्प्रदायों में भी है यथा गौड़ीय सम्प्रदाय में इस भक्ति का बड़ा महत्व है। इस प्रकार के भाव का अष्टछाप-भक्ति का आगे विवरण दिया जायगा।

पीछे कहा गया है कि सूर ने प्रेम-लक्षणा-भक्ति को 'सुधा-सार-भक्ति' भी कहा है। वस्तुतः साधारण अर्थ में तो किसी भी प्रकार के प्रेम के आनन्द को सुधा कह सकते हैं, परन्तु वल्लभसम्प्रदायी भक्ति का उत्कृष्ट रूप और उसका फल भगवान् के दास्यासक्ति द्वारा उनके चरण सरोवर में शीतल मज्जन नहीं है। उसका ध्येय भगवान् के मुखारविन्द का परागपान तथा अधरामृत का परम रसास्वाद लेना है। इसलिए गोपियों के भाव का अनुकरण करनेवाली 'अष्टछाप-भक्ति' 'उष्णभक्ति' भी कहलाती है, जैसे सूफ़ियों ने फलानुभूति को ईश्वर के 'हुस्नेदीदार' की शराब कहा है, उसी प्रकार, वल्लभ-भक्तों ने फलानुभूति को 'मुखामृत या अधरामृत' कहा है। श्री हरिराय जी ने भक्ति के उक्त दो प्रकार के भेद किये हैं।[2] अष्टछाप रचना में प्रिय के अधरामृत-पान की

१—गोपी प्रेम की ध्वजा।
जिन जगदीस किये बस अपने उर धरि स्याम भुजा।
सिव बिरंचि प्रसंसा कीनी ऊधो संत सराहिं,
धन्य भाग गोकुल की बनिता अति पुनीत मुख माहिं।
कहा बिप्र घर जन्महिं पाये हरि सेवा विधि नाहिं,
तेहि पुनीत दास परमानन्द जे हरि सन्मुख जाहिं।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २७१।

२—भक्तिर्द्विधा पदाम्भोजवदनाम्बुज भेदतः,
प्रथमा शीतला भक्तिर्यतः श्रवणकीर्तनात् १।
तत्रैव मुख्यसम्बन्धः सुलभो नारद दिषु,
द्वितीया दुर्लभा यस्मादधरामृतसेवनात्।
तद्भावनारूपा विरहानुभवात्मिका,
गोपसीमन्तिनीनां च सा दत्ता हरिणा स्वतः। २।
—भक्ति द्वैविध्य-निरूपणम्, श्री हरिराय वाङ्मुक्तावली, भाग १,
नडियाद पृ० २२, श्लोक नं० १, २ तथा ३।

कामना तथा अनुभूति को प्रकट करनेवाले अनेक पद हैं।[१] कृष्ण की रूपासक्ति के जितने पद इन कवियों ने लिखे हैं वे इसी भक्ति का भाव प्रकट करते हैं।

१—नैन परे रस स्याम सुधा में।

× × ×

जिन वह सुधा पान मुख कीन्हों ते कैसे कटु देखत।
त्यों ए नैन भये गर्बीले अब काहे हम लेखत।
काहे को अब सोच करति हो नैन तुम्हारे नाहीं।
मिले जाइ सूरज के प्रभु को इत उत कहूँ न जाहीं।

—सूरसागर, वें० प्रे०, पृष्ठ ३२१।

अँखियन कें इहई टेव परी, कहा कहैं वारिज मुख ऊपर लागति ज्यों भ्रमरी।

—सूरसागर, वें० प्रे०, पृष्ठ ३३७।

तथा—रस बस श्याम कीनी नारि, अधर रस अचवत परस्पर सङ्ग सब ब्रजनारि।

—सूरसागर, वें० प्रे०, पृष्ठ ३४६।

परमानन्ददास—

मदन गोपाल के रङ्गराती।
गिरि गिरि परत संभार न तन की अधर सुधा रस माती।
वृन्दाबन कमनीय सघन बन फूलीं चहुँ दिसि जाती।
मन्द सुगन्ध बहै मलयानिल अति जुड़ात मेरी छाती।
आनन्द मगन रहति प्रीतम सङ्ग द्योस न जानति राती।
परमानन्द सुधाकर हरि मुख पीवत हू न अघाती।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १११।

नन्ददास—

चितवनि मोहन मंत्र भौंह जनु मन्मथ फाँसी।
निपट ठगोरी आहि मन्द मृदु मादक हाँसी।
अधर सुधा के लोभ भई हम दासि तिहारी।

× × ×

जो न देहु अधरामृत तौ सुनि हो मोहन हरि।
करि हैं यह तन भस्म, विरह पावक में गिरि परि।
तब पिय पदवी पाइ बहुरि धरि हैं सुन्दर अंग।
पीवहिंगी अधरामृत, पुनि सङ्ग ही सङ्ग।

—रास पञ्चाध्यायी प्रथम अध्याय, 'नन्ददास 'शुक्ल', पृ० १६४, १६५ पाठ-भेद से।

बुधजन मन हरनी बानी बिनु जरति सबै तिय।
अधर सुधासव सहित तनक प्यावहु ज्यावहु पिय।

—रास पञ्चाध्यायी, अध्याय ३, उदयनारायण तिवारी, पृ० ५१।

तथा—

जिन यह प्रेम सुधा घर तुम्हरौ मुख निरख्यो पिय।
तिनकी जरन नहिं मिटी, रसिक संविद कोविद हिय। १४

—रासपञ्चाध्यायी, उदयनारायण तिवारी, पृ० ५१।

कुम्भनदास—

राग धनासिरी

मिले की फूलि नैना ही कहे देत तेरे।
स्यामसुन्दर मुख चुंबन परसें नाचत मुदित अनेरे।
नन्द नन्दन पै गये चाहत हैं, मारग श्रवननु घेरे।
कुम्भनदास प्रभु गिरिधर रस भरे करत चहूँ दिस फेरे।

—लेखक के निजी, कुम्भनदास-पद-संग्रह से, पद नं० १७।

कृष्णदास—

राग टोडी

हरि मुख देखे ही जीजै।
सुनहु सुन्दरी नैन सुभग पुट स्याम सुधा पीजै।
न करि बिलम्ब रसिक मनोहर गति-पलु पलु सुख छीजै।
बासर केलि नवल जोवन धन बिलसि लाभ लीजै।
गिरधर लाल उरझि बीथिन में बर भूषन कीजै।
पद्म राग रज कृष्णदास कों न्योछावरि करि दीजै।

—लेखक के निजी कृष्णदास-पद-संग्रह से पद नं० २७।

चतुर्भुजदास—

राग बिलावल

माई री आज और काल्ह और, दिन प्रति और और, देखिये रसिक गिरिराजधरन।
दिन प्रति नई छबि बरणे सो कौन कवि, नितही श्रृङ्गार बागे बरन बरन।
शोभासिन्धु श्याम अङ्ग छवि के उठत तरङ्ग, लाजत कोटिक अनङ्ग विश्व को मनहरन।
चतुर्भुज प्रभु श्री गिरधारी को स्वरूप, सुधा पान कीजिये जीजिये रहिये सदा ही सरन।

—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० ५६।

गोपाल को मुखारबिन्द देखि जु जीजै।
तन मन त्रै ताप तिमिर निरषत ही नसाई। १
सरस सरोज सुधा नैनन भरि पाई।
सुख समुद्र सोभा मोपे कही न जाई। २
धर्म कर्म लोक लाज सुत पति तजि धाई।
चतुर्भुज प्रभु गिरधर में जाचै री माई। ३

—लेखक के निजी चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० ५८ (अ)

प्रेम-लक्षणा-भक्ति और ईश्वर-कृपा

'जलभेद ग्रन्थ' से उद्धरण देकर पीछे श्रीवल्लभाचार्य जी का यह मत दिया गया है कि नवधा भक्ति के साधन-प्रकार द्वारा, पूर्ण प्रेम की अवस्था आती है[1] और प्रेम से भगवत् धर्मों का प्रादुर्भाव होता है। इन्हीं भगवद् धर्मों (ज्ञान श्री वैराग्य आदि) के मिलने पर भगवान् के कृपा-फल की अनुभूति भक्त को होती है। इसलिए वल्लभ-मत में ईश्वर का सुदृढ़ प्रेम साध्य माना गया है। अष्टछाप-भक्तों ने इस प्रेम-भक्ति की बहुत महिमा गाई है। इस प्रेम का प्रदर्शन उनके अनेक पदों में होता है। बिना प्रभु-अनुग्रह[2] के ईश्वर की प्रेम-

गोविन्दस्वामी—

श्री यमुना जी यह विनती चित धरिये।
गिरधरलाल मुखारविन्द रति जनम जनम नित करिये।
विष सागर संसार विषम सङ्ग तें मोहि उद्धरिये।
काम क्रोध अज्ञान तिमिर अति उर अन्तर ते हरिये।
तुम्हरे सङ्ग बसों निज जन सङ्ग रूप देख मन ठरिये।
गाऊँ गुन गोपाललाल के अष्ट व्याधि ते डरिये।
त्रिविधि दोष हरि के कालिन्दी एक कृपा करि ढरिये।
गोविन्ददास यह वर माँगे तुम्हरे चरण अनुसरिये।

—लेखक के निजी, गोविन्दस्वामी-पद संग्रह से, पद नं० २६१।

छीतस्वामी—

राग आसावरी

मेरे नैंनन इहै बान परी।
गिरधरलाल मुखारविन्द छवि, छिन छिन पीवत खरी।
पाग सुदेस लाल अति सोहत मोतिन की दुलरी।
हरि नख उरहि विराजत मणि गण जटित कण्ठसिरी।
छीतस्वामी गोवर्द्धनधर पर वारों तन मन री।
विट्ठलनाथ निरखि के फूलत तन सुधि सब बिसरी।

—लेखक के निजी, छीतस्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० १३।

× × ×

१—साधनादि प्रकारेण नवधाभक्तिमार्गतः।
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्पंदमानाः प्रकीर्तिता १०।

—जलभेद, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १०।

२— राग बिलावल

हरि हरि हरि सुमिरहु सब कोई, बिनु हरि सुमिरन भक्ति न होई।
× × ×
नाथ कृपा अब हम पर कीजै, भक्ति आपनी हमको दीजै।
प्रेम भक्ति, बिन कृपा न होई, सर्व शास्त्र मैं देखे जोई।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध उत्तरार्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ ५६३।

भक्ति नहीं मिलतीं, इस बात को सूरदास जी दृढ़ विश्वास के साथ कहते हैं। सूर के प्रेम-भक्ति के परिचायक अनेक पद सूरसागर में हैं। मन प्रबोध के प्रसङ्ग में प्रथम स्कन्ध सूरसागर में उन्होंने प्रेम की महिमा अनेक दृष्टान्त[१] देकर कही है। सूर की तरह परमानन्द

१—

राग विलावल

नमो नमस्ते बारम्बार।

× × ×

प्रेम-भक्ति बिनु मुक्ति न होइ, नाथ कृपा करि दीजै सोइ।
और सकल हम देखौ जोइ, तुम्हरी कृपा होइ सो होइ।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध उत्तरार्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ ५६५।

तथा—विनती सुनौ दीन की कैसे तव गुन गावै।

× × ×

मेरे तो तुम ही पति तुम गति तुम समान को पावै।

—सूरसागर, वें० प्रे०, पृष्ठ ५।

राग परज

मनारे माधव सों करि प्रीति।
काम क्रोध मद लोभ मोह तू छाँड़ि सबै विपरीति।
× × ×
सुन परमित पिय प्रेम की चातक चितवत पारि।
घन आशा सब दुःख सहै, अन्त न याचै वारि।
देखो करनी कमल की, कीनों जल सों हेत।
प्राण तज्यो प्रेम न तज्यो, सूख्यो सरहि समेत।
दीपक पीर न जानई, पावक परत पतंग।
तनु तो तिहि ज्वाला जरयो, चित न भयो रस भंग।
मीन वियोग न सहि सकै, नीर न पूछे बात।
देखि जु तू ताकी गतिहि, रति न घटै तन जात।
× × ×
सुमर सनेह कुरङ्ग की, श्रवनन राँच्यो राग।
धरि न सकत पग पछमनो सर सनमुख उर लाग।
× × ×
सब रस को रस प्रेम है, विषयी खेलै सार।
तन मन धन जोवन खिसे, तऊ न मानै हार।
× × ×
प्रभु पूरण पावन सखा, प्राणन हूँ को नाथ।
परम दयालु कृपालु प्रभु, जीवन जाके हाथ।
× × ×

दास ने भी प्रेम-भक्ति की महत्ता बताते हुए उसको करने तथा उससे भगवान् का नैकट्य पाने का भाव कई पदों[1] में प्रकट किया है। परमानन्ददास की प्रगाढ़ प्रेम-भक्ति का रूप उनके समस्त 'परमानन्द-सागर' में मिलता है। उनके प्रेम की इस प्रगाढ़ता तथा साधन-अवस्था का नमूना नीचे दिये पद से मिलेगा:—

जब ते प्रीति स्याम सों कीनी।
ता दिन ते मेरे इन नैननि नेंकहु नींद न लीनी।
सदा रहत चित चाक चढ़्यो सो और कछू न सुहाय।
मन में रहे उपायँ मिलन को इहै बिचारत जाय।
परमानन्द पीर प्रेम की काहू सों न कहिए।
जैसे बिथा मूक बालक की अपने तन मन सहिये।

(परमानन्ददास के पद-संग्रह से)

कहँ जानो कँहवा मुवो, ऐसे कुमति कुमीच।
हरि सों हेतु बिसारि कै, सुख चाहत है नीच।
जो पै जिय लज्जा नहीं, कहा कहौं सौ बार।
एकहु अंक न हरि भजे, रे शठ सूर गँवार। २५।
—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे० पृष्ठ ३१।

यह लम्बा पद 'सूर-पचीसी' के नाम से प्रसिद्ध है।

परमानन्ददास जी—

कबहुँ करि हौ धौं दया।
हस्त कमल की हमहू ऊपर फिरि जैयै छाया।
जिहि प्रसाद गोकुल प्रतिपाल्यो करतल अद्रि उठायो।
× × ×
जेहि कर कमल कोपि झूठै धरि भूतल कंस गिरायो।
तिहि कर कमल दास परमानन्द सुमिरत यह दिन आयो।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास पद-संग्रह से, पद नं० ३०६।

1— राग सुमेरी।
प्रीति तो कमल नयन सों कीजे।
संकट विपत परें प्रतिपालें कृपा अनुग्रह जीजे।
परम उदार चतुर चिंतामनि सुमिरन सेवा माने।
हस्त कमल की छाया राखें अंतर गति की जानें।
वेद पुरान भागवत गीता गावें करें भगत को भायो।
परमानन्द इन्द्र को वैभव विप्र सुदामा पायो।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २८६।

प्रेम-भक्ति की महिमा में नन्ददास जी कहते हैं—"इस जगत में सब भाव और वस्तुएँ तुलित हैं; परन्तु प्रेम भाव अतुलित है। भगवान् प्रेम के ही वश में होते हैं।"[1] उनके विचार से भी भगवान् के नाम और लीला[2] के गुणगान की साधन-भक्ति का फल भगवान् का प्रेम पाना है तथा भगवान् प्रेम के द्वारा ही मिलते हैं। सूर, परमानन्द, और नन्ददास की प्रेम-भक्ति को प्रगट करनेवाले अनेक पद उनकी रचना में हैं। अन्य अष्टछाप भक्तों ने भी यही भाव—"भगवान् प्रेम से मिलते हैं"[3]—अपने पदों में व्यक्त किया है। इस प्रकार

1—ज्ञान तुलित विज्ञान पुनि, तुलित तुलित जमनेम।
सबै वस्तु जग में तुलित अतुलित एकै प्रेम।
ऐसे प्रभु बस होत जिहि सुनहु प्रेम की बात।
तप करि प्रेरे मुनिन के मन जहँ लगि नहिं जात।

दशम स्कन्ध, 29 वाँ अध्याय, पृष्ठ 226।

तथा—श्याम रङ्ग सिंगार को अरुन रङ्ग अनुराग।
पीत रङ्ग है प्रेम की ओढ़े कोउ बड़भाग।

—नन्ददास ग्रन्थावली, दशम स्कन्ध, 29 अध्याय, पृ० 221।

2—जो यह लीला गावे चित दै सुने सुनावे।
प्रेम भक्ति सो पावै अरु सबके जिय भावे।

—रासपञ्चाध्यायी, नन्ददास 'शुक्ल', पृ० 182।

3—नित्य आत्मानन्द अखंड सरुप उदारा।
केवल प्रेम सुगम्य अगम्य अवर परकारा।

—सिद्धांत पञ्चाध्यायी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृष्ठ 191।

राग सारङ्ग

हिलगनी कठिन है या मन की।
जाके लिये देखि मेरी सजनी लाज जात सब तन की।
धर्म जाउ अरु हँसो लोगु सब अरु आवहु कुल गारी।
तोऊ न रहे ताहि बिनु देखे जो जाको हितकारी।
रस लुब्धक एक निमेष न छाड़त ज्यों आधीन मृग गानै।
कुम्भनदास सनेहु मरमु श्री गोवर्द्धन-धर जाने।

—लेखक के निजी, कुम्भनदास-पद-संग्रह से, पद नं० 6।

राग कल्याण

मेरे तो गिरधर ही गुन गान।
यह मूरत खेलत नयनन में यही हृदय में ध्यान।
चरण रेनु चाहत मन मेरो यही दीजिये दान।
कृष्णदास को जीवन गिरिधर मंगल रूप निधान।

—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद-संग्रह से, पद नं० 152।

के भाव को तथा उनकी प्रेम-भक्ति को प्रकट करनेवाले कुछ पद नीचे फुट नोट में दिये जाते है। इन पदों में इन भक्तों की आत्मविस्मृति-युक्त प्रगाढ़ प्रेम-भक्ति का परिचय मिलता है।

अष्टछाप-प्रेम-भक्ति के उपास्यदेव

श्री वल्लभाचार्य तथा अष्टछाप भक्तों के दार्शनिक सिद्धान्तों के विवेचन के अन्तर्गत 'ब्रह्म' प्रकरण में कहा गया है कि वल्लभ-सम्प्रदाय के उपास्यदेव सगुण, रसरूप श्री कृष्ण हैं। वहाँ यह भी बताया गया है कि इस मत में कृष्ण के दो रूप मान्य हैं—एक, पूर्ण पुरुषोत्तम रस-रूप ब्रज-कृष्ण; और दूसरा, धर्मसंस्थापक, व्यूहात्मक रूपधारी मथुरा-द्वारिका कृष्ण। अष्टछाप भक्तों की आस्था ईश्वर के सगुण, निर्गुण, पञ्चदेव और चौबीस लीला अवतार, सभी रूपों में थी, परन्तु उनकी प्रेमभक्ति के उपास्यदेव बाल, पौगण्ड और किशोर अवस्थाओं में लीलाधारी ब्रज-कृष्ण ही थे। एक स्थल पर गोपी-वचनों में सूरदास जी कहते

तथ.— राग पीलू

लागी रे लगनियाँ मोहना सों, लागी रे लगनियाँ।
सुन्दर श्याम कमल दल लोचन नन्द जू को छैल चिकनियाँ।
कछु टोना सों डारि गयो री, कैसे भरन जाऊँ पनियाँ।
कृष्णदास की प्यास बुझै जब, निरखों गिरि के धरनियाँ।

—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद-संग्रह से, पद नं० १२३।

राग गौरी

बात हिलग की कासों कहिए।
सुनि री सखी बिसबता तन की, समुझि समुझि मन चुप करि रहिए।
मरमी बिना मरम को जाने यह बातें सब जिय की सहिए।
चतुर्भुज प्रभु गिरधरन मिले जब सब सुख सम्पति तब ही पहिए।

—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० ४२।

राग श्री

हमैं ब्रज लाडिले सौं काज।
जस अपजस को हमें डर नाहीं कहनी होय सो कहिए आज।
काहू कछु प्रीति करी के न करी, जो सनमुख ब्रजनृप युवराज।
गोविन्द प्रभु की कृपा चाहिये वे हैं सकल घोष सिरताज।

— लेखक के निजी, गोविन्द स्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० १२८।

प्रीतम प्यारे ने हौं मोही।
नेकु चितै इन चपल नैन सों कहा कहूँ तोही।
कहा कहूँ मोहि रह्यो न भावे, जब देख्यो चित गोही।
छीतस्वामी गिरधरन निरखि के अपनी सुधि हो खोही।

—लेखक के निजी, छीतस्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० २२।

हैं—'हे उद्धव, यहाँ ब्रज में हम तो गोपाल के उपासक हैं। जो साधनस्वरूपा भक्ति का लक्ष्य रखने वाले हैं वे 'ईशपुर काशी' में रहते हैं। हमारे मन में तो केवल ब्रजकृष्ण की माधुरी मूर्ति चुभी है और वही रूप हमें सुख देता है।"[1] सूर की विरह-विधुरा एक गोपी किसी पथिक से कहती है—'हे पथिक, मैं प्यारे कृष्ण के कैसे दर्शन पाँऊ? मैं तुम्हारे साथ द्वारिका चलूँ, परन्तु द्वारिका में तो बाहर भीतर कृष्ण के राजसी ठाठ होंगे। वहाँ भोग भरे स्थान में मेरी पहुँच नहीं है। और यदि अपनी बुद्धि, बल और यत्न के साधन से मैं वहाँ पहुँच भी जाऊँ तो ब्रज-निकुञ्ज के रसिक बिना मैं किसको अपनी विरह दशा सुनाऊँगी? पुरुषार्थ धारण कर यदि मैं किसी संयोग से प्रभु के पास पहुँच भी गई तो मैं नव-किशोर-तन, मुख मुरली धारी कृष्ण के बिना इन नेत्रों को क्या दिखाऊँगी?'[2]

१— राग सारङ्ग

गोकुल सब गोपाल उपासी।
जो गाहक साधन के ऊधो ते सब बसत ईसपुर काशी।
यद्यपि हरि हम तजीं अनाथ करि तऊ रहति चरनन रसराती।
अपनी शीतलता नहिं तजई यद्यपि बिधु भयो राहु गरासी।
किहि अपराध योग लिखि पठवत प्रेम भक्ति ते करत उदासी।
सूर स्याम सो कौन बिरहिनी माँगि मुक्ति छाँड़ै गुनरासी।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ५४७।

तथा

कहां लों कीजै बहुत बड़ाई।
× × ×
मन चुभि रही माधुरी मूरति अङ्ग अङ्ग उरझाई।
सुन्दरस्याम कमल दल लोचन सूरदास सुखदाई।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ५४१।

तथा

हम तो नंद घोष के वासी।
गिरिवरधारी गोधन चारी वृन्दाबन अभिलाषी।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ५४७।

२—हौं कैसे कै दरशन पाँऊ।
सुनहु पथिक, वहि देश द्वारिका जो तुम्हरे सङ्ग आऊँ।
बाहिर भीर बहुत भूपन की बूझत बदन दुराऊँ।
भीतर भीर भोग भामिन की तेहि ठां कौन पठाऊँ।
बुधि बल युक्ति जतन करि वहिपुर हरि पिय पै पहुँचाऊँ।
अब बन बसि निकुंज रसिक बिन कौनहि दशा सुनाऊँ।
श्रम कै सूर जाउँ प्रभु पासहि मन में भले मनाऊँ।
नव किशोर मुख मुरली बिना इन नैनन कहा दिखाऊँ।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ५८८।

परमानन्द दास ने भी यही कहा है कि मेरे इष्टदेव व्रजकृष्ण ही हैं। वे कहते हैं— 'माधव कृष्ण के जहाँ जहाँ गोधन के साथ चरण जाते हैं, मेरा मन वहीं वहीं जाता है। मैं तो सदैव यशोदानन्दन का ही चिंतन करता हूँ तथा उनके पीताम्बर का ध्यान करता हूँ। गोपियों के वस्त्र को पकड़नेवाला तथा माखन का चोर मेरा सब प्रकार से इष्टदेव है।'[1], इस प्रकार के भाव को प्रकट करनेवाले परमानन्ददास के अनेक पद परमानन्द-सागर में हैं। नन्ददास के भी जीवन-धन तथा इष्ट नन्दभवन के भूषण, गिरिवर-धारी व्रज कृष्ण ही हैं।[2] अन्य अष्टछाप भक्तों ने भी यही भाव अपने पदों में व्यक्त किया है। इस आशय को प्रकट करने वाले इन भक्तों के कुछ पद नीचे फुट नोट में उद्धृत किये जाते हैं।[3]

१— राग सारङ्ग

जहिं जहिं चरन कमल माधो के तहीं तहीं मन मोर।
जै पद कमल फिरत वृन्दाबन गोधन सङ्ग किसोर।
चिंतन करौं जसोदा नंदन मुदित साँझ अरु भोर।
कमल नयन घनस्याम सुभग तन पीताम्बर के छोर।
इष्ट देवता सब विधि मेरे जे माखन के चोर।
परमानन्द दास की जीवनि गोपिन पट झकझोर।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २१६।

तथा

मोहि भावै देवाधिदेवा।
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन गोकुलनाथ एकमेवा।

—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से पद, नं० ३०३।

२—नन्दभवन कौ भूषण भाई।
जसुदा को लाल वीर हलधर को राधारमन परम सुखदाई।
इन्द्र को इन्द्र, देव देवन को, ब्रह्म को ब्रह्म अधिक अधिकाई।
काल को काल, ईस ईसन को वरुण को वरुण महा वरदाई।
सिव को धन सन्तन को सरबसु महिमा वेद पुरानन गाई।
नन्ददास के जीवन गिरिधर गोकुल मण्डन कुँवर कन्हाई।

—नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० ४०४।

३— राग श्री

जयति जयति श्री हरिदासवर्य धरने।
वारि वृष्टि निवारि घोष आरति टारि देवपति अभिमान भङ्ग करने।
जयति पटपीत दामिनि रुचिर बैर मृदुल अङ्ग साँवल सजल जलद बरने।
कर अधर बेनु धरि गान कलरव शब्द सदन व्रज युवति जन चित्त हरने।

जयति वृन्दाविपिन भूमि डोलनि अखिल लोक बन्दनि अम्बुरुह चरने।
तरनि तनया विहार, नन्द गोप कुमार दास कुम्भन नवयत बसि सरने।

—लेखक के निजी, कुम्भनदास-पद-संग्रह से, पद नं० १।

राग केदारा

भजहि सखी मोहन नन्दनन्दनहिं।
तू ब्रज सर की नवल कुमुदिनी नवल रूप वृन्दावन चन्दहिं।
जिहि बन्दसु बस होइ नटनागर सुनि नागरि रचहि ता बंदहिं।
नव निकुंज मिलि लीला सागर सुभग करहि मलयानिल मंदहिं।
किसलय दल कोमल सज्या पर सुमुखि अनुभवहि केलि सुछन्दहिं।
मोहनलाल गोवर्द्धनधारी कृष्णदास प्रभु आनन्द कन्दहिं।

—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद-संग्रह से, पद नं० १०४।

राग जैत श्री

एकहि आंक जपे गोपाल।
अब यह तन जानें नहिं सखि और दूसरी चाल।
मात पिता पति बन्धु वेद विधि तजे सबै जंजाल।
स्याम सुरूप चित में चुभ्यो परि बीते जो बहुकाल।
गह्यो नेमु तिन तोरि जबै हँसि चितये नैन विशाल।
चतुर्भुजदास अटल भए उरघट परसो गिरिधरलाल।

—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० ३९।

राग विभास

ललन की प्रीति अमोली, एक रसना कहा कहों सखीरी।
हँसन खेलन चितवनि जो छबीली अमृत बचन मृदु बोली।
अति रस भरे मदन मोहन पीय, अपने कर खोलत बंद चोली।
गोविन्द प्रभु बहुत कहा कहूँ जै जै बतियाँ कहीं अपने हृदो खोली।

—लेखक के निजी, गोविन्द स्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० २६९।

राग आसावरी

मेरी अँखियन के भूषण गिरधारी।
बलि बलि जाऊं छबीलो छबि पर अति आनन्द सुखकारी।
परम उदार चतुर चिंतामणि दरस परस दुख हारी।
अतुल प्रताप तनक तुलसी दल मानत सेवा भारी।
छीत स्वामी गिरिधरन विशद यश गावत गोकुल नारी।
कहा बरनों गुनगाथ नाथ के श्री विट्ठल हृदय विहारी।

—लेखक के निजी छीतस्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० ४९।

वल्लभ-सिद्धान्तानुसार अष्टछाप भक्तों का विश्वास है कि भक्त का कार्य, भगवान् से मिलने की उत्कट कामना रखते हुए केवल सुदृढ़ और सतत प्रेम करना है। भगवान् स्वयं कृपा करके भक्त को अपनाते हैं। भगवद्-प्राप्ति में पुरुषार्थ और साधन काम नहीं देते।[१] इसी विचार से वल्लभ-सम्प्रदायी पुष्टि-भक्ति निस्साधन भक्ति कहलाती है। भँवरगीत की भूमिका में स्वर्गीय पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है—"सूर की गोपियों का विरह ठाली बैठे का सा काम दिखाई देता है, उनके विरह में गम्भीरता नहीं है। चार कोस पर मथुरा में बैठे हुए कृष्ण से गोपियाँ क्यों नहीं मिल आतीं?" इस शङ्का को शुक्ल जी ने उठाकर इसका कोई समाधान नहीं दिया और एक प्रकार से सूर की त्रुटि का ही उन्होंने सङ्केत किया है। वस्तुतः वल्लभ-भक्ति के स्वरूप को देखते हुए गोपियों के इस अपुरुषार्थ का कारण हमें सूर के शब्दों में ही मिल जाता है। सूर ने इसमें अपने भक्ति-सिद्धान्त का ही निर्वाह किया है। गोपियों का कृष्ण से प्रेम सुदृढ़ और अगाध होते हुए भी निस्साधन है। भगवान् स्वयं आकर भक्त पर कृपा करें और वे ही उसकी बाँह पकड़ कर अपनावें, इस भक्ति की इसी प्रकार की धारणा है। यह धारणा रोते हुए बालक तथा मानिनी नायिका के हठ के समान है। बालक की माता तथा नायक स्वयं द्रवित होकर उन्हें अपनाते हैं। वल्लभभक्ति के इस हठ में अहंकार-भाव नहीं होता; इसमें दैन्य और अकिञ्चनतापूर्ण पुरुषार्थहीनता है; केवल प्रेम करना भक्त का काम है, प्रेम का फल दाता भगवान् ही है।

पीछे कहा गया है, गोपियों का तथा उनके अनुगामी भक्तों का उपास्य देव ब्रज-कृष्ण है, मथुरा अथवा द्वारिका-कृष्ण नहीं है। गोपियाँ यदि मथुरा और द्वारिका जातीं तो वहाँ वे मोर-मुकुट, मुरली, बनमाल और त्रिभङ्गी मुद्रा धारण करनेवाले नटनागर को कहाँ पातीं? सूरदास ने स्वयं उक्त शङ्का का निवारण पीछे दिये हुए पद में कर दिया है। प्रभास स्थान पर जब गोपियाँ तथा ब्रजवासी कुरुक्षेत्र की रणभूमि में आये हुए कृष्ण से मिले हैं, उस समय, राजनीति कुशल, चक्रसुदर्शन और राजकिरीटधारी कृष्ण से मिल करके भी वे अपार विरहाग्नि में जलते हैं। उन्हें अपने प्यारे कृष्ण का रूप दिखाई नहीं देता। वे उस उपास्य देव को ढूँढ़ते हैं, जिसकी 'बाँसुरी की तान' ने उनके मन में लोक-विरक्ति का मन्त्र फूँका था, जिसकी 'बाँकी चितवनि' और 'साँवली सूरत' ने मोहिनी डाली थी, और जिसके बाल और किशोर आमोद-प्रमोदों ने उनको आनन्दविभोर किया था। ब्रज में रहते हुए जिस विरह-वेदना का उन्हें अनुभव था, उससे कहीं अधिक कष्टदायी प्रभास के मिलन का यह समीप-विरह था। अन्त में कृष्ण ने भक्तों की विकलता से द्रवित हो उन्हें अपने ब्रज-कृष्ण-रूप का ही दर्शन दिया और तब उनको तृप्ति हुई। सूरदास जी ने

१—करी गोपाल के सब होई।
जो अपनो पुरुषारथ जानत अति झूँठो है सोई।
—सूरसागर, वें० प्रे०, पृ० २१।

इस प्रभास मिलन के दृश्य को बड़े मार्मिक शब्दों में, दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध में, अङ्कित किया है। 'प्रभास' के मिलन समय गोपी-गोप कहते हैं:—

हरि जू वै सुख बहुरि कहाँ,
यदपि नैन निरखत वह मूरति फिरि मन जात तहाँ।
मुख मुरली सिर मोर पखौवा गर घुँघचिनि को हार,
आगे धेनु रेनु तनु मंडित, चितवनि तिरछी चाल।
राति दिवस अंग अंग अपने हित हँसि मिलि खेलत खात,
सूर देखि वा प्रभुता उनकी कहि नहिं आवै बात।[1]

अष्टछाप के दार्शनिक विचारों के अन्तर्गत 'ब्रह्म' प्रकरण में पीछे यह कहा गया है कि कृष्ण-भक्ति के साथ इन अष्टभक्तों ने कृष्ण की पूर्ण रस-शक्ति राधा की भी उपासना की है, और युगल स्वरूप के क्रिया-कलाप का चित्रण करते हुए उनकी स्तुतियाँ की हैं।[2] परन्तु जहाँ राधा के प्रति स्तुति हैं उनमें उन्होंने कृष्ण की भक्ति ही माँगी है। वल्लभ-सम्प्रदाय में यद्यपि युगल-रूप (राधा और कृष्ण) दोनों मान्य हैं तथा राधा को, भगवान् की आह्लादिनी-शक्ति अथवा रस-शक्ति के रूप में, मानता है, परन्तु इस सम्प्रदाय के सभी मन्दिरों में केवल कृष्ण की ही, उनके भिन्न-भिन्न नामों और स्वरूपों में, पूजा-सेवा होती है। उधर राधावल्लभी-सम्प्रदाय में युगल-स्वरूप की उपासना तथा मन्दिरों में भी युगल-रूप की ही पूजा होती है।

प्रेम-भक्ति पाने के साधन—नवधा भक्ति

पीछे कहा गया है कि श्री वल्लभाचार्य जी ने नवधा भक्ति को प्रेम-भक्ति का साधन कहा है। वहाँ यह भी कहा गया है कि इन नौ प्रकार की भक्तियों में से प्रथम तीन—श्रवण, कीर्तन और स्मरण—भगवान् के नाम और लीला से विशेष सम्बन्ध रखती हैं, तथा, पादसेवा, अर्चन और बन्दन उनके रूप से सम्बद्ध हैं। दास्य, सख्य और आत्म निवेदन, ये

१—सूरसागर दशम स्कन्ध, वें० प्रे० पृ० २६३।

२— राग धनाश्री

मैं कैसे रस रासहिं गाऊँ,
श्री राधिका श्याम की प्यारी तुव बिन कृपा बास ब्रज पाऊँ।
अन्य देव सपनेहु न जानौं दंपति को सिर नाऊँ,
भजन प्रताप शरण महिमा ते गुरु की कृपा दिखाऊँ।
नव निकुंज बन धाम निकट इक आनन्द कुटी रचाऊँ,
सूर कहा विनती करि विनवै जन्म जन्म यह ध्याऊँ।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे० पृ० २६३।

तीन मानसिक स्थितियाँ हैं। अन्तिम तीन भक्तियों का विवेचन इस ग्रन्थ में भक्ति-रस के अन्तर्गत किया जायगा। नीचे की पंक्तियों में, प्रथम छै भक्ति-साधनों के रूप में अष्टछाप भक्तों की साधन-स्वरूपा-भक्ति का विवरण दिया गया है।

भगवान् के यश, महत्ता, गुण, उनका पावन नाम तथा उनकी लीलाओं का श्रद्धा-पूर्वक सुनना और सुनाना श्रवण-भक्ति[1] है। श्रवण-भक्ति की उच्च अवस्था वह है जब बिना भगवान् के गुण और चरित्र के सुने भक्त को चैन नहीं पड़ता। इसका उसको व्यसन हो जाता है। यह साधन तीन प्रकार से होता है—गुरु के बचनों को श्रद्धापूर्वक सुनने से, सन्तों के प्रवचनों के श्रवण से, तथा भगवान् के नाम यश और लीला-कीर्तन के श्रवण से। अष्टछाप भक्तों की सम्पूर्ण वाणी भगवान् के नाम और लीला के सुनने और सुनाने से सम्बन्ध रखती है। सूरदास तथा नन्ददास ने कृष्ण की अनेक लीलाओं का चित्रण किया है। उन लीलाओं की समाप्ति में बहुधा उन्होंने उनके सुनने और सुनाने का माहात्म्य कहा है। श्रवण-भक्ति के प्रभाव के द्योतक बहुधा सूर के इस प्रकार के शब्द हुआ करते हैं।

श्रवण

"जो यह लीला सुनै सुनावै, सो हरिभक्ति पाइ सुख पावै"[2]।
"जो पदस्तुति सुनै सुनावै, सूर सो ज्ञान-भक्ति को पावै"[3]।
"शुक जैसे वेदअस्तुति गाई, तैसे ही मैं कहि समुझाई।
"सूर कह्यो श्रीमुख उच्चार, कहै सुनै सो तरै भवपार"[4]।

गोपी कृष्ण की रासलीला के श्रवण, माहात्म्य, और फल के विषय में सूरदास जी कहते हैं—'जो सज्जन इस लीला के यश को सुनते हैं और गाते हैं उनके चरणों में मैं अपना मस्तक नवाता हूँ। इसके श्रवण के फल को मैं एक जिह्वा से नहीं कह सकता। लीला-श्रवण के फल के सामने अष्टसिद्धियों का लाभ भी बहुत लघु है। भगवान् की कथा के सुननेवालों को धन्य है जिनके निकट सदैव भगवान् रहते हैं। ऐसे भक्तों के माता पिता को भी धन्य है[5]। भगवान् नाम के श्रवण रस को, एक पद में, सूर ने अमृत रस कहते हुए कहा है—

१—श्रवणं नामचरितगुणादीनां श्रुतिर्भवेत्।
—श्री हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु, पूर्व विभाग, लहरी २, श्लोक ३२।

२—सूरसागर, नवम स्कन्ध, बें० प्रे० पृ० ६६।

३— ,, दशम स्कन्ध, उत्तरार्ध, बें० प्रे०, पृ० ५१२।

४— ,, ,, ,, ,, ,, ,,

५—रास रस लीला गाइ सुनाऊँ।
यह यश कहै सुनै सुख श्रवनन तिन चरनन शिर नाऊँ।
कहा कहौं वक्ता श्रोता फल इक रसना क्यों गाऊँ।
अष्टसिद्धि नवनिधि सुख सम्पति लघुता करि दरशाऊँ।

'हे मन रूप तोते ! उस सत्संगति के बन में चल, जहाँ कृष्ण नाम का अमृतरस कानों के पात्रों को भर भर कर पीने को मिलेगा।'[१] एक और पद में वे कहते हैं कि मनुष्य के कानों की सार्थकता तो इसी में है कि वे भगवान् की कथा के रस को स्वयं पीवें और दूसरों को पिलावें[२]।

श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि जितने प्रेम-भक्ति के साधन हैं उन सबको परमानन्द दास जी ने कल्याणकारी[३] कहा है। वे कहते हैं—'जिन लोगों ने कृष्ण-कथा, उनके नाम का गुण-गान और उनका श्रवण नहीं किया वे व्यर्थ के लिए जीवित हैं। जो इस लोक और परलोक में सुख चाहते हैं उन्हें मनुष्य शरीर पाकर श्यामसुन्दर की कथा का श्रवण

जो परतीति होइ हृदय में जड़ माया भ्रम देखे।
हरिजन दरस हरिहि सम पूजे अन्तर कपट न भेषे।
धनि धनि वक्ता तेहि धन श्रोता श्याम निकट हैं ताके।
सूर धन्य तिनके पितु माता भाव भजन है जाके।

सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ ३६३।

१—सुवा चलि ता बन को रस लीजै।
जा बन कृष्ण नाम अमृत रस श्रवण पात्र भरि पीजै।
× × ×
—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० २६।

२—सोई रसना जो हरि गुन गावै।
× × ×
श्रवनन की जु इहै अधिकाई, सुनि रस कथा सुधा रस प्यावै।
—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध वें० प्रे०, पृ० ३५।

३— राग भैरों।

मंगल माधो नाउँ उचार।
मंगल वदन कमल कर मंगल मंगल जन की सदा संभार।
देखत मंगल पूजत मंगल गावत मंगल चरित उदार,
मंगल श्रवन, कथा पुनि मंगल मंगल तन बसुदेव कुमार।
गोकुल मंगल मधुबन मंगल मंगल रचित वृन्दावन चंद,
मंगल कर्म गोबर्द्धन धारी मंगल भेख जसोदानंद।
× × ×
मंगल कमल चरन सुर बंदित, मंगल कीरति जगत निवास,
मंगल ध्यान विचारत अनुदिन मंगल मति परमानन्ददास।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३०५

करना चाहिए।"[1] उन्होंने कृष्ण से प्रार्थना की है—"हे भगवान्! यदि आप मुझे अपनी भक्ति देते हैं तो अपनी कथा के श्रवण में मेरी रुचि भी मुझे दीजिये और यदि आप मुझे स्मरण और ध्यान का भागी बनाते हैं तो मुझे आपके स्वरूप का सदा ध्यान और स्मरण मिले।"[2] परमानन्ददास ने गोपी विरह के प्रसङ्ग में जहाँ गोपियों को कृष्ण के नाम का उच्चारण, उनकी कथा का कथन और श्रवण तथा उनका ध्यान करती हुई चित्रित किया है, वहाँ उन्होंने श्रवण-भक्ति का ही रूप चित्रित किया है।

सूरदास की तरह नन्ददास जी ने भी अपने कई ग्रन्थों की समाप्ति में उन ग्रन्थों के विषय के श्रवण का माहात्म्य तथा अपनी श्रवण-भक्ति का वर्णन किया है। रास पञ्चाध्यायी की समाप्ति में वे श्रवणभक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

जो यह लीला गावै चित दै सुनै सुनावै।
प्रेम भक्ति सो पावै अरु सब के जिय भावै।
श्रवण कीर्तन सार सार सुमिरन कौ है पुनि।
ग्यान सार हरिध्यान सार, श्रुतिसार गुथी गुनि।[3]

नन्ददास ने मानमञ्जरी में कृष्ण-कथा के श्रवण-रस को आनन्द में मस्त बनाने वाला अमृत-रस[4] कहा है। कृष्णदास जी ने भी गोवर्द्धनधर की लीला के गान की तथा उसके

१— राग सारङ्ग।

कृष्ण कथा बिनु कृष्णनाम बिनु कृष्ण भगति बिनु दिवस जात।
ते प्रानी काहे को जीवत नहीं मुख वदत कृष्ण की बात।
श्रवन न कथा स्यामसुन्दर की राम कृष्ण रसना नहिं स्फुरत।
मानुष जनम कहाँ पावैगो ध्यान धरहि घनस्याम चतुर मत।
जो इहि लोक परम सुख राषत अरु परलोक करत प्रतिपाल।
परमानन्द दास को ठाकुर अति गम्भीर दीनानाथ दयाल।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २६८।

२—यह माँगौ संकरषनवीर।

चरन कमल अनुराग निरंतर भावत है संतन की भीर।
संग देहु तो हरि भक्तन को बास देहु तो जमुना तीर।
भक्ति देहु तो श्रवन कथा रुचि ध्यान देहु तो स्याम शरीर।
यह वासना वटो जिनि निसदिन मज्जन पावन सुरसरी नीर।
परमनन्ददास को ठाकुर गोकुल मंडन सब विधि धीर।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद संग्रह से, पद नं० २८३।

३—रास पञ्चाध्यायी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० १८२।

४—अमृत नाम—अमी जहाँ कान्हर कथा मत्त रहत सब लोग।

—मानमञ्जरी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० ६१।

श्रवण को परम सुखदाई बताया है।[1] गोपी-रूप से वे एक सखी से कहते हैं—"हे सखी मुझे बालरूप कृष्ण का 'मोहन' नाम बहुत अच्छा लगता है। इसलिए तू मुझे यही नाम बार बार सुना।"[2] श्रवण भक्ति से स्मरण और ध्यान की अवस्था दृढ़ होती है। भक्तों ने अपने प्रिय भगवान् का नाम केवल भक्तों से ही सुनने की अभिलाषा नहीं की है, उन्होंने पक्षियों की वाणी में भी उसी का गुणगान और नाम स्मरण सुना है। पपीहा की 'पिउ पिउ' बोली में भक्तों ने अपने प्रिय भगवान् के ही नाम श्रवण और उसके ध्यान का आनन्द लिया है। सूर की एक गोपी पपीहे के साथ अनुराग दिखाती हुई कहती है—

सखी री चातक मोहि जियावत।
जैसेहि रैनि रटति हौं 'पिय पिय' तैसें ही वह पुनि पुनि गावत।
अतिहि सुकंठ दाहु प्रीतम को तारु जीभ न लावत,
आपु न पीवत सुधारस सजनी, बिरहिनि बोलि पिआवत।
जो ए पंछि सहाय न होते प्राण बहुत दुख पावत,
जीवन सफल सूर ताही को काज पराए आवत।[3]

तथा,

बहुत दिन जीवो पपीहा प्यारो।
बासर रैन नाउँ लै बोलत भयो बिरहज्वर कारो।
× × ×
जाहि लागै सोई पै जानै प्रेम बाण अनियारो,
सूरदास प्रभु स्वांति बूँद लगि तज्यो सिंधु करि खारो।[4]

१—लीला लाल गोवर्द्धन धर की,
गावत सुनत अधिक सुख उपजै रसिक कुँवर पिय राधावर की।
× × ×
गावत मुनि नारद सुक सारद, रटत उमापति बलि बलि करकी,
कृष्णदास द्वारे हुजर वै माँगत जूठनि बाबानन्द जू के घर की।
—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद-संग्रह से, पद नं० ११।

२—तेरे नैनन की बलि जाउं,
'मोहन लाल' बालरस भीने जिय भावत यह नाउँ।
बलि बलि चारु विलोकनि ऊपर बलि बलि गोकुल गाउँ,
बलि बलि कृष्णदास बलिहारी गुन जन चितु विश्राउँ।
—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद-संग्रह से, पद नं० ८०।

३—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ४३६।

४—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ४३६।

इसी प्रकार कृष्णदास ने भी एक पद में कहा है—"हे सखि पपीहा के 'पिउ पिउ' बोल मुझे प्रिय की याद दिलाते हैं।"[1]

पीछे कहा गया है कि नन्ददास ने भक्ति के दो साधन मार्ग कहे हैं—एक, नाद-मार्ग; दूसरा, रूप-मार्ग। उन्होंने नाद-मार्ग के अन्तर्गत श्रवण और कीर्तन भक्ति-साधना का समावेश किया है। योगियों के 'अनहद' नाद श्रवण के योगाभ्यास की तरह कृष्ण-भक्तों का भी कृष्ण के नाम, लीला और मुरली नाद को श्रवण करने का अभ्यास उनके प्रेम-योग का एक अङ्ग है। चतुर्भुजदास एक पद में कृष्ण से प्रार्थना करते हैं—'हे गिरधरलाल जिस प्रकार से आपने मुरली के अमृत-नाद से सम्पूर्ण जगत को मोहित किया था, वह रीति मुझे बताइये और, उस नादामृत को मेरे श्रवण पात्र में भरकर मुझे पिलाइये। मेरा ध्यान आपकी मुरली के नाद में लगा है।'[2]

भगवान् के नाम, गुण, माहात्म्य, लीला, धाम तथा भगवद् भक्ति के यश का, प्रेम और श्रद्धा के साथ कथन, स्तुति, उच्च स्वर से पाठ, तथा गान, 'कीर्तन'[3] कहलाता है।

कीर्तन

भक्ति शास्त्र के आचार्यों ने इस साधन को भी परमानन्द प्राप्ति का एक उपाय कहा है और इसकी बहुत प्रशंसा की है। 'निरोध-लक्षण' ग्रन्थ में श्री वल्लभाचार्य जी ने कहा है—'जब तक भगवान् अपनी महती कृपा भक्तों को दें तब तक साधन दशा में, ईश्वर के गुण-नाम के कीर्तन ही आनन्द देनेवाले होते हैं। ईश्वर के गुणगान में जो आनन्द है वह लौकिक पुरुषों के गुणगान में नहीं है। तथा जैसा सुख भक्तों को भगवान् के गुण गान में होता है वैसा सुख भगवान् के स्वरूप-ज्ञान की मोक्ष अवस्था में भी नहीं होता। इसलिए सदानन्द ईश्वर में भक्ति करनेवाले भक्तों को सब लौकिक साधन छोड़कर भगवान् के गुणों का गान करना

१—सुनि सखी निठुर पपीहा बोल्यो।
पिउ पिउ कहि पिउ सुरति जनावै मेरो प्रान पात ज्यों डोल्यो।
—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ४६।

२— राग सारङ्ग
नेकु सुनावहु हो उहि रीति।
जिहि विधि अमृत प्याय स्रवन पुट सरबस लीनों जीत।
× × ×
लाग्यो ध्यान चतुर्भुज प्रभु मोहि तुम्हारे बेनु रसाल।
राखहु दास अधर धरें सम्मुख सुख निधि गिरिधरलाल।
—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ७६।

३—नामलीलागुणादीनामुच्चैर्भाषा तु कीर्त्तनम्।
—श्री हरि-भक्ति-रसामृत सिन्धु, पूर्व विभाग, २ लहरी, श्लोक २६।

चाहिए। ऐसा करने से भक्त में ईश्वरीय गुण आ जायँगे।'[२] इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में भी कीर्तन भक्ति की बहुत महिमा कही गई है। भागवतकार कहता है - 'दोष-निधि कलि-युग में एक ही महान गुण है कि भगवान् कृष्ण के कीर्तन से मनुष्य लौकिक आसक्ति से छूट जाता है।'[३] तथा, 'जिसकी जिह्वा पर भगवान् का पवित्र नाम रहता है वह चांडाल भी उच्च है क्योंकि जो भगवान् के नाम को ग्रहण करते हैं उन्होंने तप, यज्ञ तीर्थस्नान आदि सब कुछ कर लिया।'[४]

भक्ति में सङ्गीत का समावेश

संगीत कला का भक्ति के आध्यात्मिक साधन में, उत्तर भारत में, किस प्रकार प्रवेश हुआ, इसका यहाँ संक्षेप में परिचय लेना अनुचित न होगा। कीर्तन के अन्तर्गत भगवान् के गुण, लीला तथा नाम का कथन अनियमित स्वर से नहीं होता वरन् वह गान कला के सहारे पर होता है। संगीत का प्रभाव विश्वव्यापी है। मनुष्य क्या पशु संसार भी इसके मुग्धकारी प्रभाव से वञ्चित नहीं है। मृग और सर्प का नाद से मुग्ध होना प्रसिद्ध ही है। मन की जितनी चञ्चल वृत्तियाँ हैं, वे संगीत के रस में मग्न होकर केवल श्रवणेन्द्रिय शक्ति में ही केन्द्रीभूत हो जाया करती हैं। मन एक दम अन्य विषयों से हटकर एक विचित्र आह्लादिनी स्थिति में तल्लीन हो जाता है। इसलिए मन की एकाग्रता और उसके नियन्त्रण के लिए आध्यात्मिक साधकों ने भी इस मधुर कला का प्रयोग आध्यात्मिक साधन में किया जिसमें मन का निरोध मुख्य साध्य है।

संगीत के अन्तर्गत गान, वादन और नर्तन इन तीन कलाओं का समावेश संगीताचार्यों

२—महतां कृपया यावद्भगवान् दययिष्यति।
तावदानंदसंदोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि। ४।
महतां कृपया यद्वत्कीर्तनं सुखदं सदा।
न तथा लौकिकानां तु स्निग्धभोजनरूक्षवत्। ५
गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविंदस्य प्रजायते।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः। ६
तस्मात्सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः।
सदानंदपरैर्गेयाः सच्चिदानंदता ततः। ९
—निरोध-लक्षण, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक ५, ६, ९।

३—कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्।
—भागवत, द्वादश स्कन्ध अध्याय ३, श्लोक ५१।

४—भागवत, तृतीय स्कन्ध अध्याय ३३, श्लोक ७।

ने किया है;[1] और इन तीनों में, मुख्य स्थान गान का बताया है। भगवद्भक्तों ने भी कीर्तन-भक्ति में इन तीनों कलाओं का प्रयोग किया है। वाद्यों द्वारा बाहर से आए स्वर की सम चाल में कण्ठ से निकाली हुई स्वरलहरी जब समभूत होती है, तब गाने, बजाने तथा सुनने वाले के शरीर के स्नायुतन्तु तथा अङ्ग-अङ्ग इस सम से स्वतः आन्दोलित हो उठते हैं। मन की यह समीभूत एकाग्रता आनन्दानुभूति की अवस्था है और अङ्गों की फड़कन उस आनन्द के अनुभाव हैं। संगीत के साथ की इस क्रिया को हम नर्तन का पूर्वरूप कह सकते हैं। नृत्यकला का किसी भी प्रकार से विकास हुआ हो, परन्तु इतना तो सिद्ध है कि इसका संगीत के साथ विशेष लगाव है। भक्तजन भी भगवान् का गुणगान करते करते बहुधा आनन्दातिरेक से नाच उठते हैं। भक्ति के साथ संगीत और संगीत के साथ भक्ति, दोनों का एक दूसरे के सहारे बहुत प्रचार हुआ है।

भारतीय संगीत कला का इतिहास उतना ही पुराना है जितना भारतीय सभ्यता तथा वेदों का है। सामवेद गान्धर्व विद्या का मुख्य श्रोत है। संगीत अथवा नाद आनन्दोलन का आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक प्रभाव वैदिक काल में ही पूर्णरूप से ज्ञात था। वैदिक काल से लेकर भरत-नाट्यशास्त्र[2] के लिखे जाने के समय तक यह कला अपने उत्कर्ष पर पहुँच गई थी; क्योंकि हम देखते हैं कि भरत-नाट्यशास्त्र में श्रुति, ग्राम, मूर्छना, जाति, आदि सङ्गीत के विविधि विषयों का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। नारद मुनि सङ्गीत कला के आदि आचार्य माने गये हैं। और उन्होंने ही गायन का प्रयोग भक्ति के साधन रूप में किया था। 'नारद-भक्ति-सूत्र' में वे कहते हैं—'भगवान् के गुण के श्रवण और कीर्तन से भक्ति का साधन सम्पन्न होता है।'[1] इस प्रकार कला की दृष्टि से तथा आध्यात्मिक साधन-रूप से, सङ्गीत-विद्या का सम्मान भारतवर्ष में बहुत प्राचीन है।

ईसा की सातवीं तथा आठवीं शताब्दियों में, जब दक्षिण भारत में शिव और विष्णु की भक्ति के मार्गों का पुनरुत्थान और प्रचार हुआ, उस समय यह कार्य धार्मिक गीतों[2] के द्वारा अधिक मात्रा में हुआ। भक्ति के प्रचार के साथ इन शताब्दियों में संगीत प्रियता खूब बढ़ी। तामिल भाषा में उस समय के सङ्गीत के बहुत से नमूने अब भी सुरक्षित हैं। उत्तरी भारत में भी दक्षिण का धार्मिक प्रभाव आया और भक्ति के आन्दोलन के साथ सङ्गीत का भी वहाँ मान बढ़ा। उत्तरी भारत में सङ्गीत और कृष्ण-भक्ति का समन्वय करनेवाला प्रथम कवि गीत गोविन्दकार जयदेव था, जिसका समय ईसा की १२ वीं शताब्दी

१—गीतं वाद्य तथा नृत्यं त्रयं सङ्गीतमुच्यते।

—सङ्गीत-रत्नाकर।

२—नाट्य शास्त्र का निर्माण-काल ईसा से कुछ शताब्दी पहले कहा जाता है।

१—लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात्। ३७।—नारद-भक्ति-सूत्र, सूत्र नं० ३७।

२—आळवार भक्तों के तामिल गीत, (प्रबन्धम्)।

माना जाता है। गीत गोविन्द की रचना संस्कृत भाषा में हुई है। आधुनिक उत्तर भारतीय भाषाओं के साथ सङ्गीत का विशेष रूप में सम्बन्ध भक्ति के आन्दोलन के साथ ईसा की पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में हुआ।

हिन्दी साहित्य के साथ सङ्गीत-कला का सम्पर्क हिन्दी साहित्य की आरम्भिक अवस्था से ही है। ईसा की बारहवीं शताब्दी का वीरगाथा साहित्य बहुधा चारण और भाटों द्वारा उस काल में गाया ही जाता था; परन्तु जिस सङ्गीत-कला का उत्कर्ष धार्मिक पद अथवा गीत-साहित्य के साथ सम्बद्ध हुआ था वह इन वीर-गीतों के सङ्गीत से भिन्न था। धार्मिक साहित्य के साथ प्रोत्साहन पानेवाला सङ्गीत एक अव्यवस्थित कला-रूप में प्रकट हुआ था। हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काल के अन्त और धार्मिक काल के आरम्भ में (ईसा की चौदहवीं शताब्दी) गुरु गोरखनाथ तथा कबीर आदि योगियों ने सङ्गीत का सहारा लेकर अपने धार्मिक विचार प्रकट करने के लिए गीत लिखे और गाये; परन्तु इनमें भक्ति का भाव नहीं था। भक्ति भाव के साथ सङ्गीत कला को प्रदर्शन करनेवाले गीत जयदेव के बाद विद्यापति ठाकुर के काव्य में उपलब्ध होते हैं। मैथिल-कोकिल तथा अभिनव जयदेव, विद्यापति के गीत मिथिला में ही प्रचलित नहीं हुए, किन्तु, मिथिला के कृष्ण-भक्त ब्रज-प्रान्त में भी उन्हें गाया करते थे। शुद्ध कला की दृष्टि से विद्यापति के समय में सङ्गीत का सम्मान राजा महाराजाओं के दरबारों में भी था। यद्यपि गायन और वाद्य कलाएँ मुसलमान धर्म में वर्जित हैं, फिर भी मुसलमान बादशाह इस कला के मधुर मोहक प्रभाव से वञ्चित न रह सके। अलाउद्दीन के दरबार में उसका राज-मन्त्री अमीर खुसरो सङ्गीत विद्या का प्रेमी तथा स्वयं एक उच्च कोटि का गवैया था। इस समय में भारतीय सङ्गीत-पद्धति के साथ पारसी सङ्गीत-पद्धति का मेल हुआ।[1] कहा जाता है कि गाने का 'क़व्वाली' ढंग अमीर ख़ुसरो ने ही निकाला था। इसी प्रकार सितार वाद्य भी उसी का आविष्कृत कहा जाता है। इधर दक्षिण की विजय के बाद मुसलमान बादशाहों के यहाँ दक्षिण के गवैये भी आए और उस पद्धति का भी उत्तरी सङ्गीत कला पर प्रभाव पड़ा।

उत्तरी भारत में ईसा की १६वीं शताब्दी कला की उत्कर्ष-वृद्धि का एक अपूर्व समय हुआ है। इस समय के धार्मिक आन्दोलनों के साथ अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ और उनकी पूजा-विधि में संकीर्तन को एक महत्व पूर्ण स्थान मिला। पीछे कहा गया है कि अकबर बड़ा सौन्दर्य तथा कला प्रेमी था। उसकी उदार राजनीति में सभी प्रकार की कलाओं को विशेष प्रोत्साहन मिला। उसके दरबार में भारत के चुने हुए प्रसिद्ध गवैये रहते थे, जैसे तानसेन, बैजू, बाबा रामदास, मानसिंह आदि। कहा जाता है कि गाने का दरबारी ढंग राजा मानसिंह का ही निकाला हुआ था। यही अष्टछाप कवियों का समय है। इस समय के धार्मिक कीर्तन, प्राचीन सङ्गीत-पद्धति के अनुसार राग रागिनियों में बँधे तो रहते

१—दि म्यूज़िक आफ़ इण्डिया, एच० ए० पोपले, पृ० १९।

ही थे, अपने विशिष्ट स्वर और विशिष्ट वाद्ययन्त्रों से सम्बद्ध होने के कारण दरबारी संगीत कला से अलग, एक विशिष्ट महत्व भी रखते थे। भक्ति के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में प्रचलित कीर्तन के विशेष स्वर और गाने के ढँग भक्त-गायनाचार्यों ने आविष्कृत कर लिये थे, जो अब तक भिन्न भिन्न सम्प्रदायों की कीर्तन प्रणाली में प्रचलित चले आते हैं। वर्तमान कीर्तनकार तथा गवैये धार्मिक मन्दिरों तथा धार्मिक सङ्घों के इन कीर्तन स्वरों को भूलते जा रहे हैं। वल्लभसम्प्रदायी मन्दिरों की भी एक विशिष्ट कीर्तन-प्रणाली है।[1] अष्टछाप के समय में चैतन्य महाप्रभु ने कीर्तन भक्ति का विशेष प्रचार किया। चैतन्य महाप्रभु भगवान् के नाम और गुणों के सङ्कीर्तन को करते करते आनन्दविभोर हो जाया करते थे। आचार्य जी ने भी कीर्तन-भक्ति को महत्व देते हुए श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तन की आयोजना की थी। अष्टछाप भक्तों का मुख्य कार्य श्रीनाथ जी के समक्ष समय समय पर कीर्तन करना ही था। कीर्तन-भक्ति के फलस्वरूप वल्लभसम्प्रदायी तथा अन्य सम्प्रदायी कृष्ण-भक्तों ने अपनी मधुर स्वरलहरी से भक्तिरस का अपूर्व स्रोत खोला था। कीर्तन-भक्ति से सम्बन्ध रखनेवाला यह पद-साहित्य हिन्दी भाषा और साहित्य का एक गौरवपूर्ण अङ्ग है। अष्टछाप-भक्तों का सम्पूर्ण काव्य भक्ति के कीर्तन साधन और उसका एक बड़ा अंश प्रेम भक्ति के 'परा' रूप में ही लिखा गया था। इसलिए उनकी कीर्तन-भक्ति का नमूना उनका सम्पूर्ण काव्य ही है।

अष्टछाप भक्त केवल पद रचयिता कवि ही न थे वे उच्चकोटि के गवैये भी थे। एक पद में सूरदास जी ने स्वयं कहा है—'मैं सगुण ईश्वर की लीला के पद गाता हूँ।'[2] कीर्तन-रूप में भगवान् के यश, गुण, लीला और नाम के प्रकाशन के साथ इन अष्टछाप भक्तों ने कीर्तन की महिमा तथा उसमें अपने मन की लीनता का भी वर्णन किया है। इनकी रचनाओं से कीर्तन-भक्ति के प्रभाव और उसकी महिमा को व्यक्त करनेवाले कुछ पद यहाँ फुटनोट में उद्धृत किये जाते हैं।[3]

१—मथुरा के चन्दन चौबे नामक एक व्यक्ति वल्लभ सम्प्रदायी कीर्तन-पद्धति के विशेष ज्ञाता थे। बिना धार्मिक कीर्तन पद्धति को सीखे, साधारण गायनाचार्य सूर आदि के कीर्तनों को नहीं गा सकते।

२— राग कान्हरा

अविगत गति कछु कहत न आवै।

× × ×

सब विधि अगम विचारै तातै, सूर सगुन लीला पद गावै।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे० पृ० १।

३— राग सारङ्ग

जो सुख होत गुपालहिं गाये।

सो नहिं होत जप तप के कीने कोटिक तीरथ न्हाये।

दिये लेत नहिं चारि पदारथ चरण कमल चित लाये।

तीन लोक तृण सम करि लेखत नन्द नन्दन उर आये।

बन्शीबट वृन्दावन यमुना तजि बैकुण्ठ को जाये,
सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भव चलि आये।

—सूरसागर, वें० प्रे०, पृ० ३१।

तथा

दिन दश लेहु गोविन्द गाइ।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ३०।

राग रामकली

माई हौं गिरधरन के गुन गाऊँ,
मेरे तो व्रत यहै निरन्तर और न रुचि उपजाऊँ।
खेलन आंगन आउ लाड़िले नेकहु दरशन पाऊँ,
कुम्भनदास हिलग के कारन लालचि मन ललचाऊँ।

—लेखक के निजी, कुम्भनदास-पद-संग्रह से, पद नं० १।

राग कल्याण

मेरे तो गिरधर ही गुन गान।
यह मूरत खेलत नैनन में यही हृदय में ध्यान।
चरण रेणु चाहत मन मेरो यही दीजिये दान,
कृष्णदास की जीवनि गिरिधर मंगल रूप निधान।

—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद संग्रह से, पद नं० १५२।

राग रामकली

श्री यमुना जी यह बिनती चित धरिये।
गिरधरलाल मुखारविन्द रति जनम जनम नित करिये।

× × ×

तुम्हरे सङ्ग बसौं निज जन सङ्ग रूप देखि मन ठरिये।
गाऊँ गुण गोपाललाल के अष्ट व्याधि ते डरिये।

× × ×

गोविन्ददास यह बर माँगे तुम्हारे चरण अनुसरिये।

—लेखक के निजी, गोविंदस्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० २६१।

राग विहाग

श्री विट्ठलनाथ रस अमृत पान सदा तू करि, रे रसना।
जो तू अपनो भलो चाहतो यहै बात जिय धरि, रे रसना।
या रस के प्रतिबन्धक जेते तिन तें तू अति डर, रे, रसना।
हरि को विमल यश गावत निरंतर जा, रे, रसना।
बारम्बार कहत हूँ तो सौं यह मारग अनुसर रे रसना।
छीत स्वामी गिरिधरन श्री विट्ठल आनंद उर में भर, रे रसना।

—लेखक के निजी, छीत स्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० ६२।

पाछे कहा गया है कि श्रीनाथ जी के मन्दिर में स्वरूप-सेवा का आयोजन, शृङ्गार, भोग, कीर्तन, आर्ति आदि द्वारा, श्री आचार्यजी ने आरम्भ किया था। उनके बाद भी विट्ठलनाथ जी ने सेवा का आयोजन बहुत वैभव और विस्तार से आरम्भ किया। आठ पहर की सेवा उन्हीं के समय से प्रचलित है। इन आठों पहर की सेवा में कीर्तन को मुख्य स्थान दिया गया था और आठों सेवाओं में अष्टछाप भक्तों के कीर्तन के समय नियत थे। आजकल भी अष्टभक्तों के अनुकरण में प्रत्येक मन्दिर में आठ गवैये (कीर्तनियाँ) ही रहते हैं। अष्टछाप भक्तों की कीर्तन-सेवा का क्रम-विधान वल्लभसम्प्रदायी मन्दिरों में बँधी परम्परा से ज्ञात होता है। राज भोग तथा भोग, समय की सेवा में आठों भक्त कीर्तन गाते थे तथा अन्य समय की सेवा में प्रत्येक के समय बँधे हुये थे। वार्ता के इस प्रकार के कथनों से-'सो बीच बीच में जब कुम्भनदास जी परमानन्ददास जी के कीर्तन के ओसरा आवते, तब सूरदास जी श्री गोकुल में श्री नवनीत प्रियजी के दर्शन कूँ आवते'[1]—उक्त बात की पुष्टि होती है। आठ पहर की सेवा में संयोग का ही भाव है, इस लिए कृष्ण-प्रेम और लीला के विषय से सम्बन्ध रखने वाले जो पद ये भक्त गाते थे और अब भी मन्दिरों में जो पद गाये जाते हैं वे संयोग भाव के ही थे और अब भी होते हैं। वियोग के पद आठ समय की सेवा में नहीं गाये जाते। इस आठ समय की सेवा में अष्टछाप भक्त किस क्रम से और किस भाव से कीर्तन करते थे, इसका ब्योरा वल्लभ-मन्दिरों में प्रचलित परिपाटी के अनुसार नीचे लिखे लेख से ज्ञात होगा।

श्रीनाथ जी के मन्दिर में अष्टछाप द्वारा कीर्तन सेवा

श्री वल्लभ-सम्प्रदायी आठ समय की कीर्तन सेवा।

सेवा	समय	भाव	कीर्तनिया
१. मङ्गला	प्रातः ५ बजे से ७ बजे तक	अनुराग के पद, खण्डिता भाव, जगाने के पद, दधिमन्थन के पद	परमानन्ददास
२. शृङ्गार	प्रातः ७ बजे से ८ बजे तक	बालरूप की सुन्दरता के पद, वेष-भूषा, बाल-क्रीड़ा	नन्ददास
३. ग्वाल	प्रातः, ९ बजे से १० बजे तक	सख्य भाव के पद, कृष्ण के खेल चौगान, चकडोरी आदि तथा गोचारण गोदोहन, माखन चोरी, पालना, धैया-आरोगन।	गोविन्दस्वामी
४. राजभोग	दिन के दस बजे से मध्याह्न १२ बजे	छाक के पद।	आठों भक्त, विशेष कीर्तन सेवा कुम्भनदास की

1—अष्टछाप वार्ता, काँकरोली, पृष्ठ २१

सेवा	समय	भाव	कीर्तनिया
५. उत्थापन	दिन के ३॥ बजे से ४॥ बजे तक	गोटेरन, तथा बन्य लीला के पद।	सूरदास
६. भोग	लगभग, सायं ५ बजे से	कृष्ण रूप, गोपी दशा, मुरली, रूप-माधुरी, गाय, गोप आदि।	आठों भक्त, विशेष कीर्तन-सेवा चतुर्भुजदास
७. सन्ध्यार्ति	सायं, लगभग, ६॥ बजे से	गोग्वाल सहित बन से आगमन, गो-दोहन, घैया के पद, वात्सल्य भाव से यशोदा का बुलाना आदि।	छीतस्वामी
८. शयन समय	रात्रि के ७ बजे से ८ बजे तक	अनुराग के पद, गोपी भाव से निकुञ्ज-लीला के पद। संयोग श्रृंगार।	कृष्णदास जी

स्मरण

स्मरण[1] भक्ति का मुख्य लगाव मानसिक जगत से है। भगवान् के नाम, उसके गुण, माहात्म्य, उसकी सर्व व्यापकता, लीला आदि का हमेशा ध्यान रखना तथा उसी की याद में लीन रहना स्मरण-भक्ति है। इस भक्ति के साधन में भगवान् के नाम का जप विशेष महत्त्व का स्थान रखता है। नाम-स्मरण की महिमा सभी भक्तों ने कही है। साधक की चित्तवृत्ति इस ध्यान में इतनी रम जानी चाहिए कि चलते-फिरते सोते-जागते, इष्टदेव का ही ध्यान बराबर बना रहे। भक्ति शास्त्र के आचार्यों ने स्मरण-भक्ति के दृष्टान्त दिये हैं। भगवान् का ध्यान इस प्रकार रहे जैसे पनिहारी अन्य व्यापार करती हुई भी, अपने सिर के घड़े का ध्यान रखती है। श्री मद्भागवत में स्मरण-भक्ति का प्रबोधन तथा उसकी महिमा का वर्णन अनेक स्थानों पर हुआ है तथा नाम स्मरण का फल बहुत महत् बताया गया है। एकादश स्कन्ध में कृष्ण उद्धव से कहते हैं,—'जो कोई विषय का चिन्तन किया करता है उसका मन विषय कर्मों में लीन रहता है और जो व्यक्ति निरन्तर मेरा स्मरण करता है उसका मन मुझमें ही लीन हो जाता है।'[2] श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण तीनों भक्तियों का प्रभाव बताते हुए

नोट—आठों समय की सेवा में नित्यक्रम, ऋतुक्रम, तथा उत्सव-क्रम के अनुसार सेवा का आयोजन बदलता रहता है। इस सेवा के समय का विवरण श्रीमदनमोहन जी मथुरा के मन्दिर से सम्पर्क रखनेवाले एक सज्जन से लिया गया है।

१—ध्यानं रूपगुणक्रीडासेवादेः सुष्ठु चिन्तनम्।

—हरि भक्ति-रसामृत-सिन्धु, पूर्व विभाग, २ लहरी, श्लोक ३३।

२—विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।

मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते।

—भागवत, ११ स्कन्ध, १४ अध्याय, २७ श्लोक।

भागवतकार ने कहा है—'जो लोग आपके मङ्गलमय नाम व रूपों का कीर्तन या श्रवण करते हैं, औरों को सुनाते और स्वयं स्मरण-ध्यान करते हैं तथा आपके चरण कमलों की सेवा में मन को लगाते हैं वे फिर संसार में नहीं आते।'[१] इसी प्रकार भगवद्गीता में भी कहा गया है—'हे अर्जुन जो मनुष्य मुझ में अनन्य चित्त से लगकर सदा मुझको स्मरण करता है, मेरे में संलग्न उस योगी को मैं सुलभ हूँ।'[२] श्री वल्लभाचार्य जी ने भक्ति-शास्त्र के ग्रंथों का अनुकरण करते हुए सदा कृष्ण के चिन्तवन का आदेश दिया है।[३]

हरि-स्मरण-भक्ति के विषय में सूरदास जी कहते हैं—'सब को हरि भगवान् का स्मरण करना चाहिए। हरि-स्मरण से सब सुख मिलते हैं। श्रुति और स्मृति सब का यह मत है कि भगवान् के चरणों में चित्त लगाओ। हरि-स्मरण के बिना मुक्ति नहीं है। दिन रात उसी का ध्यान करो। मेरे विचार से सौ बातों की एक बात यह है कि हरि का स्मरण करो।'[४] स्मरण-भक्ति का उपदेश तथा उस समय का माहात्म्य वर्णन करनेवाले

१—शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन्-
नामानि रूपाणि च मंगलानि ते।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविंदयो-
राविष्टचेता न भवाय कल्पते।
—भागवत, स्कन्ध १०, अध्याय २, श्लोक ३७।

२—अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्युक्तस्य योगिनः।
—गीता, अध्यायः ८, श्लोक १४।

३—सिद्धान्त-मुक्तावली, षोडशग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १५-१६।

४— रागबिलावल
हरि हरि हरि, सुमिरो सब कोई।
हरि हरि सुमिरत सब सुख होई।
हरि समान द्वितीया नहिं कोई, हरि चरणनि राखो चित गोई।
श्रुति स्मृति सब देखों जोई, हरि सुमिरत होई सो होई,
हरि हरि हरि सुमिरो सब कोई, बिन हरि सुमिरन मुक्ति न होई।
शत्रु मित्र हरि गिनत न दोई, जो सुमिरे ताकी गति होई,
राव रङ्क हरि गिनत न दोई जो गावै ताकी गति होई।
× × ×
हरि बिनु सुख नहिं इहाँ न वहाँ हरि हरि हरि सुमिरो जहाँ तहाँ।
हरि हरि हरि सुमिरो दिन रात, नातर जन्म अकारथ जात,
सौ बातन की ऐकै बात, सूर सुमिर हरि हरि दिन रात।
—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० ३६।

इसी प्रकार के अनेक पद सूरदास जी ने लिखे हैं। भगवान् के ध्यान और उनके नाम-स्मरण का प्रबोधन देने वाले भी बहुत से पद[1] उन्होंने कहे हैं। सूर की यह केवल परउपदेश-कारिणी कुशलता नहीं थी वरन् श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि नवधा भक्ति के अभ्यास से प्राप्त प्रेम-भक्ति के आनन्द का उन्होंने स्वयं अनुभव भी किया था, तभी तो उन्होंने गाया था—

नमो नमो करुणानिधान।
चितवत कृपा कटाक्ष तुम्हारी मिटि गयो तम अज्ञान।[2]

परमानन्ददास जी ने भी अपनी स्मरण-भक्ति का परिचय देते हुए कहा है—"मैं सदैव जसोदा नन्दन का ही चिन्तन करता हूँ।"[3] उनकी स्मरण-भक्ति और निरन्तर कृष्ण-नाम, लीला और भगवान् के स्वरूप के ध्यान को प्रकट करनेवाला उनका एक पद वल्लभ-सम्प्रदाय में बहुत प्रसिद्ध है। इस पद के प्रसङ्ग का उल्लेख 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', में भी हुआ है। वार्ताकार कहता है कि इस पद को सुन कर श्री वल्लभाचार्य जी को हरि-स्मरण और ध्यान में बहुत गहरी मूर्छा आगई थी। इस पद में कवि ने कहा है—"हे हरि, मुझे तेरी लीला की याद आती है। तेरी मोहिनी मूर्ति मेरे मन के भीतर ही भीतर अनेक चित्र

१— राग कान्हरा

मन तोसों केतिक बार कही।
समुझ न चरण गहत गोबिंद के उर अघ शूल सही।
सुमिरन ध्यान कथा हरि जू की यह एको न भई,
लोभी लम्पट विषयन सों हित यह तेरी निबही।
छाँडि कनक मणि रतन अमोलक काँच की किरच गही,
ऐसो तू है चतुर विवेकी, पय तजि पियत मही।
ब्रह्मादिक रुद्रादिक रवि शशि देखे सुर सबहीं,
सूरदास भगवन्त भजन बिनु सुख तिहुँ लोक नहीं।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ ३१।

२—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ ३८।

३— राग सारङ्ग

जहिं जहिं चरन कमल माधो के तहीं तहीं मन मोर।
× × ×
चिंतन करौं जसोदा नन्दन मुदित सांझ अरु भोर।
× × ×
परमानन्ददास की जीवनि गोपिनि पट झकझोर।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २६६

उपस्थित कर रही है। तुम ही बताओ, जिसको तुम एक बार अपना संयोग दे देते हो वह तुम्हारी बङ्क अवलोकन और मृदु मुसकान को कैसे भूल सकता है? तुम्हारी याद कभी तुम्हारे प्रगाढ़ आलिङ्गन का सुख देती है तो कभी वह तुम्हारे मधुर स्वर में मिलकर गाने लगती है। जब तुम छिप जाते हो तो याद में मेरी चेतना 'कहाँ हो, कहाँ हो!' कह कर इधर उधर दौड़ने लगती हैं। कभी मेरी अन्तरात्मा नेत्र मूँद कर तुम्हें सर्वस्व अर्पण करती हुई बनमाला पहनाती है। इसी प्रकार मैं श्याम के ध्यान में विरह की घड़ियों को बिता रही हूँ।"[१]

प्रेम में स्मरण की अवस्था यद्यपि विरह की अवस्था होती है, परन्तु प्रेमी अपने प्रियतम की निरन्तर याद में सर्वत्र और सर्व समय उसी को देखा करता है। कभी उसकी निष्ठुरता पर मानो सामने बिठाकर उसे कोसता है कभी प्रेम में विभोर उसके साथ संयोग सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार प्रेमी अनेक प्रकार के काल्पनिक व्यापार प्रिय के ध्यान में किया करता है। यह अवस्था वियोग में संयोग की अवस्था है। इस अवस्था के चित्र अष्टछाप काव्य में बहुत हैं। कुम्भनदास जी कृष्ण के वियोग की कसक का अनुभव करते हुए तथा कृष्ण का ध्यान करते हुए कहते हैं—'मेरे जी से वह मूर्ति नहीं हटती, उसी का सदा ध्यान लगा रहता है। वियोग में मुझे नींद नहीं आती। उनकी मिलनी तथा उसका सुख एक पल भी चित्त से नहीं हटते। उनके गुणों की याद कर करके सदा नेत्रों से नीर बहा करता है। उनके बिना मुझे कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती।'[२]

१— राग कल्याण

हरि तेरी लीला की सुधि आवति।
कमल नैन मन मोहनी मूरति मन मन चित्र बनावति।
एक बार जाय मिलत मयाकरि सो कैसे बिसरावति,
मृदु मुसिकानि बंक अवलोनि चालि मनोहर भावति।
कबहुँक निबड़ तिमर आलिंगनि कबहुँक पिक स्वर गावति,
कबहुँक सम्भ्रम क्वासि क्वासि करि सङ्गहीन उठि धावति।
कबहुँक नयन मूँदि अन्तरगति बन माला पहिरावति,
परमानन्द प्रभु स्याम ध्यान करि ऐसे बिरह गंवावति।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २५४।

२— राग सारङ्ग

कहा करौं वह मूरति मेरे जिय ते न टरई,
सुन्दर नन्द कुंवर के बिछुरे निस दिन नींद न परई।
बहु विधि मिलनि प्रान प्यारे की एक निमिष न बिसरई,
वे गुन समुझि समुझि चित नैननि नीर निरंतर ढरई।
कछु न सुहाय तलाबेली मनु विरह अनल तन जरई,
कुंभन दास लाल गिरधर बिनु समाधान को करई।

—लेखक के निजी, कुम्भनदास-पद-संग्रह से, पद नं० ४२।

अन्य अष्टछाप कवियों के उन पदों से कुछ चुने पद जिनमें उन्होंने अपने इष्टदेव के निरन्तर ध्यान का भाव प्रकट किया है, यहाँ नीचे फुट नोट में उद्धृत किये गये हैं।[१] ईश्वर के 'सुमिरन' और ध्यान की महत्ता का वर्णन हिन्दी साहित्य के निर्गुण ब्रह्मोपासक कबीर जैसे योगी तथा जायसी जैसे सूफ़ियों ने भी बहुत किया है।

१— राग नट

मोहन नयन ही ते नहिं टरत,
बिन देखे तलाबेली सी लागत देखत मन जो हरत।
असन बसन सैंनन की सुधि आवै अब कछु न करत।
गोविन्द बलि, इमि कहत पियारी सखि दैरी कैसेंक आवै भरत।
—लेखक के निजी, गोविन्द स्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० ८६।

राग जैतश्री

एकहि आँक जपै गोपाल,
अब यह तन जाने नहिं सखि और दूसरी चाल।
मात पिता पति बन्धु वेद विधि तजे सबै जंजाल,
स्याम सरूप चित में चुभ्यो परि बीते जो बहुकाल।
गह्यो नेमु नित तोरि जबै हंसि चितये नैंन विसाल,
चतुर्भुज दास अटल भए उर वट परसौ गिरधरलाल।
—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० ३६।

राग भैरव

सुमिरि मन गोपाल लाल, सुंदर अतिरूप जाल,
मिटिहैं जंजाल, सकल निरखत अङ्ग गोप बाल।
× × ×
× × ×
छीत स्वामी गोवर्द्धन धारी कुँवर नन्द सुवन,
गायन पाछे पाछे धरत है लटकीली चाल।
—लेखक के निजी, छीतस्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० १।

ज्यों ज्यों राखो त्यों रहूँ जु देहु सु खाउँ।
तुही मेरे पति गति लेउँ तेरो नाउँ।
मेरे जाने तजहु गिरिधरन जो, तुमहि छांडि प्रिय कौन पै जाउँ।
कृष्णदास कहै या त्रिभुवन में तेरे द्वारे बिना हरि नाहीं कहूँ ठाउँ।
—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद संग्रह से, पद नं० ७७।

पीछे कहा गया है कि श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण, भक्ति के साधन भगवान् की लीला, उनके गुण और नाम से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। भक्ति के साधन में भगवान् के अनेक नामों में से किसी भी नाम के स्मरण, कीर्तन तथा श्रवण का भक्तों ने भारी महत्व बताया है। भक्तों का कहना है कि हृदय में भगवान् का ध्यान और जिह्वा पर उसका नाम-कीर्तन, मन, वाणी और कर्म द्वारा होनेवाले सम्पूर्ण पापों को नष्ट कर, पवित्र भाव के भरनेवाला अभ्यास है। श्री लक्ष्मीधर[१] द्वारा रचित 'भगवन्नाम कौमुदी' में भगवान् के नाम-कीर्तन की महिमा पर एक तर्कपूर्ण लेख है। उक्त कौमुदीकार ने विभिन्न पुराणों के वाक्यों के प्रमाण उद्धृत करते हुए कहा है—'नाम-सङ्कीर्तन स्वयं प्रधान रूप से समस्त पापों के क्षय का कारण है, यह बात पुराणों के समान अर्थ से सिद्ध है।[२] तथा, कीर्तन श्रद्धा के साथ हो अथवा अश्रद्धा के साथ, इससे अवश्य पापों का क्षय होता है।'[३] आगे कौमुदीकार ने यह भी कहा है—'मन की एकाग्रता के अभाव में भी नाम-कीर्तन और नाम-जप फलदाता होते हैं। पाप-क्षय के लिए नाम कीर्तन ही पर्याप्त साधन है।'[४] श्रद्धा और मन की एकाग्रता मोक्ष

नाम महिमा

१—गीता प्रेस, गोरखपुर, से प्रकाशित 'भगवन्नाम कौमुदी' की प्रस्तावना में लक्ष्मीधर का समय शाके संवत् १४१७ से शाके संवत् १४८७ अथवा संवत् १५५२ वि० से संवत् १६२२ वि० दिया हुआ है।

२—.........स्वातन्त्र्येण च सर्वपुराणानां गतिसामान्यात स्वप्रधानमेव भगवत्कीर्तनं कृत्स्नपापक्षयहेतुरिति स्थितम्।

— भगवन्नाम-कौमुदी, गीता प्रेस, पृ० ६३।

३—अवशेनापि संकीर्त्य सकृन्नाममुच्यते।
अघेभ्यः सर्वपापेभ्यस्तं नमाम्यहमच्युतम्॥ स्कन्द पुराण।
अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव॥ विष्णु पुराण।

—भगवन्नाम कौमुदी, गीता प्रेस, पृ० १६६ तथा पृ० १८१।

४—येऽच प्रत्याहारादयो धर्माः ....इत्यादि शास्त्रोक्ताः, तेऽपि न जपमात्रोपयोगिनः, तत्सम्पत्तिहेतुत्वाभिधानात्। सम्पत्तिश्च विशिष्टेष्टप्राप्तिसाधनत्वलक्षणा; तस्यां चोपयुज्यन्त एव ते। पापक्षयः पुनः कीर्तनादेवेति पटहघोषः पुराणानाम्।
'शास्त्रों में बताये हुए जो प्रत्याहार (मनोनिग्रह) आदि धर्म हैं वे भी केवल जपमात्र के ही लिए उपयोगी नहीं है, क्योंकि उन्हें जप की सिद्धि का कारण कहा गया है और अत्यन्त उत्तम मनोरथ की प्राप्ति का साधन होना ही जप की सिद्धि है, उसमें प्रत्याहारादि धर्म उपयोगी हैं। (किन्तु पापक्षय मात्र के लिए इनकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि) पापक्षय तो कीर्तन मात्र से ही हो जाता है यह बात पुराण ढिंढोरा पीट पीट कर कहते हैं।'

— भगवन्नाम कौमुदी, गीता प्रेस, पृ० २५१।

प्राप्ति के लिए उपयोगी अवश्य है। कीर्तन से मोक्ष-प्राप्ति भी होती है। उससे पापों का क्षय तो होता ही है, कीर्तन-विषयक वासना की वृद्धि से पाप-वासना की भी हानि होती है। नाम-कीर्तन से भक्तों की सेवा में संलग्नता आती है और भगवान् की भक्ति प्राप्त होती है। भक्ति से सत्वगुण की वृद्धि और तत्व का साक्षात्कार होता है और इसके बाद मुक्ति मिलती है।[1]

अष्टछाप-काव्य में भगवान् के नाम-माहात्म्य विषयक पद भी हैं। सूरदास जी ने अपने मन के प्रति जहाँ चेतावनी-विषयक पद लिखे हैं वहाँ उन्होंने अनेक प्रकार भगवान् के नाम-स्मरण तथा कीर्तन का उपदेश दिया है तथा नाम-कीर्तन द्वारा होनेवाले फल का वर्णन किया है। उन्होंने एक पद में स्मरण, कीर्तन, श्रवण, गुरु-सेवा, साधु-सङ्गति और हरिनाम-भजन, इन भक्ति-साधनों की महत्ता बताते हुए भगवान् से प्रार्थना की है कि वे उन्हें अपने नाम की नौका पर बिठाकर भवसागर से पार कर दें।[2] उनका विश्वास है—'नाम की बड़ी भारी ओट है। भगवान् भक्त को अपनी कृपा के कोट में सुरक्षा देते हैं। रामनाम-पारस के सम्पर्क में लोह-रूप

१—कीर्तनतो मोक्षोपलब्धौ क्रमनिरूपणम्।
तत्रायं क्रमः—कीर्तनात् पापक्षयः तदावृत्या तद्विषयाणां
वासनानां प्रचयः अपचयश्च पापवासनानाम्, ततो
भगवज्जनसेवासातत्यम्, ततस्तदुपवर्णितमहिमनि भगवति
पुण्यश्लोकशेखरे भगवती नैष्ठिकी भक्तिः, ततः शोकादीना मत्यन्तोच्छेदः,
ततः सत्वस्य परमोत्कर्षः, ततस्तत्वसाक्षात्कारः, ततो मुक्तिरिति।
—भगवन्नाम कौमुदी, गीता प्रेस, पृ० २५५-२५६।

२— राग धनाश्री

बादिहि जनम गयो सिराइ। 7% , 60% , 5%

हरि सुमिरन नहिं गुरु की सेवा मधुबन बस्यो न जाइ।
अब की बेर मनुष्य देह धरि भजो न आन उपाइ।
भटकत फिरयो स्वान की नाईं नेंक जूँठ के चाइ।
कबहुँ न रिझये लाल गिरधरन बिमल बिमल यश गाइ।
प्रेम सहित पग बाँधि घूँघुरू सक्यो न अङ्ग नचाइ।
श्री भागवत सुन्यो न श्रवणनि, नेंकहु रुचि उपजाइ।
अनन्य भक्ति नरहरिभक्तन के कबहुँ न धोए पाइ।
कहा कहौं जो अद्भुत है वह कैसे कहूँ बनाइ।
भव अंभोधि नाम निज नौका सूरहिं लेउ चढ़ाइ।
—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० १५।

भक्त कञ्चन हो जाता है।[1] नाम के स्मरण से तरे हुए अनेक पापियों के दृष्टान्त[2] मौजूद हैं।' फिर वे कहते हैं—'हे मन तू क्यों नहीं कृष्ण नाम के अमृत-रस को पीता ?'[3] भगवान् के नाम की महत्ता के विषय में इस प्रकार सूरदास ने अनेक कथन किये हैं।[4]

परमानन्ददास जी नाम के माहात्म्य के विषय में कहते हैं—'प्रातःकाल उठकर हरिनाम लेना चाहिए। सम्पूर्ण दिन सुख से बीतेगा। करुणासागर भगवान् सब विघ्नों को नष्ट करनेवाले हैं। कवि के पापों को नष्ट करने, और संसार-सागर के तरने के लिए कृष्ण का नाम चिन्तामणि और कामधेनु है। भगवान् का नाम सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाला कल्पवृक्ष है।'[5]

१— राग कान्हरा।

बड़ी है रामनाम की ओट।
शरण गये प्रभु काढ़ि देत नहिं, करत कृपा के कोट।
बैठत सभा सबै हरिजू की कौन बड़ो को छोट।
सूरदास पारस के परसै मिटत लोह के खोट।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० १६।

२—रे मन सुमिरि हरि हरि हरि।
शत यज्ञ नाहीं नाम सम परतीति करि करि करि।
गज गृद्ध गणिका व्याध के अघ गए गरि गरि गरि।
चरण अंबुज बुद्धि भाजन लेहु भरि भरि भरि।
द्रौपदी की लाज कारण दौर परि परि परि।
पण्डु सुत के विघ्न जेते गए टरि टरि टरि।
चारि फल के दानि हैं प्रभु रहे फरि फरि फरि।
सूर श्री गोपाल के गुण हृदय धरि धरि धरि।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० २६।

३—सुवा चलि वा बन को रस लीजै।
जा बन कृष्ण-नाम अमृत-रस श्रवण पात्र भरि पीजै।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० २६।

४—सूरसागर, षष्ठ स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ६५।

५— राग भैरौं।

प्रात समें उठि हरि नाम लीजै आनन्द सों सुख में दिन जाई।
चक्रपानि करुना को सागर विघ्न बिनासत जादौंराई।
कलिमल हरन तरन भवसागर भक्त चिंतामनि कामधेनु।
ऐसो सुमिरन नाम कृष्ण को बंदनीक पावन पद रेनु।
सिव विरंचि इन्द्रादिक देवता मुनि जन करत नाम की आस।
भगत बछल ऐसो नाम कल्पद्रुम बर दायक परमानन्ददास।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३५।

नन्ददास जी भी यही कहते हैं—'कलियुग में संसार-दुःख से छुटने के अन्य साधन यदि कारगर न हों तो केवल केशव-नाम ही सब दुःखों से छुटा देता है।'[1]

कृष्ण के नाम-श्रवण का जो प्रेमोन्मत्तकारी, भवन भुलावना, तथा कृष्ण की रूप-माधुरी के चखने की लालसा उत्पन्न करनेवाला प्रबल प्रभाव नन्ददास ने अनुभूत किया उसका चित्रण गोपिकानुभूति-रूप में नन्ददास ने अपने नीचे लिखे पद में दिया है—

कृष्ण नाम जब तै सुन्यो री आली,
भूली री भवन हों तौ बावरी भई री।
भरि भरि आवें नैंन चित हूँ न परै चैन,
तन की दसा कछु औरे भई री।
जेतिक नेम धर्म व्रत कीने री, मैं बहुविधि,
अंग अंग भई मैं तो श्रवनमई री।
नंददास जाके श्रवन सुने ऐसी गति,
माधुरीमूरति कैधों कैसी दई री।[2]

नामापराध—नाम कीर्तन में होनेवाले कुछ अपराधों का भी भक्ति-शास्त्रग्रन्थों में वर्णन किया गया है। 'श्री हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु' की दुर्गम सङ्गमनी टीका में निम्न लिखित नामापराध गिनाये गये हैं[3]—

१—सज्जनों की निन्दा।
२—विष्णु के समक्ष शिवादिक नामों का स्वतन्त्र मनन करना।
३—गुरु की अवज्ञा।
४—वेद तथा वेदानुगत शास्त्रों की निन्दा।
५—हरिनाम की महिमा को केवल अर्थवाद मात्र ही जानना।
६—हरिनाम सम्बन्धी वाक्यों का अन्य प्रकार से अर्थ करना।

१—कलि कलियुग जहाँ अवर नाहिं, केवल केसव नाम।
—अनेकार्थ मञ्जरी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० ९८।

२—नन्ददास-पदावली, नन्ददास, 'शुक्ल' पृ० ३४१।

३—सतां निंदा, श्रीविष्णोः सकाशाच्छिवनामादेः स्वातन्त्र्यमननं, गुर्ववज्ञा, श्रुति-तदनुगतशास्त्रनिन्दनं, हरिनाम महिम्न्यर्थवादमात्रमिदमिति मननं, तत्र प्रकारान्तरेणार्थ कल्पनं, नामबलेन पापे प्रवृत्तिः अन्यशुभक्रियाभिर्नामसाम्यमननम् अश्रद्धानादौ नामोपदेशः, नाममहात्म्येश्रुतेऽप्यप्रीतिरिति, सर्वे एवैते हरिभक्ति विलासे प्रमाण वचनैर्द्रष्टव्याः।
—श्री हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु, पूर्व विभाग, २ लहरी, पृ० २६।

७—नाम के बल पर पाप में प्रवृत्त होना।
८—अन्य शुभ क्रियाओं से नाम की तुलना करना।
९—अश्रद्धालु को नाम-उपदेश करना।
१०—नाम-माहात्म्य को सुनकर भी उसमें अविश्वास करना।

अष्टछाप-काव्य में नाम-महिमा के साथ, इस प्रकार नाम-कीर्तन के उक्त अपराधों का वर्णन नहीं है। परन्तु जहाँ इन कवियों ने मानसिक तथा चारित्रिक खोटों को गिनाया है और मनके प्रति प्रबोधन दिया है, वहाँ उक्त अपराधों में से अधिकांश का उल्लेख आ गया है।

पाद-सेवन

श्री वल्लभाचार्य जी ने पाद-सेवा-भक्ति के विषय में कहा है—'सेवक का जो व्यवहार स्वामी के प्रति लोक में होता है उसी प्रकार सम्पूर्ण कार्य भगवान् के लिए भक्त को करने चाहिएँ।'[1] जो लोक-सेवा एक स्वामिभक्त सेवक अपने स्वामी की करता है और श्रद्धापूर्वक स्वामी के चरणों मे अपना मन लगाता है, भगवान् के प्रति भक्त की वैसी ही सेवा पाद सेवा है। इस सेवा के लिए भगवान् का बाह्य अथवा मानस प्रत्यक्ष स्वरूप होना आवश्यक है। पाद-सेवन की आरम्भिक अवस्था मूर्तिपूजा, गुरुपूजा तथा भगवद्भक्त-पूजा में होती है। इन सेवाओं के अभ्यास के बाद जब भक्त को दास्य प्रेम में एकाग्रता आ जाती है तब वह मानसिक जगत में भगवान् के अभौतिक चरणों की सेवा करता है। इस प्रकार बाह्य तथा मानसिक, दोनों प्रकार के पादसेवन से लोकाश्रय का भाव छुट जाता है और भक्त में आत्म-दीनता और अकिञ्चनता का भाव जागृत होता जाता है। श्रीमद्भागवत में पाद-सेवा की महत्ता के विषय में कहा गया है—'जो श्रेष्ठ सज्जन पुण्य यश वाले भगवान् के नौका रूप चरणों का आश्रय लेते हैं, उनके लिए यह संसार गोवत्सपद के चिह्न के समान है। वे पद पद में परम पद पाते हैं। इसी से उन्हें कभी विपत्तियों का सामना नहीं करना पड़ता।'[2]

१—सेवकानां तथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति।
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः।
—सिद्धान्त रहस्य, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक ७ तथा ८।

२—समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं,
महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं,
पदं पदं यद्विपदां न तेषाम्।
—भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय, श्लोक ५८।

अष्टछाप भक्तों ने कृष्ण की अर्चावतार-स्वरूप मूर्तियों में से 'श्रीनाथ जी' स्वरूप की पाद-सेवा की थी। उन्होंने अपने गुरु श्री वल्लभाचार्य जी तथा उनके बाद गो० श्री विट्ठलनाथ जी को भी भगवान् रूप में ही देखा था तथा उनके प्रति उसी प्रकार की धारणा रखकर उनकी चरण-सेवा की थी। गुरु-स्तुति में लिखे हुए इन कवियों के पद इनकी गुरु-पाद-सेवा-भक्ति के उदाहरण हैं। इसी प्रकार भगवद्भक्तों के प्रति भी इन कवियों ने सेवा और श्रद्धा का भाव प्रकट किया है और उनको साक्षात् भगवान् के स्वरूप कहा है। मानसिक पाद-सेवा-साधन में इन्होंने कृष्ण के चरणों को हृदय-मन्दिर में स्थापित कर उनकी प्रेम और श्रद्धा से पूजा की है। सूरदास ने एक पद में भगवान् के चरण-सेवक श्वपच को गोपाल-विमुख ब्राह्मण से अधिक बड़ा और भगवान् को प्रिय बताया है।[१] जिन चरणों की पाद-सेवा सूरदास जी अपने मन-मन्दिर में करते थे उनके विषय में वे कहते हैं—

राग केदारा

भजि मन नन्द नन्दन चरन।
परम पङ्कज अति मनोहर सकल सुख के करन।
सनक शङ्कर ध्यान ध्यावत निगम अवरन बरन।
शेष शारद ऋषि सुनारद सन्त चिंतत चरन।
पद पराग प्रताप दुर्लभ रमा लोहित करन।
परसि गंगा भई पावन तिहूँपुर घर घरन।
चित्त चिंतन करत जग अघ हरत तारन तरन।
गए तरि लै नाम केते पतित हरिपुर घरन।
× × ×
सूर भज चरणारबिंदनि, मिटें न जनम मरन।[२]

इस प्रकार सूर ने अन्य कई पदों में दास्य भाव से भगवान् के पाद-सेवक होने का उपदेश दिया है।[३] परमानन्ददास ने भी कई पदों में भगवान् के पाद-सेवा-साधन के भाव प्रकट करते हुए यही कामना की है कि कृष्ण के चरण कमलों में निरन्तर उनका

१—सोई भलो जु रामहिं गावै।
श्वपच प्रसन्न होइ बड़ सेवक, बिनु गोपाल द्विजजन्म न भावै।
—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० १६।

२—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० २६।

३—इहि विधि कहा घटैगो तेरो,
नन्दनन्दन करि घर को ठाकुर आपुन ह्वै रहु चेरो।
—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० २२।

अनुराग रहे और सन्तों का सत्सङ्ग उन्हें मिले।[1] एक और पद में उन्होंने भगवान् के मन्दिर का चित्र अङ्कित करते हुए कहा है—'परमानन्ददास ब्रजपति के महल में उनकी जहाँ तहाँ टहल करता फिरता है।'[2] इसमें कवि ने अपनी पाद-सेवा-भक्ति का परिचय दिया है। पाद-सेवा की महत्ता बताते हुए परमानन्ददास जी कहते हैं—'मदनगोपाल की सेवा मुक्ति से भी अधिक मीठी है। भक्ति के रसिक उपासक इस सेवा के रस को जानते हैं। उन्होंने भगवान् की चरण-सेवा के सामने सब धर्मों को बहा दिया और वे श्रवण, कथन, स्मरण तथा ईश्वर-गुणगान का साधन करते रहते हैं। उन्होंने इस रस को वेद-पुराणों को निचोड़ कर पिया है और उससे परमानन्द पाया है। इन रसिक भक्तों के दृष्टान्त से प्रेरित होकर परमानन्ददास ने भी भगवान् के चरणों में तथा उनकी लीला में प्रेम बढ़ाया है।'[3] इस प्रकार कई पदों में,

---

१—यह माँगौं संकरषन वीर।
चरन कमल अनुराग निरन्तर, भावत है सन्तन की भीर।
सङ्ग देहु तो हरि भक्तन कौ, बास देहु तो जमुना तीर। आदि।
—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २८३।

२— राग सारङ्ग
बने माधो जू के महल।
जेठ मास अति जुड़ात माघ मास अंक हल।
दूरि भए देखियत हैं बादर के से पहल।
बिच बिच हरित स्याम जमुना के से टहल।
ब्रजपति के कहा अनूपम यहै बात सहल।
परमानन्ददास तहाँ करत फिरत टहल।
—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २८१।

तथा
ब्रजवासी जाने रस रीति।
जाके हृदै अरु कछु नाहीं नन्द सुवन पद प्रीति।
करत महल में टहल निरन्तर जाम जात सब बीति।
सर्वभाव आत्मनिवेदन रहै त्रिगुनातीत।
इनकी गति और नहिं जानत बीच जवनिका भीति।
कछुक लहत दास परमानन्द गुरु प्रसाद परतीति।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २८०।

३— राग सारङ्ग
सेवा मदन गोपाल की मुक्ति हू ते मीठी।
जाने रसिक उपासिका शुक मुख जिन दीठी।

उन्होंने अपनी दास्य भक्ति प्रकट की है। और गुरुभक्ति तथा भक्तभक्ति की पाद-सेवा को प्रकट करनेवाले अनेक पद लिखे हैं। अपने इष्ट यशोदानन्दन से उनकी निरन्तर यही प्रार्थना है कि वे (उनको) परमानन्ददास को 'पाद-सेवा का अधिकारी बना दें।'[1]

दशम स्कन्ध के चौदहवें अध्याय में नन्ददास जी ने ब्रह्म द्वारा कराई हुई कृष्ण-स्तुति में कहा है 'हे ब्रजराज, जब तक लोग आपकी शरण नहीं आते तब तक उनके रागादिक विकार नहीं छूटते और तभी तक लोक की बेड़ी उनके पैरों में रहती हैं।'[2] एक पद में गुरू की पाद-सेवा का भाव प्रकट करते हुए वे कहते हैं—'मैं अपना तन, मन, प्राण सर्वस्व गुरु को अर्पण कर उन्हीं के चरणों में सदा रहना चाहता हूँ। ईश्वर से मैं यही माँगता हूँ कि वल्लभकुल का ही सेवक रहूँ।'[3]

चरण कमल रज मन बसी सब धर्म बहाए।
श्रवण, कथन, चिंतन बढ्यो पावन गुन गाए।
वेद पुरान निरूपि कें रस लियो निचोइ।
पान करत आनन्द भयो डारयो सब छोइ।
परमानन्द बिचारि के परमारथ साध्यो।
रामकृष्ण पद प्रेम बढ़यो लीला रस बाध्यो।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ३१९

१—यह माँगों यशोदानन्द नन्दन।

बदन कमल मेरो मन मधुकर, नितप्रति छिन छिन पाऊँ दरशन।
चरण कमल की सेवा दीजै, दोउ जन राजत विद्युलता घन।
नन्दनन्दन वृषभानु नन्दिनी मेरे सर्वस प्राण जीवन धन।
ब्रजबसिबो जमुना जल पीऊँ, श्री वल्लभकुल को दास यही पन।
महाप्रसाद पाऊँ गुन गाऊँ, परमानन्ददास दासी जन।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३१२।

२—तबई लगि बंधन आगार, देहगेह अरु नेह विपार।
तबई लगि दिढ़ जंजर जेरी, मोह लोह की पाइनि बेरी।
जब लग जन नहिं भये तुम्हारे, हे ईश्वर ब्रजराज दुलारे।

—दशम स्कन्ध भाषा, अध्याय १४ तथा नन्ददास, 'शुक्ल', पृष्ठ २६७ पाठ-भेद से।

३—प्रात समै श्री वल्लभ-सुत को पुण्यपवित्र विमल जस गाऊँ।

× × ×

रहौं सदा चरणन के आगें महाप्रसाद सो जूठन पाऊँ।
नन्ददास यह माँगत हौं श्री वल्लभकुल को दास कहाऊँ।

—नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० ४२१।

भगवान् की चरण-भक्ति को प्रकट करनेवाले अन्य अष्टछाप कवियों के पद नीचे फुट नोट में उद्धृत किये जाते हैं।[1]

'भक्ति-वर्द्धिनी' ग्रन्थ में श्री वल्लभाचार्य जी ने कहा है—'भक्त को पूजा से, तथा

अर्चन श्रवण, कीर्तन आदि साधनों से भगवान का भजन करना चाहिए।[2] श्रद्धा और आदर के साथ भगवान् के स्वरूप की पूजा अर्चन-भक्ति[3] कही जाती है।

१— राग गौड़ी मालव

जै जै ग्वाल गोवर्द्धन धारी इन्द्र मान भंग कीनों।
बाम बाहु राख्यो गिरिनायक दासनि को सुख दीनों।
सात दिवस सुरपति पचि हारयो गोकुल सींग न भीनों।
कृष्णदास स्वामी मोहन के पाँय परयो मतिहीनों।

—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद-संग्रह से, पद नं० ७६।

राग कान्हरो

धनि धनि हो हरिदासराई।
सानुग सेवा करत सकल अङ्ग तातें बलि, मोहन जिय भाई।
कंद मूल फल पोहोपन की निधि सिला सिंघासन रुचिर बनाई।
कोमल अन गायन चरिबे कों सीतल शिव झरना जो बहाई।

× × ×

रामकृष्ण के चरन परसि के पुलकित पुहोमी रहत सदाई।
इनके भाग की कहाँ लों बरनों कोमल कर लीनों जो उठाई।
धन्य धन्य यों कहति गोपिका, तिन पर गोविंद बलि बलि जाई।

—लेखक के निजी, गोविंदस्वामी पद-संग्रह से, पद नं० १८७।

छीत स्वामी की गुरु-चरण-सेवा:—

हम तो विट्ठलनाथ उपासी।
सदा सेउँ श्री वल्लभ नंदन, जाइ करौं कहा कासी।
इन्हें छाँड़ि जो औरै ध्यावै सो कहिये अपुरासी।
छीत स्वामी गिरधरन श्री विट्ठल बानी निगम प्रकासी।

—लेखक के निजी, छीतस्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० ४२।

२—अर्चनं तुपचारणां स्यान्मन्त्रोपपादनम्।
परिचर्या तु सेवोपकरणादि परिक्रिया।

—श्रीहरि भक्ति-रसामृत-सिन्धु, पूर्व विभाग, लहरी २ श्लोक २७।

३—अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः। २

—भक्ति-वर्द्धिनी, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक २, पृ० ७२।

अर्चावतार रूप में भगवान् मन्दिर की मूर्ति, सद्गुरु तथा भक्तजनों में विराजते हैं। इन तीनों रूपों को भगवान् का स्वरूप समझ कर भक्त श्रद्धा के साथ अपनी प्रिय से प्रिय और सुन्दर से सुन्दर वस्तु उन्हें अर्पित करता है। भगवान् के प्रति अपने सम्मानपूर्ण प्रेम के प्रदर्शन के लिए जितने कृत्य भक्त करता है उनमें त्याग का भाव मुख्य रहता है। मानसिक अर्चना में भगवान् का ध्यान और आत्मसमर्पण के अतिरिक्त बाह्य उपचारों की आवश्यकता नहीं है। स्थूल रूप की पूजा के लिए षोडशोपचार प्रचलित हैं। वल्लभसम्प्रदाय में भी 'स्वरूप' के आसन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, पञ्चामृत स्नान, वस्त्र, शृङ्गार आदि के उपचार तथा चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल आदि के समर्पण द्वारा अर्चन भक्ति की जाती है। भगवान् के स्वरूप और उसके मन्दिर की परिक्रमा द्वारा भी भक्तजन अपना सम्मान भाव तथा स्वरूप का माहात्म्यभाव प्रकट करते हैं। यह अर्चन वल्लभ-मन्दिरों में आठों पहर की सेवा में अलग अलग होता है। श्रीमद्भागवत में अर्चन भक्ति के विषय में कहा गया है—'ईश्वर के चरणों का अर्चन-पूजन मनुष्यों के लिए स्वर्ग, मोक्ष तथा इस लोक की सम्पूर्ण सम्पत्ति और सिद्धियों का मूल है।'[1] गीता में भी श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—'हे अर्जुन, जो मुझे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि कुछ भी भक्ति से अर्पण करता है उस नियत चित्त पुरुष की इस भेंट को मैं प्रीतिपूर्वक ग्रहण करता हूँ।'[2]

सूरसागर के नवम स्कन्ध में अम्बरीष की कथा में सूर ने अम्बरीष की अर्चन-भक्ति का उल्लेख किया है।[3] भगवान् के विराट् रूप की आरती के वर्णन में भी सूर ने विश्वव्यापी भगवान् की विश्वव्यापिनी पूजा का चित्र खींचा है—'जो ब्रह्म ज्योति-रूप से घट घट में व्याप्त है; सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि सब उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं, उसी सर्वव्यापी भगवान् की सम्पूर्ण लोक, नारद, सनकादि, प्रजापति ब्रह्मा, देवता, मनुष्य, और असुर सब मिल कर इस विश्वआरती में सहयोग देते हुए, पूजा कर रहे हैं।'[4] परमानन्ददास भी अपने मन से कहते

१—स्वर्गापवर्गयो. पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम्।
सर्वासामपि सिद्धानां मूलं तच्चरणार्चनम्।
—भागवत, दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध, अध्याय ८१, श्लोक १९।

२—पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।२६।
—गीता, अध्याय ९, श्लोक २६।

३—सूरसागर नवम् स्कंध, वें० प्रे०, पृ० ९१।

४—नैननि निरखि श्याम स्वरूप।
रह्यो घट घट व्यापि सोई ज्योति रूप अनूप।
चरण सप्त पताल जाके शीश है आकाश।
सूर चंद्र नक्षत्र पावक सर्व तासु प्रकाश।
—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० १८।

हैं—'हे मन, धूप दीप जोड़ कर मङ्गल आरती से भगवान् की पूजा कर। देख अब भ्रम की निशा बीत गई है और सबेरा हो गया है।'[1] गोपी रूप में परमानन्ददास अपने इष्टदेव को छाक (कलेऊ) अर्पण करने के लिए उनका आह्वान करते हैं और कहते हैं—'हे मोहन, मैं तुम्हारी छाक लेकर आई हूँ, तुम्हें बुलाते बुलाते हार गई, तुम कहाँ हो। मैं रास्ता भूल गई थी, बड़ी कठिनाई से तुम्हारी खोज लगी। पूछते पूछते यहाँ तक आ पाई हूँ। उसी समय तुम्हारी वंशी का मधुर नाद मेरे कानों में पड़ा। देखो, मेरे अङ्गों में पसीना आगया है और मेरा अञ्चल भीग गया है।'[2] इस गोपी-बचन में परमानन्ददास का ही प्रेम प्लावित हृदय

हरि जू की आरती बनी।
अति विचित्र रचना रचि राखी परति न गिरा गनी।
कच्छप अध आसन अनूप अति डाँडी शेष फनी।
मही सराव सप्त सागर घृत बाती शैल घनी।
रवि शशि ज्योति जगत परिपूरण हरत तिमिर रजनी।
उड़त फूल उड़गन नभ अन्तर अञ्जन घटा घनी।
नारदादि सनकादि प्रजापति सुरनर असुर अनी।
काल कर्म गुण अरु न अंत कछु प्रभु इच्छा रचनी।
यह प्रताप दीपक, सु निरंतर लोक सकल भजनी।
जाके उदित नचत नाना बिधि गति अपनी अपनी।
सूरदास सब प्रगट ध्यान में अतिविचित्र सजनी।

—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, पृ० ३८।

१— राग बिभास।

मंगल आरती कर मन मोर, भरम निशा बीती भयो भोर।
मंगल बाजत झालर ताल, मंगल रूप उठे नंदलाल।
मंगल धूप दीप कर जोर, मंगल गावत सब विधि होर।
मङ्गल उदयो मङ्गल रास, मङ्गल बल परमानन्ददास।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २७५।

२— राग सारङ्ग

तुमको टेरि टेरि मैं हारी।
कहाँ रहे अबलों मन मोहन लेहो न छाक तुम्हारी।
भूलि परी आवत मारग में क्यों हूँ न पैंडो पायो।
बूझत बूझत यहाँ लों आई, तब तुम बेनु बजायो।
देखो मेरे अङ्ग पसीना उर को अंचल भीनों।
परमानन्द प्रभु प्रीति जानिके बाथ आलिंगन कीनों।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ४२७।

मानसिक जगत में अन्योक्ति रूप से अपने इष्ट को अर्चन भक्ति की भेंट दे रहा है। भक्त की इस अर्चना की 'कशिश' ने भगवान् को खींच लिया। वे दौड़े हुए आए और भक्त की पूजा स्वीकार कर उन्होंने उसको हृदय से लगा लिया।

'परमानन्द प्रभु प्रीति जानि कें धाय आलिंगन कीनों।'

नन्ददास ने 'दशम स्कन्ध' भाषा में जहाँ वरुण से कृष्ण की पूजा कराई है[1] और 'रूपमञ्जरी' में रूपमञ्जरी के हृदय मन्दिर के देव कृष्ण की इन्दुमती द्वारा पूजा का उल्लेख किया है,[2] वहाँ उन्होंने अर्चन भक्ति का ही रूप खड़ा किया है। छीतस्वामी अपने बाल कन्हैया की यशोदा रूप में इस प्रकार आरती करते हैं—

राग केदारो

आरती करत जसोमति मुदित लाल को।
दीप अद्भुत ज्योति, प्रगट जगमग होति प्रगट वारि वारित, फेरि अपने गोपाल को।
बजत घण्टा ताल झालरी संख सुधुनि निरखि ब्रज सुंदरी गिरधरनलाल को।
भई मन में फूल, गई सुधि बुधि भूलि, छीतस्वामी देखि जुवतीजन जाल को।[3]

भगवान् के माहात्म्य को हृदय में धारण कर उनकी स्तुति, उनके सम्मुख नतमस्तक हो विनय धारण करना तथा उनको प्रणाम करना भगवान् की बन्दन भक्ति है।

बन्दन

बहुधा अर्चन और बन्दन दोनों भक्तियों के व्यापार साथ-साथ हुआ करते हैं। श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने कई ग्रन्थों का आरम्भ 'हरि' की बन्दना से किया है।[4] अर्चन भक्ति की तरह

१—वरुण निरखि उठ्यो अकुलाय, पगन में लोट पोट ह्वै जाइ।
पाछे प्रभु पूजा अनुसरयो, डोलत वरुन परम रंग भरयो।
उत्तम उत्तम रिधि सिधि जिती, आनि धरीं हरि चरननि तिती।
दुर्लभ दरस दिखि बढ्यो उहेत, अरप्यौ सब अपनपौ समेत।
पुनि पुनि माथ नाय पग धरै, अंजुलि जोरि अस्तुति कछु करै।
—दशम स्कन्ध, अध्याय २८, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० ३१८।

२—रूप मञ्जरी तिय कौ हियो गिरिधर अपनौ आलय कियो।
इन्दुमती तहँ अति अनुरागी, ताही में प्रभु पूजन लागी।
जहँ जहँ जो कछु उत्तम पावै, सो सब आनि कै ताहि चढ़ावै।
बान बनावै पान खवावै, मन्द हिलौर हिंडोर झुलावै।
—रूपमञ्जरी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृष्ठ १४।

३—लेखक के निजी, छीतस्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० २१।

४—नत्वा हरिं सदानन्दं सर्वसिद्धान्तसंग्रहम्।
बालप्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम्॥१
—बालबोध, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १।

बन्दन भक्ति में भी ईश्वर की महत्ता, भक्त की दीनता तथा ईश्वर के प्रति श्रद्धा के भावों का समावेश रहता है। भारतीय सभ्यता के लौकिक व्यवहार में भी बड़ों के प्रति विनय, और आदर सूचक प्रणाम करने की प्रथा है। जो सम्मान और विनय लोग लोक के प्रति दिखाते हैं वही सम्मान और विनय भक्त भगवान् के प्रति प्रदर्शित करता है। भक्त लोगों ने तो सम्पूर्ण जगत को ईश्वर का रूप अथवा ईश्वरमय जानकर, उसको प्रणाम किया है।[1]

श्रीमद्भागवत में कहा गया है—'भक्त लोग जब अपने इष्ट के गुण और नाम का कीर्तन करते हैं तब उनका हृदय प्रेम-रस में मग्न होजाता है। वे विवश होकर उन्मत्तों की तरह कभी रोते हैं, कभी हँसते हैं, कभी नाम का उच्चारण करते हुए गाते हैं, और नाचने लगते हैं। वे आकाश, जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी, चराचर प्राणी, दशों दिशा, वृक्ष आदि सबको विराट् पुरुष हरि का शरीर मान कर उनको प्रणाम करते हैं और हरि से भिन्न किसी भी प्राणी अथवा वस्तु को नहीं देखते।'[2] अष्टछाप कवियों के काव्य का भी एक अंश उनकी बन्दन भक्ति के भाव को प्रदर्शित करता है। विनय, प्रार्थना तथा स्तुति-भावों को प्रकट करनेवाले इनके पद बन्दनभक्ति के ही उदाहरण कहे जायँगे।

सूरसागर के आरम्भ में सूरदास जी ने 'हरि' भगवान् की कृपा का आवाहन करते हुए निम्नलिखित पद में उनके चरणों की वन्दना की है—

राग बिलावल

चरन कमल बन्दौं हरि राई
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे को सब कछु दरसाई।
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै रंक चलै शिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी करुनामय बार बार बन्दौं तेहि पाई।[3]

विनय भाव प्रकट करते हुए सूर ईश्वर से प्रार्थना करते हैं—

राग गूजरी

कृपा अब कीजिये बलि जाउँ।
नाहिं मेरे और कोऊ, बलि, चरन कमल बिन ठाउँ।
हौं असोच अकृत अपराधी सम्मुख होत लजाउँ।

१—'सियाराम मय सब जग जानी, करौं प्रणाम जोरि जुग पानी।'
—तुलसीदास-रामचरित मानस, पृ० १४, रामनरेश त्रिपाठी।

२—भागवत एकादश स्कन्ध, अध्याय २, श्लोक ४०-४१।

३—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ १।

तुम कृपालु करुनानिधि केशव अधम उधारन नाउँ।
काके द्वार जाइ हौं ठाड़ो देखत काहि सुहाउँ।
अशरन शरन नाम तुमारो, हौं कामी कुटिल सुभाउँ।
कलंकी और मलीन बहुत में सेंतमेंत बिकाउँ।
सूर पतित पावन पद अंबुज क्यों सो परिहरिजाउँ।[1]

इसी प्रकार आत्मदीनता, ईश्वर की महिमा तथा विनय से भरे सूरदास के बहुत से पद सूरसागर में हैं।

परमानन्द दास भी निम्नलिखित पद में अपनी रचना के मङ्गलाचरण के रूप में ईश्वर की वन्दना करते हैं:—

राग कानरो

चरन कमल बन्दौं जगदीस जे गोधन संग धाए,
जे पद कमल धूरि लपटाने कर गहि गोपिन उर लाए।
× × × ×
जे पद कमल शंभु चतुरानन हृदै कमल अंतर राषे,
जे पद कमल रमा उर भूषन वेद भागवत मुनि भाषे।
जे पद कमल लोक त्रै पावन बलिराजा के पीठ धरे,
सो पद कमल दास परमानन्द गावत प्रेम पीयूष भरे।[2]

एक पद में वे अपने इष्ट भगवान् से प्रार्थना करते हैं—'हे स्वामी, आप मुझे भी अपने चरण कमलों का मधुकर क्यों नहीं बना लेते? मेरी यह विनय स्वीकार हो। आपके कर-अम्बुज आतप से रक्षा करनेवाले छत्र हैं। आपकी चितवनि कृपाभरी है। हे रमापति, यह परमानन्ददास तुम्हारे प्रेम-रस का लोभी है। जिस पर आप कृपालु होते हैं, उसी को आप अपने निकट बुला लेते हैं।'[3] नन्ददास ने भी अपने कई ग्रन्थों को कृष्ण की वन्दना

१—सूरसागर प्रथम स्कन्ध वें० प्रे० पृष्ठ १२।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १।
३— राग टोड़ी

अपने चरन कमल को मधुकर मोहू काहे न करि हू जू।
कृपावंत भगवंत गुसाईं यह विनती चित धरि हू जू।
शीतल आतपत्र की छाया कर अम्बुज सुखकारी।
पद्म प्रवाल नयन रतनारे कृपा कटाक्ष मुरारी।
परमानन्द दास रस लोभी भाग्य बिना क्यों पावै।
जाको द्रवत रमापति स्वामी सो तुम्हरे ढिंग आवै।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३१३।

तथा स्तुति के साथ आरम्भ किया है। रसमञ्जरी[१], मानमञ्जरी[२], अनेकार्थमञ्जरी[३], रूपमञ्जरी[४], सिद्धान्त पञ्चाध्यायी[५] तथा दशमस्कन्ध भाषा[६] ग्रन्थों में कवि ने प्रथम अपने इष्ट कृष्ण की वन्दना की है। इन वन्दनाओं में उन्होंने कृष्ण के स्वरूप, सामर्थ्य तथा उनकी सर्वता का निजी, साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के अनुसार वर्णन किया है। रुक्मिणी-मङ्गल में उन्होंने गोविन्द-रूप गुरु के चरणों की वन्दना की है।[७] तथा रासपञ्चाध्यायी में भगवान् के भक्त श्री शुकदेव जी की वन्दना की है।[८] दशम स्कन्ध में वरुण, इन्द्र, देवकी आदि के द्वारा की गई कृष्ण के प्रति स्तुतियों में भी नन्ददास की अर्चन और वन्दन भक्ति का स्वरूप देखने को मिलता है।

भक्तों ने केवल अपने इष्टदेव के चरण और गुणों की ही वन्दना नहीं की वरन् उन्होंने उसके विविध अङ्ग, वस्त्र, तथा कृत्यों की भी वन्दना की है। कृष्ण-वन्दना में कुम्भनदास जी

१—नमो नमो आनन्द घन, सुन्दर नन्दकुमार।
रसमय रस कारन रसिक, जग जाके आधार।
—रस मञ्जरी, नन्ददास, 'शुक्ल', , पृ० ३६।

२—तन्नमामि पद परम गुरु, कृष्ण कमल दल नैन।
जगकारन करुनार्नव, गोकुल जिनको ऐन।
—मानमञ्जरी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० ६१।

३—जु प्रभु जोति मय जगत मय, कारन करन अभेव।
विघन हरन सब सुभकरन, नमों नमों तिहि देव।
—अनेकार्थ मञ्जरी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृष्ठ ८८।

४—प्रथमहिं प्रनऊँ प्रेममय, परम् जोति जो आहि।
रूपउ पावन रूप निधि, नित्य कहत कवि ताहि।
—रूपमञ्जरी, नन्ददास, 'शुक्ल,' पृष्ठ १।

५—जै जै जै श्री कृष्ण रूप गुन कर्म अपारा।
परम धाम जगधाम परम अभिराम उदारा।
—सिद्धान्त पञ्चाध्यायी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृष्ठ १८३।

६—नव लच्छन करि लच्छ जो, दसयें आश्रय रूप।
नंद बंदि लै प्रथम तिहि, श्री कृष्णाय अनूप।
—दशम स्कन्ध, नन्ददास, 'शुक्ल', पृष्ठ १६६।

७—श्री गुरु चरण प्रताप सदा आनंद बढ़ै उर।
कृष्ण कृपा तें कथा कहूँ पावत सुख सुरनर।
—रुक्मिणी मङ्गल, नन्ददास, 'शुक्ल', पृष्ठ १४२

८—बंदन करौं कृपानिधान श्री सुक सुभकारी।
सुद्ध जोति मय रूप सदा सुन्दर अविकारी।
—रासपञ्चाध्यायी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृष्ठ १५९।

ने कृष्ण के पीताम्बर,तथा वृन्दावन में उनके विचरण करने की स्तुति की है। अन्य अष्टछाप भक्तों द्वारा स्तुति तथा विनय रूप में की गई कृष्ण की वन्दना के भावों को प्रकट करनेवाले कुछ पद नीचे फुटनोट में दिये जाते हैं।[१] वन्दन भक्ति में इन भक्तों ने अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण,

---

१— राग श्री

जयति जयति श्री हरिदासवर्य धरने।
वारि वृष्टि निवारि घोष आरति टारि देवपति अभिमान भंग करने।
जयति पट पीत दामिनि रुचिर वर मृदुल अङ्ग सांवल सजल जलय बरने,
कर अधर बेनु धरि गान कलरव शब्द सहज व्रजयुवति जन चित्त हरने।
जयति वृन्दाविपिन भूमि डोलनि अखिल लोक वंदनि अम्बुरुह चरने,
तरनि तनया बिहार नंद गोप कुमार दास कुम्भन नवयत बसि सरने।

—लेखक के निजी, कुम्भनदास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० १।

२— राग टोड़ी मालव

बन्दे धरनि गिरवर भूप।
राधिका मुख कमल लम्पट मत्त मधुप सरूप।
बंदे रसिकवर सङ्गीत गुन निधि कुनित बेनु अनूप,
कहे कृष्णदास विलास उर पर लोल माल अनूप।

—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद-संग्रह से, पद नं० ७०।

जय जय तरुन घनस्याम वर सौदामिनी रुचिवास।
विमल भूषन तारका गन तिलक चंद विलास।
जय जय नृत्यमान सङ्गीत रस बस भामिनी सङ्ग रास।
बदन श्रम जल कन विराजित मधुर ईषद हास।
जय जय बन्यो अद्भुत भेष गावत मुरलिका उल्लास।
कृष्णदास नमित चरन हरिदास वर्य निवास।

—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद-संग्रह से, पद नं० ७१।

राग रामकली

नवाऊँ शीश रिझाऊँ लालै आयो शरण यह जो प्रयोजन।
गाऊँ श्री वल्लभ नंदन के गुण लाऊँ सदा मन अङ्ग सरोजन।
पाऊँ प्रेम प्रसाद ततछिन गाऊँ गोपाल गहे चित चोजन।
छीतस्वामी गिरधरन श्री विट्ठल छबि पर वारूँ कोटि मनोजन।

—लेखक के निजी, छीतस्वामी-पद संग्रह से, पद नं० ६२।

गुरुवन्दना—जय जय जय श्री वल्लभ नंद, सकल कला वृन्दावन चन्द।
बाणी वेद न लहे पार, सो ठाकुर कक्काजी द्वार।
शेष सहस मुख करत उचार, व्रजजन जीवन प्राण अधार।
लीला ही गिरि धारयो हाथ, छीत स्वामी श्री विट्ठलनाथ।

—लेखक के निजी, छीत स्वामी-पद-संग्रह से, पद न० ६३।

गुरु तथा भगवद्भक्तों की वन्दना के अतिरिक्त कृष्ण की रस शक्ति राधा तथा यमुना की वन्दना भी की है। इन स्तुतियों के भाव को प्रकट करने वाले अनेक पद ब्रज में प्रचलित हैं।

भक्ति रस

भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र में काव्य रसों की संख्या नौ मानी है—शृङ्गार, करुण, शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक तथा वीभत्स। उन्होंने भक्ति का कोई स्वतन्त्र रस नहीं माना। भरत मुनि के बाद काव्य-शास्त्र पर लिखनेवाले आचार्यों में से आचार्य मम्मट ने भी भक्तिरस को दसवाँ रस नहीं कहा। भरत मुनि की नौ रसों की बँधी हुई मर्यादा को तोड़ना उनको अभीष्ट न था, इसलिए उन्होंने भक्ति को केवल भाव की संज्ञा देकर ही छोड़ दिया। काव्यशास्त्र के सभी आचार्यों ने स्त्री की स्वकान्त में और स्वकान्त की स्वस्त्री में रति को ही शृङ्गार रस का स्थायी भाव कहा है। अन्य प्रीति के रूप, जैसे पुत्र, बन्धु, गुरु, देवता आदि सम्बन्ध, शृङ्गार रस के अन्तर्गत नहीं माने गये। भक्ति का प्रेम ईश्वर विषयक होता है, इसलिए इसे शृङ्गार रस के अन्तर्गत नहीं रक्खा गया। काव्य प्रकाशकार मम्मटाचार्य ने देव गुरु, नृप, पुत्रादि विषयक रति जन्य आनन्द को रस की संज्ञा न देकर, इसको भाव की ही संज्ञा दी है।[१] उक्त रतियों की गणना काव्य-शास्त्रों में न तो स्थायी भाव के रूप में की गई है और न सञ्चारी भावों में। भक्तिरस को, काव्याचार्यों ने शान्त रस के भी अन्तर्गत नहीं रक्खा, क्योंकि शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद होता है और भक्तिरस का 'रति' अथवा अनुराग। शान्त रस के लिए, अनित्य रूप में देखा हुआ संसार आलम्बन, सत्सङ्ग तथा वैराग्य जनक उपदेशादि उद्दीपन विभाव, विषयों से अरुचि, लौकिक सुख दुःख में उदासीनता, अलौकिक हर्ष तथा उन्माद आदि व्यभिचारी और निर्वेद स्थायी भाव माने गये हैं।

मम्मटाचार्य के बाद पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अपने 'रसगङ्गाधर' ग्रन्थ में रसों की नौ संख्या का विवेचन करते हुए मम्मट का अनुसरण किया और कहा कि ईश्वर विषयक रति भाव से जिस भक्तिरस का अनुभव होता है, उसे शान्त रस में तो नहीं रख सकते, परन्तु जब भगवान् से रति इसका स्थायी भाव है, स्वयं भगवान् आलम्बन,

---

१—रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः भावः प्रोक्तः।

तथा, आदिशब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया।

—काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, प्रकाशक आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना, पृ० १२६।

तथा, संस्कृत साहित्य का इतिहास' भाग २, कन्हैयालाल पोद्दार पृ० ८९।

भागवत श्रवणादि उद्दीपन तथा रोमाञ्च, अश्रुपात आदि अनुभाव हैं, तब इसे स्वतंत्र रस क्यों न माना जाय ? इस शङ्का को पण्डितराज ने उठाया है, परन्तु इसका समाधान मम्मट की तरह रूढ़ि का सहारा लेकर ही उन्होंने कर लिया है। उन्होंने भी नाट्यशास्त्र की मर्यादा का उल्लङ्घन करना उचित नहीं समझा और इस विषय की रति अथवा भक्ति-प्रेम को केवल एक भाव कहकर ही छोड़ दिया है। बाद के संस्कृत-आचार्यों ने भी भक्ति प्रेम को भाव ही कहा, स्वतंत्र रस की अनुभूति देने वाला स्थायी भाव नहीं माना। भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास के ज्ञानयुग में भक्ति का प्रचार कम था। इसलिए भक्ति-सुख की, स्वभावतः, महत्ता की ओर उस समय आचार्यों का अधिक ध्यान न गया। परन्तु जब भक्ति का प्रचार हुआ और भक्ति के आनन्दास्वाद से लोग अधिक परिचित हो गए, उस काल में, यद्यपि काव्य-शास्त्र में भक्ति-रस को स्वतंत्र स्थान नहीं मिला; भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने इस रस को सब रसों का शिरोमणि कहा। संस्कृत भाषा में भक्ति विषयक काव्य, भागवत, महाभारत, आदि पुराण तथा इतिहासों में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है।[1] भक्तिशास्त्र पर भी संस्कृत में अनेक ग्रंथ लिखे जा चुके हैं, जैसे, महाभारत-शान्ति-पर्व का नारायणीयोपाख्यान, शाण्डिल्य सूत्र, नारद पाञ्चरात्र, नारदभक्ति-सूत्र, हरि-भक्ति-रसामृत-सिंधु आदि, जिनमें भक्ति की व्याख्या की गई है। इन ग्रन्थों में भक्ति रस को ब्रह्मानन्द से भी अधिक सुखकारी कहा गया है। लेखक का अनुमान है कि काव्य-शास्त्र में भक्ति-रस को स्वतंत्र रस-संज्ञा न देने का कारण एक तो काव्यशास्त्र परम्परा का पालन रहा है, दूसरे, भक्तिरस व्यापक लोकानुभूति का आनन्द न होने के कारण विलक्षण समझा गया है। इसी कारण से शान्त रस को भी बहुत से रसज्ञों ने काव्यरसों में स्थान नहीं दिया।

इधर सब प्रकार की लौकिक रतियों को समेट कर तथा उन्हें ईश्वरोन्मुख करके चलने-वाला भक्ति विषयक काव्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में और विशेष रूप से हिन्दी में, तो इतनी प्रचुर मात्रा में मिलता है कि उसके रस को रूढ़िवाद में नहीं भुलाया जा सकता। अष्टछाप भक्तों की काव्य-रचना के मुख्य रस विविध रतियों द्वारा व्यक्त भक्ति तथा शान्त रस ही हैं। इन दोनों रसों को भुला कर उनके काव्य का विवेचन करना, उसको विकृत रूप में सामने रखना है।

काव्य-रसानुभूति

भाव से काव्य-रस अथवा भक्ति-रस की निष्पत्ति किस प्रकार और कहाँ होती है, संक्षेप में इस विषय का परिचय लेना भी यहाँ समीचीन होगा। काव्य-रस की निष्पत्ति के

१—पुराणेतिहासाभ्यान्चेति ॥१०॥—भक्ति चन्द्रिका, शाण्डिल्य सूत्र व्याख्या, पृ० ८२, सम्पादक म० म० पं० गोपीनाथ कविराज।

विषय में भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र में सूत्र लिखा है कि 'विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है।'[1] भरत मुनि के इस कथन में रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, केवल सङ्केत मात्र है। इस विषय पर काव्य-शास्त्र के लेखकों ने कई मत दिये हैं। भक्ति-रस पर विचार करने से पहले काव्य-रस की निष्पत्ति के विभिन्न मतों का जानना उचित होगा।

भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद अथवा आरोपवाद[2]

भट्ट लोल्लट का मत है कि जब उद्दीपन सामग्री के साथ नायक नायिकादि विभावों के मिलन द्वारा उनके हृदय में उत्पन्न हुआ स्थायी भाव (जैसे रति) व्यभिचारी भावों से (जैसे उल्लास, मद) पुष्ट होकर तथा अनुभावों द्वारा (स्वेद, प्रकम्पादि) व्यक्त होकर, परिपक्व होता है तब उन्हीं मूल नायक नायिका में रस की निष्पत्ति होती है। इस मत के अनुसार रस वस्तुतः मूल नायक नायिका में उत्पन्न होता है तथा नट, वेष-भूषा, वाणी एवं अन्य क्रियाओं से उनका अनुकरण करता है जिससे नटादि में भी रस की प्रतीति होती है। प्रेक्षक अथवा पाठक चमत्कृत हो कर आरोपित रससे आनन्दित हो उठते हैं। प्रेक्षक के हृदय में रस नहीं रहता, वरन् उसका प्रतीतिजन्य आनन्द रहता है। इस मत में दूसरे के मन में स्थित रस की प्रतीति उसकी वाह्य चेष्टाओं द्वारा अन्य को कराई गई है।

श्री शंकुक का अनुमितिवाद[3]

इस मतानुसार जो स्थायी भाव नायक नायिका में स्थिर रहते हैं, उनका अनुमान दर्शक नट में कर लेता है। नट में रस का अस्तित्व नहीं होता। प्रेक्षक कुशल अभिनेता नट को ही नायक मान लेता है। इस सुख-भ्रम से उसे नायक के भावों का अनुमान हो जाता है और उन भावों के अनुमान से वह चमत्कृत हो उठता है। इसी चमत्कार में उसे अलौकिक आनन्द का अनुभव होता है। प्रेक्षक की यही आनन्दानुभूति रस है। दर्शक नट को नायक समझता है, और नायक के भावों का उसमें आरोप कर, स्वयं उस भ्रम में रसास्वाद करता है। भट्ट लोल्लट के मत में रस की निष्पत्ति और रसानुभूति नायक में ही है, प्रेक्षक में नहीं। इस अनुमितिवादी मत में रस की निष्पत्ति नायक में नहीं है। प्रेक्षक में केवल कौतूहल वश, अनुभूतिवश नहीं, रसानुमिति है।

१—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'—भरत नाट्यशास्त्र। प्र० सं० ला० बरौदा, संस्करण १९२६ ई० पृ० २७४, भाग १

२—काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, प्रका० आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना, पृ० ९१। तथा साहित्यालोचन, संस्करण १९९४ वि० सं०, डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० २२६।

३—काव्य-प्रकाश, चतुर्थ उल्लास, प्रकाशक आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना, पृ० ९२-९४। तथा साहित्यालोचन, सं० १९९४ वि०, डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० २२७।

भट्टनायक ने प्रेक्षक के हृदय में रस की स्थिति मानी है। इस मतानुसार स्थायी भाव से रस बनने तक की प्रक्रिया तीन शक्तियों द्वारा होती है। भट्टनायक ने, अभिधा, भावकत्व, तथा भोजकत्व, ये तीन शक्तियाँ बताई हैं। उनका कहना है कि व्यक्तिगत अनुभवों में रस नहीं होता। व्यक्ति के अनुभव सङ्कुचित होने के कारण व्यापक और सार्वजनीन आनन्द नहीं दे सकते। भावकत्व-शक्ति के द्वारा विभाव, अनुभाव तथा भावादि व्यक्ति-सम्बन्ध से हट कर, साधारण, सार्वजनिक, तथा मनुष्यमात्र के अनुभव योग्य बन जाते हैं, उनकी व्यक्तिपूर्ण विशेषता छुट जाती है। प्रेक्षक के मन में यह ज्ञान नहीं रहता कि यह दुष्यन्त की स्त्री शकुन्तला है, वह उसे स्त्रीमात्र और दुष्यन्त को पुरुषमात्र समझता है और इन पात्रों का अनुभूत स्थायी भाव साधारण हो जाता है। फिर जिस क्रिया के द्वारा साधारण स्थायी भाव का रस-रूप में भोग होता है, उसे भोजकत्व कहते हैं। आनन्द का यह भोग सतोगुण के उद्रेक से होता है; रजस् और तमस् का इसमें लगाव नहीं होता। इसी आनन्द अथवा रस के अनुभव में प्रेक्षक सांसारिक तथा व्यक्ति गत बन्धनों से थोड़े समय के लिए मुक्त होकर सार्वभौम चैतन्य जगत में पहुँच जाता है। इसीलिए काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है। ब्रह्मानन्द नित्य है और काव्यानन्द क्षणिक है। यह सिद्धांत इसलिए मान्य नहीं हुआ है, कि इसमें मानी हुई दो नई शक्तियों के भावकत्व ,तथा भोजकत्व मानने के कोई प्राचीन प्रमाण नहीं है। इन दोनों शक्तियों का काम परम्परामान्य व्यञ्जना से लिया जा सकता है।

भट्ट नायक का मुक्तिवाद[1]

अभिव्यक्ति से अभिप्राय है, पहले से स्थित वस्तु का प्रकट हो जाना। अभिनव गुप्ताचार्य के मतानुसार सहृदय प्रेक्षक अथवा पाठकों में भाव, वासना अथवा संस्कार रूप से रहते हैं। इन वासनाओं की विद्यमानता, सांसारिक अनुभव, पूर्व जन्म के संस्कार, और अभ्यास के कारण, होती है। विभावानुभाव के निपुण अभिनय अथवा काव्य के पठन से ये गुप्त वासनाएँ प्रेक्षक की एकाग्रता के द्वारा, लौकिक अज्ञानता के हटने पर, प्रकट हो जाती हैं, उस समय चित्त की एकाग्रता में सतोगुण का प्राधान्य रहता है। चित्त की एकाग्रता तथा सतोगुण के प्रकाश में उन वासनाओं के भीतर प्रेक्षक या पाठक आनन्द का अनुभव करता है। यही आनन्द का अनुभव रस है। इस मत में रस की अभिव्यक्ति दर्शक, श्रोता अथवा पाठक में ही मानी गई है और यह रस की अभिव्यक्ति

अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद[2]

१—काव्य, प्रकाश। चतुर्थ उल्लास आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना, पृ० ९५-९६।
तथा साहित्य-लोचन, संस्करण सं० १९९४, डा० श्यामसुन्दरदास पृ० २२९।

२—काव्य प्रकाश, चतुर्थउल्लास, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, पृ० ९५-१०२
तथा साहित्यालोचन, संस्करण सं० १९९४, डा० श्यामसुन्दर दास, पृ० २२९

सहृदय व्यक्ति में ही हो सकती है। जो मनुष्य प्राचीन संस्कारों की जागृति साहित्यानुशीलन और सहृदयता के अभ्यास से नहीं करते, वे सहृदय नहीं हैं। अभिनवगुप्त नायक तथा नट में रस की अभिव्यक्ति नहीं मानते। अभिनवगुप्त के बाद होनेवाले काव्य-शास्त्रकारों ने प्रायः इसी अभिव्यक्तिवाद का ही अनुकरण किया है। साहित्य-दर्पण में विश्वनाथ ने अभिनवगुप्ताचार्य का ही मत अपनाया है।

भक्ति-रसानुभूति

वैष्णव विचारानुसार भक्ति-रस की निष्पत्ति किस प्रकार और कहाँ होती है, यह विषय भी विचारणीय है। 'हरि-भक्ति-रसामृत सिन्धु' में श्री रूपगोस्वामी जी ने भक्ति-रस का विवेचन किया है। उन्होंने भक्ति रस दो प्रकार का बताया है। १—मुख्य भक्ति-रस तथा २—गौण भक्ति-रस। मुख्य भक्ति-रस के अन्तर्गत उन्होंने पाँच रस—शान्त, प्रीति, प्रेय, वत्सल तथा मधुर—बताये हैं। और गौण भक्ति-रस के उन्होंने सात भेद—हास्य अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र भयानक तथा वीभत्स —किये हैं।[1] प्रीति और प्रेय भावों का उन्होंने क्रमशः दास्य और सख्य भाव-रूप में विवेचन किया है। अन्य भक्तिमार्गीय आचार्यों ने बहुधा भक्ति के प्रथम पाँच मुख्य भावों का ही अनुकरण तथा विवेचन किया है। साधारणतया भक्ति-रस का स्थायी भाव, वात्सल्य, सख्य, दास्य और मधुर भावों में व्यक्त होनेवाली रति तथा शान्त-रस का स्थायी भाव निर्वेद अथवा धृति, माने जाते हैं।

भक्ति-रस की निष्पत्ति के विषय में श्रीरूपगोस्वामी जी 'हरि-भक्ति-रसामृत-सिन्धु' में कहते हैं—'विभाव, अनुभावादि की परिपुष्टि से भक्ति, परम रस-रूपा हो जाती है। विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों से भक्तों के हृदय में स्वाद्यत्व को प्राप्त कराई गई जो कृष्ण-रति-रूप स्थायी भाव है, वह भक्ति में परिणत होता है। जिनके हृदय में, प्राचीन (पूर्वजन्म) की अथवा तात्कालिक (इस जन्म की) सद्भक्ति की वासना या संस्कार हैं, भक्ति-रस का आस्वाद उन्हीं के हृदय में होता है। जिनके पाप-दोष भक्ति से दूर हो गये

१—भवेद्भक्तिरसोऽप्येष मुख्यगौणतया द्विधा।
पंचधाऽपि रतेरैक्यान्मुख्यस्त्वेक इहोदितः। १५।
सप्तधाऽत्र तथा गौण इति भक्तिरसोऽष्टधा।
मुख्यस्तु पंचधा शान्तः प्रीतिः प्रेयांश्च वत्सलः। १६।
मधुरश्चैत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमाः।
हास्योऽद्भुतस्तथा वीरः करुणो रौद्र इत्यपि। १७।
भयानकः सबीभत्स इति गौणश्च सप्तधा।
एवं भक्तिरसो भेदाद्द्वयोर्द्वादशधोच्यते। १८।
—हरिभक्ति-रसामृत-सिंधु, दक्षिण विभाग, लहरी ५, पृ० ३०८ तथा ३०९।

हैं, जिनका चित्त प्रसन्न और उज्वल है, जो भागवत में रक्त हैं, जो रसिकों के सत्सङ्ग में रँगे हैं, जो जीवनीभूत गोविन्द के चरणों की भक्ति को ही अपनी सुख-श्री मानते हैं और जो प्रेम के अन्तरङ्ग कृत्यों को करनेवाले भक्त हैं, उनके हृदय में जो आनन्द-रूपा रति स्थित होती है, वही, दोनों प्रकार के (प्राचीन तथा इस जन्म के) संस्कारों से उज्वल बनी, रति रस-रूपता को प्राप्त होती है। यही रति अनुभूत कृष्णादि विभावादि के संसर्ग से उक्त भक्तों के हृदय में प्रौढ़ानन्द और चमत्कार की पराकाष्ठा को प्राप्त होती है।'[1]

श्री रूपगोस्वामी जी के उक्त कथन में भक्ति-रस की निष्पत्ति सहृदय तथा पूर्व संस्कारपूर्ण भक्त हृदय में ही मानी गई है। काव्यशास्त्रकार, अभिनव गुप्ताचार्य तथा मम्मटाचार्य आदि भी रस की निष्पत्ति वासना तथा पूर्व संस्कारपूर्ण हृदय में ही मानते हैं; परन्तु काव्यरस तथा भक्तिरस मतों में अन्तर यह जान पड़ता है कि रस का सञ्चार काव्य-शास्त्र की रीति से वासनापूर्ण सामाजिकों के हृदय में ही माना गया है। उधर भक्तिरस, अनुकर्ता भक्त के हृदय में भी अभिव्यक्त होता है। काव्य-प्रकाश में कहा गया है कि रति आदि स्थायी भाव के जो कारण, कार्य और सहकारी लोक में (घटनास्थल में) स्थित होते हैं वे ही जब नाट्यादि काव्य में समर्पित होते हैं तब वे विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी कहलाते हैं; और इनसे व्यक्त स्थायी भाव काव्य ही में रस-रूपता लेता

१—सामग्रीपरिपोषेण परमा रस रूपता।
विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः। ५।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः।
एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत्। ६।
प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्तिवासना।
एष भक्तिरसास्वादस्तस्यैव हृदि जायते। ७।
भक्तिनिर्धूतदोषाणां प्रसन्नोज्वलचेतसाम्।
श्रीभागवतरक्तानां रसिकासङ्गरङ्गिणाम्। ८।
जीवनीभूतगोविंदपादभक्तिसुखश्रियाम्।
प्रेमान्तरङ्गभूतानि कृत्यान्येवानुतिष्ठताम्। ९।
भक्तानां हृदि राजन्ती संस्कारयुगलोज्ज्वला।
रतिरानन्दरूपैव नीयमाना तु रस्यताम्। १०।
कृष्णादिभिर्विभावाद्यैर्गतैरनुभवाध्वनि।
प्रौढानन्दचमत्कारकाष्ठामापद्यते पराम्। ११
—हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु, दक्षिण विभाग, १ लहरी, अच्युत ग्रन्थमाला काशी। पृ० १२०-१२१।

है।[१] उधर भक्तिरस की निष्पत्ति आधार-आलम्बन रूप भक्त-हृदय में ही पहले होती है। भक्ति-रस में कृष्ण और कृष्ण भक्त दोनों ही आलम्बन विभाव हैं। भक्त हृदय आधार आलम्बन है और भगवान् मुख्य विषय आलम्बन हैं।[२] भक्त की यही अनुभूति जब शब्दों में समर्पित होती है, तब वह सहृदय पाठक तथा श्रोता अथवा प्रेक्षक सामाजिकों में भी रस की अभिव्यक्ति करती है। 'रसो वै सः' श्रुति के अनुसार भक्तों का आलम्बन आनन्दस्वरूप ईश्वर है। अद्वैत वैष्णव मतानुसार अंश रूपा आत्मा, जिसका आनन्दांश अविद्या माया से परिच्छिन्न रहता है, प्रेमानुभूति की एकाग्रता तथा सत्वगुण के प्रकाश में, अविद्या के आवरण के हटने पर, अपने सत्य स्वरूप आनन्द तथा, अंशी रसरूप परमात्मा का साक्षात्कार करती है। वही परमानन्द की अनुभूति भक्तों का अखण्ड, सतत् ब्रह्मानन्द है। योगियों के समाधिगत ब्रह्मानन्द की अनुभूति में विभावादि विषयों का सम्पर्क नहीं होता।[३] भक्ति के ब्रह्मानन्द में अलौकिक विभावादि का लगाव रहता है। इधर काव्य रस के साथ, लौकिक विभावादि का सम्पर्क है।

भक्तों को जिस भक्ति-रस की अनुभूति होती है वह भरतादि द्वारा परिभाषित तथा दृश्य, श्रव्य काव्य और कला द्वारा अनुभूत रस नहीं होता, किन्तु भक्तों के हृदय की प्रथम रसानुभूति, कृष्ण और उनकी लीला से सम्बन्धित रागानुगा भक्ति के अनुभव तथा ब्रह्मसाक्षात्कार से ही, होती है। उनके विभावादि काव्य समर्पित विभावादि नहीं होते। वे (भक्त लोग) जिस समय अपनी अनूभूतियों का समर्पण कविरूप से भाषा द्वारा कीर्तनादि अथवा काव्य में करते हैं, उस समय उनके हृदय में भक्ति-रसानुभूति सामाजिकवत्, काव्यरस के अनुरूप, होती है। इसी अनुभूति का रस भक्ति-काव्य के श्रोता अथवा पाठक लेते हैं। इस प्रकार भक्ति-रस दो प्रकार अथवा दो अवस्था का कहा जा सकता है—एक, अप्राकृत रस; दूसरा, प्राकृत रस, ब्रह्मानन्द सहोदर। रस-रूप ब्रह्म की, विविध सम्बन्धों द्वारा अनुभूत, रति का भक्तिरस अथवा भजनानन्द भक्तों के हृदय का अप्राकृत (अलौकिक) रस है और वही अनुभूति कारण, कार्य तथा सहकारी भावों सहित जब शब्दों में समर्पित होती है, चाहे वह भक्त की स्वानुभूति हो अथवा अन्य भक्त की अनुभूति हो, तब वह प्राकृत

१—कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः २७।
विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
—काव्य-प्रकाश, चतुर्थ उल्लास, आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना, पृ० ८१।

२—कृष्णश्च कृष्णभक्ताश्च बुधैरालम्बना मताः,
रत्यादेर्विषयत्वेन तथाऽऽधारतयाऽपि च १६।
—हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु, दक्षिण विभाग, १ लहरी, पृ० १२२-१२३

३—रसगङ्गाधर, निर्णयसागर प्रेस, पृ० २३।

भक्ति रस का रूप लेने वाली कही जा सकती है। इसको 'भक्ति-काव्य-रस' कह सकते हैं।

मम्मटादि अलङ्कारिकों ने भक्ति-रस को भाव कोटि में ही रक्खा है, परन्तु वैष्णव लोग उसे रस ही कहते हैं। शैवमतावलम्बी लोग भी उसे भाव कोटि में ही रखते हैं, रस की संज्ञा भक्ति की अनुभूति को नहीं देते।

भक्ति के विविध भाव

श्री वल्लभाचार्य ने कहा है कि भगवान् सर्वदा सर्वभाव से भजनीय है[1]। 'प्रेम से, द्रोह से, भाव कुभाव से अर्थात् सर्व भावों से यदि कृष्ण का ध्यान किया जाय तो वे भाव कल्याणकारी ही होते हैं।' आचार्य जी का यह मत पीछे दिया जा चुका है। भागवत्कार का भी रास-प्रकरण में इस विषय में कथन दिया जा चुका है—'काम, क्रोध, भय, स्नेह ऐक्य और सुहृदभाव, इनमें से कोई भी भाव भगवान् हरि के साथ लगाया जाय तो ये भाव लौकिक रूप को छोड़कर ईश्वरीय हो जाते हैं।'[2] 'नारद-भक्ति-सूत्र' में कहा गया है—'यदि सब आचार भगवान् को अर्पण करने पर भी काम क्रोध अभिमानादि मानसिक भाव पीछा न छोड़ते हों तो उन्हें भी परमात्मा के प्रति करना चाहिए।'[3] इन कथनों का, वास्तव में, तात्पर्य यही है किसी भी भाव से सही, परमात्मा का सर्वदा ध्यान होना चाहिए और सब प्रकार के भावों का आलम्बन ईश्वर हो। इस प्रकार के अभ्यास से साधक की चञ्चल मनोवृति लोक से हट कर, ईश्वर में ही केन्द्रीभूत हो जाती है, यह भाव का योग है। गीता में श्री कृष्ण कहते हैं—'हे अर्जुन, परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास-स्वरूप योग से युक्त तथा अन्य ओर न जाने वाले चित्त से जो निरन्तर परमात्मा का ही चिन्तन करता है वह मनुष्य परम पुरुष, दिव्यरूप, परमात्मा को प्राप्त होता है।'[4] तथा 'हे अर्जुन, मुझे जो जिस भाव से भजता है, मैं उसी प्रकार के भाव से उसे मिलता हूँ। इस लिए बुद्धिमान मनुष्य सब प्रकार से मेरे अनुवर्ती रहते हैं।'[5] मानव अनुभूति के

१—'सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः'

—'चतुःश्लोकी,' षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, पृ० ७०, श्लोक नं० १।

२—भागवत, दशम स्कंध, २६ वां अध्याय, श्लो० १५।

३—तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्। ६५।

—नारद-भक्ति-सूत्र, सूत्र नं० ६५, गीता प्रेस।

४—अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमंपुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।

—गीता, अध्याय ८, श्लो० ८।

५—ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

—गीता, अध्याय ४, श्लो० ११।

विविध प्रकार के भावों में से भक्ति-मार्ग के आचार्यों ने केवल प्रेम-प्रीति भावों को ही चुना है और उन्हीं को लोक से उठाकर ईश्वर में लगाया है।

श्री वल्लभाचार्य तथा भक्ति मार्ग के अन्य प्रचारक आचार्यों द्वारा दी हुई भक्ति की व्याख्याओं में, समान रूप से यह ज्ञात होता है कि भक्ति का स्थायी भाव प्रीति अथवा स्नेह है। इस प्रीति की अभिव्यक्ति मुख्यतः नीचे लिखे चार प्रकार से होतीहै। वास्तव में मानव-प्रेम के जितने रूप हैं उन सभी प्रीति-सम्बन्धों को भक्तों ने भी परमात्मा से जोड़ा है और उसी के अनुसार भक्ति के भावों का नामकरण कर दिया है।

प्रीति की अभिव्यक्ति के चार प्रकार

१—परमेश्वर मेरा पिता है, माता है, स्वामी है और मैं उसका आज्ञाकारी अथवा स्वामिभक्त दास हूँ। यह दास्य-प्रीति या दास्य-भक्ति है।

२—परमात्मा मेरे दुःख-सुख, आमोद-प्रमोद में मेरा साथी है, वह मेरा परम मित्र है, बन्धु है, उसके सिवाय मेरा अन्य कोई ऐसा मित्र या बन्धु नहीं है, यह सख्य-प्रीति या सख्य-भक्ति है।

३—परमेश्वर बालक है, पुत्र है और मैं उसकी पालक माता हूँ, धात्रि हूँ, मैं उसका पिता हूँ, शिशु के प्रति यह भाव वात्सल्य-प्रीति अथवा वात्सल्य-भक्ति है।

४—परमेश्वर पति है मैं उसकी पत्नी हूँ। अथवा परमेश्वर प्रिय है और मैं उसका प्रेमी हूँ, या परमात्मा प्रेमी है और मैं उसकी प्रिया हूँ, यह शृङ्गार-प्रेम अथवा माधुर्य-भक्ति है।

भक्ति के ऊपर कहे चार भावों के अतिरिक्त पाँचवाँ भाव शान्ता-भक्ति का भी है। उक्त चारों भावों की ईश्वरोन्मुख अनुभूति से, संसार की अस्थिर अवस्था तथा तत्व के ज्ञान से, और वासनाओं के शमन से जो चित्त की स्थिर अवस्था होती है, उसे भक्ति का शम-भाव अथवा शान्ता-भक्ति कहते हैं। लेखक ने शान्ता-भक्ति तथा 'अष्टछाप-काव्य में शान्त रस' का विवेचन उक्त चार प्रकार की प्रीति सम्बन्धिनी भक्तियों से अलग, आगे पाँचवें प्रकार की भक्ति रूप में किया है।

ऊपर कहे कथनानुसार भक्ति-रस के स्थायी भाव रूप चार प्रीति-भाव हैं, दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा मधुर। भिन्न-भिन्न भक्ति-सम्प्रदायों में इन्हीं भावों में से एक, दो, अथवा सबका अनुगमन करके प्रेम-भक्ति की जाती है।

वल्लभ-सम्प्रदाय में, जैसाकि पीछे कहा गया है, चारों प्रकार के सम्बन्धों से भक्ति होती है, परन्तु परमेश्वर के स्वरूपों की सेवा बहुधा बाल-भाव से ही होती है। यह भी पीछे कहा गया है कि श्री वल्लभाचार्य जी ने प्रेम-भक्ति की प्रथम सीढ़ी वात्सल्य-भक्ति को ही माना है। भक्ति की प्रथम अवस्था में इसी भाव से भगवान् की सेवा और उनसे स्नेह करने का उनका आदेश है। अन्य सम्प्रदायों के प्रभाव से, लेखक का विचार है, उन्होंने अपने उत्तर जीवन काल में अन्य भावों की भक्ति को भी अपनी भक्ति-पद्धति में स्थान दिया। उनके पीछे गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने सभी भावों को अपनाया। मधुर भाव की भक्ति का प्रतिपादन उन्होंने अपने ग्रन्थ 'शृङ्गार-मण्डन' में किया है। अष्टछाप-भक्त कवियों की रचनाओं में यद्यपि चारों भावों की भक्ति का दर्शन होता है, परन्तु प्रत्येक कवि को कुछ भाव विशेष रूप से इष्ट थे। इसलिये उनके काव्य में उन्हीं भावों का अधिक चित्रण है।

सगुण ईश्वर के उपासक भक्तों ने, पीछे कहे सम्बन्धों में ईश्वर को तीन रूपों में देखा है—एक, स्त्रीरूप में; दूसरे, पुरुष रूप में; और तीसरे, युगल-रूप में। स्त्री-रूप के उपासकों ने भगवान् को मातृ-रूप तथा प्रिया-रूप, इन दो रूपों में भजा है। भारतवर्ष के शाक्त उपासकों की एक शाखा ने परमतत्व ईश्वर की आराधना मातृ भाव से अथवा जननी-जन्य भाव से की है। प्रियारूप में अथवा 'माशूक' रूप में भजने-वालों में सूफ़ी प्रेमी हुये हैं। राम, कृष्ण, नृसिंह आदि ईश्वर के रूपों की उपासना करनेवाले अद्वैतमार्गीय भक्तों ने ईश्वर को एक तो पुरुष रूप मानकर उससे सभी सम्बन्ध जोड़े हैं; दूसरे, उसको स्त्री पुरुष दोनों की समष्टि भावना में भी देखा है। पुरुष-रूप ईश्वर के साथ जो स्त्री-रूप है वह अद्वैत वैष्णव सम्प्रदायों के अनुसार उसी की वशवर्तिनी शक्ति है। भगवान् और उसकी महाशक्ति, दोनों अभिन्न हैं; एक के ही दो रूप हैं। इसलिए उन्होंने यदि भगवान् को पालक पिता कहा तो भगवान् की शक्ति को माता और यदि भगवान् को रस-रूप परम पुरुष कहा तो उसकी रस-शक्ति को उसकी प्रिया। वल्लभ सम्प्रदाय में ईश्वर की एकाकी पुरुष रूप तथा युगल, दो रूपों में उपासना होती है लेकिन, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, इस सम्प्रदाय के मन्दिरों के स्वरूप, केवल पुरुष-रूप कृष्ण के ही हैं, युगल रूप के नहीं हैं। अष्टछाप भक्तों की रचनाओं से उनकी, एकाकी कृष्ण तथा युगल, दोनों प्रकार की भक्तियों का परिचय मिलता है। उनकी दृष्टि में कृष्ण उनके स्वामी हैं, तो राधा स्वामिनी हैं। कृष्ण की राधा अभिन्न शक्ति-स्वरूपा प्रिया हैं। इसलिए उन्होंने स्थान स्थान पर कभी राधा की, कभी केवल कृष्ण की, तथा कभी युगल की स्तुतियाँ की हैं। युगल लीला का उन्होंने प्रचुर मात्रा में चित्रण किया है। पीछे 'मोक्ष' प्रकरण में कहा गया है कि वल्लभ-सम्प्रदायी परमानन्दमयी-मोक्ष की स्वरूप-धारणा युगल ईश्वर की रसलीला में प्रवेश पाना है। अष्टछाप भक्तों में से श्री वल्लभाचार्य जी के तीन शिष्यों की—सूरदास, परमानन्ददास तथा कुम्भनदास की—वार्ताओं से विदित है कि अन्त समय में उनका ध्यान युगल रूप में ही

लगा था और उन्होंने युगल लीला में प्रवेश पाया था।[1] आठों कवियों की रचनाएँ राधा-कृष्ण के युगल रूप तथा केवल कृष्णरूप, दो प्रकार के उपास्य की भक्ति की द्योतक हैं। ईश्वर को केवल स्त्री-रूप में देखकर जैसी भक्ति शाक्त और सूफ़ी मतावलम्बियों की उपासना-पद्धति में है, वैसी इन भक्तों की रचनाओं में नहीं है।

भक्ति सब भावों से हो सकती है, इस भाव को अष्टछाप भक्तों ने भी व्यक्त किया है। सूरदास जी कहते हैं—'किसी भी भाव से भगवान् को भजो, उनका भजन सब प्रकार के संसार दुःख से पार करने वाला है तथा, काम, क्रोध, स्नेह, सख्य आदि किसी भी भाव से जो व्यक्ति दृढ़तापूर्वक हरि का ध्यान करता है, वह हरि का हो जाता है।'[2] प्रेम-भाव की

१—'सूरदास जी युगल स्वरूप को ध्यान करिकैं यह अलौकिक देह छोड़ि लीला में जाय प्राप्त भये'। —अष्टछाप, काँकरौली, पृ० ४४

'सो या प्रकार जुगल स्वरूप की लीला में मन लगाय कें परमानंद दास देह छोड़ि कें श्री गोवर्द्धन नाथ जी की लीला में जाय प्राप्त भये।'

—अष्टछाप, काँकरौली, पृष्ठ ११।

कुम्भनदास ने अन्त समय अपनी मानसिक वृत्ति को रमाते हुए अन्तिम पद गाया था, 'रसिकनी रस में रहति गड़ी।'

वार्ताकार कहता है—'यह पद गाय कें कुम्भनदास जी देह छोड़ि निकुञ्ज लीला में जाय कें प्राप्त भये।'

—अष्टछाप, काँकरौली, पृ० १७४।

२— राग बिलावल

हरि हरि हरि सुमिरहु सब कोय,
हरि के शत्रु मित्र नहि दोय।
ज्यों सुमिरै त्यों ही गति होइ,
हरि हरि हरि सुमिरहु सब कोय।
× × ×
कोऊ भजो काहु परकारा,
सूरदास सो उतरै पारा।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ४८१।

राग सारङ्ग

सुनो शुक कह्यो परीचित राव।
गोपिन परम कंत करि जान्यो लख्यो न ब्रह्म प्रभाव।
× × ×

भक्ति के विषय में भी सूर का विचार है कि प्रेम के सभी सम्बन्धों से भगवान् वश में हो जाते हैं।[1] नन्ददास जी ने भी 'रास-पञ्चाध्यायी', 'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' तथा 'रूपमञ्जरी' ग्रन्थों में ये ही भाव प्रकट किये हैं।[2] अष्टछाप भक्त यद्यपि यह मानते हैं कि भगवान् सर्वभाव से भजनीय हैं, परन्तु उन्होंने जिस भाव के भक्ति-रस का आस्वादन किया और जिस भाव की उन्होंने महिमा गाई, वह प्रेम-भाव और प्रेम-भक्तिरस था। प्रेम के भिन्न-भिन्न रूपों में अष्टछाप की प्रेमभक्ति किस प्रकार उनकी रचना में प्रस्फुटित हुई है, यह आगे की पङ्क्तियों में देखा जायगा।

दास्य-प्रीति-भक्ति

'यदि भक्त को फल नहीं मिलता तो उसे पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए, वह यही समझे, कि मैं तो भगवान् का केवल सेवक हूँ। श्रीकृष्ण को लौकिक स्वामी की तरह कभी न देखना चाहिए। सेवक का तो धर्म है कि वह स्वामी की आज्ञा का पालन करे।'[3] 'अन्तःकरण-प्रबोध' ग्रन्थ में भी श्री वल्लभाचार्य जी ने उक्त प्रबोधन दिया है। इस प्रवचन में

शुक कह्यो कुटिल भाव मन राखे मुक्त भयो शिशुपाल,
गोपी हरि की पिया मुक्ति लहैं कहा अचरज भूपाल।
काम क्रोध में नेह सुहृदता काहू विधि करै कोई,
धरै ध्यान हरि कौं जो दृढ़ करि सूर सो हरि सो होई।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ३४०।

१—जो जेहि भाव भजै प्रभु तैसे, प्रेमवश्य हरि मिलहीं जैसे।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, यमलार्जुन उद्धरण, वें० प्रे०, पृ० १४७।

२—तब कही श्री शुकदेव, देव यह अचरज नाहीं,
सर्व भाउ भगवान कान्ह जिनके मन माहीं।

—रास पञ्चाध्यायी, प्रथम अध्याय, नन्ददास, 'शुक्ल' पृ० १६२।

जेन केन परकार होइ अति कृष्ण मगन मन।
अनाकर्न चैतन्य कछु न चितवै साधन तन।

—सिद्धान्त पञ्चाध्यायी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० १६३।

जिहि जिहि भाँति भजै जो मोहिं, तिहि तिहि विधि सो पूरन होहिं।

—रूपमञ्जरी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० २५।

३—पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं न चान्यथा।
लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन। ७।
'सेवकस्य तु धर्मोऽयं स्वामी स्वस्य करिष्यति।' ८।

—अन्तःकरण-प्रबोध, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, पृ० २६-२७।

आचार्य जी ने भगवान् की दास्य-भक्ति को भी स्वीकार किया है। और निष्काम भाव से इस भक्ति को करने का उपदेश दिया है। इस प्रकार की भक्ति से भक्त-हृदय का अहं भरा स्वार्थ निकल जाता है। ईश्वर की शक्ति सामर्थ्य के सामने भक्त की शक्ति सामर्थ्य विलीन हो जाती है। 'कृष्णाश्रय' ग्रन्थ में आचार्य जी ने दास्य भाव के साथ स्वदोष-प्रकाशन, भगवान् के प्रति विनय, प्रार्थना तथा, दैन्य के भाव धारण करते हुए उनकी शरण और रक्षा का आवाहन किया है।[१]

इस प्रकार आचार्य जी के कथनानुसार, आत्मदोष-प्रकाशन, विनय, याचना, दीनता, समर्पण तथा भगवान् की सर्व सामर्थ्य की अनुभूति के भावों को दास्य-भक्ति के अङ्ग कहा जा सकता है।

अष्टछाप की दास्य-भक्ति

जिन अष्टछाप भक्तों की रचनाओं से हमें उनकी दास्यभक्ति का परिचय मिलता है, उन्होंने इन्हीं उक्त विषयों में अपनी दास्य भक्ति प्रकट की है। अष्टछाप-रचना में दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर चारों भावों की भक्ति है। परन्तु जैसा कि पीछे कहा गया है, उनकी जीवनियों से और उनकी रचनाओं से विदित है कि प्रत्येक भक्त का मानसिक निरोध इन चारों भावों में से किसी विशिष्ट भाव अथवा भावों में ही हुआ था और उसी अथवा उन्हीं की रचना उन्होंने प्रचुर मात्रा में की थी।

सूरदास जी की वार्ता के अन्तर्गत सूर की शरणागति के प्रसङ्ग में, ८४ वार्ता में लेख है कि जब सूरदास गऊघाट पर श्री वल्लभाचार्य जी के समक्ष गए और आचार्य जी के सामने उन्होंने आत्मदोष-प्रकाशन तथा विनय-भाव का यह पद '*प्रभु हौं सब पतितन को टीको*' गाया तो आचार्य जी ने उनसे कहा—'जो सूर है कें ऐसो घिघियात काहे को है।[२] इस वाक्य को लेकर बहुधा हिन्दी लेखक यह कह दिया करते हैं कि श्री वल्लभाचार्य जी की भक्ति दासभाव की न थी, इसी से उन्होंने सूर को इस भाव के पद गाने के लिए मने किया था और सूर की रचनाओं में हमें जो पद दास्य-भक्ति के मिलते हैं, वे वस्तुतः उनके वल्लभ-सम्प्रदाय में आने के पहले के हैं। परन्तु वल्लभाचार्य के ग्रन्थों के देखने से यह कथन सत्य नहीं ठहरता। उन्होंने दास्य-भक्ति का तथा दास्य-भाव की सेवा का भी विधान अपनी भक्ति-पद्धति में रक्खा है जैसा कि पीछे कहे हुए कथन से सिद्ध है। आचार्य जी ने, सूर की

१—विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः,
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम। ९।
सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत्।
शरणस्थ समुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम्। १०।
—कृष्णाश्रय, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, पृ० ६८-६९।

२—अष्टछाप, काँकरौली, पृ० १२।

शरणागति के समयवाले अपने कथन में वस्तुतः सूर को आश्वासन दिया था। उनके निराशापूर्ण हृदय में आशा का सञ्चार किया था, न कि दास्य-भक्ति का निराकरण किया था। वल्लभाचार्य जी की शरण में आने से पहले सूरदास विनय के पद बनाते और गाते रहे होंगे तथा सम्भव है, केवल दास्यभाव से ही भगवान् की उपासना करते रहे होंगे, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि शरणागति के बाद उन्होंने विनय और दास्य भक्ति के पद नहीं बनाये। आचार्य जी ने स्वयं ईश्वर की महिमा के सामने अपनी अकिञ्चनता प्रकट की है। सूर ने वल्लभ सम्प्रदाय में आने के बाद भी दास्य भक्ति के पदों की अवश्य रचना की, परन्तु उन पदों में से यह छाँटना कि अमुक पद शरणागति से पहले के हैं और अमुक बाद के, कठिन हैं। उधर, सूर को छोड़ कर परमानन्ददास की रचना में भी दास्य भक्ति को प्रकट करनेवाले पद विद्यमान हैं।

दास्य भाव को प्रकट करते हुए सूरदास जी कहते हैं—'नन्द-नन्दन की शरण में आकर मेरा मृत्यु-भय छुट गया, मैंने अन्य भक्ति के चिह्नों को मेट कर कृष्ण-भक्ति के चिह्न धारण कर लिये हैं। मस्तक पर तिलक, कान में तुलसीपत्र और कण्ठ में बनमाला, आदि चिन्हों को देख कर मुझे लोग श्याम का गुलाम कहते हैं, यह सुनकर मेरा मन प्रसन्न होता है। सबसे बड़ा सुख तो मुझे यह है कि मैं दासवृत्ति से भगवान् की जूठन, प्रसाद रूप में पाता हूँ।[1] अपने दोषों को प्रकट करते हुए सूर ने अनेक पद लिखे हैं जो केवल व्यक्तिगत ही नहीं है, वरन् सांसारिक विषय-विकारों से विकृत और आत्मिक सुधार के इच्छुक सभी व्यक्तियों के हृदयों के चित्रण कहे जा सकते हैं। वे कहते हैं—

राग गूजरी

कृपा अब कीजिये बलि जाउँ।
नाहिं मेरे और कोऊ (बलि) चरण कमल बिनु ठाउँ।
हौं असोच अकृत अपराधी सम्मुख होत लजाउँ।

१— राग बिलावल

हमें नन्द नन्दन मोल लिये।
यम के फंद काटि मुकराए, अभय अजात किये।
भाल तिलक श्रवनन तुलसीदल मेटे अङ्क बिये।
मूंडे मूड कंठ बनमाला मुद्रा चक्र दिये।
सब कोउ कहत गुलाम श्याम को सुनत सिरात हिये।
सूरदास को और बड़ो सुख जूँठनि खाइ जिये।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ १७।

तुम कृपालु करुनानिधि केशव अधम उधारन नाउँ।
काके द्वार जाइहो ठाढ़ो देखत काहि सुनाउँ।
अशरन शरन नाम तुमारो, हौं कामी कुटिल सुभाउँ।
कलङ्की और मलीन बहुत मैं सेंतमेंत बिकाउँ।
सूर पतित पावन पद अम्बुज क्यों सो परिहरि जाउँ।[१]

तथा

राग धनाश्री

अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल,
काम क्रोध को पहरि चोलना कण्ठ विषय की माल।
महामोह के नूपुर बाजत निंदा शब्द रसाल,
भरम भर्‍यो मन भयो पखावज चलत कुसङ्गत चाल।
तृष्णा नाद करत घट भीतर नाना विधि दै ताल,
माया को कटि फेंटा बांध्यो लोभ तिलक दियो भाल।
कोटिक कला काछि देखराई, जल थल सुधि नहिं काल,
सूरदास की सबै अविद्या, दूरि करो नँदलाल।[२]

आत्मनिवेदन भाव को प्रकट करते हुए सूर विनय करते हैं—'हे प्रभु, मैंने अपना खोटा रूप आपको दिखा दिया, अब मैं बुरा भला जैसा भी हूँ, आपका हूँ। मुझको आप ही का भरोसा है, अब आप ही मेरी लाज रखिये। सब कुछ छोड़कर मैंने आपकी ही शरण में आपके चरण पकड़े हैं। आपके प्रताप का बड़ा भारी बल है। मैं तो आपके घर का चेरा बनकर निडर हो गया। आपकी कृपा तले मुझे भारी सुख मिल रहा है।[३] एक और पद में वे कहते हैं—' मैं पतित हूँ, परन्तु आप अन्तर्यामी हैं, पतित पावन हैं। न जाने

१—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ १२।

२—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० १२।

३— राग धनाश्री

जो हम भले बुरे तो तेरे।
तुम्हैं हमारी लाज बड़ाई बिनती सुन प्रभु मेरे।
सब तजि तुम शरणागत आयो निज कर चरण गहेरे।
तुम प्रताप बल बदत न काहू निडर भये घर चेरे।
और देव सब रंक भिकारी त्यागे बहुत अनेरे।
सूरदास प्रभु तुमरि कृपा ते पायो सुख जु घनेरे।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, १७।

कितने पतितों को आपने तार दिया, जब मेरी बारी है, तब मुझे क्यों नहीं तारते ! यदि आप कहें कि 'तू पतित नहीं है,' तो मुझे अपना स्वामिभक्त दास जानकर ही तार दीजिये ।[1]

भगवान् की अपार सामर्थ्य, दीन-प्रति-पालकता, तथा अपने श्रम की निर्बलता को प्रकट करते हुए सूरदास फिर विनय करते हैं—

राग केदारा

जो पै तुमहीं विरद विसार्‌यो ।
तो कहो कहाँ जाउँ करुणामय कृपण कर्म को मार्‌यो ।
दीनदयालु पतित पावन यश वेद बखानत चार्‌यो,
सुनियत कथा पुराननि गणिका व्याध अजामिल तार्‌यो ।
राग द्वेष विधि अविधि अशुचि शुचि जिन प्रभु जितै सँभार्‌यो,
कियो न कहूँ विलम्ब कृपानिधि सादर सोच निवार्‌यो ।
अगणित गुण हरिनाम तुम्हारे अजा अपुनपो धार्‌यो,
सूरदास प्रभु, चितवत काहे न, करत करत श्रम हार्‌यो ।[2]

सुबोधिनी, फल प्रकरण, अध्याय ४, की कारिका में श्री वल्लभाचार्य जी ने दैन्य-धारण को हरि तुष्टि के लिए सब से बड़ा उपाय कहा है। भक्तों का कहना है कि दैन्य-भाव से अहंकार का नाश होता है और चित्त में आत्मविस्मृति की अवस्था आती है। भक्त ने जब अपने अहंकार को मिटा दिया तो पार्थिव पदार्थों की ईषणा अपने आप ही चली गई। दीनता के साथ भक्त की वह अशक्ति लगी रहती है जो एक अबोध अशक्त बालक में होती है। शिशु माता

दैन्य

1— राग गौरी ।

माधव जू तुम कत जिय विसरयो ।
जानत सब अंतर की करनी जो मैं कर्म करयो ।
पतित समूह सबै तुम तारे हुते जो लोग भरयो,
हौं उनमें न्यारो करि डारयो इहि दुख जात मरयो ।
फिरि फिरि योनि अनंतन भरम्यो अब सुखशरण परयो,
इहि अवसर कत बाँह छुड़ावत इहि डर अधिक डरयो ।
हौं पापी तुम पतित उधारन डारे हो कत देत,
जो जानत यह सूर पतित नहिं, तौ तारो निज हेत ।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे० पृ०, १६ ।

२—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० १६ ।

को गोद चाहता है, परन्तु अशक्त होने के कारण चल नहीं सकता, वह रोता है और रोते-रोते विकल हो जाता है, तभी माँ दौड़ी हुई आती है और बालक को उठाकर हृदय से लगाती है। ठीक इसी प्रकार करुण भरे दीन भाव से द्रवित होकर भगवान् भक्त की सुधि लेते हैं। अष्टछाप भक्तों की रचना में दीनता का भाव दो स्थानों पर व्यक्त हुआ है। एक उनके विनय पदों में, दूसरे विरह में प्रिय-मिलन की व्याकुलता के रूप में। मिलन के जब सब उपाय विफल हो जाते हैं तो गोपी रूप भक्त अशक्त हो करुण भाव से कृष्ण की शरण में आत्मविस्मृति कर देते हैं। तभी कृष्ण का उन्हें संयोग सुख मिलता है।)

सूर के विनय के लगभग सभी पदों में आत्मदीनता का भाव लिपटा हुआ है) कुछ पद उनके ऐसे भी हैं जहाँ उनकी विनय एक मुँह लगे सेवक की विनय के समान प्रकट हुई है। इन पदों में उन्होंने विनोद और हठपूर्वक, एक समर्थ स्वामी के अधिकारी सेवक के समान विनय की है। इन पदों में सूर ने दास की माँग दृढ़ता और अधिकार के साथ स्वामी के सामने रक्खी है। दैन्यभाव तथा दास के अधिकार को प्रकट करने वाले सूर के कुछ पद नीचे उद्धृत किये जाते हैं।[१]

१— राग कान्हरा।

दीनानाथ अब बार तुम्हारी।
पतित उधारन बिरद जानि के बिगरी लेहु सँवारी।
बालापन खेलत ही खोयो युवा विषय रस माते,
वृद्ध भये सुधि प्रगटी मोको दुखित पुकारत ताते।

× × ×

अब या व्यथा दूरि करिबे कों और न समरथ कोई,
सूरदास प्रभु करुणा सागर तुमते होइ सो होई।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० १०।

राग सारङ्ग।

प्रभु हौं बड़ी बेर को ठाढ़ौ।
और पतित तुम जैसे तारे तिनही मैं लिखि राखौ।
युग युग यहै विरद चलि आयो टेरि कहत हों याते,
मरियत लाज पाँच पतितन में होब कहो घट काते।
कै प्रभु हार मानि के बैठहु, कै करौ बिरद सही,
सूर पतित जो झूठ कहत है देखो खोजि बही।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० १३।

दास्य-भाव से परमानन्ददास अपने स्वामी कृष्ण से विनय करते हैं—'हे कृपावन्त स्वामी, आप मुझे भी अपने चरण कमलों का मधुप बना लीजिये, मेरी आपसे यही विनय है। आपके कर-अम्बुजां की शीतल छत्रछाया बड़ी सुखकारी है। आपके पद्म-प्रवाल के समान रतनारे नेत्रों की चितवनि में कृपा की दृष्टि भरी है। परमानन्ददास आप के इस कृपा-रस का लोभी है। जिसपर आप द्रवित होकर दया करते हैं वही आपके नैकट्य को पाता है।'[1] भगवान् की सर्वशक्ति और सामर्थ्य का भाव प्रकट करते हुए वे कहते हैं—'जिस पर कमला-कान्त भगवान् प्रसन्न होते हैं, उस लकड़ी और घास के बेचने वाले व्यक्ति के सिर पर भी वे राज-छत्र छा देते हैं; उनमें रिक्त को भरने और भरे को ढुलकाने और फिर उसे भरने की शक्ति है। वे सब प्रकार से सामर्थ्यवान् हैं। परमानन्ददास के मन में यही अभिलाषा है कि वे उसको भी अपनी कृपाकोर दें।'[2] सूर की तरह परमानन्ददास ने भी अपने स्वामी के समक्ष

तथा

राग धनाश्री।

आजु हौं एक एक करि टरि हौं।
कै हमहीं कै तुमही माधव अपुन भरोसे लरिहौं।
हौं तो पतित सात पीढ़िन को पतितै ह्वै निस्तरिहौं,
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं तुम्हें बिरद बिनु करिहौं।
कत अपनी परतीत नसावत मैं पायो हरि हीरा,
सूर पतित तबही लै उठिहै जब हँसि देहौ बीड़ा।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० १३।

१— राग टोड़ी

अपने चरन कमल को मधुकर मोहू काहे न करि हू जू,
कृपावंत भगवंत गुसाईं, यह विनती चित धरि हू जू।
शीतल आतपत्र की छाया कर अंबुज सुखकारी,
पद्म प्रवाल नयन रतनारे कृपा कटाच्छ मुरारी।
परमानन्द दास रस लोभी भाग्य बिना क्यों पावै,
जाको द्रवत रमापति स्वामी सो तुम्हरे ढिग आवै।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३१३।

२— राग विहाग

जापर कमला कान्त ढरैं,
लकरी घास को बेचन हारो तासिर छत्र धरैं।
विद्यानाथ अविद्या समरथ जो कछु चाहैं सोइ करैं,
रीतै भरें भरे पुनि ढोरें जो चाहैं तो फेरि भरैं।

तारे हुए पापियों की 'नज़ीरें' पेश की हैं और कहा है—"यह दास भी पापी होकर आपकी शरण में आया है और आपके विरद ने ही इसे बुलाया है। फिर क्या कारण है, जो आपके दरवाज़े पर 'दाद' नहीं मिलती ?"[१]

नन्ददास की उपलब्ध रचनाओं में सूर और परमानन्ददास की सी विनय और दास-भाव की भक्ति का परिचय नहीं मिलता। दशम स्कन्ध भागवत भाषा में उन्होंने ब्रह्मादि की कृष्णस्तुतियों में भगवान् की महत्ता और भक्तों के लघुत्वभाव को प्रकट किया है, परन्तु आत्मदीनता, स्वदोष-प्रकाशन और भगवान् के प्रति प्रार्थना से भरे कवि के निजी भाव न तो उनके ग्रन्थों में हैं और न उनके पदों में ही। अपने गुरु विट्ठलनाथ जी के प्रति अवश्य उन्होंने कई पदों में दास्य-भाव प्रकट किया है और वल्लभ-कुल का सदा दास रहने की कामना की है। इस आशय के कुछ पद पीछे उद्धृत किये जा चुके हैं।

कुम्भनदास, कृष्णदास, चतुर्भुजदास, गोविन्द स्वामी और छीतस्वामी की उपलब्ध रचनाओं से ज्ञात होता है कि इन्होंने भी कृष्ण की दास्यभाव से भक्ति नहीं की। कृष्णदास के पद-संग्रह में लेखक को दो चार पद ऐसे अवश्य मिले हैं, जिनमें कवि ने अपने इष्ट भगवान् के प्रति सूर और परमानन्ददास की तरह दास्य-भाव की विनय धारण की है।[२]

सिद्ध पुरुष अविनाशी समरथ काहू ते न डरैं,
परमानन्द सदा यह सम्पति, मन में कबहु ढरैं।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ४८३।

राग सारङ्ग

१—ताते तुम्हरो मोहिं भरोसो आवै,
दीनदयालु पतित पावन जस वेद उपनिषद गावै।
जो तुम कहो कौन खल तारे तो हों जानों साखि,
पुत्र हेत हरिलोक चल्यो द्विज सक्यो न काहू राखि।
गनिका कहा कीयो व्रत संजम शुक हित मनहि खिलावै,
कारन करि सुमिरै गज बपुरो ग्राह परम गति पावै।
× × ×
अभय दान दीवान प्रकट प्रभु सांचो विरद बुलावै,
कारन कौन दास परमानंद द्वारे दाद न पावै।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३०६

२—जै जै लाल गोवर्द्धनधारी, इन्द्रमान भंग कीनों,
बाम बाहु राख्यो गिरिनायक दासनि को सुख दीनों।
सात दिवस सुरपति पचिहार्‌यो, गोसुत सींग न भीनों,
कृष्णदास स्वामी मोहन के पाँय पर्‌यो मतिहीनों।
—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद-संग्रह से, पद नं० ७६

सूर और परमानन्ददास को छोड़कर अन्य अष्टछाप कवियों की रचना में प्रार्थना के पद मौजूद हैं, परन्तु उनमें दास-भाव की प्रार्थना नहीं है, किसी पद में कान्ता-भाव की पाद-सेवा का भाव है तो किसी में कान्ता-भाव से ही संयोग सुख पाने की प्रार्थना है। अष्ट-सखान की वार्ता में लिखा है कि चतुर्भुजदास ने सूतक के दिनों में प्रार्थना के बहुत से पद बनाकर गाए।[1] इस प्रार्थना भाव के जो पद वार्ता में दिए हुए हैं, उनमें दास्यभाव की भक्ति का भाव नहीं है। उदाहरण के लिए उक्त वार्ता में दिये हुए चतुर्भुजदास के पदों में से एक पद नीचे दिया जाता है:—

राग ललित

स्याम सुन्दर प्रान प्यारे छिनु जिनि होहु नियारे,
नेकु की ओट मीन ज्यों तलफत इन नैननि के तारे।
मृदु मुस्कानि बंक अवलोकनि डगमग चलत सहज में सुठारे,
चतुर्भुज प्रभु गिरधर बानक पर कोटिक मन्मथ वारे।

महात्मा तुलसीदास के रामचरित मानस में पीछे कहीं चारों प्रकार की भक्तियों का परिचय मिलता है। और उन्होंने यह भी कहा है—'*तोहि मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावे, ज्यों त्यों तुलसी कृपाल, चरन सरन पावे*'[3] फिर भी उनकी भक्ति, केवल दास भाव की ही थी।[4] इस भाव की भक्ति का जो प्रखर और प्रभावशाली रूप तुलसी के ग्रन्थों में मिलता है वह सूर और परमानन्ददास के विनय और आत्मदीनता के पदों में नहीं मिलता।

सख्य-भक्ति

लौकिक व्यवहार में जो मित्रता का आदर्श उपस्थित किया जाता है उसी आदर्शभाव, को सख्य-भक्ति में भक्त, भगवान् के प्रति रखता है। वह अपने सखा भगवान् से कोई स्वार्थ नहीं रखता, वह केवल मित्र भाव से अहेतुक प्रेम-व्यवहार करता है। श्रीमद्भागवत, दशम

१—अष्टछाप, काँकरोली, पृ० ३०६।
२—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ७८।
३—विनय-पत्रिका, तुलसी-ग्रन्थावली, शुक्ल, पृ० ५०६।
४—सेवक सेव्यभाव बिनु भव न तरिय उरगारि।
भजिय राम पद पंकज, अस सिद्धान्त बिचारि।
—रामचरित-मानस, उत्तरकाण्ड, श्यामसुन्दरदास, संस्करण सन् १९१६ ई० पृ० १०८९।

स्कन्ध के चौदहवें अध्याय में ब्रह्मा कृष्ण की स्तुति करते हैं। उस स्तुति में भागवतकार का कहना है—'व्रज के निवासी उन नन्दगोपों को धन्य है जिनका परमानन्द पूर्ण सनातन ब्रह्म मित्र है।'[1] भागवत के इन वाक्यों में कृष्ण भक्तों ने सख्य-भक्ति का स्वरूप देखा है। पीछे कहा गया है कि वल्लभ-सम्प्रदाय में अष्टछाप भक्तों को कृष्ण के अष्टसखा माना जाता है और इसी विश्वास को लेकर उनको कृष्ण के अष्ट सखाओं के अलग अलग नाम भी दे दिये गये हैं। '२५२ वैष्णवन की वार्ता' से विदित है कि अष्टछाप भक्तों में से कुछ भक्त वस्तुतः मानसिक जगत में सख्य-भक्ति का अनुभव करते हुए श्रीनाथ जी के स्वरूप के साथ मित्र का सा भी व्यवहार करते थे। गोविन्दस्वामी और चतुर्भुजदास की जीवनी में सख्य प्रेम को प्रकट करने वाले कई प्रसङ्ग, जैसे खेल में कृष्ण स्वरूप श्रीनाथ जी के कङ्कड़ी मारना, घोड़ा बनकर उनके साथ खेलना, बन में उनके साथ गोचारण करते हुए अनेक अन्य बाल-खेल करना आदि आते हैं। कृष्ण की बाल-लीला के अन्तर्गत, बालकों के विविध खेल, गोचारण, माखन चोरी, आदि प्रसङ्गों का जहाँ इन भक्तों ने चित्रण किया है वहाँ इनकी सख्य-भक्ति का ही परिचय मिलता है।

इन भक्तों की रचनाओं में कृष्ण की बाल और यौवन काल की आमोद-प्रमोद-मयी सखा-भक्ति का विशेष चित्रण है। जीवन की अनेक जटिल समस्याओं में सञ्चरण करने वाले मित्र-सङ्ग का, जैसे कृष्ण और अर्जुन की प्रीति में प्रकट है, इनकी रचनाओं में परिचय अल्प है। केवल सूरदास ने अर्जुन, सुग्रीव, सुदामा आदि की मित्रता का अवश्य वर्णन किया है। अष्टछाप रचना में बालसखा-प्रेम के अनूठे चित्र हैं जिनमें निष्काम भक्ति का शुद्ध आनन्दात्मक रूप ही है। ऐश्वर्यशाली भगवान् से किसी प्रकार की कामना नहीं है।

सूर की सख्य-भक्ति

सूर की सख्य-भक्ति का प्रकाशन कृष्ण की बाल और गोचारण लीलाओं के अतिरिक्त सूरसागर दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध, के 'सुदामा-दरिद्र-भञ्जन' नामक प्रसङ्ग में भी हुआ है। इस प्रसङ्ग में उन्होंने भगवान् को सबसे बड़ा मित्र बताते हुए सख्य-भक्ति की महत्ता का भी उल्लेख किया है। दुर्बल तन, मलिन बदन, अत्यन्त दीन, तथा क्षीण वस्त्र धारण किये हुए सुदामा, मित्र-भाव से कृष्ण के पास गये। उस समय कृष्ण ने मित्र के साथ क्या व्यवहार किया, सूर कहते हैं—

१—अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्।
—भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय १४, श्लोक ३२।

राग बिलावल

दूरिहि तै देखे बलवीर।
अपने बाल सखा सुदामा, मलिन बसन अरु छीन शरीर।
पौढ़े हुते प्रयंक परम रुचि रुक्मिणी चमर डोलावत तीर,
उठि अकुलाइ अनमने लीने मिलत नैन भरि आए नीर।

× × ×

दरसन परसि दृष्टि संभाषन रही न उर अंतर कछु पीर,
सूर सुमति तंदुल चबात ही कर पकर्यो कमला भई भीर।[1]

इस प्रकार की सख्य प्रीति के विषय में आगे सूर कहते हैं—

राग विलावल

ऐसी प्रीति की बलि जाऊँ।
सिंहासन तजि चले मिलन को सुनत सुदामा नाऊँ।

× × ×

सूर स्याम की कौन चलावै भक्तन कृपा अपार।[2]

सुदामा के बचनों में सूरदास, भगवान् की दीनबन्धुता तथा उनकी सख्यवत्सलता का वर्णन करते हैं —'दीनबन्धु भगवान् के बिना मित्रता का निर्वाह कौन कर सकता है? कहाँ, महाकृपण, मलिन और कुरूप सुदामा और कहाँ यादव-नाथ कृष्ण! वे सुदामा मित्र को हृदय लगाकर और सब सङ्कोच छोड़कर उससे मिले और उसके दरिद्र को उन्होंने दूर किया। भक्त के हृदय के इस सख्य-प्रेम-रस को भगवान् ही पहचान सकते हैं।'[3]

१—सूरसागर, उत्तरार्द्ध, बें० प्रे०, पृष्ठ ५८६।
२—सूरसागर, उत्तरार्द्ध, बें० प्रे० पृष्ठ ५८६।
३— राग विलावल

ऐसे मोहिं और कौन पहिचाने,
सुन सुन्दरि, दीन बन्धु बिन कौन मिताई मानै।
कहां हम कृपण, कुचील कुदरशन कहां वे यादवनाथ गुसाईं,
भेंटे हृदय लगाय अंक भरि उठि अग्रज की नाईं।
निज आसन बैठारि परम रुचि निज कर चरण पखारे,
पूँछी कुशल श्यामघन सुन्दर, सब संकोच निवारे।
लीने छोर चीर ते चाउर कर गहि मुख में मेले,
पूरब कथा सुनाइ सूर प्रभु, गुरु गृह बसे अकेले।

—सूरसागर, बें० प्रे० पृष्ठ ५८८,

सख्य-प्रेम से उमगते हुए, भक्त सूर के हृदय का जो सुखकारी चित्र, कृष्ण के बालोचित, आँखमिचौनी, भँवरा चकडोर, कन्दुक आदि खेल तथा गोचारण समय के कृष्ण, गोप और ग्वालों के परस्पर व्यवहार और उनके प्रीतिभोज में, खिंचा है तथा जो सख्य-प्रेम-भक्ति की रस-धारा इन प्रसङ्गों में बही है, वह परमानन्ददास को छोड़कर हिन्दी के अन्य कवियों की रचनाओं में दुर्लभ है। परमानन्ददास की बाल-सख्य-भक्ति सूर की इस भक्ति के कुछ निकट अवश्य पहुँचती है। कृष्ण के खेलों में बालसखाभाव से भाग लेने वाले, अन्धे सूरदास मानों खुली आँखों से वर्णन करते हैं—

राग गौरी

हरि तबै आपनि आँखि मुँदाई।
सखा सहित बलराम छिपाने जहाँ तहाँ गए भगाई।
कान लागि कहेउ जननी यशोदा, वा घर में बलराम।
बलदाऊ कों आवन दैहो, श्रीदामा सों है काम।
दौरि दौरि बालक सब आवत, छुवत महरि के गात।
सब आए, रहे सुबल श्रीदामा हारे अब के तात।
सोर पारि हरि सुबलहिं धाए, गह्यो श्रीदामा जाइ।
दै है सोंह नंद बाबा की जननी पै लै आइ।
हँसि हँसि तारी देत सखा सब भए श्रीदामा चोर।
सूरदास हँसि कहति यशोदा जीत्यो है सुत मोर।[1]

पीछे कहा गया है कि प्रेम-भक्ति की आरम्भिक अवस्था में भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान होना आवश्यक है; परन्तु प्रेम भाव की, चाहे वह प्रेम लौकिक सम्बन्धों के समान

तथा

राग धनाश्री

और को जाने रस की रीति।
कहाँ हौं दीन कहाँ त्रिभुवन पति, मिले पुरातन प्रीति।
चतुरानन तन निमिष न चितवत इती राज की नीति।
मोसों बात कही हृदय की गए जाहि जुग बीती।
बिन गोविन्द सकल सुख सुन्दरि भुस पर की सी भीति।
हौं कहा कहौं सूर के प्रभु के निगम करत जाकी कीति।

—सूरसागर, उत्तरार्द्ध, वें० प्रे०, पृ० ५८८।

1—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें०, प्रे०, पृष्ठ १२६।

किसी भी प्रकार के सम्बन्ध में प्रकट और पुष्ट हुआ हो, चरम अवस्था में माहात्म्य-ज्ञान छुट जाता है, और भक्त और भगवान् समान भाव-भूमि में आ जाते हैं। सूर की बाल-सखा-भक्ति में भी भक्त और भगवान् की समानता का भाव प्रकट हुआ है। कृष्ण बाल-सखाओं के साथ खेल में जब हारने लगे तब कुछ खीझ के साथ रुष्टता प्रकट करने लगे। सखा श्रीदामा मित्रता में समाधिकार प्रकट करते हुए कृष्ण से कहते हैं:—'खेलने में कोई किसी का स्वामी नहीं है, तुम व्यर्थ के लिए क्यों रिस करते हो। हम तुम्हारी छाँह में नहीं बसते। तुमसे हमारी जाति भी हेठी नहीं है। तुम केवल इसलिए अपना अधिकार जमाते हो कि तुम्हारे घर में हमारे यहाँ से कुछ गायें अधिक हैं। जो रूठमानी करे उसके साथ कौन खेले।'[1] श्रीदामा के यह कहने पर सब सखा खेल छोड़कर जहाँ तहाँ लेट रहे। भक्तों की 'पैज' पूरी करने में भगवान् अपनी महत्ता और अधिकार को भूल जाते हैं। आखिर सूर के भगवान् ने अपने मित्रों को मनाया और श्रीदामा को दाँव दे दिया।

गोचारण प्रसङ्ग में सूर की सख्य-भक्ति का और भी अधिक प्रगाढ़ रूप प्रकट हुआ है। सख्य-प्रेम के वशीभूत हो सूर के भगवान् सखा भक्तों के साथ गाएँ चराते हैं और उनके सुख के लिए अनेक आमोद-प्रमोद भरे खेल रचते हैं।[2] कृष्ण की निजी गाएँ तो

१— राग सारङ्ग।

खेलत में को काको गोसैंयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा बरबस ही कत करत रिसैंयाँ।
जाति पाँति हमते कछु नाहिंन बसत तुम्हारी छहियाँ।
अति अधिकार जनावत याते, अधिक तुम्हारे हैं कछु गइयाँ।
रूहठि करै तासों को खेलै, रहै पौढ़ि जहाँ तहाँ सब ग्वैयाँ।
सूरदास प्रभु खेलोई चाहत दाँव दयो करि नंद दोहैयाँ।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध बें० प्रे०, पृष्ठ १३०।

२— राग सारङ्ग।

चरावत वृदांबन हरि गाई।
सखा लिए संग सबल श्रीदामा डोलत हैं सुखपाई।
क्रीड़ा करत जहाँ तहाँ सब मिलि आनंद बढ़ाइ बढ़ाइ,
बगरि गईं गैयाँ बन बीथिनि देखी अति अकुलाइ।
कोउ गए ग्वाल गाइ बन घेरन कोऊ गए बछरु लिवाइ,
आपुहि रहे अकेले बन में कहुँ हलधर रहे जाइ।
वंशीवट शीतल जमुनातट अतिहि परम सुखदाइ,
सूरश्याम तब बैठि विचारत सखा कहाँ बिरमाइ।

—सूरसागर, दशम स्कंध, बें० प्रे०, पृ० १६८।

उनके वश में हैं हीं; मित्रों की भटकी हुई तथा 'हरिहा' गायों को भी बुला कर अपनी गायों के साथ चराते हैं। गो रूप कुमार्गगामिनी इन्द्रियों के निरोध में मानों भगवान् सख्य-अनुग्रह से भक्तों के सहायक होते हैं। मित्रों की खोई गायों ढुँढवा कर कृष्ण उनको चेतावनी देते हैं--'भैया, मुझे सब गायें कुञ्ज में मिल गई। इस सघन बन में अपनी अपनी गायों को सावधानी से चराओ। तुम कहीं फिरते हो और तुम्हारी गाएँ कहीं स्वतन्त्र घूमती हैं।'[1] कृष्ण के इन वाक्यों में इन्द्रिय-निरोध की, चेतावनी है। सूर ने स्वयं अपने विनय के पदों में एक स्थल पर अविद्या से भ्रमित अपनी मानसिक वृत्ति को अन्योक्ति द्वारा हरिहा गाय कहते हुए कृष्ण से प्रार्थना की है कि वे मित्र-अनुग्रह के साथ उनकी गाय को भी अपने गोधन में मिलाकर चरालें क्योंकि उनसे वह गाय सँभलती नहीं है।[2]

भक्तों के सख्य-वत्सल भगवान् को षट्रस व्यञ्जनों में वह स्वाद नहीं आता जो उनको ग्वाल सखाओं के झूठे कौर, सुदामा के चावल तथा विदुर के साग में आता है। सखा-प्रेम में बँधकर वे अपनी महत्ता को भूल जाते हैं। गोचारण-प्रसङ्ग में सूर कहते हैं—

१— पाई पाई है भैया कुंज वृन्द में टाली।
अबके अपनी हटकि चरावहु जैहै हटकी बाली।
आवहु बेगि सकल दुहुँ दिसि ते कत डोलत अकुलाने,
सुनि मृदु बचन देखि उन्नत कर हरखि सबै समुहाने।
तुम तो फिरत अनत-ही ढूँढ़त ये बन फिरति अकेली,
ह्याँ की गाय कौन पर लैहो, सघन बहुत द्रुम बेली।
सूरदास प्रभु मधुर बचन कहि राखत सबहिं बुलाए,
नृत्य करत आनंद गो चारत सबै कृष्ण पै आए।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० १६८।

२— राग मलार
माधव जू यह मेरी इक गाई,
अब आजु ते आपु आगे लै आइए चराई।
है अति हरिहाई हटकत हूँ, बहुत अमारग जाती,
फिरति वेदवन ऊख उखारति सब दिन अरु सब राती।
हित कै मिले लेहु गोकुल पति अपने गोधन माँह,
सुख सोऊँ सुनि बचन तुम्हारे देहु कृपा करि बाँह।
निधरक रहौं सूर के स्वामी जन्म न जाऊँ फेरि,
मैं ममता-रुचि सों रघुराई पहिले लेउँ निबेरि।
—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे० पृ० ७।

राग सारङ्ग

ग्वालन कर ते कौर छुड़ावत
जूठो लेत सबन के मुख कौ अपने मुख लै नावत।
षटरस के पकवान धरे सब तामें नहि रुचि पावत,
हा हा करि करि माँगि लेत हैं कहत मोहि अति भावत।
यह महिमा ऐई, पै जानै जाते आपु बँधावत,
सूरश्याम सपने नहि दरशत मुनि जन ध्यान लगावत।[१]

सख्य-भक्ति के सुखकारी रस को चखते हुए परमानन्ददास गोप-रूप से गोचारण तथा छाक के पदों में अपने सखा कृष्ण से कहते हैं—

राग सारङ्ग

आजु दधि मीठो मदन गोपाल।
भावत मोहि तिहारो झूँठो चंचल नयन विशाल।
आने पात बनाए दोना दिये सबन कों बाँट,
जिन नहिं पायो सुनो रे भैया, मेरी हथेरी चाट।
बहुत दिनन हम बसे कुमुदबन कृष्ण तिहारे साथ,
ऐसो स्वाद हम कबहुँ न चाख्यो सुन गोकुल के नाथ।
आपुन हँसत हँसावत ग्वालन मानस लीला रूप,
परमानन्द प्रभु हम सब जानत तुम त्रिभुवन के भूप।[२]

नन्ददास के उपलब्ध काव्य में कुछ पद कृष्ण की गोचारण तथा छाकलीला के भी हैं, परन्तु उनमें कवि की प्रगाढ़ सख्य-भक्ति का परिचय नहीं मिलता। नन्ददास की 'सुदामाचरित' नामक दोहा-चौपाई में लिखी एक छोटी सी पुस्तक है। इस पुस्तक के अन्तिम छन्दों में कवि ने सख्य भक्ति के माहात्म्य पर कहा है—'जो सुदामा की तरह सख्य भाव से भगवान् को भजेगा उसको सब सुख प्राप्त होंगे।'[१]

ऊपर कहा गया है कि कृष्णदास, कुम्भनदास, चतुर्भुजदास, गोविन्द स्वामी तथा छीत स्वामी के सख्य-भक्ति सम्बन्धी पद बहुत अल्प संख्या में लेखक को मिले हैं।

१—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ १२५-१२६।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ४३२।

१—ऐसे जो कोऊ हरि को भजै, हरि उदारता ते सुख सजे।
—सुदामा चरित, नन्ददास, 'शुक्ल', परिशिष्ट, पृ० ४२४।

सख्य-भाव से सम्बन्धित बाल-क्रीड़ा तथा गोचरण प्रसङ्गों के जो थोड़े पद लेखक के सङ्ग्रह में हैं उनमें केवल सखाओं के साथ कृष्ण के आमोद-प्रमोद तथा 'छाक' खाने का प्रसङ्ग ही वर्णित है। सख्य-प्रेमावेश की इनमें कमी है।[1]

वात्सल्य-भक्ति

पीछे कहा गया है कि श्री वल्लभाचार्य जी ने श्री नाथ जी की सेवा-पद्धति में वात्सल्य-भाव की सेवा पर विशेष जोर दिया था; क्योंकि इस भाव में निष्काम प्रेम का भाव सर्वाधिक रहता है। इस प्रकार की प्रीति की भक्ति के अभ्यास से साधन की आरम्भिक अवस्था में लौकिक वासनाएँ जल्दी छुट जाती हैं और निरोध की अवस्था द्रुतगति से आती है। बालक के निष्कपट भोले और पवित्र रूप पर किस माता पिता का मन नहीं रीझता ! अपने कष्ट और स्वार्थ को भूल कर शिशु की परिचर्या में किस माता ने अपने स्वार्थ को नहीं भुला दिया ! अथवा सन्तति-विछोह में कितने वात्सल्य-स्नेह-सने हृदय नहीं छटपटाते ? रतिप्रेम की तरह वात्सल्य-स्नेह भी मानव जाति का एक व्यापक भाव है। अन्तर केवल इतना है कि लौकिक रति, दो प्राणियों में परस्पर समान त्याग और समान लगाव चाहती है। रतिभाव के एकाङ्गी प्रेम में वेदना की अनुभूति अधिक है जो प्रेम की उन्नत अवस्था में ही सुख में परिणत होती है। इसी कारण से रति-प्रेम की भक्ति एक कठिन साधन मानी गई है। वात्सल्य-प्रेम में स्नेह-पात्र के अबोध और असक्त होने के कारण स्नेही को उससे, बदले के रूप में, कुछ चाहना नहीं रहती। शिशु का भोला स्निग्ध और पवित्र स्वरूप ही उसके मन को प्रसन्न रखने लिए पर्याप्त होता है। वात्सल्य-भाव की जिस शुचिता, सुखमग्नता तथा प्रबलता का अनुभव मातृ-हृदय करता है, वह अन्य मनुष्य का हृदय नहीं करता। वात्सल्य-भाव की भक्ति करनेवाले कृष्ण भक्तों ने इसीसे अपने को यशोदा की स्थिति में अधिक रक्खा है, नन्द के रूप में अपने को उतना नहीं देखा।

वात्सल्य-भक्ति का रूप श्रीमद्भागवत में भी है, परन्तु जितना पूर्ण और प्रभावशाली इस प्रेम का भाव व्रजभाषा कवियों में, और विशेष रूप से अष्टछाप काव्य में प्रकट हुआ है उतना भागवत में भी नहीं है, इतना अवश्य है कि वल्लभ-सम्प्रदाय की तथा अष्टछाप की सर्वभावमयी भक्तियों का मूल स्रोत, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, इसी ग्रन्थ में है। भागवत, तृतीय स्कन्ध, अध्याय २५, में कपिल अपनी माता देवहूति से कहते हैं—'हे

१— राग रामकली।

निर्तत मोहन रसिक सखान सहित, थ थ तत त थेई थेई तत थेई तता।
टिपारो सिर पीत लाल काछनी बनी किंकिनी झनझनात गावत सुरसता,
गोविंद प्रभु गोप बालक संग जै जै जै करत प्रेम आतुरता।
—लेखक के निजी, गोविन्दस्वामी-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० १७।

माता! जिन लोगों का गुरु, सुहृद, इष्टदेव, प्रिय आत्मा, पुत्र और सखा में ही हूं उनको मेरे कालचक्र से भय नहीं होता'[१] 'नारद-भक्ति-सूत्र' में भी प्रेमरूपा भक्ति की ग्यारह आसक्तियों में एक आसक्ति 'वात्सल्य' की भी कही गई है।[२] कृष्णचैतन्य-सम्प्रदायी श्री रूपगोस्वामी ने अपने ग्रन्थ 'श्री हरि-भक्ति-रसामृत सिन्धु' में वात्सल्य-भाव की भक्ति को एक पृथक् रस मान कर इसका विस्तार से निरूपण किया है।[३] वैसे चैतन्य-सम्प्रदाय में वात्सल्य-भक्ति के अभ्यास पर कभी बल नहीं दिया गया।

अष्टछाप कवियों की रचना तथा उनके जीवन वृत्तान्तों से ज्ञात होता है कि सूरदास और परमानन्ददास की वात्सल्य-भक्ति अन्य अष्टछाप भक्तों की भक्ति से अधिक बढ़ी-चढ़ी थी। '८४ वार्ता' में यह स्पष्ट उल्लेख है कि इन दोनों भक्तों ने बाललीला के पद बहुत संख्या में बनाये।[४] इन भक्तों की उपलब्ध रचनाएँ बताती हैं कि कृष्ण की विविध बालचेष्टा तथा खेलों में उनकी मानसिक वृत्ति उतनी ही प्रबलता से रमी थी जितनी शृंगार रति तथा सख्य भाव की भक्ति में। नन्ददास और चतुर्भुजदास ने बालभाव के पदों की रचना की है। इस विषय के पद लेखक के सङ्ग्रह में विद्यमान हैं, परन्तु उन पदों में भाव की गहनता की कमी है। सूर का बाल-भाव-चित्रण तो प्रसिद्ध ही है। ऐसा रस पूर्ण तथा मुग्धकारी वर्णन भारतीय भाषाओं के कदाचित् किसी भी कवि की कृति में न मिले। मातृहृदय की जिस प्रकार की संयोग वियोगात्मक अनुभूतियाँ, शिशु के संयोग-वियोग में होती हैं और जितना रूप माधुरी का सुख किसी सुन्दर, चञ्चल, तथा क्रीड़ाशील बालक को देख कर दर्शक-वृन्द लेता है उन सब का अनुभव सूर और परमानन्ददास के भक्ति-भावुक हृदय प्रबलता के साथ करते थे। सूरसागर में कृष्ण की बाललीला तथा कृष्ण-वियोग में यशोदा-विरह के सम्पूर्ण पद सूर की इस भक्ति के प्रमाण हैं। सूर का मातृ-हृदय बालरस की अभिलाषा इस प्रकार करता है—

मेरो नान्हरिया गोपाल बेगि बड़ो किन होहि,
इहि मुख मधुरे बयन हँसि कबहूँ जननि कहोगे मोहि।
यह लालसा अधिक दिनदिन प्रति कबहूँ ईश करे,

१—नकर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे, नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढिहेतिः।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च, सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्।
—भागवत तृतीय स्कन्ध, अध्याय २५, श्लोक ३८।

२—नारद-भक्ति-सूत्र, सूत्र ८२।

३—विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायी पुष्टिमुपागतः।
एष वत्सलतामात्रः प्रोक्तो भक्तिरसो बुधैः॥ १॥
—श्रीहरि भक्ति-रसामृत, सिंधु, पृष्ठ ६६१।

४—अष्टछाप, काँकरोली, पृ० ६०-६१

मो देखत कबहूँ हँसि माधव पगु द्वै धरनि धरै।
हलधर सहित फिरै जब आँगन चरण शब्द सुख पाऊँ,
छिनछिन क्षुधित जान पय कारन हौं हठि निकट बुलाऊँ।
आगम निगम नेति करि गायो शिव उनमान न पायो,
सूरदास बालक रस लीला मन अभिलाष बढ़ायो।[१]

अपने पुत्र कृष्ण के बाल-सौंदर्य पर माता यशोदा मुग्ध है, यशोदा ही क्यों सम्पूर्ण ब्रज की माताएँ उस पर मुग्ध हैं। सूर कहते हैं कि मेरी अनुभूति में तो इस अपार सुन्दरता-सिन्धु की केवल एक बूँद ही ग्रहण करने की शक्ति है, मेरी मति तो इस रूप समुद्र में मग्न होकर विलीन हो रही है।

राग सारङ्ग

लालन तेरे मुख पर हौं वारी,
बाल गोपाल लगी इन नैननि रोग बलाइ तुम्हारी।
लट लटकनि मोहन मसि बिंदुका तिलक भाल सुखकारी,
मनहुँ कमल अलिशावक पंगति उटत मधुप छवि भारी।
लोचन ललित कपोलनि काजर छबि उपजत अधिकारी,
सुखमें सुख और छवि बाढ़ति हँसत दै दै किलकारी।
अल्प दसन कलबल करि बोलनि बिधि नहि परत बिचारी,
निकसति जोति अधरनि के बीच है मानों बिधु में बीजु उजारी।
सुन्दरता को पार न पावति रूप देखि महतारी,
सूर सिंधु की बूँद भई मिलि मति गति दृष्टि हमारी।[२]

(शृङ्गार रति की वियोग-अवस्था में जैसी वेदना और विकलता से पूर्ण अनुभूतियाँ बिछोही हृदय की (चाहे वे लौकिक हों अथवा ईश्वर के उन्मुख भक्त-हृदय की) होती हैं, वैसी ही वात्सल्य-वियोग-वर्णनों में भी हुआ करती हैं। सूरदास के वात्सल्य वियोग वर्णनों में भी उनको प्रगाढ़ बाल-भक्ति के दर्शन होते हैं।)

राग सारङ्ग

यद्यपि मन समुझावत लोग,
शूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग।
निसिवासर छतियाँ लै लाऊँ बालक लीला गाऊँ,
वैसे भाग बहुरि फिरि ह्वैहैं मोहन मोद खवाऊँ।
× × ×

१—सूरसागर, दशमस्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० १०६।
२—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ११२।

विदरत नहीं वज्र को हृदय हरि वियोग क्यों सहिए,
सूरदास प्रभु कमल नैन बिनु कौने बिधि ब्रज रहिए।[1]

श्री वल्लभाचार्य जी के भक्ति-सम्बन्धी विचारों को देते हुए लेखक ने कहा है कि भक्त के मन में भक्ति-प्रेम के उत्कर्ष के लिए ईश्वर से (चाहे इसे किसी भी भाव में देखा हो) बिछुड़ने का ज्ञान और उसके मिलन की उत्कट अभिलाषा का होना आवश्यक है। इसी वल्लभ-सम्प्रदायी भक्त का लक्ष्य होता है कि वह रति-प्रेम, सखा-प्रेम अथवा वात्सल्य-प्रेम के वियोग-जन्य दुःख का अनुभव करे।[2] सूरदास के पदों में वात्सल्य-भक्ति का वियोग पक्ष भी बहुत प्रभावकारी है।

परमानन्ददास कृष्ण के बाल, कुमार और पौगण्ड, तीनों लीला-रूपों के उपासक थे, और जो रूप उनके मन में रमता था, वह था कुमार-अवस्था का 'माखन चोर'। अशक्त शिशु-रूप की अपेक्षा नटखट बालक की ओर उनका बाल-स्नेही-मन अधिक खिंचता था। एक पद में वे कहते हैं—

राग सारङ्ग

जहँ जहँ चरन कमल माधो के तहीं तहीं मनमोर।
× × ×
इष्ट देवता सब बिधि मेरे जे माखन के चोर,
परमानंददास की जीवनि गोपिन पट झकझोर।[3]

'कृष्ण की बाल छवि पर परमानन्ददास का हृदय मुग्ध है। उनके हृदय-गत वात्सल्य-भाव के द्योतक पदों में से नीचे लिखे पद अवलोकनीय हैं—

बाल-विनोद गोपाल के देखत मोंहि भावै,
प्रेम-पुलकि आनन्द भरि जसोमति गुन गावै।
बल समेत वन-साँवरो आँगन में धावै,
बदन चूमि कोरा लिये सुत जानि खिलावै।

१—सूरदास दशम स्कन्ध वें० प्रे० पृ० ४८१।

२—यच्च दुःखं यशोदाया नंदादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम क्वचित्। १।
—निरोधलक्षण, षोडशग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक। १।

३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० २६६।

सिव बिरञ्चि मुनि देवता जाको अंत न पावैं,
सो परमानन्द ग्वालि कों भलो मनावैं।[1]

वात्सल्य-विरह की अनुभूति में परमानन्द जी कहते हैं—

राग सारङ्ग

गोपाल बिन कैसे कैं ब्रज रहिबो,
धूसरि धूरि उठाय गोद लै लाल कौन सों कहिबो।
जो मधुपुरी दिवस लागत हैं सोच सूल तन सहिबो,
परमानन्द स्वामी को तजि कें सरन कौन की गहिबो।[2]

नन्ददास ने भी कृष्ण-जन्म की बधाई और बाल-लीला पर पद लिखे हैं; परन्तु वे बहुत थोड़ी संख्या में उपलब्ध हैं। उन पदों में सूर की सी प्रगाढ़ वात्सल्य-भक्ति का परिचय नहीं मिलता। नन्ददास कृष्ण के किशोर रूप के उपासक विशेष रूप से थे। दशम स्कन्ध भाषा-भागवत के सप्तम अध्याय में कवि ने कृष्ण के बालरूप की महत्ता और उसकी पवित्रता का निम्न लिखित शब्दों में वर्णन किया है—

सुनि सप्तम अध्याय उदार, जामें बाल चरित मधुधार,
जिहि रस सिंधु मगन भयो राजा, फिरि पूछै सुक अति सुखकाजा।
हो प्रभु हरि कौ बाल चरित्र, अति विचित्र अरु परम पवित्र,
जदपि अवर हरि के अवतार, मंगलरूप सकल श्रुतिसार।
पै यह बाल चरित मधुधार, या सम कछु न अवर संसार,
पियत तृपति मानत नहिं कान, औरौ कहौ जान मनि जान।[3]

यशोदा रानी के साथ-साथ प्रातःकाल सोते से जगाकर अपने बालगोपाल के विशाल नेत्र और सुन्दर बदन को देखने के लिए नन्ददास भी उत्सुक हैं। वे कहते हैं—

राग भैरव

चिरैया चुह चुहानी सुनि चकई की बानी,
कहति जसोदा रानी जागो मेरे लाला।

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १३।
२— ,, ,, ,, ,, नं० २२०
३—दशम स्कन्ध भाषा, नन्ददास, 'शुक्ल' पृ० २२५।

रवि की किरन जानी कुमुदिनी सकुचानी,
कमलन विकसानी दधि मथें बाला।
सुबल श्रीदामा तोक उज्ज्वल वसन पहिरे,
द्वारे ठाढ़े हेरत हैं बाल गोपाला।
नंददास बलिहारी उठि बैठो गिरिधारी,
सब कोउ देख्यो चाहैं लोचन विसाला।[1]

चतुर्भुजदास जी ने भी बाल-भाव पर कुछ पद लिखे हैं जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। वे पद कवि की वात्सल्य-भक्ति के परिचायक हैं। यद्यपि चतुर्भुजदास की भक्ति मधुरभाव की थी परन्तु कृष्ण के बाल-रूप के रस से भी वे अपनी मानसिक आँखें तृप्त करते थे। मातृ-हृदय से वे कहते हैं—

राग जैतश्री

माई लेन देहु जोई मेरे लालहि भावै,
दधि माखन चौगुनो देऊँगी या सुख के लेखे जाकों जितो आवै।
पालना झूलत कुलदेव आराध्यो यतन यतन करि घुटुरन धावै,
सरबस ताहि देऊँगी जो मेरे नन्हरे गोविन्द कों पा पा चलन सिखावै।
यह अभिलाष होत दिन दिन प्रति कब मेरो मोहन धेनु चरावै,
चतुर्भुजदास गिरिधरन प्रिय इह रस निरखि निरखि उर नैन सिरावै।[2]

कुम्भनदास, कृष्णदास अधिकारी, गोविन्दस्वामी तथा छीतस्वामी की रचनाओं में बाललीला के दो चार साधारण पदों के अतिरिक्त अन्य पद लेखक को उपलब्ध नहीं हुये। उन दो-चार पदों के आधार से वस्तुतः यह नहीं कहा जा सकता कि इन भक्तों की भक्ति वात्सल्य-भाव की भी थी।

मधुर-भक्ति

पीछे कहा गया है कि लोक में प्रेम के जितने भिन्न-भिन्न सम्बन्ध हो सकते हैं उन सब को भक्तों ने लोक से हटाकर ईश्वर के साथ जोड़ा है; यहाँ तक कि ऐन्द्रिय विषयों में अनुरक्त लोगों को संसार-विषय से छुटाने के लिए भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने ईश्वर को ही उनकी विषय-तृप्ति का साधन बताया। लौकिक वस्तु अथवा व्यक्ति के संसर्ग से जो आनन्द हमारी इन्द्रियाँ अथवा मन लेते हैं, उसका मूल और सत्य स्रोत परमात्मा में है।[3]

१—नन्ददास, शुक्ल पृ० ३३१, पाठ-भेद से।

२—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद सं० ६।

३— रूप प्रेम आनन्द रस जो कछु जग में आहि,
सो सब गिरधर देव सों निधरक बरनों ताहि।
—रस-मञ्जरी, नन्ददास, 'शुक्ल' पृष्ठ ३६।

कृष्णभक्तों की आँखें, लोक-रूप को छोड़ साकार भगवान् की रूप-माधुरी से, कान लोक विषयक स्वर को छोड़ कृष्ण के मुरली नाद में, जिह्वा, उनके अधरामृत में, त्वचा उनके आनन्दकारी स्पर्श से तथा मन, उनके साथ रमण से तृप्ति लाभ करते हैं। मर्यादा-भक्ति में भगवान् के साथ वे ही भाव जुड़ते हैं जो लोक-मर्यादा से सम्मत हैं। परन्तु रागानुगा-भक्ति में विधि-निषिद्ध का ध्यान नहीं है, इसमें अच्छे बुरे सभी सम्बन्ध परमात्मा के साथ हैं।

प्रीति चाहे काम रूपा हो, चाहे सम्बन्ध रूपा, उसका एक रूप स्त्री-पुरुष-रति का भी होता है। भक्ति-शास्त्र में इस रति-भाव जन्य आनन्द को मधुर-रस कहते हैं और लोक पक्ष में इसे शृङ्गार रस। काव्य-शास्त्र में स्त्री-पुरुष की परस्पर प्रीति, चाहे स्वकीय भाव की हो चाहे परकीय की, शृङ्गार-रस का स्थायी भाव है और एकाङ्गी अथवा अनौचित्य पूर्ण रति शृंगार-रसाभास का कारण होती है। भक्ति में शृङ्गार-रस तथा शृङ्गार-रसाभास दोनों को मधुर-रस की संज्ञा दी जाती है। काव्य-शास्त्र में मधुर-भावादि की भक्ति के आनन्द को रस की संज्ञा नहीं दी गई, केवल भाव-कोटि में ही इसे गिना गया है। जिस प्रकार की रस-सामग्री (भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव) शृङ्गार-रस अथवा शृङ्गार-रसाभास की होती है उसी प्रकार की रस-सामग्री मधुर रस की है, अन्तर केवल इतना ही है कि मधुर-रस में जो प्रेम पति अथवा जार भाव से किया जाता है, उसका आलम्बन लोक-नायक न होकर ईश्वर या ईश्वर का कोई अवतरित स्वरूप होता है। चैतन्य-सम्प्रदाय के श्रीरूपगोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थ 'हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु' में भक्तिरस के विवेचन के अन्तर्गत इस मधुर-रस का भी निरूपण किया है। व्रजकृष्ण तथा उनकी प्रियाएँ (भक्त) इस रस के आलम्बन हैं, मुरली का मधुर स्वर, सखा, सखी आदि इसके उद्दीपन विभाव हैं। स्वेद रोमाञ्च, प्रकम्प, स्वरभङ्ग, वैवर्ण्य, अश्रु आदि इसके अनुभाव हैं, तथा निर्वेद, हर्षादि जो शृङ्गार-रस के व्यभिचारी भाव हैं, वे सभी, मधुर-रस के भी व्यभिचारी भाव हैं। कृष्ण में रति इस रस का स्थायी भाव है।[1] शृङ्गार-भाव की तरह मधुर-भाव भी दो प्रकार का होता है—संयोगात्मक और वियोगात्मक, और संयोग-वियोग की वे ही अवस्थाएँ भक्ति-शास्त्र में कही गई हैं जो काव्य-शास्त्र में मानी गई हैं, क्योंकि प्रेम-भाव का मनोविज्ञान दोनों अवस्थाओं में (लौकिक-प्रेम तथा ईश्वरीय प्रेम) एक सा ही रहता है। इसी से भक्ति-प्रेम तथा लोक-प्रेम के चित्रण हमें एक से प्रतीत हुआ करते हैं।

मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि मनुष्य मात्र का सबसे अधिक व्यापक भाव रति-प्रेम है। प्रीति के जितने सम्बन्ध हैं, उनमें स्त्री-पुरुष के प्रेम में अधिक आकर्षण है, इसके अन्तर्गत भी या तो प्रेम की पूर्वराग अवस्था में अथवा स्वकीय प्रेम से

१—हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु, पश्चिम विभाग, लहरी ५, पृष्ठ ४२६।

परकीय प्रेम या स्वकान्त से पर पुरुष-प्रेम में अधिक तीव्रता, गहनता और टीस के आनन्द होते हैं। इसीलिए अनेक आध्यात्मिक साधकों ने, जहाँ, प्रेम का साधनमार्ग लिया है वहाँ उन्होंने वात्सल्य सख्य, दास्य और दाम्पत्य भावों की अपेक्षा पूर्वराग, अथवा जार-प्रेम पर अधिक ज़ोर दिया है। लोकानुभूत स्त्री-पुरुष के प्रेम-सम्बन्ध की व्यापकता को देखकर ज्ञानी साधकों ने भी ईश्वर के प्रति अपने आध्यात्मिक सम्बन्ध को अनुभूतियों को लौकिक शृङ्गार की भाषा तथा अन्योक्तियों में प्रकट किया है। काव्य-शास्त्रकारों ने रतिभाव के रस को रसराज कहा है, क्योंकि, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, एक तो यह व्यापक भाव है; दूसरे, अन्य मानव-अनुभूत भावों का भी समावेश इसमें बड़ी हद तक हो जाता है। भक्ति-शास्त्रियों ने भी मधुर-रस को भक्ति का मुख्य रस माना है। कान्ता-भाव की प्रीति में प्रेम की आत्मोत्सर्ग और आत्म-विस्मृति की अवस्था पूर्णरूप में आ जाती है। आत्मनिवेदन तथा आत्मसमर्पण प्रेम-भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है। नवधा भक्ति के साधन में जो अन्तिम अवस्था आत्म-निवेदन की कही गई है, वह कान्ता-भाव में ही पूर्ण होती है।

अष्टछाप भक्तों की रचनाओं के देखने से पता चलता है कि उनकी रागानुगा-भक्ति प्रेम के विविध सम्बन्धों में प्रकट हुई है; परन्तु इन सब सम्बन्धों में उनकी मानसिक वृत्ति मधुर-प्रेम की भक्ति में अधिक रमी है और मधुर प्रेम की जितनी अवस्थाएँ होती हैं, उन सबका व्यक्तीकरण उन्होंने किया है। वल्लभ-सम्प्रदायी भक्त का, वास्तव में चरम लक्ष्य भी यही है कि गोपी-भाव से वह भगवान् के सहवास में अखण्ड आनन्द-लाभ करे। वियोग और संयोग अवस्थाओं में स्त्री-रूप को लेकर उन्होंने जो प्रेमानुभूति की है वह बहुधा स्वकीय भाव की ही है। परकीय-भाव का व्यक्तीकरण अल्प है। इन भक्तों की रचना में व्यक्त राधा और गोपियों के प्रेम के भीतर इन्हीं भक्तों की अन्तरात्मा छिपी है। कृष्ण के संयोग में जब गोपी आनन्दमग्न होती हैं तब इनका हृदय इष्ट के संयोग-सुख में गोते लगाता है, और जब वे कृष्ण-वियोग में छटपटाती हैं तब भी इन्हीं का मन प्रिय-मिलन को व्याकुल होता है। पीछे उल्लेख हो ही चुका है कि भक्ति का जो रूप हमें अष्टछाप में मिलता है वह किसी अन्य सम्प्रदाय का इन पर सीधा व्यक्तिगत प्रभाव नहीं है, मधुर भक्ति का समावेश आचार्यजी के उत्तर जीवन तथा श्री विट्ठलनाथ जी के आचार्यत्व काल में ही वल्लभ-सम्प्रदाय में हो गया था। इसलिए, मधुर भक्ति अथवा शृङ्गाररस-सम्बन्धी इन कवियों के पदों में निम्बार्क, चैतन्य, अथवा राधा वल्लभीय आदि किसी अन्य सम्प्रदाय की छाप नहीं है।

भक्ति में स्त्रीभाव

श्री वल्लभाचार्य जी ने कहा है कि कृष्ण के नित्य रास में स्त्रियाँ अथवा स्त्रीभाव को धारण करनेवाले पुरुष-भक्त ही प्रवेश पा सकते हैं। इस बात का उल्लेख 'गोपी' प्रसङ्ग में पीछे किया जा चुका है तथा यह भी कहा गया है, कि इन अष्ट भक्तों का स्वरूप पुरुष-रूप में सखा-भाव का है, और स्त्री-संज्ञा से कृष्ण की प्रिया भाव का है। वस्तुतः अष्टछाप की

रचनाओं में स्त्री-भाव से होनेवाली भक्ति का अधिक परिचय है। सूरदास और नन्ददास ने श्रीमद्भागवत, गीता तथा श्री वल्लभाचार्य के कथनों का अनुकरण करते हुए कहा है—'भगवान् सभी भावों से भजनीय हैं।'[१] फिर भी इन की भक्ति में प्रधानता स्त्रीभाव की ही है जो स्वकीया, परकीया तथा मातृ-हृदय के रूप में प्रकट हुई है। अष्टछाप के नीचे लिखे पदों में स्त्रीभाव की भक्ति का परिचय है—

गोपी पद रज महिमा विधि भृगु सों कही।
× × ×
जो कोइ भरता भाव हृदय धरि हरिपद ध्यावैं।
नारि पुरुष कोउ होइ श्रुति ऋचा गति सो पावैं।
तिनके पदरज जो कोई वृन्दाबन भू माहिं।
परसे सोऊ गोपिका गति पावे संशय नाहिं।[२]

हमको विधि ब्रज वधू न कीन्हीं, कहा अमरपुर वास भए,
बारबार पछितात यहै कहि, सुख होतो हरि संग रए।
कहा जन्म जो नहीं हमारो, फिरि फिरि ब्रज अवतार भलो,
वृन्दाबन द्रुम लता हूजिए करता सों मांगिए चलो।
यह बांछना होइ क्यों पूरन दासी ह्वै वरु ब्रज रहिए,
सूरदास प्रभु अन्तर्यामी तिनहिं बिना कासों कहिए।[३]

हौं तो चरन कमल रज अटकी,
मदन गोपालहि कैसे छाड़ों पीछे बहुत दिन भटकी।
मात पिता सज्जन बंधव मिलि बार-बार हौं हटकी,
निंदा करत हँसत मोंकों मारत बरजत ही उठि सटकी।
एतो स्यान कीयो में बुधिबल भलो भयो समरथ सों अटकी,
परमानंद प्रभु जानि सिरोमनि लागी काम कला सब नट की।[४]

१—भजै जेहि भाव जो मिलै हरि ताहि त्यों, भेदभेदा नहीं पुरुष नारी।
सूर प्रभु स्याम ब्रजबाम आतुर काम मिलीं बनधाम गिरिराजधारी।
—सूरसागर, वें० प्रे०, पृ० ३४०

सर्वभाउ भगवान कान्ह जिनके मन माहीं।
—रासपञ्चाध्यायी, नन्ददास, 'शुक्ल,' पृ० १६२।

२—सूरसागर वें० प्रे०, पृ० ३६४।

३—सूरसागर वें० प्रे०, पृ० ३४४।

४—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १०७।

राग नायकी

प्यारे पैयाँ परन न दीनी,
जोइ जोइ विथा हुती मेरे मन, एक छनक में दूरि जो कीनी।
जो सौतिन मोसों अनख करतहीं, देखन आनँद भीना,
नंददास प्रभु चतुर सिरोमनि प्रीति छाप कर लीनी।[1]

राग केदारो

देखि जीऊँ माई नैन रँगीलो,
लै चलि सखी तेरे पाइ लगों जहाँ गोवरधनधर छैल छबीलो।
रसमय रसिक रसिकिनी मोहन रसमय बचन रसाल रसीलो,
नवरंग लाल नवल गुन सुंदर नवरँग भाँति नव नेह नवीलो।
नख सिख सींव सुभगता सींवा सहज सुभाइ सुदेस सुहीलो,
कृष्णदास प्रभु रसिक मुकट मनि सुभग चरित रिपुदलन हठीलो।[2]

राग विहाग

तनक हरि चितवो मेरी ओर,
मेरे तो मोहन तुमहीं इक, हों तुम को लाख करोर।
कब की मैं टाढ़ी अरज करति हों सुनिये नंद किशोर,
कृष्ण प्रिया (दास) के प्राणजीवनधन करुना निधि चितचोर।[3]

राग केदारो

मेरी आली री बंशी बस हों भई।
मधुर चारु धुनि श्रवन प्रवेसित कठिन ठगोरी परि गई।

× × ×

तन मन प्रान ध्यान सब सर्पित मोहन गिरिधर धरि लई।[4]

स्वकीय भाव की मधुर-भक्ति

कृष्ण से माधुर्य-भाव का प्रेम करनेवाली दो प्रकार की गोपियाँ थीं। एक, वे कुमारिकाएँ थीं, जिन्होंने आरम्भ से ही कृष्ण को रूपमाधुरी और गुणों पर मुग्ध होकर उन्हें अपना पति माना था और उनमें से कुछ का उनसे वरण भी हो गया था। दूसरी, वे विवाहिता गोपियाँ थीं, जिन्होंने पर-पुरुष कृष्ण से परकीय रूप में प्रेम किया था। अष्टछाप भक्तों ने, जैसा कि अभी कहा गया है, बहुधा गोपियों को स्वकीया ही चित्रित किया है। यद्यपि

१—नन्ददास, 'शुक्ल', भाग २, पृ० ४१४।
२—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद-संग्रह से, पद नं० १२१।
३— ,, ,, ,, ,, १२१।
४— ,, ,, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं ४६।

कुछ गोपियों का उनसे विवाह नहीं हुआ था फिर भी वे लोक-लाज, कुल-कानि छोड़कर कृष्ण से ही प्रेम करती थीं। परकीय-भाव वाले पद इनकी रचनाओं में बहुत कम हैं। जहाँ गोपियों के मान और खण्डिता के भाव उन्होंने प्रकट किये हैं, वहाँ भी उन्होंने गोपियों को अनन्य-पूर्वा अथवा स्वकीया ही रक्खा है। इन स्थलों में उनका उपालम्भ 'सौतिया भाव' से हुआ है। राधा को समान रूप से आठों भक्तों ने कृष्ण की विवाहिता पत्नी-रूप में चित्रित किया है।[1]

अनन्यपूर्वा भाव से सूरदास अपने इष्ट कृष्ण से कहते हैं—

राग केदारा

विनती सुनो दीन की चित दै कैसे तव गुण गावै

× × × ×

१—जाको व्यास वर्णत रास, है गंधर्व विवाह चित दै सुनौ विविध विलास।

× × ×

देत भांवरि कुँज मंडफ पुलिन में वेदी रची, बैठे जु श्यामाश्याम वर त्रैलोक की शोभा खची।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ३४८।

राग कान्हरा।

मनावत हार परी मेरी माई।
राधे तू बड़ भागिनी, कौन तपस्या कीन,
तीन लोक के नाथ हरि सो तेरे आधीन।
तनक सुहागो डारि के जड़ कंचन पिघलाय,
सदा सुहागिन राधिका क्यों न कृष्ण ललचाय।
नंद नंदन को जान महातम अपनी राख बड़ाई,
ठोड़ी हाथ दे चली दूतिका तिरछी भौंहें चढ़ाई।
परमानन्द प्रभु करूंगी दुलहैया तो बाबा की जाई।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ३५२।

राग नट।

सजनी आनँद उर न समाऊँ।
बरसाने वृषभान लगन लिखी पठई है नंद गाऊँ।
धौरी धूमरी धेनु विविध रँग शोभित ठाऊँ ठाऊँ,
भूषण मणि गण पार नाँहिनें सो धन देख लुभाऊँ।
नंददास लाल गिरधर की दुलहनि पर बलि जाऊँ।

—नन्ददास, 'शुक्ल', परिशिष्ट भाग, पृ० ३७४।

मेरे तो तुमहीं पति तुम समान को पावै,
सूरदास प्रभु तुमरी कृपा बिनु को मो दुख बिसरावै।[1]

तथा

हम अलि गोकुलनाथ अराध्यो।
मन वच क्रम हरिसों धरि पतिव्रत प्रेम योग तप साध्यो।
मात पिता हित प्रीति निगम पथ तजि सुखदुख भ्रम नाख्यो,
मानापमान परम परितोषन सुस्थल थिति मन राख्यो।[2]

और भी—

केहि मारग में जाउँ सखीरी मारग मुहिं बिसर्यो,
ना जानों कित ह्वै गए मोहि जात न जानि पर्यो।
अपनो पिय ढूँढ़नि फिरों री मोहिं मिलिबे को चाव,
काँटो लाग्यो प्रेम को पिय यह पायो दाव,
बन डोंगर ढूँढ़ति फिरी घर मारग तजि गाउँ।
बूझों द्रुम प्रति रूख राय कोउ कहै न पिय को नाउँ।[3]

एक आज्ञाकारिणी और सब प्रकार से पति का आश्रय लेनेवाली पत्नी के समान कृष्णदास भी कृष्ण से कहते हैं—

ज्यों ज्यों राखो त्यों त्यों रहूँ जु देहु सु खाउँ।
तुमहीं मेरे पति गति लेउँ तेरो नाउँ।
मेरे चाने तजहु न गिरधर तुमहि छांडि प्रिय कौन पै जाउँ।
कृष्णदास कहे या त्रिभुवन में तेरे द्वारे बिना (हरि) नाहीं कहूँ ठाउँ।[4]

परकीय भाव की मधुर-भक्ति

पीछे कहा गया है कि अष्टछाप भक्तों की मधुर-रति का प्रबल रूप परकीय भाव की अपेक्षा मुग्धा गोपियों के पूर्वराग में, राधाकृष्ण-संयोग तथा स्वकीया गोपियों की विरह-दशा में अधिक प्रकट हुआ है। इन भक्तों के नीचे लिखे पदों में परकीय भाव का प्रकाशन है—

राग टोड़ी

मुरली सुनत भई सब बौरी, मानहुँ परि सिर माँझ ठगौरी।

× × ×

१— सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ ९।
२— ,, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ ५१४।
३ —सूरसागर, दशम स्कन्ध वें० प्रे० पृ० ३५५।
४ —लेखक के निजी, कृष्णदास-पद-संग्रह से, पद नं० ७७।

छुटि सब लाज गई कुलकानी, सुत पति आरज पंथ भुलानी।

× × ×

कोउ जेंवत पति ही तन हेरै, कोउ दधि में जामन पय फेरै।

× × ×

सूरदास प्रभु कुंज विहारी, शरदरास रस रीति बिचारी।[१]

राग आसावरी

नन्दलाल सों मेरो मन मान्यो कहा करैगो कोई री।
हों तो चरन कमल लपटानी जो भावै सो होय री।
गृह पति मात पिता मोहि त्रासत हँसत बटाऊ लोग री।
अब तो जिय ऐसी बनि आई विधिना रच्यो संयोग री।
जो मेरो यह लोक जायगो और परलोक नसाय री।
नन्द नन्दन को तौऊ न छाड़ूँ मिलूँगी निशान बजाय री।
यह तन घर बहुर्‌यो नहिं पइये वल्लभ वेष मुरारि री।
परमानन्द स्वामी के उपर सर्वस्व डारों वारि री।[२]

परमानन्ददास जी ने एक और पद में यह कहा है—'मैंने तो प्रेम कृष्ण से किया है। यदि लोग इसे पातिव्रत्य कहें तो अच्छा, और यदि व्यभिचार कहें तो भी अच्छा है'—

राग विलावल

मैं तो प्रीति स्याम सों कीनी।
कोऊ निन्दो कोऊ बन्दो अब तों यह कर दीनी।
जो पतिव्रत तो या ढोटा सों इन्हें समर्प्यों देह।
जो व्यभिचार नन्द नन्दन सों बाढ्यो अधिक सनेह।
जो व्रत गह्यो सो और न भायो मर्य्यादा को भंग।
परमानन्द लाल गिरिधर को पायो मोटो संग।[३]

नन्ददास ने भी परकीय भाव के रस की उत्कर्षता की प्रशंसा की है।[४] उन्होंने रूप

१—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ३३८।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३७८।

३—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से पद नं० १०१।

४—तजि तजि तिहि छिन गुनमय देह, जाइ मिलीं करि परम सनेह।
जदपि 'जारबुद्धि' अनुसरी, परमानन्द कंद रस भरी।
—दशम स्कन्ध भाषा, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० ३२१-३२२।

मञ्जरी के प्रेम में परकीय भाव की मधुर-भक्ति को 'रूप मञ्जरी' ग्रन्थ में प्रकट किया है परन्तु उनके उपलब्ध पदों में मुग्धा तथा स्वकीया गोपियों का ही अधिक चित्रण है। कुम्भनदास, कृष्णदास, तथा छीतस्वामी की श्रृङ्गारमयी रचनाओं में 'जार' भाव को प्रकट करनेवाले पद लेखक को उपलब्ध नहीं हुये। सम्भव है, इन्होंने उस प्रकार की भक्ति को स्वीकार ही न किया हो। चतुर्भुजदास तथा गोविन्द स्वामी के दो-दो तीन-तीन पद लेखक को इस भाव के मिले हैं; जिनमें से कुछ नीचे फुटनोट में उद्धृत किये जाते हैं।[1]

पूर्वराग की अवस्था में आसक्त भक्त की दशा

प्रेम में पूर्वराग की अवस्था नायक के गुण-श्रवण अथवा स्वप्न चित्र या साक्षात् रूप-दर्शन से होती है। जब प्रेमी के हृदय में रति उत्पन्न हो जाती है तब उसको प्रिय मिलन की लालसा होती है। इस दशा में विरह की सी दशाएँ प्रेमी के मन में उपस्थित हो जाती हैं। कभी काल्पनिक संयोग से वह प्रिय के सहवास का आनन्द-लाभ करता है और हर्ष और चपलता से प्रफुल्लित हो जाता है। कभी प्रिय की रूप माधुरी उसे लुभाती है तो कभी स्मृति, कभी लोकलाज-कुलकान की चिन्ता, और कभी कामना उसे सालती हैं। कभी साहस, उन्माद और विकलता आदि सञ्चारी भाव उनके मन को मथते हैं। सूरदास, परमानन्ददास आदि आठों भक्त कवियों ने प्रेम की इन स्वानुभूत मानसिक अवस्थाओं के बहुत ही प्रभावशाली चित्र उपस्थित किये हैं, जिनमें गोपियों के अनन्य प्रेम के साथ इनकी मधुर भक्ति उमड़ी पड़ती है। पीछे कहा गया है कि अष्टछाप काव्य में पूर्वराग अवस्था की आसक्ति का जो रूप हमें मिलता है वह अनन्य-पूर्वा कुमारी गोपिकाओं का है, परकीयाओं का नहीं है।

राग गौरी

1— मोहन मोहिनी पढ़ि मेली,
मुख देखत तन दसा हिरानी को घर जाय सहेली।
काके मात तात अरु भ्राता को पति नेह नवेली,
काके लोक लाज अरु कुल व्रत, को बन भँवति अकेली।
यहि ते कहति मूलमत तोसों एक संग नित खेली,
चतुर्भुज प्रभु गिरिधर रस अटकी श्रुति मर्यादा पेली।
—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० ४३।

राग केदारो

अब कहा करों मेरी आली री अँखियन लागेई रहत,
निस दिन फिरति रूप रस माती आवे नहीं ग्रह काज करत।
जदपि मात पिता पति सुत ग्रह देषत तोहू न धीरज धरों मोहन बेनु सुनत,
गोविंद प्रभु को हों जौलों न देखों आली, तौलों छिनु छिनु कैसे मेरे प्रान रहत।
—लेखक के निजी, गोविन्दस्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० २०२।

किशोर कृष्ण के रूप-लावण्य ने ब्रज की कुमारी युवतियों के ऊपर एक मोहनी सी डाल दी है। वे अज्ञात रूप से उसके रूप, उसके गुण और उसकी वाणी पर मुग्ध हैं। किसी को वह पनघट के रास्ते में मिलता है, तो किसी को दधि बेचने के समय। साक्षात् दर्शन में बार बार निहारने पर भी उस रूप के अमृत से उनकी तृप्ति नहीं होती। गोपियों की इस आसक्ति के चित्रण द्वारा इन भक्तों की मानसिक वृत्ति लोक, रूप और गुणों से हट कर अपार रूपधारी उनके भगवान् कृष्ण में केन्द्रीभूत होती है। सूर की एक गोपी कहती है—

राग टोडी

आवत ही यमुना भरे पानी।
श्याम बरन काहू को ढोंटा निरखि बदन घर गई भुलानी।
उन मो तन में उन तन चितयो तबही ते उन हाथ बिकानी,
उर धकधकी टकटकी लागी तनु व्याकुल मुख फुरत न बानी।
कह्यो मोहन मोहनी तू कोहै या ब्रज में नहिं मैं पहिचानी,
सूरदास प्रभु मोहन देखत जनु वारिध जल बूँद हैरानी।[1]

तथा

राग विहाग

सुन्दर बोलत आवत बैन।
ना जानौं तेहि समय सखीरी सब तन श्रवन कि नैन।
रोम रोम में शब्द सुरति की नख शिख ज्यों चखऐन,
येते मान बनीं चंचलता सुनी न समुझी सैन।
तबतकि जकि ह्वै रही चित्र सी पल न लगत चित चैन।
सुनहु सूर यह साँच, की संभ्रम सपन किधौं दिन रैन।[2]

राग धनाश्री

मनमृग बेध्यो मोहन नैन बान सों।
गूढ़ भाव की सैन अचानक तकि ताक्यो भ्रकुटी कमान सों।
प्रथम नाद बल घेरि निकट लै मुरली सप्तक सुर बंधान सों,
पाछें बंक चितै मधुरे हँसि घात किये उलटे सुठान सों।
सूर सुभार विथा या तनुकी घटत नहीं औषधी आन सों,
ह्वैहै सुख तबहीं उर अंतर आलिंगन गिरिधर सुजान सों।[3]

१—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० २०३।
२—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृ० २७४।
३— „ „ „ २६२।

इस प्रकार सूर के पूर्वराग-सम्बन्धी अनेक पद सूरसागर में विद्यमान हैं। इसी प्रकार परमानन्ददास के भी उक्त भाव को प्रकट करनेवाले अनेक पद हैं।

राग आसावरी

साँवरो बदन देखि लुभानी,
चले जात फिरि चितयो मोहन तबतें संग लगानी।
वे उहि घाट चरावत गैयाँ हों इतते गई पानी,
कमल नैन उनरेनो फेर्यो परमानन्दहि जानी।[1]

राग सारंग

जब ते प्रीति स्याम सों कीनी,
तादिन ते मेरे इन नैननि नेंक हू नींद न लीनी।
सदा रहत चित चाक चढ्यो सो और कछू न सोहाय,
मनमें रहै उपाय मिलन को इहै विचारत जाय।
परमानंद पीर प्रेम की काहू सों न कहीए,
जैसे विथा मूक बालक की अपने तन मन सहीए।[2]

कृष्ण के नाम और गुण-श्रवण से भक्त नन्ददास जी गोपी-रूप में पूर्व राग की अपनी मानसिक दशा को इस प्रकार प्रकट करते हैं—

राग रामकली

कृष्णनाम जबते श्रवन सुन्यो री आली,
भूली री भवन मैं तो बावरी भई री।
भरि भरि आवैं नैन, चित हू न परै चैन,
तन की दसा कछु औरै भई री।
जेतिक नेम धर्म व्रत कीने री मैं बहु विधि,
अंग अंग भई मैं तो श्रवन मई री।[3]

१—लेखक के निजी, परमानन्द दास पद-संग्रह से, पद नं० ३६।
२— ,, ,, ,, ,, नं० १०२।
३—नन्ददास, शुक्ल, पृ० ३४१।

राग अड़ानो

जलको गई सुधि बिसराई, नेह भरि लाई, परी है चटपटी दरस की।
इत मोहन गाँस, उत गुरुजन त्रास, चित्र सी लिखी ठाड़ी नाम धरत सखी अरसकी।
टूटे हार फटे चीर, नैनन बहत नीर, पनघट भई भीर, सुधि न कलस की।
नंददास प्रभु सों ऐसी प्रीति गाढ़ी, बाढ़ी फैल परी चरचा चायन सरस की।[1]

राग पीलू

लागी रे लगनियाँ मोहना सों।
सुन्दर श्याम कमल दल लोचन नन्द जू को छैल चिकनियाँ।
कछु टोना सो डार गयो री कैसे भरन जाऊँ पनियाँ।
कृष्णदास की प्यास बुझै जब निरखों गिरि के धरनियाँ।[2]

राग सारङ्ग

बेनु धर्यो कर गोविंद गुन निधान।
जाति हुति बन काज सखिन संग ठगी धुनि सुनि कान।
मोहन सहस कल खग मृग पसु बहु बिधि ससक सुर बंधान।
चतुर्भुजदास प्रभु गिरिधर तन मन चोरि लियो करि मधुर गान।[3]

राग धनाश्री

हुनि ढोटा हों डहकी माई।
चितवनि में कछु टोनों कीनो मोहन मंत्र पढ़ाई।
बिकल भई मन लीने डोलति बिनु देखे न रहाई।
बाट घाट पुर बन बिथिन में लोक कहैं बौराई।
मगन भई मन स्याम सिंधु में खोजत ही में हिराई।
कुम्भनदास प्रभु गोवर्धन धर बात कही समुझाई।[4]

राग सारङ्ग

लालन सिर वालो हो ठगोरी।
सुंदर मुख जौलों नहीं देखियत भई रहति तौलों बौरी।
वह मुख कमल पराग चाखि मेरे नैन मधुप लागी दोरी।
गोविंद प्रभु बनते ब्रज आवत रहत हृदय कैसें तोरी।[5]

१— ,, ,, ,, ४१५, पाठ-भेद से।

२—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद-संग्रह से, पद नं० १२३।

३— ,, ,, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० २१।

४—लेखक के निजी, कुम्भनदास-पद-संग्रह से, पद-नं० ३।

५— ,, ,, गोविन्दस्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० ६१।

भई भेंट अचानक आई।
हों अपने गृह तें चली जमुना, वे उतते चले चारन गाई।
निरखत रूप ठगोरी लागी, उतकों डग भरि चल्यो न जाई।
छीत स्वामी गिरधरन कृपा करि मोतन चितए मुरि मुसिकाई।[1]

चाहे प्रेम अनन्य पूर्व हो अथवा अन्य पूर्व, शृङ्गार रति की उत्कट पूर्वराग-अवस्था में प्रेमी लोग लोक-लाज और कुल-मर्यादा का भी अतिक्रमण कर जाते हैं। ठीक यही हाल मधुर-प्रेम की पूर्वराग अवस्था में भक्तों का होता है। लोक-मर्यादा की दृष्टि से यह प्रेम निन्दनीय समझा जाता है, परन्तु रसरूप कृष्ण के उपासक सभी सम्प्रदायी भक्तों ने आध्यात्मिक दृष्टि से इस प्रकार के भाव भरे प्रेम को महत्ता दी है और उसका अनुकरण किया है उन्होंने लोक-दृष्टि से देखे हुए अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के संसार को पीछे छोड़ा है और वे विधि-निषेध के भावों की उपेक्षा कर द्वन्द्व पूर्ण संसार से ऊँचे उठे हैं। परन्तु इस विषय में एक बात ध्यान में रखने की यह है, कि सभी कृष्ण-पूजा-सम्प्रदायों ने साधन की आरम्भिक अवस्था में मर्यादा का लगाव रक्खा है, अन्यथा ईश्वरोन्मुख प्रेम की असिद्ध अवस्था में साधक के आरम्भ से ही पथ भ्रष्ट होने की आशङ्का होती है। प्रेमी भक्तों ने लौकिक प्रेम भाव को एक-दम छोड़ा नहीं है, उनका प्रेम लोक से हट कर ईश्वर की ओर मुड़ा है, जिसके संसर्ग में सभी भाव सम अवस्था में आ जाते हैं। अष्टछाप भक्तों ने भी गोपी प्रेम द्वारा अपनी प्रेमलक्षणा-भक्ति का परिचय देते हुए लोक-लाज तथा लोक-वेद की उपेक्षा का भाव प्रकट किया है। अष्टछाप काव्य से इस आशय को प्रकट करने वाले कुछ पद नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

मधुर प्रेम की उत्कट अवस्था में लोक लाज, वेद और कुल-मर्यादा का त्याग

राग धनाश्री

माई री गोविंद सों प्रीति करत तबही काहे न हटकी री,
यह तौ अब बात फैलि गई बई बीज बट की री।
घर घर नित इहै घैर बानी घट घट की,
मैं तो यह सबै सही लोक लाज पटकी।
मद जैसे हस्ती समान फिरति प्रेम लटकी,
खेलत में चूकि जाति होति कला नटकी।
जब रजु मिलि गाँठ परी रसना हरि रट कीं,
छोरे ते नहीं छुटति कइक बेर झटकी।

1—लेखक के निजी छीतस्वामी-पद-संग्रह से पद नं० ३।

मेटे क्योंहूँ न मिटति छाप परी टटकी,
सूरदास प्रभु की छबि हिरदै मेरे अटकी।

राग सोरठ

लोक सकुच कुल कानि तजी,
जैसे नदी सिंधु को धावै तैसे स्याम भजी।
मात पिता बहु त्रास दिखाये नेक न डरी लजी,
हारि मानि बैठे नहिं लागति बहुतै बुद्धि सजी।
मानत नहीं लोक मर्यादा हरि के रङ्ग मजी,
सूर श्याम को मिली चूना हरदी ज्यों रङ्ग रजी।

राग कान्हरो

मैं अपनो मन हरि सों जोर्‌यो, हरि सों जोरि सबन सों तोर्‌यो।
नाच नच्यो तो घूँघट कैसो, लोक लाज डरु फटकि पिछोर्‌यो,
आगे पाछे सोच मिट्यो सब माँझ बाट मटुका लै फोर्‌यो।
कहनो होय सो कहो सखी री कहा भयो काहु मुख मोर्‌यो,
परमानंद प्रभु लोक हँसन दे लोक वेद ज्यों तिनका तोर्‌यो।

अँखियाँ मेरी लालन सँग अटकीं,
वह मूरति मो चित में चुभि रही छूटत नहीं मो झटकी।
भोंह मरोरि डारि पिक बानी पिय हिय ऐसो घटकी,
नंददास प्रभु की प्यारी लाज तजि डारी चलि निकट की।[४]

राग सारङ्ग

हिलगनी कठिन है या मनकी।
जाके लिये देखि मेरी सजनी लाज जात सब तन की।
धर्म जाउ अरु हँसो लोगु सब अरु आवहु कुल गारी,
तोऊ न रहे ताहिं बिनु देखें जो जाको हितकारी।
रस लुब्धक एक निमेष न छाँड़त ज्यों अधीन मृग गाने,
कुम्भनदास सनेहु भरमु श्री गोवर्द्धन धर जाने।[५]

१—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ २४१।
२— ,, ,, ,, ,, पृष्ठ २४६।
३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ११६।
४—नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० ४३८।
५—लेखक के निजी, कुम्भनदास-पद-संग्रह से, पद नं० ६।

राग आसावरी

ग्वालिन कृष्ण दरस सों अटकी,
बार बार पनघट पर आवति सिर यमुना जल मटकी।
मन मोहन को रूप सुधानिधि पीवत प्रेम रस गटकी,
कृष्णदास धन्य धन्य राधिका लोक लाज सब पटकी।[1]

राग रामकली

तबते और न कछू सुहाय,
सुँदर स्याम जबहिं ते देखे खरिक दुहावत गाय।
आवति हुती चली मारग सखि, हों अपने सत भाय,
मदन गोपाल देखि कैं इकटक रही ठगी मुरझाय।
बिसरी लोक लाज यह काजर बंधु पिता अरु भाय,
दास चतुर्भुज प्रभु गिरिवरधर तन मन लियो चुराय।[2]

राग श्री

हमें ब्रज लाड़िले सों काज,
जस अपजस को हमें डर नाहीं कहनी होइ सो कहिये आज।
काहू कछू प्रीति करी कै न करी, जो सनमुख ब्रज नृप युवराज,
गोविंद प्रभु की कृपा चाहिये वे हैं सकल घोष सिरताज।[3]

राग बसन्त

आयो ऋतु राज साज पंचमी बसंत आज,
बौरै द्रुम अति अनूप अम्ब रहे फूली।
बेली पट पीत माल, सेत पीत कुसुम लाल,
उढ़वति, सब स्यामभाम भँवर रहे झूली।
रजनी अति भई स्वच्छ, सरिता सब विमल पच्छ,
उड़गन पति अति अकास बरखत रस मूली।
जती सती सिद्ध साध जित तितैं उठे भाग,
बिमन सभी तपसी भए मुनि मन गति भूली।
जुवति जूथ करति केलि, स्याम सुखद सिन्धु झेलि,
लाज लोक दई पेलि, परसि पगन तूली।
बाजत आवज उपंग बांसुरी, मृदंग, चंग,
यह सब सुख 'छीत' निरखि, इच्छा अनुकूली।[4]

१—लेखक के निजी कृष्णदास-पद संग्रह से, पद नं० १४४।
२— ,, ,, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० ४०।
३—लेखक के निजी, गोविन्दस्वामी पद-संग्रह से, पद नं० १२८।
४— ,, ,, छीतस्वामी ,, ,, ,, ४०।

प्रेम की पूर्वराग अवस्था में जब प्रेम दृढ़ता और परिपक्वता को पा लेता है, तब प्रेमियों का मिलन होता है। यह मिलन विधिपूर्वक विवाह रूप, में हो सकता है अथवा प्रेमी लोग लोक-मर्यादा का त्याग कर गान्धर्व संयोग रूप में मिलते हैं। सूर ने यद्यपि गोपी-कृष्ण-प्रेम, बाल-स्नेह से बढ़ा कर प्रणय-रूप में परिणत किया है, फिर भी उसमें प्रणयप्रेम की पूर्वराग अवस्था के उन्होंने अनेक चित्र अंकित किये हैं। गोपी-कृष्ण-कथा में भागवतकार से लेकर सभी लेखकों ने कुञ्ज-लीला में गोपी-कृष्ण का संयोग कराया है। हिन्दी भाषा के भक्त कवियों ने इस प्रसङ्ग को बहुत विस्तार दिया है। यह संयोगावस्था एक तो गोपियों की उत्कट अभिलाषा द्वारा उनके मानसिक जगत के काल्पनिक मिलन में प्रकट हुई है, दूसरे वृन्दाविपिन की कुञ्जों के रास-रूप में। काल्पनिक संयोग-सुख भी, गोपियों की पूर्वराग अवस्था में तथा उनके प्रवासवियोग में इन दो स्थलों पर, प्रकट हुआ है; इस प्रकार के संयोग को काव्यशास्त्र में 'वियोग में संयोग' कहा गया है। अष्टछाप कवियों ने इन प्रसङ्गों के चित्रण में अपने हृदय की प्रगाढ़ अनुभूति का परिचय दिया है।

मधुर प्रेम का संयोग सुख

गोपी-कृष्ण-मिलन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के मनन, तथा अपने व्यक्तित्व के गोपी-भाव में आरोप द्वारा भक्तों ने ईश्वर के सान्निध्य तथा संयोग की अनुभूति पाने का अभ्यास किया है। भावना में संयोग सुख को कृष्ण भक्तों ने इतनी महत्ता दी है कि इस सुख के सामने मोक्ष-सुख को उन्होंने हेय कह दिया है। वियोग-अवस्था के अन्तर्गत भावमय संयोग की स्थिति को भक्तों ने सायुज्य-मुक्ति के अनुरूप प्रकट किया है। इस स्थिति में प्रेमी अपने व्यक्तित्व को प्रिय में मिला देता है। अष्टछाप भक्तों में से सूरदास और परमानन्ददास ने, इस अवस्था को बहुत ही मार्मिक और प्रभावशाली शब्दों में, गोपी-विरह-प्रसंग के साथ, प्रकट किया है।

प्रेम के जो उत्कर्षवर्द्धक भाव होते हैं, जो सञ्चारी रूप से मुख्य भाव के सहायक बनते हैं, तथा कुछ वस्तुएँ और व्यापार भी जो उद्दीपन विभावरूप में प्रेम की वृद्धि करते हैं, उन सबका समावेश भक्ति-शास्त्र में किया गया है। अष्टछापी कृष्ण भक्तों ने राधा के मान, गोपियों की खण्डिता, वासकसज्जा, अभिसारिका आदि अवस्थाओं तथा सखी, सखा, नख-शिख की शोभा, ऋतु-वर्णन, यमुना, चन्द की चाँदनी, मोर, मुरली-गान आदि के विशद वर्णन में कृष्ण-प्रेम के उत्कर्षवर्द्धक उपकरणों का ही चित्रण किया है, जिनके उदाहरण सहित विवरण यहाँ विषय-विस्तार के भय से नहीं दिये जा रहे हैं। प्रेम के इन सब लोकानुभूत प्रसंगों के चित्रण में इन भक्तों की साङ्गमधुरभक्ति का ही दृष्टिकोण है, उनका लोकानुभूतियों को तीव्र करने का ध्येय नहीं है। मधुर-भक्ति के संयोग-सुख को प्रकट करनेवाले कुछ पद अष्टछाप-काव्य से उद्धृत किये जाते हैं —

राग सोरठ

राधा सकुच श्याम मुख हेरति ,
चन्द्रावली देख के आवति ब्रज हीं को प्रिय फेरति ।
जाहु जाहु मुखतें कहि भाषत, करते कर नहिं छूटत ,
उतहि सखी आवत सकुचानी इतहि स्याम सुख लूटत ।
सुख दुख हरष कछू नहिं जानति स्याम महारस माती ,
सूर उतहि चंद्रावलि इकटक उनही के रँग राती ।[१]

राग नट

हरि मुख देखि भूलें नैन ,
हृदय हरषित प्रेम गद्गद् मुख न आवत बैन ।
काम आतुर भजी गोपी हरि मिलै तेहि भाइ ,
प्रेम वश्य कृपालु केशव जानि लेत सुभाइ ।
परस्पर मिलि हँसत रहसत हरषि करत विलास ,
उमँगि आनंद सिंधु उछर्यो श्याम के अभिलाष ।
मिलति इक इक भुजनि भरि भरि रास रुचि जिय आनि ,
तेहि समय सुख श्याम श्यामा सूर क्यों कहै गानि ।[२]

राग विहागरो

श्याम हँसि मिले प्रभुता डारि ,
बारम्बार विनय कर जोरत कोट पट गोद पसारि ।
तुम सम्मुख मैं विमुख तुम्हारो मैं अपराध तुम साध ,
धन्य धन्य कहि कहि युवतिन कों आपं करत अनुराध ।
मोको भजीं एक चित ह्वै कै निदरि लोक कुल कानि ,
सुतपति नेह तोरि तिनका सों मो ही निज करि जानि ।
जाके हाथ पेट फल ताको सो फल लह्यो कुमारि ,
सूर कृपा पूरण सों बोले गिरि गोवर्द्धन धारि ।[३]

राग सारङ्ग

मदन गोपाल के रँगराँती ,
गिरि गिरि परत सँभार न तन की अधर सुधा रस माती ।
वृंदाबन कमनीय सघन बन फूली चहुँ दिशि जाती ,
मंद सुगंध बहै मलयानिल अति जुड़ाति मेरी छाती ।

१—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें०, प्रे० पृ० ३१३ ।
२—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे० पृष्ठ ३४३ ।
३— ,, ,, ,, ,, ३४३ ।

आनंद मगन रहत प्रीतम संग द्यौस न जानति राती ,
परमानंद सुधाकर हरि मुख पीवतहू न अघाती ।[१]

राग अड़ानो

आज मेरे धाम आये री नागर नंद किसोर ,
धन्य दिवस धन रात री सजनी धन्य भाग सखि मोर ।
मंगल गावो चौक पुरावो बंदनवार सजावहु पोर ,
नंददास प्रभु संग रस बस कर जागत करहूं भोर ।[२]

राग सारङ्ग

परम भावते जिय के, हो, मोहन, नैननि आगे ते जिन टरहु ,
तौलों जीऊँ जौलों देखों बार बार पालागों चित अनत न धरहु ।
तन सुख चैन तौहिलों प्यारे जौलौं लैलै आँकों भरहु ,
रसिकन माँझि रसिक नंदनंदन तुम पिय मेरे सकल दुख हरहु ।
आवहु जाहु रहहु घर मेरे स्याम मनोहर संक न करहु ,
कुंभनदास तुव गोवरधन धर तुम अरि-गंजन काते डरहु ।[३]

राग कान्हरो

लालन मेरे ही आये, आजु सुहावनी रात ।
तन मन फूली अंग ना समावत, कुंजन करत बधाये ।
इक रसना गुण कहँ लगि बरनों नखशिख रूप मेरे हीये समाये ।
गिरिवर धर पिय रस बस करि लीनो कृष्णदास बलि जाये ।[४]

राग ललित रूपक ताल

बरनत न कछू बनैं सुनि सजनी जो रंग लग्यो मिलन बन्यो गोपाल को ,
रसना जो तोहि होंहि लख कोटि बरनों रूप गोवर्द्धन धारी लाल को ।
स्याम धाम कमनीय बरन तन ससि मानों तरुन घन तरु तमाल को ,
जुवती लता गात अरुझानी पानु करत मधुप मधु माल को ।
नख सिख मदन कोटि लावरय भूषन बसन नैन विशाल को ,
कृष्णदास प्रभु सुरति सुधानिधि ताप हरन नृप विरह जाल को ।

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १११ ।
२—नन्ददास, 'शुक्ल', पृष्ठ ४२१ ।
३—लेखक के निजी, कुम्भनदास-पद-संग्रह से पद नं ७२ ।
४— ,, ,, कृष्णदास-पद संग्रह से, पद नं० ११७ ।
५— ,, ,, ,, ,, ,, ,, १ ।

राग सारङ्ग मलार

ठाँ ही ठाँ नाचत मोर, सुनि सुनि नव घन की घोर ,
बोलत हैं और अति ही सुहावने।
घुमड़न की घटा निहारि, आगम सुख जिय विचारि ,
चातक पिक मुदित गावत द्रुमनि बैठि सुहावने।
नवल बन में,पहिर तन में,कुसुंभी चीर कनक बरनि स्यामसुंदर,
सुभग ओठ बसन पीत सुहावने।
पावस रितु को रंग, बिलसि दास चतुर्भुज प्रभु के संग ,
मोहन कोटि अनंग,गिरिधर अंग अंग सुहावने।[१]

राग ईमन

अति रसमाति री तेरे नैन ,
दौरि दौरि जात निकट श्रवनन के हंसि मिलवत कटि कटाक्ष
कहत रजनी रति बैन।
लटपटी चालि, अटपटी बंदसि, सगबगी अलक बदन पर बिथुरी
अंग अंग प्रफुल्लित मैन ,
गोविंद बलि सखी कहै मैं तो तब ही लखी, मेरे जिय
तब ही ते सुख चैन।[२]

राग मलार

बादर झूम झूम बरसन लागे ,
दामिनी दमकति चौंकि चमकि स्याम घन की गरज सुनि जागे।
गोपी जन द्वारे ठाडीं नारी नर भींजत मुख देखति अनुरागे ,
छीतस्वामी गिरिधरन श्री विट्ठल, ओत-प्रोत रस पागे।[३]

मधुर भक्ति का वियोग पक्ष और ईश्वर मिलन की व्याकुलता का महत्व

श्री वल्लभाचार्य जी के पीछे दिये हुये भक्ति सम्बन्धी विचारों से ज्ञात होता है कि उन्होंने कृष्ण-प्रेम की विरह-अवस्था की अनुभूति को बहुत महत्वशाली माना है।[४] प्रेम भक्ति के आध्यात्मिक साधन में उन्होंने इस अवस्था की अनुभूति को एक आवश्यक सीढ़ी कहा है। विरह की प्रबल अग्नि मे भक्त के पापों का भस्मीकरण हो जाता है। वल्लभसम्प्रदाय में ही नहीं, प्रेम-भक्ति के सभी उपासकों ने प्रिय परमात्मासे प्रेमी आत्मा

१—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से पद नं० ७२।
२—लेखक के निजी, गोविन्दस्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० १४३।
३ – ,, , छीतस्वामी ,, , ४८
४—संन्यास निर्णय, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक ७।
तथा निरोधलक्षण, षोडश ग्रंथ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १।

के बिछुड़ने के ज्ञान और उससे पुनर्मिलन की विकल अभिलाषा को भक्ति के साधनों में एक आवश्यक अनुभूति माना है। इस भाव की महत्ता का कुछ उल्लेख 'वात्सल्य भक्ति' प्रसङ्ग में किया जा चुका है। 'नारद-भक्ति-सूत्र' में भी भक्ति की ग्यारह आसक्तियों में से एक 'परम विरहासक्ति' बताई गई है। सच्चे प्रेम की गहराई का परिचय, चाहे वह प्रेम लौकिक हो और चाहे भगवान् के प्रति, वास्तव में प्रेमी की विरह व्याकुलता ही से मिलता है। बहुधा देखा गया है कि विरुद्ध भाव के संसर्ग से ही किसी अनुकूल भाव का प्रस्फुटन होता है। इस प्रकार प्रेम की संयोगावस्था के सुख का महत्व विरह की वेदना ही कराती है। प्रेम की तीव्रता, प्रिय के प्रति विशेष आकर्षण, उसके अभाव में सदैव उसका ध्यान, और मिलन लालसा की पुष्टि इस विरह-भाव की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की अनुभूति से ही होती है। लौकिक प्रेम से कहीं अधिक बढ़ी चढ़ी व्याकुलता की मधुर भावना पतित-पावनी गङ्गा की तरह भक्त की हृदय भूमि में, उसके भावों को और उसके कर्मों को पवित्र करती हुई विराट प्रेम-समुद्र की ओर बहा करती है।

प्रेमी जन अपने प्रिय परमात्मा की याद में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि उनको आत्मविस्मृति हो जाती है और वे अपने आपको प्रिय में ही मिला पाते हैं अथवा प्रिय को ही अपने में और अपने से बाहर, सर्वत्र, देखते हैं। इस अवस्था को लेखक ने पीछे अष्टछाप के मोक्ष-सम्बन्धी विचारों के विवेचन में एक प्रकार की सायुज्य मुक्ति की अवस्था कहा है। प्रेम में विरहभाव की अनुभूति की आवश्कता तथा उसकी महत्ता का वर्णन सूरदास, परमानन्द और नन्ददास ने कई स्थलों पर अपनी रचनाओं में किया है। नन्ददास ने चार प्रकार का कृष्ण-विरह—१. प्रत्यक्ष, २. पलकान्तर, ३. बनान्तर, तथा ४. देशान्तर—बताते हुए विरह-भाव की महत्ता को अपने 'विरह-मञ्जरी' ग्रन्थ में विशेषरूप से प्रकट किया है। सूरदास विरह की महत्ता के विषय में कहते हैं—

राग नट

यदुपति जानि उद्धव रीति।
× × ×
विरह दुख जहाँ नाँहि जामत, नहीं उपजै प्रेम।[1]

ऊधौ विरहो, प्रेम करै,
ज्यों बिन पुट पट गहत न रंग को रंग न रसै परै।
ज्यों धर देह बीज अंकुर गिरि तौ सत फरनि फरै,
ज्यों घट अनल दहत तन अपनो पुनि पय अमी भरै।
ज्यों रण शूर सहत शर सम्मुख तौ रवि रथहि ररै,
सूर गोपाल प्रेम पथ चलि करि क्यों दुख सुखन डरै।[2]

१—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ४०३।

२—सूरसागर, दशमस्कन्ध, वें० प्रे० पृष्ठ ४९१।

विरह के विषय में परमानन्ददास भी कहते हैं --

राग सारङ्ग

बिरह बिनु नहिंन प्रीति को खोज,
बिनु लागे कैसे आवत है इन नैननि कों रोज।
स्याम मनोहर बिछुरे सखी री, बैरी भयो मनोज,
परमानंद निसूगे जे नर, ते हैं राजा भोज।[1]

नन्ददास वियोग-भाव की अनुभूति के विषय में कहते हैं--'विरह में चित्त की समाधि-अवस्था हो जाती है।[2] यह शरीर पाप-पुण्य-कर्मों से बना हुआ है; जब तक कर्मों का क्षय नहीं होता तब तक भगवान् का नैकट्य नहीं मिल सकता। कृष्ण-विरह की दुःसह अग्नि में गोपियों के पाप-कर्मों का फल भस्म होगया और वे पुण्यात्मा बन गईं'।[3] 'रूपमञ्जरी' ग्रन्थ में विरह के उत्कर्ष को दिखाते हुए वे कहते हैं --'संयोग में एक स्थान पर ही एक प्रिय से मिलना होता है, परन्तु वियोग में प्रिय सर्वत्र और सर्व प्रिय-मय दिखाई देता है।'[4]

अष्टछाप कवियों की रचनाओं के देखने से पता चलता है कि सूरदास, परमानन्ददास तथा कुम्भनदास ने वियोग के बहुत पद लिखे हैं और अनेक प्रकार से अपनी विरह-जन्य मानसिक अवस्था के चित्र अङ्कित किये हैं। काव्यशास्त्र में कही हुई वियोग की सभी अवस्थाओं के—जैसे अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता आदि—तथा विरह-वेदना से प्रताड़ित शारीरिक तथा मानसिक व्यापारों के—जैसे

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १६३।

२—प्रेम बुद्धि जो कीनौ चहो, तो तुम मोते न्यारी रहौ।
बिरह मैं चित्त समाधि लाइहो, तुरतहि तब मो कहुँ पाइहो।
— दशम स्कन्ध, अध्याय २३, नन्ददास, 'शुक्ल' पृष्ठ ३०४।

३—बहुरि कहत यह गुनमय देह, पाप पुण्य प्रारब्ध के गेह।
दुसह बिरह जु कमल नैंन कौ, अनेक भाँति के दुख देन को।
सो दुख आनि पर्यो जब इनमें, कोटि नरक दुःख भुगये छिन में।
ताकरि पापन को फल जितौ, जरि बरि मरि सरि गयो है तितौ।
—दशम स्कन्ध, अध्याय २६, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० ३२२।

४—हौं जानौं पिय मिलन तैं, बिरह अधिक सुख होइ।
मिलते मिलिये एक सों, बिछुरै सब ठाँ सोइ।
—रूपमञ्जरी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृष्ठ० २३।

मलिनता, पाण्डुता, कृशता, अरुचि, दीनता, तन्मयता- आदि—बड़े ही हृदयग्राही वर्णन उन्होंने किये हैं। इनमें वास्तव में इन तीनों कवियों का सच्चा भक्त-रूप प्रकट होता है। अन्य अष्टछाप भक्तों ने समीप-विरह अथवा पूर्वराग-अवस्था की वेदना का ही वर्णन किया है। सूरदास और परमानन्ददास की उत्कट विरह-वेदना अन्त में दैन्य-भाव धारण कर उनको प्रिय के साथ तन्मय बना देती है। तब वे अपने भाव जगत में ब्रह्मानन्द का अनुभव करने लगते हैं। 'दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना।' सूर की गोपी उद्धव से कहती है—

राग मलार

मधुकर कौन मनायो माने,
× × ×
हम अपने ब्रज ऐसेहि रहिहैं बिरह बाइ बौराने।
जागत सोवत स्वप्न दिवस निशि रहि हैं रूप परवाने,
बारक बाल किशोरी लीला शोभा समुद्र समाने।
जिनके तन मन प्राण सूर सुनि मुख मुसकानि बिकाने,
परी जो पयनिधि अंल्प बूंद जल सुपुनि कौन पहिचाने।[1]

मधुर भक्ति के वियोग-भाव को प्रकट करने वाले कुछ पद अष्टछाप काव्य से नीचे उद्धृत किये जाते हैं इन पदों में मिलन की आतुर कामना, सर्वसमय इष्ट की प्रेममयी मधुर मूर्ति का स्मरण और ध्यानसे लेकर तन्मय अवस्था तक के अनेक वियोग-भावों की व्यंजना है।

राग सारङ्ग

कहो तो जो कहिबे की होई,
प्राणनाथ बिछुरे की वेदन जानत नाहिंन कोई।
जो हम अधर सुधारस लैलै, रहीं मदन गति भोई,
कहा कहौं कछु कहत न आवै तन मन रही समोई।
विरह व्यथा वेदन उर अन्तर जापै बीतै जानै सोई,
सूरदास शिव सनकादिक लोभा सो हम बैठे खोई।[2]

राग सारंग

मारग माधो कौ जोवें,
वह अनुहारि न देख्यो कोऊ जो नैनन दुख खोवैं।
बाल विनोद किये नंदनंदन सुमिरि सुमिरि गुन रोवैं,

१—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे० पृष्ठ ५३८।
२—सूरसागर, दशम स्कन्ध वें० प्रे०, पृष्ठ ५३४।

बासर प्रतिग्रह काज न भावे निस भरि नींद न सोवें ।
अन्तर गति की विथा मानसी सो तन अधिक बिगोवैं ,
परमानन्ददास गोविंद विन अँसुअन जल उर धोवैं ।[1]

राग सारङ्ग

माई दोय कैसे बनि आवति ,
बिमुख जु रहति कमल लोचन सों ताहिं ते दुख पावति ।
कै तू होय स्यामसुंदर की, कै तू अपने घर की रहै ,
कै गहि चरन कमल गाढ़ौ करि कै अब जाय भवन जल बहै ।
यह जु एक मन बहुत ठौर धरि कहौ कोंने सुख पायो ,
परमानंद वादि है एती निगम भागवत गायो ।[2]

राग सारङ्ग

कहा करौं वह मूरति मेरे जिय ते न टरई ,
सुंदर नंद कुंवर के बिछुरें निस दिन नींद न परई ।
बहु बिधि मिलनि प्रान प्यारे की एक निमेष न बिसरई ,
वे गुन समुझि समुझि चित नैननि नीर निरंतर ढरई ।
कछु न सुहाय तलाबेली मनु बिरह अनल तन जरई ,
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु समाधान को करई ।[3]

राग गौरी

अधिक आरत सुनि सुनि ए बैन ,
समुझाए अति नीर भरत हैं कतहि कहत बहु बैन ।
हुती जु अवधि समोधि गहे तब अब कथि किये कुचैन ,
चाहत हैं बारक देखो वह बंक भृकुटि की सेन ।
लै कर कमल चतुर्भुज प्रभु मथि पीवत पय फेन ,
जीवहि प्रकट निहारे मधुकर वह गिरिधर मुख ऐन ।[4]

पीछे प्रथम परिच्छेद में कहा गया है कि राधावल्लभीय सम्प्रदाय में राधाकृष्ण के प्रेम-शृङ्गार की संयोग-लीला के ध्यान पर विशेष बल दिया गया है । इस प्रकार की भक्ति

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद संग्रह से, पद नं० २१७ ।

२— ,, ,, ,, ,, नं० २१३ ।

३— ,, ,, कुम्भनदास ,, ,, नं० ४२ ।

४—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से पद नं० ८६ ।

अष्टछाप की सखी-भाव से युगल उपासना

को उस सम्प्रदाय में 'परम माधुरी भाव' कहा गया है। अष्टछाप भक्तों के समकालीन श्री स्वामी हरिदास जी ने भी राधाकृष्ण की युगल-लीलाओं की उपासना सखी-भाव से करने का उपदेश दिया था। इन दोनों सम्प्रदायों की छाया, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, वल्लभ-सम्प्रदाय पर भी पड़ी, जिसके फलस्वरूप अष्टछाप-काव्य में हमें सखी-भाव से की गई युगल-भक्ति के पद भी एक बड़ी संख्या में मिलते हैं। इस प्रकार के पद समान भाव से आठों कवियों के उपलब्ध हैं। सखी-भाव की इस श्रृङ्गारमयी भक्ति में भक्त केवल दर्शक तथा नायक-नायिका की सखी और चेरी के रूप में राधाकृष्ण की परिचर्या करते हैं। तथा युगल की रस-केलि के दर्शन मात्र से परम रस का आस्वादन करते हैं। इस प्रकार की भक्ति में सदैव संयोग की ही भावना है, विरह की नहीं है। अष्टछाप काव्य के जिस अंश को हम लोक-मर्यादा की दृष्टि से अश्लील कहा करते हैं, वह सखी तथा दूती भाव से देखी हुई युगल (राधाकृष्ण) की श्रृङ्गारमयी लीलाओं के चित्र ही हैं) कुछ अमर्यादित श्रृंगार के पदों को छोड़ कर युगल-दर्शन में दासी-भाव से कहे हुए अष्टछाप के पदों में सुखद भावावलि है। सखी-भाव के भक्तों के लिये तो इन पदों में अतुल रसराशि है। सखी-भाव की भक्ति को प्रकट करने वाले कुछ पद अष्टछाप काव्य से, नीचे फुटनोट में उद्धृत किये जाते हैं।[1]

१— राग रामकली

सँग राजति वृषभानु कुमारी,
कुंज सदन कुसुमनि सेज्या पर दम्पति शोभा भारी।
आलस भरे मगन रस दोऊ अंग अंग प्रति जोहत,
मनहुँ गौर श्याम कै रव शशि उत्तम बैठे सन्मुख सोहत।
कुंज भवन राधा मनमोहन चहूँ पास ब्रज नारी,
सूर रहीं लोचन इकटक करि डारति तन मन वारी।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध वें० प्रे०, पृ० ३७०।

राग गूजरी

बसौ जु मेरे नैंनन में ए जोरी,
सुन्दर श्याम कमलदल लोचन संग वृषभानु किशोरी।
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल पीताम्बर झकझोरी,
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरश को का बरणौं मति थोरी।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ४२०।

राग सारङ्ग

लटकि लाल रहे राधा के भर।
सुंदर बीरी बनाय सुंदरि हँसि हँसि जाय, देत मोहन कर।

गोपी सनमुख चितवति ठाढ़ी तिनसों केलि करत सुंदर वर,
ज्यों चकोर चंदा तन चितवत त्यों आली निरखत गिरिवर धर।
कुंज कुटी अरु बाग वृन्दाबन बोलत कोकिला तरु पर,
परमानन्द स्वामी मोहन की हों वारी या लीला छबि पर।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १३६।

राग सारङ्ग

आज बनी दम्पति बर जोरी,
सांवर गौर बरन रूपनिधि नन्द किशोर वृषभानु किसोरी।
एक शीश पचरंग चूनरी, एक सीस अद्भुत पटखेरी,
मृगमद तिलक एक के मांथे, एक मांथे सोहे मृदु रोरी।
नख शिख उभय भाँति भूषन छबि ऋतु बसन्त खेलत मिलि होरी,
अति सै रंग बढ्यो परमानन्द प्रीति परस्पर नाहिन थोरी।
—लेखक के निजी परमानन्ददास पद-संग्रह से, पद नं० १३८।

राग विहाग

दम्पति पौढ़ेई पौढ़े रस बतियाँ करन लागे दोउ नैना लागि गये,
सेज ऊजरी चन्दा हु ते निर्मल तापर कमल छये।
फूकत दृग वृषभानु नन्दिनी झपत खुलत मुरझात नये,
मानों कमल मध्य अलिसुत बैठे साँझ समय मानो सकुच गये।
आलस जान आप सङ्ग पोढी प्रिय हिये उर लाय लये,
नन्ददास प्रभु मिली श्याम तमाल ढिग कनक लता उलहये।
—नन्ददास, 'शुक्ल' पृष्ठ ४२२।

बनी राधा गिरधर की जोरी,
मनहुँ परस्पर कोटि मदन रति की सुंदरता चोरी।
नौतन स्याम नन्दनन्दन वृषभानु सुता नव गोरी,
मनहुँ परस्पर बदन चन्द को पिवत चकोर चकोरी।
कुम्भनदास प्रभु रसिक लाल बहु विधि बर रसिकनि निहोरी,
मनहुँ परस्पर बढ्यो रंग अति उपजी प्रीति न थोरी।
—लेखक के निजी, कुम्भनदास-पद-संग्रह से, पद नं० ४३।

अद्भुत जोट स्याम स्यामा बर बिहरत वृन्दाबन चारी।
रूप कांति बल विभव महिमा रटत बन्दि श्रुति मति हारी,
पद विलास कुनित मनि नूपुर रुनित मेखला कुनकारी।
गावत हस्तक भेद दिखावत नाचत गति मिलवत न्यारी,

किलकत हँसत कुरखियनि चितवत प्यारे तन प्रीतम प्यारी,
कंठ बाहु धरि मिलि गावत हैं ललितादि सखी बलि बलिहारी।
मूरति वंत सिंगार सुकीरत निरखि चकित मृग अलिनारी,
कृष्णदास प्रभु गोवर्धन धर अतिसय रसिक वृषभानु कुँवारी।
—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद-संग्रह से, पद नं० ८३।

राग मल्हार

झूलत सुरङ्ग हिंडोरे मुकुट धरि बैठे हैं नन्दलाल,
लाल काछिनी कटि पर बाँधे उर शोभित बनमाल।
बाम भाग वृषभानु नन्दिनी चञ्चल नैन विशाल,
कृष्णदास दम्पति छबि निरखत अँखियाँ भईं निहाल।
—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ८४।

राग मल्हार

प्यारी के गावत कोकिला मुख मूंदि रही, पिय के गावत खन नैना मूंदि रहे सब,
नागरि के रस गिरिधरन रसिक वर मुरलि मलार राग अलाप्यो मधुर जब।
दम्पति तान बंधान सुनहि ललितादिक वारहिं तन मन फेरहिं अञ्चल तब,
चतुर्भुज प्रभु को निरखि सुख दम्पति कहति कहा धौं कीजे भवन अब।
—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० ३०,

राग कान्हरो

आवति माई राधिका प्यारी जुवती जूथ में बनी,
निकसि सकल ब्रजराज भवन ते सिंह द्वार ठाढ़े ललन कुँवर गिरधारी।
निरखि बदन भौंह मोरि तोरि त्रन चालि ओर चितवनि
तिहि छिन अँचरा सँभारि घूंघट की ओट ह्वै लियो है लाल मनुहारी।
गोविंद प्रभु दम्पति रंग मूरति दृष्टि सों भरत अङ्कवारी।
—लेखक के निजी, गोविन्दस्वामी-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० १७२।

राग कल्याण

राधे रूप निधान गुण आगरी नन्द नन्दन रसिक सङ्ग खेली,
कुञ्ज के सदन अति चतुर बर नागरी चतुर नागरि सों करति केली
नील पट तन लसे पीत कंचुकी कसे सकल अङ्ग भुवन निरूप रेली,
परम आनन्द सों लाल गिरधरन हृदै सों लागि लागि भुजन करिमेली।
छीतस्वामी नवल वृषभानु नन्दनी करति सुख रासि पीय सङ्ग नवेली,
सहचरी मुदित सब जास रंध्रनि निरखि मानी अपनो भाग करत केली।
—लेखक के निजी, छीतस्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० २१।

अष्टछापी कवियों की रचनाओं में शृङ्गार भाव की जिस मधुर भक्ति का हमें परिचय मिलता है उसकी परम्परा इन कवियों से पहले की है और उनके समकाल में तो उसका बहुत ही प्रचलन हो गया था। 'नारद-भक्ति-सूत्र' 'श्री मद्भागवत', तथा 'भागवत' के अनेक टीकाकारों ने इस भक्ति को स्वीकार किया है (दक्षिण भारत के आड्वारभक्त, 'निम्बार्काचार्य, चैतन्य, हितहरिवंश, हरिदास तथा वल्लभाचार्य आदि के कृष्णोपासना सम्बन्धी लगभग सभी सम्प्रदायों ने इस भक्ति को अपनाया था) जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, चैतन्य-सम्प्रदायी श्री रूपगोस्वामी ने मधुर-रस की भक्ति का विस्तार से विवेचन, अपने ग्रन्थ 'उज्वल नीलमणि' तथा 'हरिभक्ति-रसामृत सिन्धु' में किया है (संस्कृत कवि जगदेव ने इसी रस को लेकर राधाकृष्ण-अनुराग के पद लिखे। सूर के पूर्ववर्ती मैथिल कोकिल विद्यापति के राधाकृष्ण विषयक शृङ्गार-काव्य से तो हिन्दी जगत भिज्ञ है ही। हिन्दी भाषा के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं के कृष्णोपासक भक्त कवियों ने भी, जैसे बँगला के चंडीदास, गुजराती के नरसी महता और मीरा आदि भक्त, इस भाव का अनुगमन किया था)

भक्ति-पक्ष में मधुर भाव की निर्दोषिता पर भी भागवतकार से लेकर अब तक के कृष्णोपासक आचार्य और भक्तजन लिखते चले आये हैं। पीछे 'रास' प्रकरण में रास की निर्दोषिता का विवेचन करते हुए इस विषय पर कुछ विचार प्रकट किये जा चुके हैं। अष्टछाप काव्य के भावतत्व को सामने रखते हुए और नन्ददास के शृङ्गार-भाव-पूर्ण ग्रन्थों के विवेचन में भी इस प्रकार की भक्ति के दृष्टिकोण को प्रस्तुत ग्रन्थ में, सामने रक्खा गया है। लौकिक विषयों से छूटने के लिए लौकिक विषयों को लोक से हटा कर परमात्मा के साथ लगाने की साधन क्रिया तथा मन के परिष्कार की इस विधि का उल्लेख हम, अश्वघोष के 'सौंदरनन्द, महा काव्य में भी पाते हैं। इस ग्रन्थ का निर्माण ईसा से लगभग एक शताब्दी पहले हुआ बताया जाता है। महात्मा गौतमबुद्ध ने सौंदरनन्द की लौकिक रूपाशक्ति को स्वर्गीय रूपोपासना द्वारा आध्यात्मिक भावना में परिवर्तित किया था। जब गौतम ने देखा कि सौंदरनन्द की पार्थिव सौन्दर्य-लोलुपता और सांसारिक वासनाओं की लिप्सा किसी भी सदुपदेश से नहीं छुटती तो उन्होंने उसकी वासनाओं का आलम्बन युक्ति द्वारा बदल दिया। एक दिन उन्होंने सौंदरनन्द को नन्दनकानन की अप्सराओं के दर्शन कराए और कहा—'नन्द देखो इन अप्सराओं के रूप में कितनी मोहनी है। जो संसार में देखने को भी नहीं मिलती। लोक-रूप की लिप्सा छोड़ कर इन अप्सराओं का सहवास पाने की चेष्टा करो।' लौकिक रूप की समता में स्वर्गीय रूप, नन्द को अधिक आकर्षक लगा। अब वह इस नये रूप के सहवास की कामना से बुद्ध के बताए साधनमार्ग पर चलने लगा। अप्सराओं के सौन्दर्य ने पार्थिव स्त्रियों की सुन्दरता को नन्द के हृदय से निर्वासित कर दिया। इसके बाद फिर उसके जीवन-संसार में युगान्तर हुआ। स्वर्गीय सुख भी उसे नश्वर प्रतीत होने लगा और अन्त में वह शाश्वत सुख-सौन्दर्य का खोजी बन गया। राग द्वारा राग को हटा कर वह वीतराग हो गया।

उक्त प्रकार से ही सूरदास परमानन्ददास आदि भक्तों ने लौकिक भावों को लोक के आलम्बनों से हटा कर ईश्वर की ओर लगाया था। परिष्कार की अवस्था में भाव वही रहा केवल विभाव बदल गया। यह 'काँटे से काँटा निकालने' का सिद्धान्त है। श्री वल्लभाचार्य जी के इस कथन को,—'अहंता ममतात्मक वाले संसार में लग्न, दोषवाली इन्द्रियों के शुद्ध होने के लिए उन सब लौकिक विषयों को सर्व व्यापक ईश्वर में लगावे।'[1]—पीछे उनके भक्ति सम्बन्धी विचारों में दिया जा चुका है। अष्टछाप काव्य में उन कवियों की आत्मा के दर्शन हमें प्रत्यक्ष रूप में होते हैं। उनकी इस आध्यात्मिक रहस्यानुभूति का प्रमाण इन कवियों की जीवन घटनाओं से भी मिल जाता है। 'उज्वल नीलमणि' में श्री रूपगोस्वामी जी ने मधुर-भक्ति तथा शृङ्गार-भाव का समर्थन करते हुए कहा है—'प्राकृत नायक' के साथ इस भाव का आरोप और सदैव मनन लघुत्व दोष लाता है परन्तु इस भाव को अप्राकृत नायक कृष्ण में जोड़ने से रसानुभूति में वैषयिक दोष नहीं आता, क्योंकि कृष्ण स्वयं सब रसों के मूल रस हैं।'[2] भगवद्गीता में कृष्ण कहते हैं—'यदि अत्यन्त दुराचारी भी अनन्यता के साथ, किसी भी भाव से मुझे भजेगा, वह ऐसा करने से शीघ्र धर्मात्मा हो जायगा।'[3] वास्तव में आचार्यों ने सब श्रेणी के, सब प्रकार के (अच्छे और बुरे) भावों के रखने वाले, मनुष्यों को भक्ति का अधिकारी बताकर, भक्तिमार्ग का एक आशावादी धर्म स्थापित किया था।

शृङ्गारमयी कृष्ण-लीलाओं के विषय में इन भक्तों ने स्वयं निर्देश किया है—'यह काव्य लौकिक दृष्टि रखकर पढ़ने की वस्तु नहीं है। जो लोग वास्तव में वैषयिक वासनाओं से छूटना चाहते हैं और जो तन-मन-धन से कृष्ण के साथ सम्बन्ध जोड़ चुके हैं, वे अधिकारी जन ही इस काव्य को पढ़ें अन्यथा, बालक या श्रद्धाहीन सज्जन इसे न पढ़ें।'

हीन-श्रद्ध, निन्दक नास्तिक हरि धर्म बहिर्मुख।
तिन सों कबहूँ न कहै कहै तो नहिंन लहै सुख।
भक्त जनन सों कहै जिनके भागवत धर्म बल।
ज्यों जमुना के मीन लीन नित रहत जमुन जल।[4]

१—निरोध लक्षण, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १२।

२—लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके।
न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणी। १८।
—उज्वलि नीलमणि, निर्णय सागर प्रेस, पृष्ठ ११, १२

३—भगवद्गीता, नवम अध्याय, श्लोक ३० तथा ३१।

४—रासपञ्चाध्यायी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृष्ठ १८२।

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने भी अपने ग्रंथ 'शृङ्गार मण्डन' में कहा है— जो मनुष्य यह जानते हैं कि भगवान् रस-रूप हैं और रस द्वारा ही प्राप्त होते हैं, वे ही रसिक जन इस ग्रन्थ का अवलोकन करें अन्यथा जो इस भक्ति-रस से अनभिज्ञ हैं, उनको इसे पढ़ने का अधिकार नहीं है।'[1] अष्टछाप काव्य का शृङ्गार-रतिपूर्ण अंश, कवियों के धार्मिक सिद्धान्त को ध्यान में रखकर ही पढ़ने की वस्तु है, अन्यथा लोक-वासना के गर्त में जाने का भी इसमें भय है।

'साहित्य-दर्पण' में शान्त रस का परिचय देते हुए कहा गया है—'जहाँ न दुःख है और न सुख, न चिंता है और न द्वेष, जहाँ न राग है और न कोई इच्छा, इस प्रकार के भाव में जो रस होता है उसको मुनि जन शान्त रस कहते हैं।'[2]

शान्ता-भक्ति

इसी प्रकार का इस रस का लक्षण श्री रूपगोस्वामी जी ने दिया है।[3] शान्त रस के इस लक्षण पर लोगों को शङ्का होती है कि जब मनुष्य की उक्त दशा होगी तो उस समय किसी प्रकार के सञ्चारी आदि का होना असम्भव होगा, फिर शान्तरस कैसे उत्पन्न हो सकता है। इसका उत्तर यही दिया जाता है कि शान्तरसानुभूति में लौकिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाले भाव नहीं होते, अलौकिक ईश्वरोन्मुख-भाव शान्त-रस के आधार हैं।

शान्त-रस का स्थायी भाव 'निर्वेद' होता है। श्री रूपगोस्वामी जी ने 'हरिभक्तिरसामृतसिंधु' में कहा है—'निर्वेद जब तत्वज्ञान से उत्पन्न होता है, तब वह शान्त रस का स्थायी भाव होता है और जब वह इष्ट-वियोग और अनिष्ट-प्राप्ति में आता है तब वह व्यभिचारी भाव कहलाता है।'[4] संसार की अनित्यता, वासनाओं का त्याग और ईश्वर

१—प्रार्थये रसिका स्वैरं पश्यन्त्विदमहर्निशम्।
एतद्रसानभिज्ञः माद्राक्षीदपि वैष्णवः।
—श्री विट्ठलनाथ जी कृत, शृङ्गार मण्डन।

२—न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता, नद्वेष रागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः॥
—साहित्य-दर्पण।

३—नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो न च मत्सरः।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः॥
—भक्तिरसामृत सिन्धु, पश्चिम विभाग, १ लहरी, पृष्ठ ३२५,।

४—निर्वेदो विषये स्थायी तत्वज्ञानोद्भवः स चेत्।
इष्टानिविष्टयोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्य्यसौ।
—भक्तिरसामृत-सिन्धु, पश्चिम विभाग, १ लहरी, पृष्ठ ३२५

भक्ति अथवा ज्ञान द्वारा प्राप्त की गई चित्त की स्थिर अवस्था से जिस परमानन्द को भक्त अथवा ज्ञानी पाता है वही शान्त भाव है, और काव्य में व्यक्त होकर काव्य-शास्त्र के अनुसार वही शान्त रस है। सत्सङ्ग उपदेश, भक्ति अथवा ज्ञान-सन्बन्धी शास्त्रों का विचार इस रस के उद्दीपन विभाव हैं। चित्त शान्ति को बढ़ाने वाले पवित्र विचार और भाव जैसे निर्पेक्षता, निरहङ्कारिता आदि सञ्चारी हैं और रोमाञ्च, प्रकम्पादि हर्ष-द्योतक चिन्ह अनुभाव हैं। अष्टछाप काव्य को समष्टि रूप में देखने से ज्ञात होता है कि इस सम्पूर्ण काव्य के पीछे लौकिक वासनाओं के त्याग और अनन्त सुख-प्राप्ति की लालसा छिपी है। वैराग्य, आत्म-प्रबोध, विनय, आत्म-निवेदन आदि भावों के व्यक्त करने वाले इन कवियों के पदों में शान्त रस की ही धारा प्रवाहित हो रही है। इन भावों को प्रकट करने वाले उनके कुछ पद, 'संसार', 'माया सम्बन्धी विचार' तथा 'दास्य भक्ति' के विवेचन में उद्धृत किये जा चुके हैं। वैराग्य, आत्मप्रबोधन और अन्त में आत्मिकशान्ति का भाव व्यक्त करने वाले पद अष्टछाप के अन्य भक्तों की अपेक्षा सूरदास और परमानन्ददास ने अधिक संख्या में लिखे हैं। यहाँ इस विषय से सम्बन्धित उनके कुछ और पद फुटनोट में उद्धृत किये जाते हैं।[१]

१— राग देव गन्धार

सकल तजि भजि मन चरण मुरारि,
श्रुति स्मृति अरु मुनिजन भाषत हैं, मैं हूँ कहत पुकारि।
जैसे स्वप्ने सोइ देखियत तैसे यह संसार,
जात बिलैहै छिनक भाव में उघरत नैन किवार।
बारै बार कहत मैं तोसों जन्म न जुवा हारि,
पाछे भई सु भई सूरजन अजहूँ समुझि सँभारि।

—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ ३८।

राग बिलावल

कहा कमी जाके राम धनी,
मनसानाथ मनोरथ पूरण सुखनिधान जाको मौज घनी।
अर्थ धर्म अरु काम मोक्ष फल चार पदारथ देन छनी,
इन्द्र समान जाके हैं सेवक मो नपुरे की कहा गनी।
कहा कृपण की माया कितनी करत फिरत अपनी अपनी,
खाइ न सकै खरच नहिं जानैं ज्यों भुअँग शिर रहत मनी।
आनन्द मगन राम गुण गावै दुख संताप की काटि तनी,
सूर कहत जे भजत राम को तिन सों हरि सों सदा बनी।

—सूरसागर, प्रथम स्कंध, वें० प्रे०, पृष्ठ ४।

राग गूजरी

नमो नमो करुणा निधान,
चितवत कृपा कटाच्छ तुम्हारी मिटि गयो तम अज्ञान।
मोह निशा को लेश रह्यो नहिं भयो विवेक बिहान,
आत्म रूप सकल घट दरस्यो उदय कियो रवि ज्ञान।
मैं मेरी अब रही न मेरे छुट्यो देह अभिमान,
भावै परौ आजुही यह तनु भावै रहो अमान।
मेरे जिय अब यहै लालसा लीला श्री भगवान,
श्रवण करौं निशि बासर हित सों सूर तुम्हारी आन।

—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध बें० प्रे०, पृ० ३८, ३९।

राग धनाश्री

रे मन सुनि पुरान कहा कीनों,
अनपायनी भक्ति न उपजी भूखे दान न दीनों।
काम न बिसरयो क्रोध न बिसरयो लोभ न बिसरयो देवा,
परनिन्दा मुखते नहिं बिसरी निफल भई सब सेवा।
बाट परी घर मूसि परायो पेट भरयो अपराधी,
परलोक जाइ सो ज्याते सोई अविद्या साधी।
चरन कमल अनुराग न उपज्यो भूत दया नहीं पाली,
परमानंद साधु संगति बिनु कथा पुनीत न चाली।

—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३०३।

राग गौरी

धनि ए राधिका के चरन,
सुभग शीतल अति सुकोमल कमल के से बरन।
नाव चन्द्र चारु अनूप राजित विविध सोभा धरन,
कुनित नूपुर कुंज बिहरत परम कौतुक करन।
रसिक लाल मन मोहकारी बिरह सागर तरन,
बिबस परमानंद छिनु छिनु श्याम जिनके सरन।

—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से पद नं० १३४।

राग सारङ्ग

आनंद सिंधु बढ्यो हरि तन में,
श्री राधा पूरन ससि निरखति उमगि चल्यो ब्रज वृन्दावन में।
इत रोक्यो जमुना इत गोपिनि कछु एक फैलि परयो त्रिभुवन में,
ना परस्यो करमठ अरु ग्यानिनु अटकि रह्यो रसिकन के मन में।

'नारद-भक्ति-सूत्र' के अनुसार अष्टछाप भक्ति

'नारद-भक्ति-सूत्र' में प्रेम भक्ति के जो ग्यारह प्रकार दिये हुए हैं यदि उन प्रेम-स्थितियों के अनुसार हम अष्टछाप-काव्य को देखें तो हमें ज्ञात होगा कि उन आसक्तियों के व्यक्त करनेवाले एक नहीं, अनेक पद उनके काव्य में विद्यमान हैं। 'नारद-भक्ति-सूत्र' में बताई हुई प्रत्येक प्रकार की आसक्ति का संक्षिप्त विवरण और अष्टछाप काव्य से फुटनोट में उसके उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

१—गुणमाहात्म्यासक्ति—ईश्वर के गुण और उसकी महत्ता का ज्ञान तथा उनका सदैव ध्यान गुणमाहात्म्यासक्ति रूपा भक्ति है। इसी को माहात्म्यज्ञान भी कहते हैं। प्रेम-भक्ति की आरम्भिक अवस्था में इसकी आवश्यकता का उल्लेख पीछे हो चुका है। इन कवियों की सम्पूर्ण रचनाओं में, जहाँ उन्होंने कृष्ण के अलौकिक गुण और लोकोत्तर शक्ति का वर्णन किया है, वहाँ इस प्रकार की भक्ति का ही रूप व्यक्त है। श्री वल्लभाचार्य जी ने प्रेम-भक्ति की परिभाषा ही में, माहात्म्य ज्ञान को सुदृढ़ स्नेह के साथ आवश्यकीय कह दिया है। सूरदास ने तो विनय, भगवान् की भक्त-वत्सलता तथा बाल-भाव आदि प्रसङ्गों के पदों के अतिरिक्त इस भाव को अनेक दुष्टों की संहार-लीलाओं में भी व्यक्त किया है। परमानन्द तथा अन्य अष्टछाप भक्तों ने कृष्ण की दुष्ट-संहार की लीलाओं का वर्णन नहीं किया, परन्तु उनके पदों में इस आसक्ति का रूप प्रकट है। इस आसक्ति के द्योतक कुछ पद नीचे फुटनोट में उद्धृत किये जाते हैं।[१]

मंद मंद अवगाहत बुधि बल भक्ति हेतु नित प्रति छिनु छिनु में,
कछुक लहत नंद सुवनि कृपा तें सो देखियत परमानंद जन में।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १३१।

१— राग विहागरो

नेंक गुपावै मोको दैरी,
देखों कमल बदन नीके करि ता पाछे तू कनियाँ लै री।
अति कोमल कर चरण सरोरुह अधर दशन नासा सोहैरी,
लटकन शीश कंठमणि भ्राजत मन्मथ कोटि वारने गैरी।
वासर निशा विचारति हौं सखि यह सुख कबहुँ न पायो मैं री,
निगमन धन सनकादिक सर्वसु भाग्य बड़े पायो तैं री।
जाको रूप जगत के लोचन कोटि चन्द्र रवि लाजत भै री,
सूरदास बलि नाम यशोदा गोपिन प्राण पूतना बैरी।
—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ १०७।

२—रूपासक्ति—प्रेमी के हृदय में प्रेम का उद्रेक प्रिय के गुण-श्रवण तथा उसके रूप-दर्शन से हुआ करता है। जिस गुण और रूप ने प्रेमी का मन आकर्षित किया था, वह सदैव उन्हीं का ध्यान किया करता है। प्रेमाभक्ति में भी भक्तों की यही अवस्था होती है। सगुण और साकार ईश्वर के उपासकों ने ईश्वर को सर्वगुण और सर्वरूप-सौंदर्य का आगार कहा है। इसलिए, भक्ति की आरम्भिक अवस्था में उसके गुण-माहात्म्य के सुनने तथा उसकी अपार रूपराशि के दर्शन से लौकिक रूप और गुणों से मन हट जाता है और उस अनन्त गुण और रूप के प्रति आकर्षण हो जाता है। रूप के प्रभाव की अनुभूति, भक्त लोग, मन्दिर के स्वरूप तथा अपनी

राग सारङ्ग

ते भुज माधो कहाँ दुराए,
ते भुज प्रकट करहु किन नरहरि, जन कलियुग मँह बहुत सताए।
जिहि भुज गिरि मंदिर उत्पाट्यो जिहिं भुजबल रावन सिर तोरे,
जिहि भुज बल बलि बंधन कीनों अपने काज सकुचि भए थोरे।
जिहि भुज हिरन्यकसिपु उर फारयो जिहि भुज प्रह्लादहिं बर दीनों,
जिहि भुज अर्जुन के हय हाँके, जिहि भुज लीला भारथ कीनों।
जिहि भुज गोवर्धन राख्यो जिहि भुज कमला घर आनी,
जिहि भुज कंसादिक रिपु मारे परमानंद प्रभु सारंग पानी।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३०२।

हो प्रभु सुद्ध तत्व मय रूप, एक रूप पुनि नित्य अनूप।
रज गुन, तम गुन, ये सब डरैं, तुम कहुँ दूरि परे तैं परैं।
हम रज गुन, तम गुन करि भरे, अंध दुगंध गर्व मद भरे।
कहाँ तुम निज आनंद रस भरे, कित हम लोग, मोह मद भरे।
दुष्ट दमन तुम्हरौ अवतार, है अद्‌भुत व्रजराज कुमार।
परम धरम रच्छा जु करत हौ, हम से खलन कौं दंड धरत हौ।
—दशम स्कन्ध, अध्याय २७, नन्ददास, शुक्ल, पृष्ठ ३१२।

राग श्री

जयति जयति श्री हरिदासवर्य धरने,
वारि वृष्टि निवारि घोष आरति टार देव पति अभिमान भंग करने।
जयति पट पीत दामिनि रुचिर बर मृदुल अंग सांवल सजल जलद बरने,
कर अधर बेनु धरि गान कलरव शब्द सहज व्रज युवति जन चित्त हरने।
जयति वृंदाविपिन भूमि डोलनि अखिल लोक बंदनि अंबुरुह चरने,
तरनि तनया विहार नंद गोप कुमार दास कुंभन नवयत वसि सरने।
—लेखक के निजी, कुम्भनदास-पद-संग्रह से पद नं० १।

भावना में रमनेवाले स्वरूप की किया करते हैं। अष्टछाप भक्तों का बाह्य प्रत्यक्ष स्वरूप गोवर्द्धन पर स्थित श्रीनाथ जी का था और आन्तरिक स्वरूप बाल कुमार और पौगण्ड कृष्ण का। उनकी रचनाओं में समान रूप से रूपासक्ति भक्ति का बहुत ही प्रबल रूप व्यक्त होता है। नन्ददास की तो जीवनी से ही प्रकट है कि उनके भक्ति मार्ग में आने से पहले उनकी लोक-वृत्ति रूप-सौन्दर्योपासिनी थी, जो लोक से मुड़कर कालान्तर में कृष्ण के रूप में जुड़ गई। गोपी रूप में प्रकट होनेवाले ये आठों भक्त अपने भाव-जगत में कृष्ण की अपार रूप राशि पर मुग्ध थे। इस भाव को प्रकट करनेवाले इनके पद तथा उद्धरण नीचे फुटनोट में दिये जाते हैं।[1] ऐसे पद कृष्ण के गोचारण से आगमन समय तथा गोपियों के आसक्ति के वचनों से सम्बन्ध रखते हैं। नन्ददास जी ने 'रूपमञ्जरी' ग्रन्थ में इस रूपोपासना की प्रेम-भक्ति को व्यक्त किया है। उनके पदों में भी यह भाव व्यक्त हुआ है।

१— राग कल्याण

जो बिधना अपवश करि पाऊँ,
तौ सखि कह्यो होइ कछु तेरो अपनी साध पुराऊँ।
लोचन रोम रोम प्रति माँगौं पुनि पुनि त्रास दिखाऊँ,
इकटक रहैं पलक नहिं लागैं पद्धति नई चलाऊँ।
कहा करौं छबि राशि श्याम घन लोचन द्वै नहिं ठाऊँ,
येते पर ये निमिष सूर सुनि यह दुख काहि सुनाऊँ।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ २८१।

राग गौरी।

पीय मुख देखत ही पै रहिए,
नैनन को सुख कहत न आवै जा कारन सब सहीए।
सुनहो गोपाल लाल पाइ लागों भली पोच लै बहीए,
हों आसक्त भई या रूपे बड़े भाग तें लहिए।
तुम हो नायक चतुर सिरोमनि मेरी बाँह दृढ़ि गहिए,
परमानंद स्वामी मन मोहन तुमही तें निरबहीए।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १३२।

राग सारङ्ग

राधा माधो बिनु क्यों जु रहे,
एक स्याम सुंदर के कारन और सबनि की निंदा सहै।
प्रथम भयो अनुराग दृष्टि ते इन मोहन मन हरयो,
पीय के पाछे लागी डोलैं बंधु बरग सों बैर परयो।
मन क्रम बचन और गति नाँहिन लोक वेद की लजा तजी,
परमानंद तब ते सचुपायो जब तें पद अंभोज भजी।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ११६।

देखन देति न बैरिन पलकें,
निरखत बदन लाल गिरिधर को बीच परत मानों बज्र की सलकें।
बन ते आवत वेणु बजावत गोरज मंडित राजत अलकें,
माथे मुकुट श्रवण मणि कुंडल ललित कपोलन झाँई झलकें।
ऐसे मुख देखन को सजनी कहा कियो यह पून कमल कें,
नंददास सब जड़न की यह गति मीन मरत भायें नहिं जलकें।

—नन्ददास, 'शुक्ल', पृष्ठ ४१२।

राग सारङ्ग

नैंननि टगटगी लागि रही,
नखसिख अंग लाल गिरिधर के देखत रूप बही।
प्रातकाल घर तें उठि सुंदरि जाति ही बेचन मही,
ह्वै गई भेंट स्याम सुंदर सों अधभर पथ बिच ही।
घर व्योहार सकल सुधि भूली ग्वालिन मनसिज दही,
कुंभनदास प्रभु प्रीति बिचारी रसिक कंचुकी गही।

—लेखक के निजी, कुम्भनदास-पद-संग्रह से, पद नं० ८।

राग नटी

रूप देखि नैंननि पलक लागें नहीं,
गोवरधन-धर अंग अंग प्रति जहाँ ही परति दृष्टि रहति तहीं।
कहा कहौं कछु कहत न आयो चोर्यो मन मागिबे दही,
कुंभन दास प्रभु के मिलन की सुन्दर बात सकल सखीनु सों कही।

—लेखक के निजी, कुम्भनदास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० १२।

राग आसावरी।

ग्वालिन कृष्ण दरस सों अटकी,
बार बार पनघट पर आवत सिर यमुना जल मटकी।
मन मोहन को रूप सुधानिधि पीवत प्रेम रस गटकी,
कृष्णदास धन्य धन्य राधिका लोक लाज सब पटकी।

—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० १४४।

राग धनाश्री।

पिय को मुख देख्यो री नैननि लागी चटपटी,
भूल्यो है खंडिताभाव तन कोटि गनों चाव उमगि परी मिलन लटपटी।
कृष्णदास प्रभु गिरधर प्यारी तासों मिले करत खटपटी,
वारों तन मन प्रान जीवन धन देखत पाग लटपटी।[२]

—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद-संग्रह से, पद नं० ४९।

३—पूजासक्ति—अष्टछाप की रचना में इस भाव की भक्ति कृष्णकी अनेक स्तुतियों में तथा गोवर्द्धनधारण लीला के अन्तर्गत कृष्ण की पूजा में व्यक्त हुई है। नवधा-भक्ति के विवेचन में पीछे इसका उल्लेख हो चुका है।

४—स्मरणासक्ति—बनान्तर-विरह तथा कृष्ण के मथुरागमन पर प्रवास-विरह के पदों में गोपियों की यह भक्ति प्रकट हुई है। नवधा भक्ति के विवेचन में इस भाव का भी पीछे उल्लेख हो चुका है।

५—दास्यासक्ति—अष्टछाप के विनय के पदों में यह भाव व्यक्त हुआ है। इसका उल्लेख भी नवधाभक्ति के अन्तर्गत हो चुका है।

६—सख्यासक्ति—गोचारण तथा बाल-लीला में अष्टछाप की यह भक्ति प्रकट हुई है। इसका उल्लेख पीछे नवधा-भक्ति में हो चुका है।

राग धन्याश्री।

बदन चंद के रूप में मम लोचन कियो चाहत पान,
तृषावंत अति सहत न अन्तर गहत नाहिं बिनु समाधान।
निसि दिन इक टक रहें निहारत आगे ते न टरहु कीजै बँधान,
चतुर्भुज दास प्रभु पूरहु मनोरथ रसिक राय गिरि धरन सुजान।

—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं ४८।

राग विहाग।

मेरो मन मोह्यो री इन नागर,
कैसे मन धीरज धरों सुनि मेरी, आली, बिनु देखे रह्यो न परं रूप-सागर।
चितवनि हँसनि चलनि चित चुभि रही कोक कला गुन कौ है आगर,
गोविंद प्रभु मदन मोहन पीय की यह प्रीति उजागर।

—लेखक के निजी, गोविन्दस्वामी-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० २०४।

राग काफ़ी।

अरी हों स्याम रूप लुभानी,
मारग जाति मिले नन्दनन्दन तन की दसा भुलानी।
मोर मुकट सीस पर वाको बांकी चितवनि सोहे,
अङ्ग अङ्ग भूषन बने सजनी जो देखे सो मोहे।
मोतन मुरि कें जब मुसकाने तब हों छाकि रही,
छीत स्वामी गिरधर की चितवनि जाति न कछू कही।

—लेखक के निजी, छीतस्वामी-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० १७।

७—कान्तासक्ति—मधुर भक्ति के अन्तर्गत इस भाव की भक्ति का पीछे वर्णन किया गया है। गोपी-कृष्ण-संयोग तथा रास लीला के पदों में इस भाव की अभिव्यक्ति विशेष रूप से हुई हैं।

८—वात्सल्यासक्ति—इस प्रेम-भाव का वर्णन पीछे हो चुका है। कृष्ण की बाल-लीला तथा यशोदा-विरह में यह भाव व्यक्त हुआ है।

९—निवेदनासक्ति—अष्टछाप के विनय तथा विरह के पदों में इस प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है।

१०—तन्मयतासक्ति—प्रेम की प्रगाढ़ अवस्था में प्रेमी अपने आप को भूल कर प्रियमय ही हो जाता है। उसे सर्वत्र अपने प्यारे का ही रूप दीखता है। उसके नाम की जिह्वा पर रट और कानों में गूँज निरन्तर रहा करती है। वियोग में भी वह संयोग की सी अवस्था में रहने लगता है। अष्टछाप भक्तों की तन्मयतासक्ति गोपियों की तन्मय अवस्था को प्रकट करने वाले पदों में व्यक्त हुई है। दधि बेचते समय, वे 'दही लेहुरी' के स्थान पर 'गोपाल लेहुरी, गोपाल लेहुरी' कहने लगती हैं। विरह की अवस्था, जो रास और भँवर-गीत के पदों में व्यक्त है, उसमें वे स्वयं कृष्ण बन कर उन्हीं के से व्यापार करने लगती हैं। सूरदास ने इस प्रेम-अवस्था को बहुत ही प्रभावशाली शब्दों में प्रकट किया है। यह भाव सारूप्यभक्ति का सा रूप है। अष्टछाप काव्य से उद्धृत इस भाव के पद नीचे फुटनोट में दिये जाते हैं।[1]

१— राग धनाश्री

बेचति ही दधि ब्रज की खोरि,
शिर को भार सुरति महिं आवति श्याम श्याम हेरत भई भोरि।
घर घर फिरति गोपालहिं बेंचति मगनभई मन ग्वारि किशोरि,
सुंदर बदन निहारन कारन अंतर लगी सुरति की डोरि।
ठाढ़ी भई विथकि मारग में मांझ हाट मटकी सो फोरि,
सूरदास प्रभु रसिक शरोमणि चित चिंतामणि लियो अँजोरि।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृष्ठ २४८।

राग धनाश्री

बार बार मोहिं कहा सुनावति,
नेकहु टरत नहीं हृदय ते अनेक भांति मन को समुझावति।
दौबल कहा देति मोहिं सजनी तूतो बड़ी सुजान,
अपनीसी मैं बहुते कीन्हीं रहति न तेरी आन।
लोचन और न देखत काहू और सुनत नहिं कान,
सूर श्याम को बेगि मिलावहु कहत रहत घट प्रान।

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृष्ठ २४९।

११—परमविरहासक्ति—यह प्रेम-भक्ति, अष्टछाप के विरह तथा भँवरगीत के पदों में व्यक्त हुई है। सूरदास, परमानन्ददास तथा कुम्भनदास जी के विरह-भाव के पद बहुत संख्या में उपलब्ध हैं। उन पदों में इन तीनों भक्तों की परमात्मा से मिलने को विकल बनी आत्मा के दर्शन होते हैं। अन्य अष्टछाप कवियों की परमविरहासक्ति-भक्ति का उतना प्रस्फुटन उनके पदों में नहीं हुआ। इस भाव-भक्ति का परिचय वात्सल्य तथा मधुर भक्ति के अन्तर्गत दिया जा चुका है।

राग आसावरी

मेरो माई हरिनागर सों नेह ;
जब ते दृष्टि परे मनमोहन तब ते बिसर्यो गेह।
कोऊ निंदो कोऊ बंदो मो मन गयो संदेह,
सरिता सिंधु मिली परमानंद भयो एक रसतेह।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ६४।

मोहन लाल रसाल की लीला इनहीं सोहैं,
केवल तनमय भईं कछु न जानति हमको हैं।
हरि की सी चलनि, विलोकनि हरि की सी हेरनि,
हरि की सी गाइन घेरनि टेरनि वह पट फेरनि।

× × ×

भृंगी भय ते भृंग होइ वह कीट महा जड़,
कृष्ण प्रेम ते कृष्ण होइं कछु नहिं अचरज बड़।

—रास पञ्चाध्यायी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० १६६।

राग गौरी

ठाढ़ी एक बात सुनि धीरी धीरी,
भोरहि ते कहा मटुकी लिये डोलति ब्रज बासिनी अहीरी।
माधो माधो कहि कहि टेरति विसर गयो तोहिं नामु दहीरी,
न जानों कहुं मिले श्यामघन यह रट लागि रही-री।
मोहन मूरति मन हर लीनों नहिं समुझत कछु काहू की कही री,
चतुर्भुजदास विरह गिरिधर के सब बन फिरत बही री।[२]

—लेखक के निजी चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० ३४।

राग पूर्वी

आगे कृष्ण पाछे कृष्ण इत कृष्ण उत कृष्ण,
जित देखों तित कृष्ण मई री।

× × ×

छीतस्वामी गिरिधारी विट्ठलेस वपुधारी।
निरखति छबि अंग अंग ठई री।

—लेखक के निजी छीतस्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० ३१।

सेवा

'सिद्धान्त-मुक्तावली' ग्रन्थ में श्री वल्लभाचार्य जी ने कहा है—भगवान् में चित्त का पिरोना 'सेवा' है, यह सेवा तन से और वित्त से करनी चाहिए, भगवान् की इस सेवा से अहंता ममतात्मक संसार से निवृत्ति तथा ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है।[1] इसी ग्रन्थ में उन्होंने यह भी कहा है—सदा कृष्ण की सेवा करनी चाहिए, और वह सेवा मानसी हो जो 'परा' (फलस्वरूपा) है।[2] इस प्रकार वल्लभाचार्य जी ने सेवा का तात्पर्य देते हुए उसे तीन प्रकार की बताया है—तनजा, वित्तजा तथा मनजा। श्री हरिराय जी ने भी यही कहा है—'तीन प्रकार की प्रभु-सेवा में मानसी सेवा फलरूपिणी तथा निरोध-रूपा है, जो केवल व्रजभक्तों में ही दिखाई देती है और निरोध का स्वरूप भाव में है; इसलिए मानसी सेवा भावात्मक है।'[3] भक्त का शरीर भगवत्कार्य में लगे, यह शारीरिक सेवा है और जिस द्रव्य-सम्पत्ति का भागी मनुष्य होता है उसे अपना न समझ कर, भगवान् का ही समझे और उसे उन्हीं के निमित्त, जैसे भगवान् के जन-जीवों के पालन में, भगवान् के मन्दिर निर्माण में, उनके शृङ्गारादि में, लगावे, यह वित्तजा सेवा है। इन दोनों प्रकार की सेवा के अभ्यास से मानसी सेवा का लाभ होता है। मानसी सेवा की भावात्मक स्थिति के विषय में हरिराय जी ने कहा है—'प्रभु से मिलन की विकलता द्वारा जब हृदय में विप्रयोग उत्पन्न हो तब प्रभु हृदय में सम्पूर्ण लीला का अनुभव कराते हैं, मानसी सेवा में रसात्मक प्रभु की स्थिति का ध्यान सदैव रहना चाहिए।'[4] हरिराय जी ने सेवा-विधि की प्रथम अवस्था का निरूपण करते हुए

१—चेतस्तत्प्रवणं सेवा, तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।
तत: संसारदु:खस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्। २

—सिद्धान्तमुक्तावली, षोडशग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, पृ० २३, श्लोक २।

२—कृष्णसेवा सदाकार्या मानसी सा परा मता। १।

—सिद्धान्तमुक्तावली, षोडशग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, पृ० २३, श्लोक १।

३—चेतस्तत्प्रवणं सेवा मानसी फलरूपिणी।
प्रोक्ता निरोधरूपा सा व्रजस्थेष्वेव दृश्यते। २

—स्वमार्गीय सेवाफलरूपनिर्णय: श्री हरिरायवाङ्मुक्तावली,
भाग १, नडियाद, पृष्ठ ३०।

४—अन्यत्राविनियोगाय क्रियतां तनुवित्तजा।
तया तु मानसी सिध्येत् सैवात्र फलरूपिणी।

—स्वमार्गीय शरण समर्पण सेवादिनिरूपणम्, श्री हरिरायवाङ्मुक्तावली,
भाग १, नडियाद, पृ० ४६।

बाह्यास्फूर्तौ वियोगेन रसे हृदयदेशगे।
रसात्मकप्रभोस्तत्र प्रादुर्भाव: स्वतो भवेत्। ५

—स्वमार्गीय सेवा फल-रूपनिर्णय:, श्री हरिरायवाङ्मुक्तावली, भाग १,
नडियाद, पृ० ३१-३२।

कहा है—'पहले भगवान् की मूर्ति की सेवा करनी चाहिए। साकार मूर्ति में भगवान् प्रवेश करते हैं, इस प्रकार मूर्ति में भगवान् का ज्ञान करके कुछ लोग मूर्ति की सेवा तथा पूजा करते हैं, परन्तु स्वमार्गीय भक्ति-पद्धति में मूर्त्ति प्रभु का ही स्वरूप है, उसमें तादात्म्य का भाव है। इसलिए स्वरूप-सेवा कृष्ण की सेवा ही है।'[1]

श्री हरिराय जी के कथनानुसार पुष्टिमार्गीय सेवा दो प्रकार से होती है—'एक सेवा सर्वत्याग के साथ, दूसरी अनासक्तभाव रखते हुए अत्याग से। दूसरी के अनुसार भक्त धर्मानुसार, गृहस्थाश्रम का पालन करते हुए तथा गृहस्थ में अनासक्त रहते हुए, कृष्ण सेवा करे।'[2] श्री वल्लभाचार्य जी ने भी भक्ति की प्रथम अवस्था में स्वधर्मानुसार गृहस्थ में रह कर ही भगवान् की पूजा करने का उपदेश दिया है।[3] उनका कहना है—'यदि प्रभु मिलन

तेनैव प्रभुणा सर्वलीलानुभवतो हृदि।
रसात्मकस्वरूपस्य स्थितिस्त्रैकालिकी भवेत्। ६।
—स्वमार्गीयसेवाफलरूपनिर्णयः, श्री हरिरायवाङ्मुक्तावली, भाग १, नडियाद, पृ० ३१ तथा ३२।

१—सेवाविधिः समग्रोऽपि क्रमेणैव विलिख्यते।
प्रकारोत्तमतः पूर्वं मूर्तौ सेवा विधीयते। ३९।
मूर्तौ भगवतो ज्ञानं साकारावेशतो मतम्।
भक्तिमार्गप्रकारेण ज्ञानतस्तु तदात्मता। ४०।
—स्वमार्गीयशरणसमर्पणसेवादिनिरूपणम्, श्री हरिरायवाङ्मुक्तावली, भाग १, नडियाद, पृ० ७३ तथा ७४।

२—सेवा तु तस्य द्विविधा त्यागात्यागविभेदतः।
अत्यागेऽपि तथात्वं हि व्यावृत्तेस्त्यागतः पुरा। ४३।
व्यावृत्तावपि च प्रोक्तो मानसस्त्याग उत्तमः।
अत्यागपक्षे गार्हस्थ्यमनुकूलं हि साधने। ४४।
गृहे स्थित्वा सेवनार्थे स्वधर्मेणैव सर्वथा।
कृष्णं भजयतोऽधर्मकरणाद्दीनयोगिता। ४५।
—स्वमार्गीयशरणसमर्पणसेवादिनिरूपणम्, श्री हरिरायवाङ्मुक्तावली, भाग १, नडियाद, पृष्ठ ७५।

३—बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः। २।
—भक्ति-वर्धिनी, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, पृ० ७२।

की व्याकुलता अधिक प्रबल हो तब गृहस्थका त्याग कर दे।'[1] गृहस्थाश्रम की सेवा-विधि को बताते हुए हरिराय जी का कहना है कि 'भक्त यथायोग्य प्राप्त द्रव्य से भगवान् की पूजा करे। भगवान् का मन्दिर, सिंहासन, आदि बनवावे, इस प्रकार भगवान् के भोग, श्रृङ्गारादि सेवा में देह और द्रव्य को लगावै।'[2] इसी विषय का प्रतिपादन करते हुए श्री हरिराय जी ने 'सेवा' तथा 'पूजा' का अन्तर बताया है। 'सेवा में स्नेहपूर्वक लोकवत् युक्ति से भगवान् की परिचर्या होती है तथा पूजा में शास्त्रविधि से अर्चना है।'[3] बालरूप भगवान् की सेवा स्नेहपूर्वक बालक की परिचर्या के समान की जाती है। पूजा में स्नेह का लगाव नहीं होता।

सेवा का एक अङ्ग गुरु-सेवा भी है। सेवनीय गुरु भक्ति-मार्ग का अनुसरण करनेवाला, कृष्ण सेवा-परायण, भागवत के तत्व को जाननेवाला तथा दम्भ आदि विकारों से रहित हो। यदि ऐसा गुरु न मिले तब, हरिराय जी का कथन है, पहले के किसी सद्‌गुरु के उपदेशों को ही नियामक मानना चाहिए।[4]

१—विरहानुभवार्थं तु परित्यागः सुखावहः।
स्वीयबंधनिवृत्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा। ७।
—सन्यास-निर्णय, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, पृ० ६३।

२—कृष्णमूर्तौ यथा लब्धैर्द्रव्यैः सम्पूजयेद्धरिम्।
पूर्वं स्थानं मन्दिरादि तथा सिंहासनादि च। ४६।
सम्पाद्य भोगसामग्रीं हरिमुत्थाप्य मंचतः।
प्रातरारभ्य सर्वापि सेवा पूजा विधीयताम्। ४७।
—स्वमार्गीयशरणसमर्पण सेवादिनिरूपणम्, श्री हरिरायवाङ्मुक्तावली, भाग १, नडियाद, पृ० ७६

३—पूजामार्गे भवेन्मन्त्रविधानात् पूज्य सेवनम्।
विशेषो भक्तिमार्गेऽयं पुरुषोत्तमरूपिणः। ४१।
सेवायां लौकिकी युक्तिस्तथा स्नेहो नियामकः।
पूजायां तु विधिः स्नेह विरुद्ध इति निश्चयः। ४८।
—स्वमार्गीयशरणसमर्पण सेवादिनिरूपणम्, श्री हरिरायवाङ्मुक्तावली, भाग १, नडियाद, पृ० ७४ तथा ७७।

४—गुरुश्च भक्तिमार्गीयः कृष्णसेवापरायणः।
श्रीभागवततत्वज्ञो दम्भादिरहितो नरः। ४६।
तदभावे तथाभूतोपदेशोऽत्र नियामकः। ४६।
—स्वमार्गीय शरणसमर्पणसेवादिनिरूपणम्, श्री हरिरायवाङ्मुक्तावली, भाग १, नडियाद, पृ० ७८।

तनजा और वित्तजा सेवा की फलस्वरूपा मानसी सेवा को हरिरायजी ने तीन प्रकार से फलदायिनी बताया है।[१] उत्तम सेवा के अधिकारी को सेवा का फल अप्राकृत शरीर से वैकुंठादि लोकों में भगवान् की लीला का आनन्द लाभ होता है। मध्यम सेवा के अधिकारी को पुरुषोत्तम के श्रीअङ्ग में (अक्षर ब्रह्म में नहीं) लीनता की सायुज्य[२] मुक्ति मिलती है और कनिष्ठ अधिकारी को प्रभु अद्भुत तथा अलौकिक सामर्थ्य देते हैं।[३] श्री वल्लभाचार्य जी ने सेवा फल के विषय में कहा है—'फलदान अथवा प्राप्ति में काल नियामक नहीं है, उसमें प्रभु का अनुग्रह ही नियामक है।'[४] उक्त ग्रन्थ में सेवा-प्रकरण पर आगे हरिराय जी लिखते हैं कि हरि की सेवा करते हुए सम्मान की इच्छा नहीं रखनी चाहिए दीनता धारण कर सेवा में[५] हरि के गुणों का गान और नाम का कीर्तन करते रहना चाहिए।[६]

१—सा प्रकारत्रयेणेति तेषां तन्मध्यपाततः।
फलत्वमिति ते प्रोक्ताः सेवायां तु फलत्रयम्। ४।

२—ते प्रकारास्तु विज्ञेया ग्रन्थात् सेवाफलाभिधात्।
अलौकिकं हि सामर्थ्यं सायुज्यं पुरुषोत्तमे। ७।
बैकुंठादिषु सेवायाः शरीरमधिकारकृत्। ७।
—स्वमार्गीयशरणसमर्पणसेवादिनिरूपणम्, श्रीहरिरायवाङ् मुक्तावली, भाग १, नडियाद, पृ० ४० तथा पृ० ४१।

३—सायुज्यमक्षरे नैव किन्तु सत्पुरुषोत्तमे।
भक्तिमार्गफलेष्वेतन्मध्यमं फलमीर्यते। ३२।
—स्वमार्गीय सेवाफलनिरूपणम्, श्रीहरिरायवाङ् मुक्तावली, नडियाद, भाग १ पृ० ३८।

४—यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।
अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिद्ध्येन्मनोरथः। १।
फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोऽत्र नियामकः।
—सेवा-फल, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, पृ० ११०।

५—कृष्णं सर्वात्मकं ज्ञात्वा दीनतां हृदि भावयेत्।
अहं करोमीत्येतादृगहङ्कारं परित्यजेत्। ७५
—स्वमार्गीयशरणसमर्पणसेवादिनिरूपणम्, हरिरायवाङ्मुक्तावली, पृ० ४०।

६—सेवायामपि सम्मानं नापेक्षेत हरेः पुनः
गुणान् गायेदथो नाम कीर्तयेत् सदसि स्थितः ७६।
—स्वमार्गीयशरणसमर्पणसेवादिनिरूपणम्। हरिरायवाङ्मुक्तावली, पृ० ४०।

नाथद्वार निज पुस्तकालय में 'सेवा-प्रकार'[1] नामक ब्रजभाषा की एक हस्तलिखित प्राचीन पोथी सुरक्षित है। इसमें आचार्य महाप्रभु द्वारा कुम्भनदास के प्रति सेवा-विधि पर उपदेश कहे गए हैं। उसमें कहा गया है कि जीव अष्ट उपाधियों से लोभ, मोह, काम क्रोध, माया, ममता, अहङ्कार और तृष्णा ग्रसित है। जब जीव इनसे रहित हो तब ही प्रभु की सेवा बनती है। प्रातःकाल से सायंकाल तक मनुष्य अनेक अपराध करता है। यदि इन अपराधों से सचेत रहे तो सेवा में सावधानी और सुचारुता आती है। ये अपराध ८४ कहे गए हैं। ये वे असावधानियाँ हैं जो किसी सम्प्रदाय की सेवा-विधि में भूल करनेवाले आलसी सेवक और पुजारी में हो सकती हैं। जैसे—

१. उठते ही मन्दिर में झाड़ू न देना।
२. मिट्टी बिना बहिर्मुख जाना।
३. सूर्योदय के पहले दन्तधावन न करना।
४. नग्न स्नान करना।
५. स्नान करके आचमन न करना।
६. मन्दिर लीपे बिना ठाकुर को जगाना।
७. प्रसाद-जल से आचमन करना।
८. तिलक मुद्रा किये बिना मन्दिर में जाना।
९. ठाकुर के चन्दन में से अपना तिलक करना।
१०. ठाकुर जी को समय चुका कर जगाना।
११. रात्रि का बासी जल हटाकर फिर न भरना।
१२. ठाकुर को तैल मर्दन बिना न्हवाना इत्यादि।

उक्त ग्रन्थ में अष्ट उपाधि और ८४ अपराधों का विवरण देने के बाद, आगे, सेवा-विषयक पाँच प्रकरण और दिये हुये हैं, जिनमें आठ पहर की सेवा का विवरण दिया गया है।

सेवा-विधि पर श्री वल्लभाचार्य जी का कोई संस्कृत में लिखा हुआ ग्रन्थ नहीं मिलता। और न गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने ही इस विषय पर लिखा है। श्री वल्लभाचार्य जी तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ जी की स्थापित की हुई सेवा पद्धति का लेखनविस्तार के साथ श्री गोकुलनाथ जी तथा श्री हरिराय जी के समय में हुआ। सेवा-विधि पर हरिराय जी के दो लेख—'आह्निक' तथा 'भावना'—प्रसिद्ध हैं। मुखिया रघुनाथ जी शिवजी द्वारा लिखित 'वल्लभ-पुष्टि-प्रकाश[2]' नामक पुस्तक वल्लभ-सम्प्रदाय के सातों पीठों की सेवा-विधि पर लिखा हुआ एक महत्वशाली ग्रन्थ है।

१— लेखक के पास इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि है। नाथद्वार पुस्तकालय में इस पोथी का नं० ४६/१ है। श्री वल्लभाचार्य जी का उस विषय पर ब्रजभाषा में लिखा हुआ कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। लेखक का अनुमान है कि यह ग्रन्थ श्री हरिराय जी के ही समय में अन्य वार्ता-साहित्य की तरह, लिखा गया होगा। कुम्भनदास आदि के प्रति आचार्य जी के मौखिक उपदेश परम्परा के आधार से बढ़ाकर ब्रज-भाषा में लिपिबद्ध कर दिये गये हैं।

२—वल्लभपुष्टिप्रकाश ग्रन्थ, वें० प्रे० से छपा है।

'श्रीहरिभक्ति-रसामृत सिन्धु' की 'दुर्गम-सङ्गमनी' टीका में भी, भिन्न-भिन्न पुराणों के आधार से सेवापराध बताये गये हैं जो वैष्णवों के लिए वर्जनीय कहे गये हैं, जैसे – सवारी तथा पादुका सहित भगवान् के मन्दिर में जाना, देवोत्सवादि की सेवा न करना अर्थात् उनकी उपेक्षा कर देना, मूर्तिस्वरूप भगवान् को प्रणाम न करना, उच्छिष्ट मुख अथवा अपवित्रता में भगवान् की वन्दना करना, एक हाथ से प्रणाम करना, भगवान् के सामने ही सामने परिक्रमा करना, भगवान् के सामने पैर फैलाना, पैर सिकोड़ कर तथा कमर और घुटनों से वस्त्र बाँधकर बैठना, भगवान् के समक्ष सोना, खाना, झूठ बोलना, उच्च स्वर से गप्प मारना, रोना, झगड़ना, भगवान् की मूर्ति के समक्ष किसी को दण्ड देना अथवा किसी पर उनके सामने अनुग्रह करना, अन्य मनुष्यों से क्रूरभाषण, मूर्ति के समक्ष सेवा में कम्बल ओढ़ना, दूसरे की निन्दा अथवा स्तुति करना, अश्लील भाषण, भगवान् को बिना अर्पण किये भोजन करना, भगवान् की ओर पीठ फेर कर बैठना, अन्य का अभिवादन करना, सामर्थ्य रहने पर भी गौण उपचार करना, अपनी बड़ाई और देवता की निन्दा करना आदि बत्तीस अपराध[1]। इनके अतिरिक्त और भी सेवापराध उक्त ग्रन्थ में गिनाये गए हैं।[2]

अष्टछाप काव्य में भगवान् की सेवा की महत्ता का तो गान है, परन्तु सेवाविधि अथवा सेवापराधों का वर्णन उसमें नहीं है। आठों भक्तों में से सूरदास ने सेवा के माहात्म्य तथा उसके फल के विषय में विशेष कथन किया है। अष्टछाप जीवनियों से विदित है कि उनमें जो गृहस्थी भक्त थे, जैसे कुम्भनदास, चतुर्भुजदास और छीतस्वामी, वे श्रीनाथ जी की सेवा तन, धन तथा मन तीनों प्रकार से करते थे, तथा जो भक्त त्यागी थे वे तन और मन से करते थे। मानसिक तथा कीर्तन-सेवा के फलस्वरूप तो अष्टछाप का सम्पूर्ण काव्य ही है। गोपीग्वाल, नन्दयशोदा आदि की मानसिक स्थिति के शब्द-चित्रों में इन्हीं भक्तों की अन्तरात्मा बोलती प्रतीत होती है। इनके लिखे प्रेम-भक्ति के पदों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि भगवान् के सानुभव में इन भक्तों की मानसिक अवस्था वैसी ही थी जैसी सूर के निम्नलिखित पद की गोपी की थी—

राग धन्याश्री

बेचति ही दधि ब्रज की खोरि,
सिर को भार, सुरति महिं आवति श्याम श्याम टेरत भई भोरि।
घर घर फिरति गोपालहिं बेंचति मगन भई मन ग्वारि किसोरि,
सुन्दर बदन निहारन कारन, अंतर लगी सुरति की डोरि।
ठाढ़ी भई विथकि मारग में मांझ हाट मटकी सो फोरि,
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि चित चिंतामणि लियो अंजोरि।[3]

१—श्रीहरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु, अच्युत ग्रन्थ-माला, काशी, पृ० ५२-५३।
२— ,, ,, ,, ,, ,, ५३-५४।
३—सूरसागर, दशम स्कन्ध, वें० प्रे० पृ० २५८।

अनेक पदों में सूरदास का कथन है—'मनुष्य को, शरीर भगवान् की सेवा पूजा के लिए मिला है, नेत्र भगवान् के दर्शन के लिए, श्रवण उनकी कथा सुनने के लिए, हाथ उनकी सेवा-पूजा के लिए, पैर तीर्थ-स्थानों में जाने के लिए और जिह्वा हरि-कीर्तन के लिए हैं।'[1] जो मन सांसारिक सम्पत्ति के बढ़ाने और मुनाफा कमाने में लगा है, उसको सूरदास जी वित्तजा सेवा का उपदेश देते हैं—'यदि तू रामनाम चित्त में धारण करता और अपने द्रव्य का व्यय भगवान् और भगवान् के भक्त सन्तों की सेवा में लगाता तो तेरे मूलधन में बहुत नफ़ा होती। उस धन के बल पर तू बेखटके बैकुण्ठ में जा सकता था।'[2]

१— मैं जु कहों सो देखि विचार, बिन हरिभजन नहीं निस्तार।
हरि की कृपा मनुष्य तन पावै, मूरख विषयन हेत गँवावै।
तिन अंगन को सुनो विवेक, खरची लाख मिलै नहिं एक।
नैन दरश देखन को दिये, मूरख लखि परनारी जिए।
श्रवण कथा सुनिबे को दीने, मूरख परनिंदा हित कीने।
हाथ दिए हरि पूजा हेत, तेहि कर मूरख परधन लेत।
पग दये तीरथ जैबे काज, तिन सों चलि नित करत अकाज।
रसना हरि सुमिरन को करी, ताकर, परनिन्दा उच्चरी।
—सूरसागर, चतुर्थ स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ४०।

तथा

सोइ रसना जो हरि गुन गावै।
नैनन की छबि यहै चतुरता, ज्यों मकरन्द मुकुंदहि ध्यावै।
निर्मल चित्त तो सोई साँचो, कृष्ण बिना जिय और न भावै।
श्रवनन की जु यहै अधिकाई, सुनि रस कथा सुधारस प्यावै।
करतेई जो श्यामहिं सेवैं, चरननि चलि वृन्दाबन जावै।
सूरदास जैये बलि ताके, जो हरिजू सों प्रीति बढ़ावैं।
—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ३४।

२— राग सारङ्ग।
जो तू रामनाम चित धरतौ।
अब कौ जनम आगिलो तेरो, दोऊ जन्म सुधरतौ।
यम कौ त्रास सबै मिटि जातो, भक्त नाम तेरो परतौ।
तंडुल घृत सँवारि श्याम कों, संत परोसो करतो।
होतो नफ़ा साधु की संगति, मूल गांठ नहिं टरतो।
सूरदास बैकुंठ पंथ में कोउ न फेंट पकरतौ।
—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० १८।

सूरदास के ग्रन्थों के परिचय में पीछे कहा गया है कि नाथद्वार निज पुस्तकालय तथा काँकरौली विद्याविभाग में, क्रमशः पोथी नं० ४६।५ तथा पोथी नं० ४२/१० में सूरदास-कृत 'सेवाफल' नाम से एक लम्बा पद मिलता है। पीछे यह भी कहा गया है कि बहुत अंश में यह पद सूर-कृत ही प्रतीत होता है। इस पद में भगवान् की सेवा का माहात्म्य और सेवा के फल का वर्णन किया गया है। पद का भाव यह है— 'गोपाल का भजन करो, भगवान् को भूलो मत। मनुष्य देह का यही सब से बड़ा लाभ है। गुरु की सेवा से हरि की सेवा मिलती है और जब भगवान् की कृपा होती है तब भगवान् की प्रेम-भक्ति मन में आती है। देह से हरि की सेवा करो। जो प्रातः उठकर कृष्ण का ध्यान करता है, उसे मनवाञ्छित फल मिलता है, जो ठाकुर जी की आर्ति करता है, जो उनका नाम स्मरण करता है, और जो उनके चरणामृत का पान करता है, उसने अपना घर बैकुण्ठ में बना लिया है। जो भगवान् के समक्ष कीर्तन करते हैं, वे तीनों लोकों की राजधानी पाते हैं; जो ठाकुर का शृङ्गार करते हैं, उनको भगवान् पूर्णरूप से अङ्गीकार करते हैं।' इसी प्रकार इस पद में आगे ठाकुर के मन्दिर की सेवा का भी फल बताया गया है। अन्त में सूरदास जी कहते हैं—'भगवान् की सेवा का फल भगवान् की सेवा ही है, सेवा करने से भगवान् भक्त को अपने हृदय में स्थान देते हैं।'[1]

१—भजो गोपाल भूलि जिन जाहु, मानुष जन्म को ये ही लाहु।
गुरु सेवा करि भक्ति कमाई, कृपा भई तब मन में आई।
याहि देह सों सुमिरै देवा, देहधरी करिये हरि सेवा।
सुनो संत सेवा की रीति, करो कृपा राखो मन प्रीति।
प्रातः उठि श्रीकृष्ण को ध्यावै, जो फल माँगे सो फल पावै।
जिन ठाकुर को दरशन कीयो, जीवन जनम सुफल करि लीयो।
जो ठाकुर की आरति करै, तीन लोक ताके पाँयन परै।
जो ठाकुर को करैं प्रणाम, बैकुंठहि ताको निजधाम।
जो श्री हरि को सुमिरै नाम, ताको कुशल नित पूरन काम।
जो ठाकुर को ध्यान लगावै, ध्रुव प्रह्लाद की पदवी पावै।
जिन हरि को चरणामृत लीयो, बैकुंठ लोक अपनो घर कीयो,
जो हरिजू को करे श्रृंगार, ताको पूरन अंगीकार।
× × × ×
सेवा में जो आलस लावे, कोटि जन्म प्रेत को पावे।
वेद पुरान स्मृति यों भाखे, सेवा रस ब्रज बीथिन चाखे।
सेवा की है अद्भुत रीति, विट्ठलनाथ सों राखो प्रीति।
श्री आचार्य जी प्रकट बताई, कृपा भई तब सब मन आई।
सेवा को फल कह्यो न जाई, सुख सुमिरौं श्री वल्लभराई।
सेवा को फल सेवा पावै, सूरदास प्रभु हृदे समावै।

—नाथद्वार निज पुस्तकालय की प्रति नं० ४६। ५ सेवाफल, सूरदास-कृत-से उद्धृत।

पीछे 'पादसेवन' साधन भक्ति के प्रकरण में कहा गया है कि परमानन्ददास भगवान् की सेवा के आनन्द को मुक्ति से भी अधिक मीठा कहा है,[1] तथा, भगवान् से, उनकी सेवा का अधिकार पाने की प्रार्थना,[2] उन्होंने अपने कुछ पदों में की है। गुरु-सेवा तथा गुरु-स्तुति को प्रकट करने वाले भी पद अष्टछाप काव्य में मिलते हैं। ऐसे कुछ पद अष्टछाप के आत्मचारित्रिक उल्लेखों के अन्तर्गत पीछे आ गये हैं।

आत्म निवेदन, शरणागति अथवा प्रपत्ति

'पाँचरात्रविष्वक्सेनसंहिता' में प्रपत्ति के विषय में कहा गया है कि 'भगवद्रूप प्राप्य वस्तु की इच्छा करनेवाले उपायहीन व्यक्ति की प्रार्थना में पर्यवसायिनी (संलग्न) निश्चयात्मिका बुद्धि ही प्रपत्तिका स्वरूप है,'[3] तथा 'अनन्य साध्य भगवत्प्राप्ति में महाविश्वास पूर्वक भगवान् को ही एक मात्र उपाय समझ कर प्रार्थना करते रहना ही प्रपत्ति है और इसी को शरणागति कहते हैं।'[4] 'पाँचरात्र' में प्रपत्ति दो प्रकार की कही गई है—एक, दृप्त; और दूसरी, आर्त प्रपत्ति। इन दोनों प्रकार की प्रपत्ति के अनुसार शरणागत के दो भेद और उनके लक्षण इस ग्रन्थ में दिये हुये हैं। 'इस देह से निःशेष प्रारब्ध कर्मों को भोगने के बाद अन्य देह धारण न करना पड़े इस भाव से जो भगवान् की शरण में जाते हैं, वे 'दृप्त शरणागत' तथा 'संसारी शोक से घबराये हुये तथा भगवद्-प्राप्ति की इच्छावाले

१—सेवा मदन गोपाल की मुक्ति हूते मीठी।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ३१९।

२—यह माँगो यशोदा नंदन।

× × ×

चरण कमल की सेवा दीजै, दोऊ जन राजत, विधुजताघन।

× × ×

महाप्रसाद पाऊँ गुन गाऊँ परमानन्द दास दासी जन।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ३१२।

३—बुद्धिरध्यवसायात्मा याञ्चा पर्यवसायिनी।
प्राप्येच्छोरनुपायस्य प्रपत्ते रूपमिष्यते।

—पाञ्चरात्र विष्वक् सैन संहिता से साधनाङ्क, कल्याण, अगस्त सन् १९४० ई० में उद्धृत पृ० ६०।

४—अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायतायां च प्रपत्तिः शरणागतिः।

—पाञ्चरात्र विष्वक्सेन संहिता से, साधानाङ्क, कल्याण, अगस्त सन् १९४० ई० में उद्धृत पृ० ६०।

व्यक्ति आर्तप्रपन्न या आर्तशरणागत कहलाते हैं।'[1] उक्त ग्रन्थ में आर्त प्रपत्ति का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—'हे भगवान्! मैं सम्पूर्ण अपराधों का स्थान, अकिञ्चन साधन रहित तथा अगति हूँ। आपके सिवा मेरा कोई अन्य रक्षक नहीं है। आपकी प्राप्ति के लिए आपही उपाय हैं, इस प्रार्थना बुद्धि का नाम आर्त शरणागति है,। इस प्रकार की प्रार्थना भगवान् के प्रति करनी चाहिए।'[2]

गीता में कृष्ण, ज्ञान और कर्म संयुक्त भक्ति के साधन का निरूपण करने के बाद, अन्त में, भगवत्प्राप्ति के इच्छुक साधनहीन भक्त को आशापूर्ण उपदेश देते हैं—'हे अर्जुन, शरीर, कर्म तथा जन्म-मरण के चक्र-यन्त्र पर आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को ईश्वर अपनी माया से घुमाता हुआ, सब प्राणियों के हृदय में स्थित है।'[3] इसलिए 'हे भारत! सब प्रकार उस परमेश्वर की ही शरण में जा। तू उस परमात्मा की कृपा से ही परम शान्ति को और शाश्वत स्थान को प्राप्त होगा।'[4] आगे कृष्ण फिर अर्जुन को परमहितकारी उपदेश देते हैं—'हे अर्जुन, केवल मुझ परमात्मा में ही मन लगानेवाला हो, केवल मेरा ही भक्त हो, मेरा ही यजन-सेवा करनेवाला हो, और मुझ ही को, दैन्य धारण करके प्रणाम कर मैं तेरा अत्यन्त प्रिय सखा हूँ, मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि ऐसा करने से तू मुझको ही प्राप्त होगा। सब धर्मों का त्याग करके एक मेरी ही शरण में चल, मैं तुझे सब पापों से छुटा

१—यस्य देहान्तरकृते शोको दृप्तः स उच्यते।
यश्च प्रारब्धदेहेऽपि शोचत्यार्त्तः स उच्यते।
—पाञ्चरात्र विष्वक्सेन संहिता से, साधनाङ्क, कल्याण, अगस्त सन् १९४० ई० में उद्धृत पृ० ६०।

२—अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिंचनोऽगतिः।
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थना मतिः।
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम्।
—पाञ्चरात्र विष्वक्सेन संहिता से, साधनाङ्क, कल्याण, अगस्त सन् १९४० ई० में उद्धृत, लेखन्यास विद्या, पृ० ६०।

३—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। ६१।

४—तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्। ६२।
सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्। ६४।
—गीता, अष्टादशोऽध्याय श्लोक ६१-६४

दूँगा। किसी बात का सोच मत कर।'[1] उक्त वाक्यों में कृष्ण ने अन्य साधन हीन, काल से प्रताड़ित प्रपन्नों के लिए प्रपत्ति अथवा शरण-मार्ग का उपदेश दिया है। यह उपदेश केवल अनन्य शरणागति का है, पीछे कृष्ण ने भक्ति तथा निष्काम कर्मयोग के साथ भगवान् के आश्रय अथवा शरण ग्रहण करने का भी मार्ग बताया है।[2]

श्रीवल्लभाचार्य जी के 'अनुग्रह' मार्ग में भी साधनहीन, भगवत्प्राप्ति के इच्छुकों को 'शरणागति' अथवा प्रपत्ति का उपाय बताया गया है। अपने 'नवरत्न' ग्रन्थ में आचार्य जी कहते हैं—'चित्त के उद्वेग को छोड़ कर, हरि भगवान् जो जो करें सो सो सब उसी प्रकार की उनकी ही लीला है, ऐसा विचारते हुए, जल्दी चिन्ता का त्याग कर देना चाहिए। और इसीलिए सब तरह से सर्वदा मेरे कृष्ण ही रक्षा करने वाले हैं, मुझे उन्हीं की शरण है ऐसा कहते रहना चाहिए।'[3] 'कृष्णाश्रय' ग्रन्थ में भी उन्होंने कृष्ण की शरण का आवाहन किया है। वे कहते हैं— दुष्टधर्म वाले कलियुग में सब (वेदोक्त) मार्गों के नष्ट होने पर, पाखण्ड से युक्त लोक में केवल कृष्ण की शरण ही हमारी गति है। विवेक धैर्य और भक्ति साधन से रहित तथा पापासक्त दीनहीन के लिए कृष्ण ही गति हैं। सर्वसामर्थ्य-सम्पन्न सर्वत्र सब मनोरथों को पूर्ण करनेवाले तथा शरण में आए हुओं का उद्धार करनेवाले श्रीकृष्ण के प्रति मैं प्रार्थना करता हूँ।'[4] 'विवेक धैर्याश्रय' ग्रन्थ में उन्होंने मर्यादा पुष्टि भक्तों के लिए

१—मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे। ६५।
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ६६।
—गीता, अष्टादशोऽध्याय श्लोक ६५-६६

२—भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्। ५५।
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्। ५६।
—गीता अष्टादशोऽध्याय श्लोक ५५-५६

३—चित्तोद्वेगं विधायाऽपि हरिर्यद्यत्करिष्यति।
तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत्। ८।
तस्मात्सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ९।
—नवरत्न, षोडशग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, पृ० ५३।

४—सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि।
पाषंडप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम। १।

भी यही आदेश दिया है—'जो लौकिक वैदिक कार्य करनेवाले भक्त हैं वे जो भी कार्य करें, उनको सदा यह विचार करना चाहिए कि उन्हें सदा हरि भगवान् की ही शरण है, इस प्रकार, यह भगवान् का आश्रय सब का हित करने वाला है।'[1]

वल्लभसम्प्रदायी, भट्ट रमानाथ शर्मा शास्त्री ने 'भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूप-गत भेद' नामक पुस्तक में साधन-स्वरूपा भक्ति तथा प्रपत्ति का भेद बताते हुए कहा है कि भक्ति और प्रपत्ति दोनों में भगवद् अनुग्रह और प्रेम का प्रकर्ष होता है और दोनों का फल भी भगवान् ही है. परन्तु भक्ति में साधन विशेष का स्वीकार है, प्रपत्ति में साधनानुष्ठान का स्वीकार नहीं है, केवल भगवान् का ही स्वीकार है। प्रपत्ति में भगवत्सेवा, भगवान् के नाम का जप, कीर्तन आदि का निषेध नहीं हैं, परन्तु ये कार्य आवश्यकीय भी नहीं हैं। शरणागत भक्त के ये कार्य भगवान् की प्राप्ति के लिए नहीं बताये गये, वरन् ये लौकिकासक्ति तथा आसुरावेश से बचने के लिए होते हैं।[2] उक्त ग्रन्थ में भट्ट रमानाथ शास्त्री जी ने साम्प्रदायिक दृष्टि से, प्रपत्ति के दो और भेद कहे हैं—१ मर्यादिकी प्रपत्ति तथा २ पुष्टिमार्गीय प्रपत्ति[3]। बन्दर का बच्चा अपनी माता को जकड़ कर पकड़ लेता है। माता, यद्यपि उसकी रक्षा का ध्यान रखती है, परन्तु उसको पकड़ती नहीं है, जब वह उछलती कूदती है तब बच्चा ही दृढ़रूप से माता को पकड़े रहता है। यह उदाहरण मर्यादा-प्रपत्ति का है। भगवान् अपनी लीला में संलग्न है भक्त के द्वारा पकड़े जाने से उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता; परन्तु वे शरणागत भक्त की रक्षा का ध्यान अवश्य रखते हैं। पुष्टिमार्गीय प्रपत्ति का उदाहरण बिल्ली के बच्चे का दिया जाता है। बिल्ली का बच्चा अपनी माँ को नहीं पकड़ता। बिल्ली ही जहाँ जाती है, बच्चे को मुख में लटका कर ले जाती है, तथा उसकी रक्षा के लिए

विवेक धैर्य भक्त्यादिरहितस्य विशेषतः।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम। ९।
सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत्।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम्। १०।
—कृष्णाश्रय, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, पृ० ६६, ६८ तथा ६९

१—यथा कथंचित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि।
किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम्। १६।
एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्।
कलौभक्त्यादिमार्गा हि दुस्साध्या इति मे मतिः। १७।
—विवेक धैर्याश्रय, षोडशग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, पृष्ठ ६५।

२—भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूप-गत भेद, देवर्षि रमानाथ शास्त्री, नाथद्वार पृ० ४६।

३—भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूप-गत भेद, देवर्षि रमानाथ शास्त्री, नाथद्वार पृ० २१।

सदैव उसके पीछे फिरा करती है। उसी प्रकार भगवान् भी अशक्त, दीन, उपायहीन प्रपन्न शरणागत की रक्षा के लिए अपने कार्य और धर्मों को भी त्याग कर उसके पीछे फिरा करते हैं।

'पाँचरात्र' की लक्ष्मी संहिता में प्रपत्ति के छै अङ्गों का वर्णन है।[1] ये छै अङ्ग निम्नलिखित हैं:—

१ आनुकूल्य का सङ्कल्प—सर्व भूतानुकूलता का यह अङ्ग है। सर्व आत्मा तथा सर्व व्यापक परमात्मा को जड़चेतन में व्याप्ति जान कर जीवमात्र के अनुकूल होना शरणागति का पहला अङ्ग है।

२ प्रातिकूल्य का त्याग—प्राणी मात्र की हिंसा के अनर्थ से बचना प्रतिकूलता का त्याग है।

३ सब प्रकार से भगवान् ही रक्षा करेंगे, यह विश्वास प्रपत्ति का तीसरा अङ्ग है।

४ कृपावन्त, सर्वशक्तिमान्, प्राणीमात्र के स्वामी भगवान् से, संसार निवृत्तिपूर्वक अङ्गीकार करने के लिए प्रार्थना करना प्रपत्ति का चौथा अङ्ग गोप्तृत्ववरण है।

५—आत्मनिवेदन अथवा आत्म समर्पण प्रपत्ति का पाँचवाँ अङ्ग है। उपाय और फल की निवृत्ति, और भगवान् के ही आधीन सर्वस्व तथा सर्वकार्य समझना आत्मसमर्पण है।

६—अहङ्कार का नाश तथा दीनता के भाव का धारण करना कार्पण्य है।

प्रपत्ति के उक्त अङ्गों के भाव को प्रकट करनेवाले अनेक पद अष्ट काव्य में, विशेषरूप से सूर की रचनाओं में विद्यमान हैं। आत्मदोष तथा अपनी अकिञ्चनता का प्रकाशन करते हुए, अभिमान के त्याग, दीनता, तथा आत्मनिवेदन सहित भगवान् से शरण पाने की आर्त-विनय के अनेक पद सूर ने लिखे हैं। अष्टछाप के अन्य सात कवियों ने भी शरणागति

१—आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।
—पाञ्चरात्र लक्ष्मीतन्त्र संहिता से साधनाङ्क, कल्याण, अगस्त सन् १९४०
ई० में उद्धृत, लेखभ्यास-विद्या, पृ० ६०।

का भाव प्रकट किया है, परन्तु उनके पदों में प्रपत्ति का वैसा पूर्ण और प्रभावशाली रूप नहीं है। इन भावों के द्योतक अष्टछाप के कुछ पद, पीछे 'दास्य भक्ति' के अन्तर्गत दिये जा चुके हैं। उनकी दास्य भाव की शरणागति का परिचय भी उसी प्रसङ्ग में आ चुका है। यहाँ, इन भक्तों की आर्त-प्रपन्नता तथा आत्मसमर्पणमयी प्रपत्ति के सूचक कुछ भावों का और दिग्दर्शन कराया जाता है।

भगवान् से शरण पाने की प्रार्थना करते हुए सूरदास जी कहते हैं—'हे प्रभु, मैं आपकी शरण आया हूँ, मुझसे कोई साधन तो बना नहीं हैं, अपने पाप कर्मों के भारी भार से भयभीत हूँ। आपके पतित पावन विरद के सहारे आपके द्वार पर आ पड़ा हूँ, अब तो आपकी ही शरण का भरोसा है। शरण आये की लज्जा रखिये।'[1] तथा 'हे प्रभु! मेरे गुण अवगुणों की ओर ध्यान न दीजिये। मैंने योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत आदि कोई शुभ कर्म नहीं किया। आपके भजन का भी मुझे बल नही है। परन्तु आप दयानिधि सर्वज्ञ, सर्वप्रकार से समर्थ तथा अशरणों को भी शरण देने वाले हैं, संसार के मोह समुद्र से, भगवन्! मेरा निस्तारा करके शरण में ले लीजिये।'[2] सूर के इन पदों में प्रपत्ति के

१— राग धनाश्री।

शरण आये की लाज उर धरिये।
साधूयौ नहिं धर्म शील शुचि तप व्रत कछु, कहा मुख लै तुम्हें विनय करिये।
कछू चाहौ कहौं, सोचि मन में रहौं, क्रम अपने जानि त्रास आवे।
यहै निज सार आधार मेरे अहै, पतित पावन विरद वेद गावै।

× × ×

पाप मारग जितै तेव कीने तिते, बच्यो नहिं कोइ जहं सुरति मेरी।
सूर अवगुण भरयो, आइ द्वारे परयो तकी गोपाल अब शरण तेरी।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ ६।

२—प्रभु मेरे गुण अवगुण न विचारो।
कीजै लाज शरण आये की रविसुत त्रास निवारो।
योग यज्ञ जप तप नहिं कीयो, वेद विमल नहिं भाख्यो।
अति रस लुब्धश्वान जूंठनि ज्यों कहूँ नहीं चित राख्यो।
जिहि जिहि योनि फिरयो संकट वश तिहि तिहि यहै कमायो।
काम क्रोध मद लोभ ग्रसित भये विषय परम विष खायो।
जो गिरिपति मसि घोरि उदधि में लै सुरतरु निज हाथ।
मम कृत दोष लिखे बसुधाभर, तऊ नहीं मिति नाथ।
कामी कुटिल कुचील कुदर्शन अपराधी मतिहीन।
तुम समान और नहिं दूजो जाहि भजों ह्वै दीन।

गोप्तृत्ववरण, आत्मनिवेदन तथा कार्पण्य भावों का पूर्ण रूप से प्रकाशन हुआ है। भगवान् की अचिन्त्य शक्ति की महिमा तथा शरणागत की आर्तपुकार पर तुरन्त रक्षा करने वाले भगवद् अनुग्रह का वर्णन सूरदास एक अशक्त, दीन चिड़िया की स्थिति में बैठकर कहते हैं—'भगवान्! हम अनाथ अशक्त संसार वृक्ष की डाल पर भयभीत बैठे हैं, एक ओर काल-पारिधी बाण सन्धान कर रहा है, दूसरी ओर संसृति-यातना का बाज़ ढूंक रहा है। कहाँ जायें। दोनों ओर भारी भय है। अब प्राणों की रक्षा कौन कर सकता है। अब तो भगवान् आपकी ही शरण है। धन्य है प्रभु! आपने शरणागत की आर्त पुकार सुन ली, सर्प ने पारिधी को डस लिया, उसके हाथ से बाण छुट कर बाज़ के जा लगा। और हम अनाथों की रक्षा हो गई।'[1] भगवान् की शरण-महिमा पर सूरदास के अनेक पद सूरसागर में हैं।[2]

शरणागति की महिमा का वर्णन करते हुए, परमानन्ददास जी कहते हैं—जो भगवान् की शरण में गये, उनको भगवान् ने अङ्गीकार कर लिया। उनके सब विघ्नों को

अखिल अनंत दयालु दयानिधि अविनाशी सुखरास,
भजन प्रताप नाहिं मैं जान्यो, पर्‌यो मोह की फाँस।
तुम सर्वज्ञ सबै विधि समरथ, अशरण शरण मुरारि।
मोह समुद्र सूर बूडत है लीजै भुजा पसारि।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे० पृ० १।

१— राग सोरठ

अबके राखि लेहु भगवान्,
हम अनाथ बैठे द्रुम डरिया पारधि सांधे बान।
जाके डर भाज्यो चाहत हैं, ऊपर ढुक्यो सचान,
दुवौ भाँति दुख भयो आनि यह कौन उबारे प्रान।
सुमिरत ही अहि डस्यो पारधी कर छूटे संधान,
सूरदास शर लग्यो सचानहिं, जय जय कृपा निधान।

—सूरसागर, प्रमथ स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ ७।

२— राग रामकली

शरण गये को को न उबार्‌यो।
जब जब भीर परी संतन को चक्रसुदर्शन तहाँ सँभार्‌यो।
× × ×
ग्राह ग्रसत गज को जल बूड़त नाम लेत वाको दुख टार्‌यो।
सूरस्याम बिनु और करै को रंगभूमि में कंस पछार्‌यो।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ ३।

भगवान् ने हटा दिया और उन्हें अभय कर दिया। भगवान् अपने शरणागत भक्त के सदा बस में रहते हैं।[1] एक पद में परमानन्ददास जी कृष्ण को अपना परम मित्र तथा परम रक्षक जान कर कहते हैं—

राग सारङ्ग

अब डरु कौन कौ रे भैया,
गलगरजौ गोकुल में बैठे, हमरौ मीत कन्हैया।
कहत ग्वाल जसुमति के आगें, है त्रिभुवन को रैया,
तोर्‌यो सकट पूतना मारी, को कहि सकै गवैया।
नाँचहु गावहु करहु कुलाहल चारहु धौरी गैया,
परमानन्ददास कौ ठाकुर सब प्रकार सुख दैया।[2]

उसी प्रकार नन्ददास जी कहते हैं—'हे भगवान्, जब तक लोग तुम्हारी पूर्ण शरण में नहीं जाते तभी तक, वे रागादिक चोरों से सताए जाते हैं, तभी तक उनको देह, गृह तथा सांसारिक मोहादि के व्यापारों के बन्धन बाँधते हैं, और तभी तक मन की वासनाएँ घेरती हैं।'[3] एक पद में कृष्णदास आत्मोत्सर्ग तथा आत्मदीनता प्रकट करते हुए कहते हैं—'हे दयालु-मूर्ति भगवान्! मुझे केवल आप ही के चरणों की शरण है, मैं कुबुद्धि, काम क्रोधादि विकारों की दावाग्नि से जल रहा हूँ। आप अपनी कृपा-दृष्टि के नवघन से इस अग्नि का शमन करके

१—जाको तुम अङ्गीकार कियो,
तिनके कोटि विघन सब टारे अभय प्रतापु दियो।
बहु सासना दई प्रह्लादै, सबहि निसंक जियो,
निकसे खंभ मध्य तें नरहरि आपुन राखि लियो।
दुर्वासा अम्बरीष सतायो सो पुनि शरण गह्यो,
राखि प्रतिज्ञा मदनमोहन उनही पै पठै दयो।
मृतक भये हरि सबै जिवाए, दृष्टिहि अमृत पियो,
परमानन्द भगत के बस, सो उपमा कौन बियो।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद सङ्ग्रह से, पद नं० ३१०।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से पद नं० २८।

३—हे सुन्दरवर नन्द किशोर, रागादिक तबई लगि चोर।
तबई लगि बंधन आगार, देह गेह अरु नेह विपार।
× × ×
तबलों मननि वासना छुये, जब लगि तुम्हरे नाहिंन भये।
—दशम स्कन्ध, चतुर्दशोऽध्याय नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० २६७

मुझे जिला लीजिये। आपके चरण-नख-मणि की कान्ति अन्तःकरण में प्रकाश देनेवाली है। हे प्रभु, कृष्णदास को केवल आप का ही सहारा है।'[1]

अनन्याश्रय, लोकाश्रय का त्याग, तथा भगवान् की भक्तवत्सलता

'विवेक-धैर्य्याश्रय' ग्रन्थ में श्री वल्लभाचार्य जी ने कहा है—'कृष्ण भक्त को अन्य देवों का भजन तथा उनकी शरण का परित्याग करना चाहिए।'[2] भक्ति-मार्ग के सभी सम्प्रदायों ने अनन्याश्रय को महत्ता दी है। केवल अपने एक इष्ट का ही आश्रय ग्रहण करना अनन्याश्रय कहलाता है। भक्तों का कहना है कि एकान्त प्रेम के बिना प्रेम की उत्कट स्फूर्ति नहीं होती। पीछे बताया जा चुका है कि पुष्टिमार्ग में अविचल कृष्ण-भक्ति के अनन्य-भाव का ही उपदेश दिया गया है।[3] वल्लभभक्तों की श्रद्धा भगवान् के सभी रूप तथा देवताओं में रहती है, परन्तु जिस भगवद् अनुग्रह द्वारा लभ्य प्रेम को वे पाने की अभिलाषा करते हैं वह अनन्य-भाव से केवल ब्रज-कृष्ण का है।

अनन्याश्रय

अष्टछाप भक्तों की रचना से ज्ञात होता है कि उनकी आस्था भगवान् के सभी लीलावतार तथा देवों में थी। उन्होंने कृष्ण के गुन-गान के अतिरिक्त राम, नृसिंह आदि भगवान् के अवतारों पर भी श्रद्धापूर्वक पद लिखे हैं; परन्तु, जैसा कि पीछे, 'अष्टछाप के उपास्यदेव' प्रकरण में कहा जा चुका है, उन्हीं के स्वयं कथन से सिद्ध है कि उन्हें किसी का आश्रय है, तो वह श्रीकृष्ण का और आत्मोत्सर्ग सहित किसी की पूर्ण शरण है तो वह भी

१— राग बिलावल

तिहारे चरन की हों शरन ,
राखि राखि दयालु मूरति रसिक गिरिवर धरन।
काम क्रोध जु दाव दाह्यो कुबुधि लाग्यो मरन ,
कृपा दृष्टि जिवाइ नवघन स्याम अम्बुज बरन।
निरखि नखमनि जोति वैभव मुदित अन्तहकरन ,
कृष्णदासनि तेरोई बल बिरह जलनिधि तरन।

२—अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च।
प्रार्थनाकार्यमात्रेऽपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत्। १४।
अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः।
ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममं। १५।
—विवेक धैर्य्याश्रय, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, पृ० ६४।

३—सिद्धान्त मुक्तावली, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, पृष्ठ ३० श्लोक १५।

श्रीकृष्ण की। आत्मसमर्पण पूर्ण अनन्याश्रय के भाव को प्रकट करने वाले अष्टछाप काव्य के कुछ पद नीचे फुटनोट में उद्धृत किये जाते हैं।[1]

१— राग आसावरी

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै,
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिर जहाज पर आवै।
कमल नैन को छाँड़ि महातम और देव को धावै,
परम गंग को छाँड़ि पियासो दुर्मति कूप खनावै।
जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै,
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै।

—सूरसागर प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ १७।

राग केदारा

मन में रह्यो नाहिंन ठौर,
(श्री) नंदनंदन अछत कैसे आनिये उर और।
चलत चितवत द्योस जागत सपने सोवत राति,
हृदय ते वह मदन मूरति छिन न इत उत जाति।
कहत कथा अनेक ऊधो लोग लोभ दिखाइ,
कहा करौं मन प्रेम पूरण घट न सिंधु समाइ।
श्यामगात सरोज आनन ललित गति मृदुहास,
सूर इनके दरश कारन मरत लोचन प्यास।

— सूरसागर, दशम स्कन्ध वें० प्रे० पृ० ५२६।

राग सारङ्ग

प्रीति तो एकहि ठौर भली,
इहब कहा मति चरन कमल तजि फिरै जु चली चली।
ते जाने जे सब विधि नागर सार सार गहि लोग,
पायो स्वाद मधुप रस लोभी श्याम धाम संयोग।
परमानन्ददास गुन सुंदर नारदादि मुनि ज्ञानी,
सदा विचार विषय रस त्यागी जस गावत मधुबानी।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० २८६।

राग कानरो

बहुते देवी बहुत ते देवा कौन कौन को भलो मनाउँ।
हौं अधीन श्याम सुंदर के जनम करम पावन जस गाउँ।
लोक लोक प्रति सब कोउ ठाकुर अपने भगतनि के सुख दाइक।
मोहि वह लागी अधर धरी मुरली, गोपी वल्लभ गोपी नायक।

देव असुर मानव मुनि ज्ञानी हरि जू कौ दियो सबै कोउ पावै ।
हौं बलिहारी दास परमानन्द करुना सागर काहे न भावै ।

—लेखक के निजी, परमानन्द दास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ३१२ ।

प्रेम एक, इक चित्त सौं एकहि संग समाइ ।
गाँधी को सौदा नहीं, जन जन हाथ बिकाइ ।

—रूपमञ्जरी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृष्ठ १७

कौन ब्रह्म की जोति ज्ञान कासों कहौं ऊधौ ।
हमरे सुंदर स्याम प्रेम को मारग सूधौ ।
नैंन नैंन श्रुति नासिका, मोहन रूप दिखाइ ।
सुधि बुधि सब मुरली हरी प्रेम ठगोरी लाइ ।
सखा सुनि श्याम के ।

—भँवरगीत, नन्ददास, 'शुक्ल', पृष्ठ ११२ ।

राग रामकली

माई गिरधर के गुन गाऊँ,
मेरे तो व्रत एही है निस दिन और न रुचि उपजाऊँ ।
खेलन आँगन आउ लाड़िले नेकहु दरसनु पाऊँ,
कुम्भनदास हिलग के कारन लालच लागि रहाऊँ ।

—लेखक के निजी, कुम्भनदास-पद-संग्रह से, पद नं० ५ ।

ज्यों ज्यों राखो त्यो रहूँ जु देहु सु खाउँ,
तुम ही मेरे पति गति लेउँ तेरो नाउँ ।
मेरे जाने तजहु गिरिधरन जो तुमहिं छाँड़ि पिय कोंन पे जाउँ,
कृष्णदास कहै या त्रिभुवन में तेरे द्वारे बिना हरि नाहीं कहूँ ठाउँ ।

—लेखक के निजी, कृष्णदास-पद-संग्रह से, पद नं० ७७ ।

राग जैतश्री

एकहि आँक जपै गोपाल,
अब यह तन जाने नहिं सखि और दूसरो चाल ।
मात पिता पति बंधु वेद विधि तजै सबै जंजाल,
स्याम सुरूप चित में चुम्यो परि बीते जो बहु काल ।
गह्यो नेमु तिन तोर जबै हँसि चितये नैंन बिसाल,
चतुर्भुजदास अटल भँप उर चट परसो गिरिधर लाल ।

—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० ३६ ।

केवल कृष्ण की शरण के सामने इन भक्तों ने लोकाश्रय को बिलकुल छोड़ दिया था। सूर की जीवनी से तो विदित है ही कि उन्होंने सम्राट अकबर के प्रलोभन देने पर भी न तो उसका यश गान किया और न उसकी भेंट ग्रहण की। उसी प्रकार कुम्भनदास ने राजा मानसिंह के उपहार को ठुकराया था। सूरदास और परमानन्ददास ने लोकाश्रय की उपेक्षा का भाव अपने कुछ पदों में व्यक्त किया है।

लोकाश्रय का त्याग

कंचन ते जो माँटी तजै, त्यों तनु मोह छाँड़ि हरि भजै,
नर सेवा ते जो सुख होई, क्षणभंगुर थिर रहै न सोई।
हरि की भक्ति करो चित लाई, होइ परम सुख कबहुँ न जाई,
ऊँच नीच हरि गनत न दोइ, यह जिय जानि भजो सब कोइ।[1]

राग सारङ्ग

तुम तजि कौन नृपति पै जाउं,
काके द्वार पैठि सिर नाऊँ पर-हथ कहां बिकाउँ।
तुम कमला पति त्रिभुवन नाइक बिसंभर जाको नाउँ,
सुर तरु कामधेनु चिंतामनि सकल भुवन जाको ठाउँ।
तुम ते को दाता को समरथ जाके दिए अघाउँ,
परमानंद हरि सागर तजि के नदी सरन कत जाउँ।[2]

राग धनाश्री

मेरो माई माधो सों मन मान्यो,
अपनो तन और ता ढोटा को एकमेव करि सान्यो।
लोक वेद कुल कान त्यजी में न्योत आपने आन्यो,
एक नन्द नन्दन के कारण बैर सबन सों ठान्यो।
अब क्यों भिन्न होय मेरी सजनी मिल्यो दूध और पान्यो,
परमानन्ददास को ठाकुर, है पहिलो पहिचान्यो।[3]

अष्टछाप भक्तों की भगवान् के प्रति पुरुषार्थ होना अनन्य भक्ति है। उधर उनके उपास्यदेव भगवान् भी भक्त के पीछे पीछे चलने वाले, पितृवत् अपने अकिञ्चन और अशक्त बालक के समान भक्त की रक्षा करनेवाले और उसे सुख शान्ति देनेवाले हैं। यह उनकी भक्तवत्सलता है। एक ओर भक्त निष्काम भाव से भगवान् की बालवत् सेवा करता है तो दूसरी ओर भगवान् भी भक्त की बालवत् रक्षा करते हैं। ईश्वर की सामर्थ्य और उसकी

भगवान् की भक्त-वत्सलता

१—सूरसागर, सप्तम स्कन्ध, वें० प्रे० पृष्ठ ८६।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २८८।

३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३८१।

भक्तवत्सलता का भाव अष्टछाप काव्य के अनेक पदों में व्यक्त हुआ है। सूरदास के भक्तवत्सल भगवान् की प्रतिज्ञा है—

राग बिलावल

हम भक्तन के भक्त हमारे,
सुन अर्जुन परतिज्ञा मेरी यह ब्रत टरत न टारे।
भक्तै काज लाज जिय धरिकै पांइ पयादै धाऊँ,
जहँ जहँ भीर परै भक्तन को तहँ तहँ जाइ छुड़ाऊँ।
जो मम भक्तसों बैर करत है, सो निज बैरी मेरो।
देखि विचारि भक्त हित कारण हांकत हों रथ तेरो।
जीते जीत भक्त अपने की हारे हारि बिचारों।
सूरदास सुनि भक्ति विरोधी चक्र सुदर्शन जारों।[1]

इस प्रकार के भाव के द्योतक कुछ पद सूरदास और परमानन्ददास के काव्य से नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

भक्तवछल श्री यादवराई,
भीषम की परतिज्ञा राखी अपनों बचन फिराई।
भारत माहिं कथा यह विस्तृत कहत होय विस्तार,
सूर भक्तवत्सलता बरणों सर्व कथा को सार।[2]

राग नट

हरि सौ ठाकुर और न जनको,
जेहि जेहि विधि सेवक सुख पावैं तेहि विधि राखत तिनको।
भूखे बहु भोजन जु उदर को तृषा तोय पटतन को,
लग्यो फिरत सुरभी ज्यों सुत संग उचित गमनगृह बनको।
परम उदार चतुर चिंतामणि कोटि कुबेर निधन को,
राखत हैं जिनकी परतिज्ञा हाथ पसारत कण को।
संकट परे तुरत उठि धावत परम सुभट निज प्रण को,
कोटिक करैं एक नहिं मानै सूर महा कृतघन को।[3]

राग बिलावल

एक ब्रत माधो प्रथमु लियो,
जे प्रानी भगतनि को दुखवै ताकौ फारों नखन हियो।

१—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० १३।
२— ,, ,, ,, २२।
३—सूरसागर प्रथम स्कंध, वें० प्रे०, पृ० ३।

पराधीन हों अपने भगत को जा कारन अवतार धरों,
मारे दुष्टनि असुर जहाँ लगि अभिमानी कौ गरबु हरों।
मेरे भक्त को जे कोउ सतावै ते जन मोसों बैरु करै,
रखवारी को चक्र सुदर्शन माथे ऊपर सदा फिरै।
भजते भजों तजों नहिं कबहुँ पारथ प्रति श्रीपति भाषी,
परमानन्द दास को ठाकुर देव मुनिन बहु सुख साषी।[1]

राग नायकी

जागे जग जीवन जगनायक।
कियो प्रबोध देवगण जबही उठे जगत सुखदायक।
या प्रभु की प्रभुताई भारी शिव ब्रह्मादिक पायक।
कमला दासी पाँय पलोटे निपुन निगम से गायक।
जहाँ जहाँ भीर परी भक्तन को तहँ तहँ होत सहायक।
परमानन्द प्रभु भक्त-वछल हरि जिन के मन बच कायक।[2]

भक्ति में ऊँच नीच के विचार का त्याग, तथा भावग्राहक भगवान्

भगवान् की अनन्य भाव से पूर्ण शरणागति के फल की प्रशंसा का तथा भक्ति और भगवान् की शरण में ऊँच नीच की भेद-हीनता का वर्णन भगवद्गीता में भी किया गया है। श्री कृष्ण कहते हैं—'हे अर्जुन, स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पाप योंनि वाले जो कोई भी हों सब मेरी शरण में आकर परम गति को प्राप्त होते हैं।'[3] 'नारद-भक्ति-सूत्र' में भी कहा गया है—'भक्तों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादि का भेद नहीं है।'[4] भक्ति मार्ग के आचार्यों ने भी सिद्धान्त की दृष्टि से ऊँच-नीच का विचार नहीं रक्खा। पीछे कहा जा चुका है कि श्री वल्लभाचार्य जी तथा गो० विट्ठलनाथ जी ने पुष्टि-सम्प्रदायी भक्ति का द्वार सभी जाति तथा कोटि के लोगों के लिए खोल दिया था। आजकल भक्ति-मार्ग के भिन्न-भिन्न मत सम्प्रदायों के वर्तमान रूपों को देखने से पता चलता है कि उनमें छूत और जाति-पाँति का

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० २११।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० १६८।

३—मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।
—गीता, अध्याय ९ श्लोक ३२।

४—नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः।
—नारद-भक्ति-सूत्र, सूत्र, नं० ७२।

भेद-भाव, उनके उच्चादर्शों को ठुकरा कर, घुस गया है। सूरदास आदि भक्तों ने भी अपने कई पदों में यही कहा है—'भगवान् की भक्ति के तीर्थक्षेत्र में सब एक हैं, वहाँ न छोटे-बड़े का भेद है और न स्त्री-पुरुष का। भगवान् तो केवल भाव के ग्राहक हैं, अभिमान त्याग कर, अकिञ्चन भाव से जो उन्हें भजता है, उसे वे तुरन्त शरण में लेते हैं। भक्त के अनन्य प्रेम के वश में होकर वे, भक्त के अनुचर बन जाते हैं।' इस विषय में सूरदास के निम्नलिखित वाक्य द्रष्टव्य हैं—

राग कान्हरा

बड़ी है राम नाम की ओट।
× × × ×
बैठत सभा सबै हरि जू की कौन बड़ो को छोट।
सूरदास पारस के परसे मिटत लोह के खोट।[1]

तथा

राग सारङ्ग

कह्यो शुक श्रीभागवत विचार,
जाति पाँति कोऊ पूछत नाहीं श्रीपति के दरबार।
श्रीभागवत सुनै जो हित करि तरै सो भव जलधार,
सूर सुमिरि गुण रटि निशिवासर राम नाम निज सार।[2]

और भी—

राग सारङ्ग

हमते बिदुर कहा है नीको,
जाके रुचि सों भोजन कीनों, सुनियत सुत दासी को।
द्वै विधि भोजन कीजे राजा विपति परे, कै प्रीती,
तेरी प्रीति न मोहि आपदा यहै बड़ी विपरीती।
ऊँचे मंदिर कौन काज के कनक कलश जु चढ़ाये,
भक्त भवन में मैं जु बसत हौं यद्यपि तृण करि छाये।
अंतर्यामी नाम हमारो हौं अंतर की जानौं,
तदपि सूर भक्त वत्सल हौं भक्तन हाथ बिकानौं।[3]

राग धनाश्री।

राम भक्तवत्सल जिन बानों,
जाति गोत कुल नाम गनत नहिं रंक होय कै रानों।

१—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० १६।
२—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० १६।
३—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० २०।

ब्रह्मादिक शिव कौन जाति प्रभु हौं अजान नहिं जानों,
महता जहाँ तहाँ प्रभु नाहीं, सो द्वैता क्यों मानों।
प्रकट खंभ ते दई दिखाई यद्यपि कुल को दानो।
रघुकुल राघव कृष्ण सदाही गोकुल कीनों थानों।
युगयुग विरद यहै चलि आयो भक्तन हाथ बिकानों।
राजसूय में चरन पखारे श्याम लये कर पानों।
रसना एक अनेक श्याम गुण कहँ लौं करों बखानों।
सूरदास प्रभु की महिमा है, साखी वेद पुरानों।[1]

कहत नंद लाड़िले।
जटा भस्म तनु दहै वृथा करि कर्म बँधावै।
पुहिमि दाहिनी देहि गुफा बसि मोहि न पावै।
तजि अभिमान जो गावही गद्गद् सुरहि प्रकाश,
तासु मगन हौं, ग्वालिनी, ता घट मेरो बास।[2]

सत्सङ्ग

भक्ति, ज्ञान और योग इन सभी मार्गों में सत्सङ्ग, सत्-शास्त्र और सद्गुरु की बड़ी महिमा गाई गई है और इन्हें आध्यात्मिक साधन के आवश्यकीय अङ्ग माना गया है। साधु महात्माओं, और हरिभक्तों के साथ बैठने से चित्त को शान्ति, उनके उपदेशों से लोक-लिप्सा का ह्रास और उनकी सेवा तथा अनुकरण से भगवान् का अथवा उनके ज्ञान का साक्षात्कार होता है। भगवद्गीता में श्री कृष्ण ने कहा है—'जो भक्तजन निरन्तर मुझ में मन लगाकर और मुझी को प्राणों का अर्पण कर सदा मेरी चर्चा करते हैं तथा आपस में बोध-विनिमय करते हैं, वे नित्य सुखी रहते हैं और निरन्तर मुझ में रमते हैं।'[3] श्रवण-भक्ति की महिमा का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। सत्सङ्ग, श्रवण और कीर्तन दोनों प्रकार की भक्तियों के आवश्यकीय अङ्ग हैं। अष्टछाप भक्तों ने भी अपने अनेक पदों में सत्सङ्ग के महत्व को प्रकट किया है जिनमें से कुछ आगे उद्धृत किये जायँगे।

भक्तों ने भक्त और भगवान् को एक ही रूप करके माना है। 'भक्तमाल' के रचयिता भक्त

१—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे० पृष्ठ ३।
२— ,, दशम स्कन्ध ,, , २४३।
३—मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।
—गीता दशम अध्याय, श्लोक ९।

नाभादासजी, जिनको भक्ति की स्फूर्ति, और आत्मिक ज्ञान, सत्सङ्गति और साधु-सेवा ही से प्राप्त हुये थे, कहते हैं कि भक्ति का भाव, भगवान् के भक्त, भगवान् और गुरु ये चारों, एक ही हैं।

भक्ति भक्त भगवंत गुरु चतुर नाम वपु एक।
इनके पद बंदन किये नाशैं विघन अनेक।[1]

इसी प्रकार का भाव 'नारद-भक्ति-सूत्र' में भी कहा गया है।[2] और यही भाव अष्ट-छाप के कवि सूर आदि की रचनाओं में भी मिलता है।[3] 'नारद-भक्ति-सूत्र' में यह भी कहा गया है कि साधु-सङ्गति का मिलना बड़ा कठिन है, वह वास्तव में भगवान् की कृपा से ही मिलती है।[4] सूर ने एक पद में साधु-सङ्गति को मुक्ति का क्षेत्र कहा है जहाँ भगवान् के नाम का सुखकारी अमृत सदा पीने को मिलता है।[5]

१—भक्तमाल, भक्ति-सुधास्वादतिलक, रूपकला पृ० ४१ छन्द नं० १

२—तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।   —नारद-भक्ति-सूत्र, सूत्र, ४१।

३—   राग सारङ्ग

हरि, हरि-भक्तन को शिर नाऊँ, हरि, हरि-भक्तन के गुण गाऊँ।
हरि, हरि भक्त एक नहिं दोई, पै यह जानत विरला कोई।
—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० २६।

राग विलावल

दास अनन्य मेरो निज रूप,
दरशन मात्र ताप त्रय नासत, छुड़वावैं गृह बंधन कूप।
मेरी बाँधी भक्त छुड़ावे भक्त की बाँधी छूटे न मोहि,
कबहुँक लैकें मोहि कों बाँधे तहँ कहाँ कैसे उत्तर होहि।
मैं निर्मल सब जगत की जीवन मेरी जीवनि मेरे दास,
परमानन्द ताहि के हिरदे जाके हिरदय प्रेम प्रकाश।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ४८४।

हो जगदीस जसोदा नंदन, सीस रहौ नित तुव पद बंदन।
तुम्हरी मूरति भक्त तुम्हारे, नित ही निरखहु नैंन हमारे।
—दशम स्कन्ध, अध्याय १०, नन्ददास, 'शुक्ल' पृ० २४१।

४—महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।   —नारदभक्ति सूत्र, सूत्र ३९।
'लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव।'   —नारदभक्ति-सूत्र, सूत्र ४०।

५—

सुवा चलि वा बन कौ रस पीजै।
जा बन कृष्ण नाम अमृत रस श्रवण पात्र भरि पीजै।
× × ×

साधु-सङ्गति करने के आदेश के साथ-साथ भक्ति-मार्ग के आचार्यों ने हरि-विमुख लोगों के सङ्ग-त्याग का भी उपदेश दिया है। 'नारद-भक्ति-सूत्र' में भी कहा गया है 'दुर्जन का सङ्ग सदा त्याज्य है, क्योंकि वह काम, क्रोध, मोह, मति विभ्रम, बुद्धि का नाश तथा सब प्रकार का नाश करने वाला होता है।'[1] सूरदास की रचना में आत्म-प्रबोधन रूप में इस प्रकार के बहुत उपदेश आये हैं। सन्तमहिमा, भक्त और भगवान् की एकता तथा हरिविमुख-सङ्गत्याग के भावों को प्रकट करने वाले अष्टछाप-काव्य के कुछ पद नीचे फुट नोट में उद्धृत किये जाते हैं।[2]

बड़ी वाराणसि मुक्ति क्षेत्र है चलि तो को दिखराऊँ,
सूरदास साधुन की संगति बड़ो भाग्य जो पाऊँ।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० २६।

१—दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः।४३। कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात्।४४। तरंगायिता अपीमे संगात्समुद्रायन्ति।४५। —नारद-भक्ति-सूत्र, सूत्र ४३,४४,४५।

२— राग केदार,

जा दिन सन्त पाहुने आवत,
तीरथ कोटि स्नान करे फल जैसो दरशन पावत।
नेह नयो दिन दिन प्रति उनको चरण कमल चित लावत,
मन बच कर्म और नहिं जानत सुमिरत और सुमिरावत।
मिथ्यावाद उपाधि रहित ह्वै बिमल बिमल यश गावत,
बंधन कर्म कठिन जे पहिले सोऊ काटि बहावत।
संगति रहै साधु की अनुदिन भव दुख दूरि नशावत,
सूरदास या जन्म मरण ते तुरत परम गति पावत।

—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वें० प्रे० पृष्ठ ३७।

राग सारङ्ग

छाँड़ि मन हरि विमुखन को संग,
जिनके संग कुबुद्धि उपजति है परत भजन में भंग।
कहा होत पयपान कराये विष नहिं तजत भुजंग।
कागहि कहा कपूर चुगाये श्वान न्हवाये गंग।
खर को कहा अरगजा लेपन मर्कट भूषण अंग।
गज को कहा न्हवाये सरिता बहुरि धरै खहि छंग।
पाहन पतित बान नहीं बेधत रीतो करत निषंग।
सूरदास खल कारी कामरी चढ़त न दूजो रंग।

—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे० पृष्ठ ३३।

सन्त और भक्त महिमा के साथ सूरदास जी ने भक्ति के साधन-रूप में भक्त के लक्षण और उसके अनुकरणीय आचरण भी बताये हैं। इस विषय में वे कहते हैं—'भक्त को सब वादविवाद तथा हानि-लाभ का ध्यान छोड़ कर सदा प्रसन्नवदन रहना चाहिए। उसे कोमल बचन और सर्वत्र विनम्र भाव धारण करना चाहिए। सुख-दुःख में भक्त के मन की सम अवस्था रहे।'' आगे वे फिर कहते हैं—'भक्ति-पन्थ के लेने वाले को अपने पुत्र-कलत्र से

सब सुख सों ही लहै जाहि कान्ह प्यारो।
करि सत्संग विमल जस गावै रहै जगत ते न्यारो।
तजिपद कमल मुक्ति जे चाहै ताको दिवस अँध्यारो।
कहत सुनत फिरत है भटकत छाँड़ि भक्ति उजियारो।
जिन जगदीश हृदय धरि गुरु मुख एको छिनु न चितारो।
बिनु भगवंत भजन परमानन्द जनम जुआ ज्यों हारो।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० २८१।

राग बिलावल

यह मागों संकरषन वीर।
चरन कमल अनुराग निरंतर भावै मोहिं भक्तन की भीर।
संग देहु तो हरि भक्तन को गास देहु तो यमुना तीर।
× × × ×
परमानंददास को ठाकुर त्रिभुवन नायक गोकुल पति धीर।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० २८३।

पुनि कह सबतें साधु संग उत्तम है भाई,
पारस परसे लोह तुरत कंचन है जाई।
गोपी प्रेम प्रसाद कौं हौं अब सीख्यौ आय,
ऊधव ते मधुकर भये दुबिधा ग्यान मिटाय।
पाय रस प्रेम को।
—भँवरगीत, नन्ददास, उदय नारायण तिवारी, पृ० ११।

राग बिहाग

मोहि बल है दोऊ ठौर कौ,
एक भरोसौ हरि भक्तन कौ दूजौ नंद किशोर कौ।
मनसा वाचा करमना, वर नाहिं भरोसो और कौ,
छीत स्वामी गिरिधरन श्री विट्ठल वल्लभ कुल सिरमौर कौ।*
—लेखक के निजी, छीतस्वामी-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० १७।

१— राग धनाश्री

हरिरस तो कबहुँ जाइ लहिये,
गये सोच आये नहिं आनंद ऐसो मारग गहिये।

मोह छोड़ देना चाहिये। वह भोजन वस्त्र की चिन्ता न करे। लूले-लँगड़ों की सेवा करे। इस तरह सब चिन्ता छोड़ कर उसे श्याम के चरणों में ही अनुराग रखना चाहिए।'[1]

गुरु-महिमा

आध्यात्मिक साधन के सभी मार्गों में गुरु की आवश्यकता और उसकी महिमा का गान किया है। गुरु का स्थान पथ-प्रदर्शक का है। अविद्या के अन्धकार में गुरू ही ज्ञान-दीपक का प्रकाश दिखाता है। भक्तों ने तो यहाँ तक कहा है कि भगवान् के रुष्ट होने पर तो गुरु रक्षा कर सकता है, परन्तु गुरु के रुष्ट होने पर त्रैलोक में उसका कोई भी रक्षक नहीं है। इसीलिए कुछ सन्तों ने गुरु को ईश्वर से भी ऊँची पदवी दे दी है। श्रीवल्लभाचार्य जी ने 'नवरत्न' ग्रन्थ में गुरु की महत्ता को दिखाते हुए भगवान् के स्वरूप की सेवा गुरू की आज्ञा के अनुसार करने का ही आदेश दिया है।[2] वल्लभ-सम्प्रदाय में भी गुरू को ईश्वर का ही रूप समझा जाता है। अष्टछाप कवियों ने भी गुरू को भगवान् का ही स्वरूप माना है। यह बात उनकी रचनाओं से सिद्ध है। सूरदास की वार्ता से विदित है कि उन्होंने अपने अन्तिम समय में, यह पूछने पर कि उन्होंने भगवान् के अतिरिक्त अपने गुरू श्री वल्लभाचार्य जी का गुणगान क्यों नहीं किया, कहा था, 'मैं तो सगरो जस श्री आचार्यजी को ही बरनन कियो है, जो मैं कछु न्यारो देखतो तो न्यारो करतो'।[3] 'अष्टछाप के अध्ययन की आधारभूत सामग्री' नामक प्रकरण में अष्टछाप के गुरू-सम्बन्धी कुछ उल्लेखों का

कोमल बचन दीनता सबसों सदा अनंदित रहिये,
बाद विवाद हर्ष आतुरता इतो दंद जिय सहिये।
ऐसी जो आवै या मन में यह सुख कहँ लौं कहिये,
अष्ट सिद्धि नव निद्धि सूरप्रभु पहुँचे जो कुछ चहिये।
—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ३७।

१— राग बिलावल

भक्ति पंथ को जो अनुसरे, सुत कलत्र सों हित परिहरै।
असन बसन की चिन्त न करे, विश्वंभर सम जग को भरै।
पंगु जाके द्वारे पर होई, ताको पोषत अहनिशि सोई।
× × ×
ताते चिंता सकल त्याग, सूर स्याम पद करि अनुराग।
—सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, वें० प्रे० पृ० ३७।

२—नवरत्न, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक ७।

३—अष्टछाप वार्ता, काँकरौली, पृष्ठ ४२। सूरदास जी की वार्ता।

विवरण पीछे दिया जा चुका है। यहाँ, उनके गुरुभक्ति-भाव के द्योतक कुछ और पद, उनकी रचना से, उद्धृत किये जाते हैं—

राग मारू

औसर हार्‌यो रे तैं हार्‌यो,
मानुष जन्म पाइ नर बौरे हरि को भजन बिसार्‌यो।

× × ×

सतगुरु को उपदेश हृदय धरि जिन भ्रम सकल निवार्‌यो,
हरि भज विलम्ब छाँड़ि सूरज प्रभु ऊँचे टेरि पुकार्‌यो।[1]

राग विलावल

हरि हरि हरि हरि सुमिरन करो, हरि चरणारविंद उर धरो।
हरि गुरु एक रूप नृप जानि, तामें कछु संदेह न आनि,
गुरु प्रसन्न हरिप्रसन्न जोई, गुरु के दुखित दुखित हरि होई।[2]

राग सारङ्ग

गुरु विनु ऐसी कौन करै,
माला तिलक मनोहर बाना लै सिर छत्र धरै।
भवसागर ते बूड़त राखै दीपक हाथ धरै,
सूरश्याम गुरु ऐसो समरथ छिन में लै उधरै।[3]

राग आसावरी

गोपाल सों मेरो मन मान्यो कहा करेगो कोऊ री।
अब तो चरन कमल लपटानी जो भावै सो होऊ री।

× × ×

बहुरि यहै तनु धरि कहाँ पैहों, वल्लभ वेष मुरारि री।
परमानंद स्वामी के ऊपर सर्वस दैहों वारि री।[4]

गुरु प्रशंसा तथा गुरु स्तुति में लिखे नन्ददास के पद भी इनके आत्मचारित्रिक उल्लेखों के साथ दिये जा चुके हैं। उन्होंने 'मानमञ्जरी नाममाला' ग्रन्थ के आरम्भ में गुरु और कृष्ण को एक रूप करके ही वन्दना की है—

तन्नमामि पद परम गुरु, कृष्ण कमल दल नैन।
जग कारन करुणार्नव, गोकुल जाको ऐन।[5]

१—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ ३३।
२—सूरसागर, षष्ठ स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ ५६।
३—सूरसागर, षष्ठ स्कन्ध, वें० प्रे०, पृष्ठ ५७।
४—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३१।
५—मानमञ्जरी, नन्दास, 'शुक्ल', पृ० ६१।

कुम्भनदास ने भी गुरु को ईश्वर रूप मान कर उसकी वन्दना की है। इस सम्बन्ध के पद पीछे भी दिये जा चुके हैं। कृष्णदास जी ने ब्रजपति कृष्ण और अपने पारमार्थिक गुरु श्रीवल्लभाचार्य जी दोनों को एक रूप में देखा था। वे हरि रूप आचार्य की बंदना करते हैं—

राग गौरी

श्री मद् वल्लभ नमो नमो ,
विमल बाहु जिन द्विज वपु धार्यो पुरुषोत्तम जय नमो नमो।
हतित पतित उद्धारण कलि में जग निस्तारण नमो नमो।
ब्रजपति वल्लभ एक ही जानों भेद नहीं है नमो नमो ,
भजनानंद रसिक गिरधारी आप दिखावत नमो नमो।
शिव सनकादिक नारद मुनिजन पार न पावत नमो नमो ,
मैं मतिमंद नाहिं मति मोटी, कृष्णदास प्रभु नमो नमो।[1]

चतुर्भुजदास जी ने भी गुरू को ईश्वर रूप ही माना है। अपने गुरू श्रीविट्ठलनाथ जी के विषय में वे कहते हैं—

राग सारङ्ग

सदा ब्रज ही में करत बिहार,
तब के गोप वेष अबके प्रकटे द्विजवर अवतार।
जब गोकुल में नन्द कुँवर अब वल्लभ राजकुमार ,
आप पहुँचि रुचि और दिखावत सेवा मत दृढ़सार।
जुग स्वरूप गिरिधरन श्री विट्ठल लीला ए अनुसार ,
चतुर्भुज प्रभु सुख लेस निवासी भक्तन कृपा उदार।[2]

गोविन्दस्वामी और छीतस्वामी, इन दोनों भक्तों का गुरु के प्रति ईश्वर-भाव ही था। नीचे लिखे पदों में यह भाव व्यक्त हुआ है।

राग नट

जो पै श्री विट्ठल रूप न धरते ,
तो कैसेक घोर कलियुग के महा पतित निस्तरते।
सेवा रीति प्रीति ब्रज जन की श्री मुख ते विस्तरते ,
श्री विट्ठलनाथ नामु अमृत जिनि लीनों, रसना सरस सुफलते।
कीरति विसद सुनी जिनि श्रवणन विश्व बिषे परहरते।
गोविन्द बलि दरसन जिनि पायो उमगि उमगि रस भरते।[3]

१—कीर्तन-संग्रह, भाग २, देसाई, पृष्ठ २२६।

२—लेखक के निजी, चतुर्भुजदास-पद-संग्रह से, पद नं० ६८।

३—लेखक के निजी, गोविंद स्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० ४१।

हम तो श्री विट्ठलनाथ उपासी।

× × ×

छीत स्वामी गिरिधरन श्री विट्ठल बानी निगम प्रकासी।[2]

ब्रह्म-सम्बन्ध

वल्लभसम्प्रदाय में, गुरू के द्वारा दीक्षा तथा कृष्ण की सेवा ग्रहण करने की क्रिया को पुष्टिमार्ग में ब्रह्म-सम्बन्ध कहा गया है। गुरू, अंशरूप संसारी आत्मा को उसके अंशी परमात्मा से अलग होने का ज्ञान कराता है। वह भूले हुए सम्बन्ध की याद दिलाता है और उस शिथिल सम्बन्ध को फिर से स्थापित करता है। शिष्य दैन्य-भाव के साथ अपने दोषों की स्वीकृति करता है। वह अपनी स्थिति बता कर उद्धार की प्रार्थना करता है, और अपने सर्वस्व का अर्पण कर कृष्ण की शरण लेता है। इसको 'आत्मनिवेदन' और 'समर्पण' कहते हैं। इसके बाद गुरू, श्रीकृष्ण-शरण का मन्त्र उसे देता है और कृष्ण की तन, मन, धन से सेवा करने का आदेश देता है। इस ब्रह्म-सम्बन्ध-संस्कार की आवश्यकता श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने 'सिद्धान्त-रहस्य' ग्रन्थ में बताई है।[1] इस विषय का थोड़ा सा उल्लेख प्रसङ्गवश श्री वल्लभाचार्य जी के भक्ति-सम्बन्धी विचारों के अन्तर्गत आ चुका है। इस संस्कार में गुरू का मुख्य स्थान है। अष्टछाप काव्य में इस विषय पर प्रकाश डालनेवाले पद नहीं हैं। ८४ तथा २५२ वार्ताओं में अष्टछाप के दीक्षा लेने का विवरण दिया हुआ है।

वैराग्य और अष्टछाप

वैराग्य का अभ्यास केवल निवृत्ति-मार्ग के अनुगामियों के लिए ही बताया गया है। प्रवृत्ति-मार्ग में वैराग्य का स्थान नहीं है। निवृत्ति-मार्ग के सभी आध्यात्मिक खोजी धर्माचार्य मानते हैं कि विना सांसारिक विषयों के तथा उन विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थों के त्याग के, आध्यात्मिक साधन नहीं बनता। पूर्ण ज्ञान अथवा पूर्ण आनन्द-अवस्था में तो संसार के राग-द्वेषों से, अपने आप, छुटकारा मिल जाता है, परन्तु साधन-अवस्था में वैराग्य के अभ्यास की आवश्यकता होती ही है। वैराग्य वृत्ति के लाभ के लिए क्या क्या उपाय किये जाते हैं, भिन्न-भिन्न साधन मार्गों में इस विषय पर भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किये गये हैं।

२—लेखक के निजी, छीत स्वामी-पद-संग्रह से, पद नं० ४२।

१—ब्रह्मसंबंधकारणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पंचविधा स्मृताः। २।
—सिद्धान्त-रहस्य, षोडशग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, पृष्ठ ४७ श्लोक २।

ज्ञानमार्गीय साधक अपनी तर्क-बुद्धि और विषयों के आलम्बन स्वरूप पदार्थों के विचार से वैराग्य-वृत्ति को जाग्रत करते हैं। योग में अनेक शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं द्वारा इन्द्रिय-निग्रह का उपाय बताया गया है। भक्ति के आचार्यों ने ईश्वरोन्मुख-प्रेम और सत्सङ्ग को लौकिक विषयों से छूटने का उपाय कहा है। प्रश्न होता है कि क्या वैराग्य-अवस्था की प्राप्ति के लिये एकदम घर बार छोड़ देना चाहिए और संन्यास लेकर जंगल में चले जाना चाहिए, अथवा लोक-व्यवहार में रहते हुए ही धीरे धीरे वैराग्य-वृत्ति का सम्पादन करना चाहिए? इस विषय पर भी अलग अलग सम्प्रदायों ने अलग अलग विचार दिये हैं। शङ्कर-वेदान्त और साङ्ख्य के साधन-मार्ग वैराग्य प्रधान हैं। इनमें घर छोड़ कर एकदम लोक को छोड़ने का आदेश है। भक्तिमार्ग में घर के भीतर और बाहर दोनों अवस्थाओं के व्यवहार में धीरे धीरे वैराग्य-वृत्ति सम्पादन करने का अभ्यास बताया गया है। कर्म और भक्ति मार्ग के समन्वय करने वाले अथवा निष्काम कर्म-योग करनेवाले साधकों ने यह भी कहा है कि लौकिक व्यवहार और कर्म निर्लिप्त रूप से किये जायँ। मन की वृत्ति ऐसी बन जाय कि वह लोक-व्यवहार करती हुई उनके प्रभाव से मुक्त रहे। सूफ़ी साधकों ने भी इसी प्रकार के क्रमशः वैराग्य को ग्रहण किया है।[1]

वल्लभ-सम्प्रदाय में योग और ज्ञान मार्गों की तरह बलपूर्वक संसार के विषयों को छोड़ने की सम्मति नहीं दी गई है। उसमें कहा गया है कि परमानन्द-प्राप्ति के मार्ग में लौकिक विषयों का छुटना आवश्यक है, परन्तु विषयासक्त मन से विषय भावों का छुटना बहुधा कठिन होता है; इसलिए यदि विषय न छुटते हों तो उनको ईश्वर की ओर मोड़ने से[2] धीरे धीरे वे अपने आप छुट जायँगे। श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने ग्रन्थ 'भक्तिवर्धिनी' और 'सन्यास-निर्णय' में इस विषय पर अपना मत प्रकट किया है। 'भक्ति-वर्धिनी' में उनका कहना है कि घर में रह कर भक्ति का अधिकारी साधक वर्ण और आश्रम के धर्म का पालन करे, परन्तु वह अपने, तन, मन, धन से प्रभु की सेवा अवश्य करता रहे। इस रीति के

१—'परगट लोकाचार कहु बाता, गुपुत लाउ मन जासों राता।'

—संक्षित पद्मावत, जायसी, डा० श्यामसुन्दरदास, प्रथम संस्करण, पृ० ४६ ।

२—संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै।

कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्।

—निरोध लक्षण, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक १२।

गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते।

कृष्णार्थं तन्नियुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः। २४६

धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते।

कृष्णार्थं तत् प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य वारकः। २५०

—त० दी० नि०, सर्वनिर्णय-प्रकरण, श्लोक नं० २४६ तथा २५०।

अभ्यास से लौकिक विषयों से मनकी आसक्ति हट जायगी और ईश्वर में उसका प्रेम लग जायगा। प्रभु में लग कर वे विषय अपने आप लुप्त हो जायँगे। जब साधक की निर्लिप्त अवस्था हो जाय तब भले ही वह गृहत्याग कर संन्यास ले ले।[3] साथ में आचार्य जी का यह भी कहना है कि संन्यास लेकर साधुसङ्गति और प्रभु-सेवा ही में भक्त को रहना चाहिए। 'संन्यास-निर्णय' ग्रन्थ में भी उन्होंने भक्ति में संन्यास की अनावश्यकता बताई है। उनके मतानुसार यदि किसी प्रकार प्रभु-प्रेम-प्राप्ति में पुत्रकलत्रादि के गृह-बन्धन बाधक होते हों और किसी भी प्रकार घर में साधन नहीं बन पड़ते हों तो संन्यास भी लिया जा सकता है, परन्तु उसमें दण्ड कमण्डल और बाह्य वेश धारण करने की आवश्यकता नहीं है।[4]

अष्टछाप कवियों की जीवनियों और रचनाओं के देखने से ज्ञात होता है कि उनमें से कुछ ने तो वैराग्य और सन्यास-मार्ग ग्रहण किया था, परन्तु साथ में वे बिना वेश बदले ही घर बार छोड़, साधु सङ्गति और श्रीनाथ जी के मन्दिर में रहकर उनकी सेवा किया करते थे, और कुछ गृहस्थ में ही रह कर भक्ति का साधन करते थे। सूरदास त्यागी थे। उनके आरम्भिक जीवन से ज्ञात होता है कि वे बाल्यकाल से ही वैरागी हो गये थे। उन्होंने अपनी रचना में लौकिक सुख की अनित्यता, तथा वैराग्य धारण करने का भाव अनेक पदों में प्रकट किया है। गृहस्थी के जञ्जाल में रहकर स्थायी आनन्द-प्राप्ति के साधन को वे भ्रम और दुविधा कहते हैं—

दो मैं एकौ तो न भई,
ना हरि भजै न गृह सुख पावै बृथा बिहाइ गई।
× × × ×
सुत सनेह तिय सकल कुटम्ब मिलि निशि दिन होत खई।
× × × ×
सूरदास सेये न कृपानिधि जो सुख सकल मई।[1]

बौरे मन रहन अटल कर जाना,
धन दारा सुत बंधु कुटुम्ब कुल निरखि निरखि बौराना।
जीवन जन्म अल्प सपनोसो समुझि देखि मन माहीं,
बादर छांह धूम धौराहर जैसे थिर न रहाहीं।
जब लगि डोलत बोलत चितवत धन दारा हैं तेरे,
निकसत हंस प्रेत कहि भजिहैं कोउ न आवै नेरे।
मूरख मुग्ध अज्ञान मूढ़मति नाहीं कोऊ तेरो,
जो कोऊ तेरो हितकारा सो कहै कटू सबेरो।

३—भक्तिवर्धिनी, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा श्लोक २, ३, ४।
४—सन्यास-निर्णय, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक ७।
१—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, बें० प्रे०, पृष्ठ २८।

घरी एक सज्जन कुटुम्ब मिलि बैठे रुदन कराहीं,
जैसे काग काग के मूये काँ काँ कहि उड़ि जाहीं।
कृमि पावक तेरो तन भखिहैं समुझि देखि मन माहीं,
दीन दयालु सूर हरि भजि ले यह औसर फिर नाहीं।[१]

सूरदास के अतिरिक्त अन्य सात कवियों में से नन्ददास, छीतस्वामी और गोविन्दस्वामी वल्लभ-सम्प्रदाय में आने से पहले पूर्ण गृहस्थ थे, और, परमानन्ददास और कृष्णदास, अविवाहित रह कर माता पिता के साथ गृहस्थी में रहे थे, बाद में इन पाँचों भक्तों ने वैराग्य ले लिया था और ये भी सूर की तरह श्रीनाथ जी की, बिना वेश बदले, सेवा-भक्ति करते थे, कुम्भनदास और चतुर्भुजदास गृहस्थभक्त थे, और मरण-पर्य्यन्त गृहस्थी में रहकर ही उन्होंने श्रीनाथ जी की सेवा की थी। यह वृत्तान्त पीछे दिया जा चुका है। लौकिक विषयों में अनासक्ति इन कवियों की भी थी। परमानन्ददास ने आरम्भ में घर में रह कर भक्ति का अभ्यास किया था। यह भाव उनके नीचे लिखे पद से ज्ञात होता है।

मेरो मन गोविंद सों मान्यो ताते और न जिय भावै।
× × × ×
छोड़ि अहार विहार देह सुख, और न चाली काऊ।
परमानंद बसत हैं घर में जैसे रहत बटाऊ।[२]

घर से विरक्त होकर उन्होंने सब से नाता तोड़ दिया। और किसी व्यवहारिक अपवाद की परवा न करके अनन्य भाव से भक्ति करने लगे। नीचे का पद यह भाव प्रकट करता है।

मैं अपनौ मन हरि सों जोर्‍यो, हरि सों जोरि सबन सों तोर्‍यो।
× × × ×
परमानंद प्रभु लोक हँसन दे लोक वेद ज्यों तिनका तोर्‍यो।[३]

'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी' में नन्ददास जी ने भी स्त्री, घर, पुत्र, पति आदि को दुःख का ही कारण बताया है। एक स्थान पर वे यह भी कहते हैं कि सब कर्मों को, जिनका संसर्ग इस संसार से है, इस संसार से हटा कर कृष्ण के साथ लगा दो; वे कर्म चाहे विधि कर्म हों चाहे निषिद्ध, कृष्ण के साथ लग कर व्यभिचार नहीं कहलायँगे—

दारगार सुत पति इन करि कहु कवन आहि सुख।
बढ़ै रोग सम दिन दिन छिन छिन देहिं महादुःख।[४]
कृष्ण तुष्ट करि कर्म करै जो आन प्रकारा।
फल बिभिचार न होइ होइ सुख परम अपारा।[५]

१—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, वें० प्रे०, पृ० ३१।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ३३२।

३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ११६।

४—सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी, नन्ददास, 'शुक्ल', पृष्ठ १८८।

५—सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी, नन्ददास 'शुक्ल' पृष्ठ १८९।

सप्तम अध्याय

काव्य-समीक्षा

अष्टछाप-काव्य का परिचय

अष्टछाप कवियों की कृति का परिचय निम्नलिखित बातों के आधार पर लिया जा सकता है—

१—कवियों द्वारा दी हुई अनुभूति का विषय, और उनकी व्यञ्जना का प्रकार—प्रबन्ध रूप में अथवा मुक्तक रूप में।

२—इस अनुभूति के व्यक्तीकरण में कवियों का दृष्टिकोण।

३—इस अनुभूति का हमारे आध्यात्मिक अथवा ऐहिक जीवन से सम्बन्ध और हमारे लिए उसका मूल्य।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में लिखा है—'ताते बाणी तो सब अष्टकाव्य की समान है और ये दोऊ परमानन्द स्वामी और सूरदास जी सागर भये।'[१] अष्टछाप-वाणी को समान बताने के उक्त कथन की सत्यता की जाँच हम अष्टछाप काव्य के अध्ययन से कर सकते हैं। वास्तव में विषय और उसके प्रतिपादन की शैली आठों कवियों की बहुत अंश में एक सी है। आठों कवियों की रचनाएँ भक्ति-भावना की अनुभूति का प्रतिफल हैं और आठों गेय पदों में लिखी गई हैं। इतनी समानता होते हुए भी इन महानुभावों की अनुभूतियों में तथा उन अनुभूतियों के भावचित्रों में इनका अपना व्यक्तित्व विद्यमान है। प्रत्येक कवि के उप-

१—'अष्टछाप,' डा० धीरेन्द्रवर्मा, पृ० ५५ तथा लेखक की हस्तलिखित 'अष्ट सखान की वार्ता' के अन्तर्गत 'परमानन्ददास की वार्ता।'

लब्ध काव्य का परिमाण भी भिन्न है। एक ने एक विषय के सम्पूर्ण अङ्गों पर लिखा है, तो उनमें से किसी दूसरे ने, उस विषय के कुछ चुने हुए अङ्ग ही लिये हैं।

अष्टछाप कवियों के काव्य का मुख्य विषय श्रीकृष्ण की लीलाओं का भावात्मक चित्रण है। महात्मा सूरदास ने सम्पूर्ण भागवत की कथा का अनुकरण किया है, परन्तु उसमें भी उन्होंने ब्रज-कृष्ण की लीलाओं का चित्रण विस्तार और उत्तमता से किया है। सूरसागर में भागवत के बारहों स्कन्धों के आधार से कृष्ण-चरित्र के साथ, अन्य अवतार, और पौराणिक राजाओं का भी वर्णन है। नन्ददास ने कृष्ण-कथा के कुछ चुने हुए प्रसङ्ग ही लिये हैं, परन्तु, उन्होंने भी, कृष्ण-लीला-ग्रन्थों के अतिरिक्त, कृष्ण-भक्ति से पूर्ण अन्य विषयों पर भी अपनी रचना की है; कृष्ण-भक्ति से अलग उन्होंने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। शेष छः कवियों की उपलब्ध रचनाओं का विषय, कृष्ण-चरित्र की भावात्मक ब्रज-लीला ही है।

विषय

ऊपर कहा गया है कि अष्टकाव्य का विषय मुख्यतः ब्रज-कृष्ण का चरित्र वर्णन ही है। परन्तु यह चरित-काव्य प्रबन्ध रूप में नहीं लिखा गया और न यह काव्य बाह्य-विषयात्मक ढङ्ग से, कृष्ण के सम्पूर्ण चरित्र का क्रमानुसार अङ्कन करता है। अष्टकवियों में केवल सूरदास जी ने कृष्ण-चरित्र के अन्तर्गत आनेवाली अनेक घटना और इतिवृत्तों का वर्णन किया है। और यह वर्णन उन्होंने पद और छन्द दोनों शैलियों में किया है। ऐसा होते हुए भी हमें, उनके काव्य में, प्रबन्ध-रचना के विविध अङ्गों का समावेश नहीं मिलता। प्रबन्ध-काव्य के आवश्यकीय गुण, जैसे कथा का शृंखला-बद्ध प्रवाह कथा के बीच बीच में प्राकृतिक चित्र, घटना-स्थलि-रूप में विविध स्थानों के वर्णन, चरित्रों का उत्तरोत्तर विकास, कार्य-व्यापार का अपनी अनेक अवस्थाओं के साथ घटना चक्रों की लड़ी में सूत्र की तरह सञ्चरण, कथानक के भावात्मक स्थलों का चित्रण, प्रबन्ध का सर्गों में विभाजन आदि गुण उस रचना में एकत्र नहीं हैं। वस्तु-वर्णन की अपेक्षा भाव-चित्रण की ओर इन कवियों ने विशेष ध्यान दिया है। वस्तुतः अष्टछाप-काव्य कृष्ण-चरित्र के सहारे कहा हुआ मुक्तक काव्य है।

लेखक ने पीछे कहा है कि अष्टछाप में भक्त कवियों की भावमयी भक्ति की प्रेरणा ही कार्य कर रही है। उन्होंने कृष्ण-चरित्र के केवल उन भावात्मक स्थलों को ही चुना है जिनमें उनकी अन्तरात्मा की अनुभूति गहरी उतर सकी है। इसलिए अष्ट-काव्य के सूरदास और नन्ददास जैसे कवियों की रचना में भी, जिन्होंने कृष्ण-चरित्र के कथाभाग का भी किसी हद तक वर्णन किया है, भावमय स्थल ही रसात्मक हैं। इतिवृत्तात्मक स्थल नीरस हैं। जिस भक्त की मानसिक वृत्ति जिस लीला में रमी है, उसी का, उसने, तन्मयता के साथ, चित्रण किया है। यह पीछे कहा ही जा चुका है कि आठों कवियों ने वाह्य-विषयात्मक (Objective) शैली का अनुकरण न करके आत्म-विषयात्मक (Subjective) शैली का प्रयोग किया है। इसीलिए अष्टछाप-काव्य में हृदय को स्पर्श करने वाली द्रावक शक्ति है।

कवियों का दृष्टिकोण

अष्टकाव्य में एक बात यह भी समान रूप से देखने को मिलती है कि आठों ने केवल प्रेम-भाव का चित्रण किया है और प्रेम के भिन्न-भिन्न रूपों को व्यक्त करनेवाली इनकी कला में आत्म-तुष्टि, और लोक रञ्जनकारिणी शक्ति की आतुरता है, परन्तु साथ में मर्यादा की रक्षिका भावना की कुछ अंश में कमी भी है। यह कमी आठों कवियों के केवल उन शृंगारिक वर्णनों में अधिक दिखाई देती है जहाँ उन्होंने राधा-कृष्ण की युगल-लीला का माधुर्य-भाव से वर्णन किया है। वास्तव में ऐसा काव्य सम्पूर्ण काव्य का एक अङ्ग अथवा अंश मात्र है। इस अंश में भी काव्य के रस के जाँचने की दृष्टि यदि आध्यात्मिक ले ली जाय तो उससे भी लोकहित का भाव निकाला जा सकता है, परन्तु ऐहिक दृष्टि से यह अंश उँगली उठाने योग्य अवश्य है।

अष्टछाप-भक्ति के विवेचन में उल्लेख किया जा चुका है कि यह शृङ्गार-वर्णन भी इन भक्तों की भक्ति का एक मार्ग है। सिद्धान्त की दृष्टि से इन भक्त कवियों का मार्ग ही लोक-मर्यादा को पीछे छोड़नेवाला है, इनके काव्य में वर्णन सब लोकानुभूत भावों का ही है, परन्तु इन्होंने लौकिक भावों को, चाहे लोक की दृष्टि से वे भाव सद् हों चाहे असद्, लोकातीत रस-रूप, भगवान् श्रीकृष्ण के साथ जोड़ कर अग्नि में तपाई हुई अथवा भस्म की हुई वस्तु के समान शुद्ध या परिष्कृत किया है। अँग्रेजी में इस प्रकार के मानसिक मैल काटने की क्रिया को 'सबलीमेशन' (Sublimation) कहते हैं।

परमानन्ददास ने अपने शृङ्गार-पूर्ण काव्य का दृष्टिकोण एक पद में बताया है जो सम्पूर्ण अष्टछाप-काव्य पर लागू हो सकता है। उस पद के भाव को काव्यालोचन की भाषा में हम इस प्रकार रख सकते हैं--'यह काव्य प्रेम-काव्य है। इसमें लोक-मर्यादा पीछे छूटी हुई है। इस प्रेम-काव्य को लोक-हित की तराजू पर तौलनेवाले समालोचक व्यभिचार समझ कर इसकी निन्दा कर सकते हैं। प्रेम की लौकिक अनुभूतियों की अभ्यस्त मानसिक वृत्तियों को लोक से हटा कर उन्हीं वृत्तियों को ईश्वर की ओर मोड़ने के आध्यात्मिक साधन-मार्ग को समझने वाले सज्जन, अथवा इसको केवल कला की दृष्टि से परखनेवाले कला-कोविद, इसकी प्रशंसा कर सकते हैं।'[1]

सम्पूर्ण अष्टकाव्य के सूक्ष्म अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रथम, इस काव्य में सार्वजनिक प्रेमानुभूतियों का सजीव, स्वाभाविक और रसपूर्ण चित्रण है; दूसरे,

---

१—मैं तो प्रीति श्याम सों कीनी

कोऊ निन्दौ कोऊ बंदौ, अब तो यह धरि दीनी।
जो पतिब्रत तो या ढोटा सों इन्हें समर्प्यो देह।
जो व्यभिचार तो नन्दनंदन सों बाढ्यो अधिक सनेह।
जो ब्रत गह्यो सो और न भायो, मर्यादा को भंग।
परमानन्द लाल गिरिधर को पायो मोटो संग।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से पद नं० १०१

इसमें अलौकिक नायक श्रीकृष्ण के संसर्ग से लोक की वृत्तियों को समेट कर ईश्वरोन्मुख होनेवाली इन कवियों की आध्यात्मिक अनुभूति की व्यञ्जना है, जिसकी सिद्धि ही इन भक्तों का चरम लक्ष्य था और जो लोक-दृष्टि को हटा कर देखने से मानव-हितकारिणी और परमानन्ददायिनी भी प्रतीत होती है। इसके साथ यह बात भी हमें अवश्य माननी पड़ेगी कि इस काव्य में उक्ति-रूप में अथवा चरित्रों के दृष्टान्त-रूप में मानव-जीवन के व्यावहारिक उपदेश और जन-समाज के लिए नीति के वाक्य स्पष्ट रूप में नहीं हैं। वैसे लोक-व्यवहार की अथवा नीति की कुछ बातें इस काव्य में कहीं कहीं से निकाली जा सकती हैं। काव्य-रस, आध्यात्मिक अनुभूति, चरित्रों के दृष्टान्तों द्वारा तथा उपदेशात्मक मुक्तक उक्तियों द्वारा व्यक्त किए हुये लोक-मर्यादा की रक्षा के भाव, नीति और व्यवहार के उपदेश, इन सब का सुन्दर समन्वय तो, उदाहरणार्थ, महात्मा तुलसीदास के काव्य में मिलेगा। यदि केवल काव्य-कला की तुलनात्मक दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के सम्पूर्ण प्राचीन और अर्वाचीन काव्य का हम अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि काव्य-रस की जो धारा अष्टकाव्य में प्रवाहित हुई है और कला का जो मनोसुग्धकारी प्रदर्शन उसमें हुआ है वह किसी भी कवि की कृति में, यहाँ तक कि महात्मा तुलसीदास के काव्य में भी नहीं मिलता। हमारे व्यावहारिक दैनिक जीवन में किस कवि का हमसे अधिक संसर्ग है, यह दृष्टि दूसरी है। इस दृष्टि से तो महात्मा तुलसीदास का काव्य अनेक समस्याओं में उलझे हुए मानव-जीवन से अधिक संनिद्ध है और सदाचार और मर्यादा का लोक की दृष्टि से पूर्ण पालन करता है। हमारे लिए तुलसी तथा अष्टछाप काव्य दोनों ही सुन्दर हैं। तुलसी का काव्य इसलिए सुन्दर है कि वह अधिकांश में सुन्दर और सत्य होने के साथ साथ अत्यन्त शिव है। और अष्टछाप काव्य इसलिए सुन्दर है कि वह शिव और सत्य होने के साथ-साथ अत्यन्त सुन्दर है।

कवियों की श्रेणी—अष्टछाप कवियों के उपलब्ध काव्य के परिमाण की तुलनात्मक दृष्टि से हम उनको इस प्रकार श्रेणी में रख सकते हैं—

अष्टछाप कवियों के काव्य के परिमाण की दृष्टि से उनकी श्रेणी—

१—महात्मा सूरदास। २—नन्ददास। ३—परमानन्ददास।
४—कृष्णदास। ५—कुम्भनदास। ६—गोविन्द स्वामी।
७—चतुर्भुजदास। ८—छीतस्वामी।

और यदि काव्यकला और भावानुभूति की दृष्टि से उनका वर्गीकरण हो तो, वे, लेखक की दृष्टि में इस क्रम में आवेंगे—

१—महात्मा सूरदास। २—परमानन्ददास। ३—नन्ददास।
४—कुम्भनदास। ५—चतुर्भुजदास। ६—कृष्णदास।
७—छीतस्वामी। ८—गोविन्दस्वामी।

आगे सम्पूर्ण अष्टछाप काव्य में से केवल परमानन्ददास तथा नन्ददास की रचनाओं का ही काव्य की दृष्टि से विशेष विवरण दिया जायगा।

परमानन्ददास जी के काव्य का विवेचन

इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि परमानन्ददास जी का काव्य प्रबन्धात्मक नहीं है। वह, कृष्ण-चरित्र से सम्बन्ध रखनेवाले भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों में विभाजित मुक्तक काव्य है। कवि ने अपने काव्य का विषय कृष्ण की प्रेम-पूर्ण रसवती व्रज-लीलाओं को ही बनाया है, कृष्ण-चरित्र के राक्षस-वध आदि प्रसङ्गों को छोड़ दिया है। पदों के भाव से ही प्रसङ्ग का सङ्केत हो जाता है। सूरदास जी ने भाव-चित्रों के साथ-साथ कथानक का भी लगाव रक्खा है। उस कथा-भाग के वर्णन में वे वैसे काव्य की दृष्टि से सफल नहीं हुये। परमानन्ददास के उपलब्ध पदों के प्रसङ्ग बहुधा निम्नलिखित हैं—

परमानन्ददास के काव्य के विषय

१—कृष्ण-स्तुति
२—कृष्ण तथा राधा जी के जन्म का वर्णन तथा बधाई
३—बाल लीला
४—शयन-पालना
५—गोपियों के 'उराहने' के पद तथा यशोदा का प्रत्युत्तर
६—गोपीकृष्ण, परस्पर हास्य-विनोद
७—यमुनातीर तथा कुञ्जभवन में मिलन
८—गोदोहन
९—गोचारण, बनक्रीड़ा, सख्यभाव
१०—दानलीला
११—पनघट लीला
१२—कृष्ण का गोचारण से आगमन, उत्कण्ठिता तथा वासकसज्जा गोपी
१३—गोपियों की रूपासक्ति
१४—मान, कृष्ण का दूती कार्य आदि
१५—गोपियों की आसक्त अवस्था तथा उनकी प्रार्थना
१६—कृष्ण का प्रेम-प्रत्युत्तर
१७—राधाकृष्ण का स्वरूप-वर्णन
१८—राधा-कृष्ण की युगललीला के शृङ्गारिक चित्र
१९—रास, निकुञ्ज लीला, मुरली
२०—बन-विहार, सुरान्त समय की अवस्था
२१—खण्डिता, गोपियों के उपालम्भ तथा उनकी प्रेम-अवस्था
२२—बसन्त और गोपी-कृष्ण प्रेम-लीला, होली
२३—कृष्ण का मथुरा-गमन
२४—गोपी-विरह[1]

---

[1]—गोपी-विरह पर कवि के बहुत पद हैं।

२५—भँवरगीत
२६—व्रज-भक्तों की महिमा
२७—व्रज का माहात्म्य
२८—यमुना का माहात्म्य
२९—आत्म-प्रबोध
३०—भगवान् का माहात्म्य, आत्मदीनता तथा विनय
३१—हिंडोला
३२—होली, फूल मण्डली
३३—दीपमालिका
३४—अन्नकूट
३५—रामजन्म
३६—श्री वल्लभाचार्य जी, गो० श्री विट्ठलनाथ तथा उनके सात पुत्रों की जन्म-बधाइयाँ

इस विषय-सूची को देखकर सूर के विद्यार्थी को ज्ञात होगा कि इन सभी विषयों का समावेश सूरसागर में भी है। इन विषयों पर लिखे हुए, परमानन्ददास जी के काव्य का निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचन किया जायगा—

१—भाव-व्यञ्जना
२—वर्णन
३—काव्य-कला के उपकरण, अलङ्कार, भाषा, छन्द।

परमानन्ददास के पद साधारणतया हिन्दी संसार को उपलब्ध न होने के कारण, यहाँ, नीचे लिखे विवेचन में उद्धरण कुछ विस्तार के साथ दिये गये हैं।

भाव-व्यञ्जना

प्रेम-भाव के जितने रूप हो सकते हैं उन सबकी अष्टछाप-काव्य में सत्यानुभूतिपूर्ण व्यञ्जना है। यह प्रेमानुभूति लोक के प्रति नहीं है, लोक की भाषा में तथा चित्रों में ईश्वर के प्रति है। सूरदास और परमानन्ददास के काव्य में यह प्रेम-व्यञ्जना सत्य और सौन्दर्य की चरम सीमा पर पहुँच कर काव्यानन्द का अजस्र श्रोत प्रवाहित करती है। इसके आध्यात्मिक पक्ष तथा भक्ति के आनन्द की अनुभूति का रस तो भक्तजन ही ले सकते हैं। देखा गया है कि काव्य की अनुभूति में जो भाव अथवा दृश्य मनुष्य के नित्य जीवन से सुपरिचित होते हैं और जिनमें वह सार्वजनिकता का भाव पाता है, वे भाव अथवा चित्र सत्य होने के कारण उसे अधिक सुखकारी प्रतीत होते हैं। कवि अपनी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, कल्पना और अनुभूति द्वारा मानव-आत्मा को समेट कर उसे भाव-चित्रों में रख दिया करता है, उधर पाठक अथवा श्रोता, बिना किसी क्लिष्टकल्पना के कवि की आत्मा में होता हुआ उन

चित्रों की विश्वात्मा में निमग्न हो जाया करता है। उसी समय वह ब्रह्मानन्द सहोदर-काव्य-रस का आस्वादन करता है। सूर के काव्य में सार्वजनिक परन्तु सीमित भाव को उपस्थित करनेवाले चित्र अपने सौन्दर्य और प्रभाव में हिन्दी संसार में समता नहीं रखते। परमाननन्ददास जी के काव्य में भी सुन्दर भाव-चित्र खिंचे हैं और उनकी रस-प्रवाहिनी काव्य-शक्ति का मुग्धकारी रूप सामने आया है, परन्तु उनके भाव-चित्र उस चोटी के नहीं हैं जिसके सूर के हैं। परमानन्ददास का भी भाव-क्षेत्र सूर की तरह प्रेम के अन्तर्गत ही सीमित है, उसमें तुलसी के काव्य की व्यापकता नहीं है। परन्तु सूर की तरह परमानन्ददास की भी अनुभूति अपने छोटे से क्षेत्र में गहरी उतरी है।

हिन्दी भाषा के कवियों में बाल-स्वभाव और बाल-मनोविज्ञान को जितना सूरदास और परमानन्ददास ने समझा है उतना अन्य किसी कवि ने नहीं समझा। बाल-स्वभाव की द्योतक जो क्रिया अथवा चेष्टाएँ और बाल्यकाल की जो उमङ्गभरी निश्छल तथा भोली क्रीड़ाएँ होती हैं उन सबका चित्रण सूरदास और परमानन्ददास ने बहुत उत्तमता के साथ किया है। इन दोनों कवियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात अवश्य देखने में आती है कि सूर ने इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाले प्रसंगों को बहुत विस्तार से लिखा है और अधिक लिखा है, उधर परमानन्ददास ने इस विषय के प्रथम तो कुछ चुने हुए प्रसंग ही लिये हैं; दूसरे, उन्हें अधिक विस्तार से नहीं लिखा।

बाल भाव-चित्रण

परमानन्ददास द्वारा उपस्थित किये हुए बाल-भाव के चित्रों को देने से पहले यह बात दुहरा देना उचित होगा कि वल्लभ-सम्प्रदाय में भगवद्-कृपा के फल-स्वरूप-प्राप्त, भक्ति की आरम्भिक अवस्था में बाल-भाव, सख्य भाव अथवा अन्य किसी भी भाव में देखे गए भगवान् के प्रति भक्तों का प्रेम भगवान् के माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक चलता है। यदि ऐसा न हो तो लोक के भावों का लोक के आलम्बनों में ही फँसे रह जाने का भय है। इसी सिद्धान्त को ध्यान में रख कर कृष्ण की विविध प्रेम भरी लीलाओं में, स्वाभाविक मानव-भावों के चित्रण के साथ कृष्ण के लोकोत्तर रूप और शक्ति तथा भक्तों की रहस्यानुभूति का भी व्यक्तीकरण हो जाया करता है। इस प्रकार की क्रिया से सार्वजनीनता के भाव की काव्यानन्द धारा अवश्य टूट जाती है। परमानन्ददास ने बाल-भाव और वात्सल्य में सने मातृ-हृदय के प्रेम भावों, जैसे बालक का किलक-किलक कर खेलना, बालक का हठ, बालकों की शिकायतें, माता का लाड़ लड़ाना, उसका दुलार, उसके हृदय की उमङ्गें और कामनाएँ आदि के बहुत सुन्दर चित्र अङ्कित किये हैं। परन्तु इन वर्णनों के बीच अथवा अन्त में आनेवाले कृष्ण के लोकोत्तर रूप के अत्यधिक उल्लेख काव्य-रस के प्रवाह में रुकावट डाल देते हैं। सूरकाव्य में, इस ओर, अपेक्षाकृत एकरसता की मात्रा अधिक है। परमानन्ददास के पदों में से उक्त प्रकार की भावना पैदा करनेवाला एक पद नीचे दिया जाता है—

राग विलावल

बाल विनोद गोपाल के देखत मोहिं भावें ,
प्रेम पुलकि आनंद भरि जसोमति गुन गावें ।
बल समेत घन साँवरो आँगन में धावै ,
बदन चूंबि कोरा लीए सुत जानि खिलावै ।
सिव विरंचि मुनि देवता जाको अंत न पावैं ,
सो परमानन्द ग्वालि को हँसि भलो मनावैं ।[१]

इस पद की अन्तिम पक्तियों में आते ही वात्सल्य भाव की अनुभूति टूट कर अद्भुत-रस और भक्तिभाव की महत्ता में बदल जाती है। इस तरह की परिस्थिति रहते हुए भी कवि के बाल-चित्रण में अनेक चित्र बहुत सुन्दर, स्वाभाविक और सजीव हैं।

एक ग्वालिनी ने बालक कृष्ण को उठाकर स्नेहभरी छाती से लगा लिया। यशोदा डरी, कहीं ग्वालिन उसके प्यारे बालक पर कोई जादू-टोना न कर जाय। उसने उसको 'हटक' दिया। बिचारी ग्वालिन मन मार कर उठी और चली गई। अब तो कृष्ण उसकी गोद के लिए मचलने लगा, यशोदा दौड़ी गई और ग्वालिन के निहोरे कर उसे वापिस लौटा लाई। ग्वालिन का मलिन मन खिल उठा और वह अपने अञ्चल की ओट में, नेत्रों में मुसकाती हुई आई। इस भाव का बहुत ही स्वाभाविक चित्र कवि ने नीचे लिखे पद में खींचा है—

राग सारङ्ग

रहि री ग्वालि जोबन मदमाती ,
मेरे छगन मगन से लालहिं कत लेले उछंग लगावति छाती ।
खीजत ते अबही राख्यो है नान्हीं उठत दूध की दाँती ,
खेलन दे घरु जाय आपुने डोलति कहा इतो इतराती ।
उठि चली ग्वालि लाल लागे रोवन, तब जसोमति ल्याई बहु भाँती ,
परमानन्द ओट दै अंचर फिरि आई नैननि मुसिकाती ।[२]

अष्टछाप कवियों ने और विशेष रूप से बालभाव के अमर चितेरे सूरदास और परमानन्ददास ने कृष्ण के चरित्र के प्रसङ्गों में ग्रामीण जीवन के ही चित्र अङ्कित किये हैं। वास्तव में घटना-स्थलि के अनुरोध से उनका ऐसा करना ही आवश्यक था। देहात के अकृत्रिम और भोले भाले जीवन, वहाँ के वातावरण, वहाँ की बोलचाल के ढङ्ग, तथा वहाँ के पशु-पक्षियों का अकृत्रिम और सरल वर्णन इन कवियों ने किया है। देहात में बरफी-पेड़े के खांचे नहीं बिकते, वहाँ बिकते हैं, बेर, आम, गाजर और टेंटी। इसी वातावरण का एक

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १३।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २४।

और सादा परन्तु प्रभावशाली चित्र परमानन्ददास के काव्य से यहाँ दिया जाता है। एक दिन कोई काछिन वेर बेचने आई। वह नन्द के घर भी बुला ली गई। काछिन की आवाज सुनते ही आँगन में सूखते धानों को छोटी छोटी उँगलियों की अञ्जुलि में भर कर बालक कृष्ण भी उत्सुकता के साथ ठुमुक-ठुमुक दौड़ा आया। माता ने तुरन्त ही गोद में लेकर चूम लिया। उस समय बेर लेकर बालक के आनन्द का वारापार न रहा।

राग सारङ्ग

कोउ मैया बेर बेचन आई,
सुनत ही टेरि नंद रावरि में लई भीतर बुलाई।
सूकन धान परे आँगन में कर अंजुलि बनाई,
ठुमुक ही ठुमुक चलत अपने रँग गोपा जन बलि जाई।
लीए उठाय रिझाय करि मुख चुम्बन न अघाई,
परमानंद स्वामी आनन्दे बहुत बेरि जब पाई।[1]

भोजन का समय है। कृष्ण अपने 'हमजोलियों' के साथ कहीं खेल में मग्न हैं। यशोदा का मातृहृदय बालक की प्रतीक्षा में है। देर जान कर माता अकुलाने लगती है। कभी इस घर जाती है तो कभी उस घर ढूँढ़ती हैं, और कभी श्रीदामा से पुकार लगवाती हैं। कृष्ण ने आवाज़ सुनी और वे मुख और बालों पर धूल लपेटे दौड़े आये। उस समय पुत्र-स्नेह से यशोदा का हृदय उमङ्ग उठा और आँखें शीतल हुई। इस भाव को नीचे का पद बड़े सुहावने रूप में प्रकट करता है—

राग सारङ्ग

प्रेम उमगि बोलत नँदरानी।
अहो! श्री दामा लै वाकूँ किन टेरि टेरि मधुबानी।
भोजन बार अबार जानि कैं सुरत भई अकुलानी।
ढूंढ़त घर द्वारे लों जाई तन को दशा हिरानी।
जसुमति प्रीति जनाइ उठि दौरे मुख कच रज लपटानी।
परमानंद नंद नंदन को अँखियाँ निरखि सिरानी।[2]

बालक की विविध चेष्टा और विनोदों के क्रीड़ास्थल मातृ-हृदय के चित्रण में जैसे सूर सिद्धहस्त है वैसे ही परमानन्ददास भी। माता के हृदय में एक के बाद एक उठनेवाली अभिलाषाओं का वर्णन करने के लिए सूर हिन्दी में सर्वोत्तम कहे जाते हैं। गोदभरी माता का हृदय कभी बालक के दूध के दाँत देखने को लालायित होता है तो कभी उसके घुटने चलने की अभिलाषा करता है। इस प्रकार की अभिलाषाओं से भरे मातृहृदय को चित्रित

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २७।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ४०७।

करने में सूर तो अद्वितीय हैं ही, परन्तु परमानन्ददास ने भी सूर की बराबरी का प्रयत्न किया है। उनके बाल-भाव के पदों में भी इसी प्रकार के रोचक वर्णन आते हैं। यशोदा अपनी सखियों से कहती हैं—

राग सारङ्ग

एक समें जसोमति अपनी सखियन सों बात कहत बनाय,
मो देखत कबधों मेरो ललना भूमि धरेगो पाय।
फिर मोसों मैयो कब कहि हैं कुंवर कछुक तुतराय,
अरिहें कबहुँ दूध दधिकारन तन गोरज लपटाय।
खरिक दुहावन जात मोहि कब आनि मिलेंगे धाय,
वह धौं द्यौस होहि है कबहूँ ललन दुहेंगे गाय।
सौंपि देऊँगी सुतहिं चरावन गैया घर बनराय,
इहि अभिलाष करति जसोमति (जीय) परमानंद बलि जाय।[1]

माता अपने बालक के साँवले रूप पर कभी न्योछावर होती है तो कभी दृष्टि लगने के भय से 'राई-नोंन' उतारती हैं। कभी विश्वम्भर से रक्षा की प्रार्थना करती हैं।[2] इस प्रकार के कृत्य हम नित्य प्रति अपने घरों में देखा करते हैं और प्रसन्न होते हैं। ये सम्पूर्ण भाव बहुत ही परिचित हैं। खूबी इन पदों में यही है कि ये हमारे कल्पना-जगत में भी थोड़ी देर के लिए उसी वात्सल्य-भाव का वातावरण और चलचित्र उपस्थित कर देते हैं और हम जीवन की जटिल गम्भीर तथा नीरस समस्याओं को भूल कर सरस मन से गाने लगते हैं—

राग असावरी

माई मीठे हरि के बोलना,
पाँय पैजनियां रुनझुन बाजें आँगन आँगन डोलना।
कज्जर तिलक कठ कठुला मनि पीतांबर को चोलना,
परमानंद दास को ठाकुर गोपी झुलावत मो ललना[3]।

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २३।

२— राग रामगिरी

यह तन वारि डारों कमल नयन पर साँवलिया मोहि भावै रे,
चरन कमल की रेनु जसोदा लै लै सिरहिं चढ़ावै रे।
लै उछङ्ग मुख निरखन लागी, रहि रहि लोंन उतारै रे,
कौन निरासी दृष्टि लगाई लै लै अंचर झारै रे।
तू मेरो बालक हो! नन्दनन्दन तोहि विसम्भर राखे रे,
परमानन्द स्वामी चिर जीवहु बार बार यों भाषे रे।

लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से पद नं० १९।

३—लेखक के निजी परमानन्द दास-पद-संग्रह से, पद नं० २२।

बालभाव का हठ बालक का चन्द्र खिलौना माँगना, माता का कभी खीझना, कभी लाड़ लड़ाना; पण्डितों को बालक का हाथ दिखाना, बालक के ब्याह की कामना, बालक का अपने अन्य साथी बालकों के साथ खेलना, कभी लड़ना, कभी उनकी माताओं से शिकायत-करना, आदि हमारे नित्य प्रति के जोवन से बँधे हुए विषयों का सजीव वर्णन कर परमानंद दास ने भी सूर की तरह बालस्नेह की जागृति से हमारे हृदयों को वात्सल्य-रस से भरा है। बालभाव के वर्णन में सूर और परमानंद, दोनों की सूक्ष्म-निरीक्षण-शक्ति का प्रशंसनीय परिचय मिलता है।

प्रातःकाल होते ही ग्वाल-बाल खेलने के लिए जसोदा के घर आ गये हैं। परन्तु कृष्ण अभी सो रहा है। माता की एक एक करके सब अभिलाषाएँ पूरी हो रही हैं। अब बालक बड़ा हो गया है। प्रातः उठकर वह उसे माखन रोटी देती है। उसकी चोटी गुहती है और फिर खेल के खिलौने भँवरा, चकरी, डोरी देकर बालकों के साथ खेलने भेज देती है। इन कामों को वह एक विचित्र वात्सल्य स्नेह में पग कर करती है। जब बालक खेलता है तब उनको देखकर अपने मन में फूली नहीं समाती। नीचे लिखे पद में माता के इस उल्लास को परमानंददास मूर्तिमान कर देते हैं—

राग भैरव

आछो नीको मुख भोर ही दिखाइये,
निसके उनींदे नैना बैना तुतरात मीठे भावते हो जीके मेरे सुख ही बढ़ाइये।
सकल सुख करन त्रिविध ताप हरन उर को तिमिर बाढ्यो तुरत ही नसाइये,
द्वार ठाड़े ग्वाल बाल करो कलेउ लाल, मिसिरी रोटी छोटी मोटी माखन सों खाइये।
ननक सो मेरो कन्हाई बार फेरि मेरी माई बेनी तो गुहों बनाय गहरु न लाइये,
परमानद जन जननि मुदित मन फूली फूली डोले अँग अँग न समाइये[1]।

बालभाव और मातृ-हृदय के ऐसे ही शब्द-चित्रों के बाद कवि ने कृष्ण की कुमार-लीलाओं का वर्णन किया है जिनके अन्तर्गत कृष्ण और उनके सखाओं के 'चड्डी', चौगान आदि खेल, गोपियों के घर में जाकर उत्पात मचाना, उनका दही-माखन खा आना, गोपियों की यशोदा से शिकायत, गोदोहन और फिर गोचारण प्रसङ्ग आते हैं। पीछे अष्टछाप की भक्ति के विवेचन में इन प्रसङ्गों में व्यक्त इन भक्तों की वात्सल्य और सख्य भक्तियों का वर्णन किया जा चुका है। परमानंददास के काव्य से इन प्रसङ्गों की काव्य-सरसता का हम कुछ और आस्वादन करते हैं—

कृष्ण के उत्पातों की गोपियाँ यसोदा से शिकायत करती हैं—

१—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से पद नं० ३३।

राग धन्याश्री

जसोदा चंचल तेरो पूत,
आनंद्यो ब्रज भीतर डोलै करै अटपटो सूत।
दह्यो दूध घृत लै आगे करि जहाँ जहाँ धरौं दुराई;
अँधिआरे घर कोउ न जानै तहाँ पहले ही जाई।
गोरस के सब भाजन फोरे माखन खाय चुराई,
लरिकन के कर कान मरोरे तहाँ ते चलै पलाई।
बाँटि देत बनचरन कौतुकी करैं विनोद विचारि,
परमानंद प्रभु गोपी वल्लभ भावै मदन मुरारि।[1]

इस प्रकार की अनेक शिकायतें[2], माता का अपने लाड़िले पुत्र का पक्ष लेना, तथा कृष्ण की भोले भाव से सफ़ाई देना, आदि भावों पर लिखे हुये पद सूरदास और परमानंददास दोनों के काव्य में मिलते हैं और वे अत्यन्त मुग्धकारी हैं।

गोदोहन और गोचारण प्रसङ्गों में निहित भाव

भारतवर्ष कृषिप्रधान देश है। यहाँ गोपालन को सदा से विशेष महत्व दिया जाता रहा है। इस देश के ग्राम्य-जीवन में और विशेष रूप से ब्रज के ग्रामों, में गोपालन, गोचारण, गोदोहन और गोरस-मंथन आदि व्यापार वहाँ कृषि सम्बन्धी अन्य क्रिया कलाप के साथ एक विशेष साहचर्य्य का स्थान रखते हैं। ब्रज में गोपाल और गोरस-विक्रय-व्यवसाय की दृष्टि से भी किये जाते हैं। आज भी हम देखते हैं कि ब्रज के देहात के ग्वारिया बालक जङ्गल में गौओं को चराते हुए, अनेक प्रकार के विनोदपूर्ण खेल और नाट्य रचा करते हैं। ग्वारिया बालकों का एक स्थान पर बैठ कर अपनी अपनी छाक खाना, एक दूसरे की छाक में हिस्सा बाँटना, पेड़ों पर चढ़ कर गौओं को पुकारना, नदी, नहर, ताल, पोखर आदि जलाशयों में कूद-कूद कर नहाना और आँख मिचौनी खेलना, फिर अन्त में सायंकाल को उनका 'अलगोजे' बजाते तथा मसखरी करते, गोरज के बीच धूलधूसरित आना, उधर वत्स प्रेम से खिंची, हुङ्कारती हुई गायों का अपने अपने स्थान की ओर लपकना, ये सब दृश्य

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३८।

२— राग सारङ्ग

ढोटा रंचक माखन खायो।
काहे कोहराहि होत ग्वालिनी सब ब्रज माझि हलायो।
जाको जितनो तुम जानति हो दूनो मोपे लेहु।
मेरो कान्ह इहै इकलोतो सबैं असीस मिलि देहु।
कमल नैन मेरी अँखियन तारो कुलदीपकु ब्रजगेहु।
परमानन्द कहति नँदरानी सुत प्रति अधिक सनेहु।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ४७।

आज के नहीं बहुत प्राचीन काल से हमारे ग्रामीण जीवन से सम्बद्ध चले आ रहे हैं, और भारतीय हृदय पर एक अमिट छाप लगाए हुए हैं। आज कल देहात की आर्थिक दशा बिगड़ने से चाहे देश के ग्वारिया बालकों में सर्वत्र यह उल्लास न दिखाई दे, परन्तु जहाँ थोड़ी सी भी समृद्धि है, उन ग्रामों में यह आमोदभरा जीवन अब भी देखने को मिलता है। सूरदास और परमानन्ददास ने इस सुपरिचित जीवन के भी अनेक भाव भरे शब्द-चित्र उपस्थित किये हैं। इन दोनों कवियों का काव्य-कौशल वस्तु के चुनाव में इतना महत्व का नहीं है, क्योंकि उनके काव्य की पृष्ठभूमि श्रीमद्भागवत से आते हुए कृष्णचरित्र में गोपालन, गोचारण आदि व्यापारों का समावेश पहले से ही है, जितना कि इन प्रसङ्गों से सम्बन्धित दृश्यों के, सजीव, भावपूर्ण तथा विनोद कारी चित्रण में है। पहले ही कहा जा चुका है कि सूर की कला परमानन्ददास की अपेक्षा, इन प्रसङ्गों में कुछ अधिक प्रखर है।

परमानन्ददास जी गोप बालकों के दुह दुह कर दूध पीने तथा छाक बाँट कर खाने के दृश्य को इस प्रकार एक पद में देते हैं—

राग सारङ्ग।

दुहि दुहि ल्यावत धौरी गैइया।
कमल नैन को अति भावतु है मथि मथि प्यावत धैया।
हँसि हँसि ग्वाल कहत सब बातें सुनु गोकुल के रैया,
ऐसो स्वादु कबहूं न चषायो अपनी सोंह कन्हैया।
मोहन अधिक भूष जो लागी छाक बाँट लेहु भैया,
परमानन्द दास को दीजे पुनि पुनि लेत बलैया।[१]

किसी ग्वालिनि की गाय दुहते समय 'बिदक' गई। कृष्ण गोदोहन में बहुत प्रवीण थे। बिगड़ी गाय को भी सँभाल कर दुह लेते थे। ग्वालिन यशोदा के पास जाकर कहती है—मैया! तनिक कृष्ण को हमारी गाय दुहने को भेज दे। वह अपना बछरा तक नहीं लगाती है। और न किसी के हाथ ही लगती है।' इस मामूली सी बात का विनोदकारी भावचित्र परमानन्ददास ने नीचे लिखे पद में दिया है। कवि की व्यञ्जना में वस्तु के अनुकूल सरस भाषा का प्रयोग भी ध्यान देने योग्य है।

राग गौरी।

नेंकु पठै गिरधर को मैया,
रही भिलसाय पत्याय न औरै, इनके हाथ लगी मेरी गया।
ग्वाल बाल सब सखा सयाने पचिहारे बलदाऊ भैया,
हूँकि हूँकि इनही तन चितवत चाहत नाहिंन अपनो लैया।

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २६३।

सुन ये बचन हाथ कौरे रहियो दुहूँ दिस चितवत कुँवर कन्हैया,
परमानन्द जसोदा मुसकानी संग दीये गोकुल के रैया।[1]

गोचारण और गोदोहन समय के, गाँवों में होने वाले कई इसी प्रकार के दृश्यों का चित्रण, परमानन्ददास जी ने अपनी रचना में किया है। ग्रामीण जीवन के जिन जिन व्यापारों का उन्होंने वर्णन किया है वे सब एक कृष्ण चरित्र पर ही केन्द्रीभूत हैं। किसी कवि या कला-प्रेमी को कृष्ण का संसर्ग न होते हुए भी गोदोहन, गोचारण, आदि के ग्रामीण दृश्य मुग्धकारी हो सकते हैं; परन्तु इन कवियों के लिए इन दृश्यों में यदि कोई मोहनी शक्ति है और उसकी प्रतिकृति देने में कोई 'दिलचस्पी' है तो वह इन दृश्यों के साथ में लगे कृष्ण के संसर्ग की है, स्वयं प्रकृति अथवा मानव-स्वभाव के प्रति आकर्षण नहीं है। इसीलिए परमानन्ददास तथा अन्य अष्टछाप कवियों ने इन ग्रामीण तथा प्राकृतिक दृश्यों में कृष्ण के क्रिया-कलाप और कृष्ण की रूप-माधुरी की ओर ही अधिक ध्यान दिया है।

बाल और सख्य भावों से सम्बन्ध रखनेवाले कृष्ण-चरित्रों के चित्रण के अन्तर्गत सूर की तरह परमानन्ददास जी ने भी कृष्ण और गोप-बालकों के अनेक खेलों में प्रदर्शित होने वाले भावों का व्यक्तीकरण किया है। बालभाव के चित्रण के साथ, सूर की तरह परमानन्ददास ने भी कृष्ण के जगाने के समय 'प्रभाती' लिखी हैं, जिनमें प्रातःकालीन प्राकृतिक शोभा के साथ बालक की छवि का सम्मिश्रण हैं।

राग भैरव

ललित लाल श्रीगोपाल सोइये न प्रातकाल यशोदा मैया, लेत बलैया, भोर भयो बारे,

× × × ×

रवि की किरन प्रकट भई उठो लाल निशा गई दही मथत जहाँ तहाँ गावत गुनतिहारे,
नंदकुमार उठे विहँसि कृपादृष्टि सबपे हरषि युगल चरण कमल पर परमानंद वारे[2]।

शृङ्गार-प्रेम

अष्टछाप की मधुर-भक्ति के वर्णन में शृङ्गार-भाव के भिन्न-भिन्न रूप और अवस्थाओं में व्यक्त होनेवाले भावचित्र, जिनकी व्यञ्जना परमानन्द दास ने भी की है, कुछ अंश में पीछे दिये जा चुके हैं। बालभाव का चित्रण मुख्यरूप से अष्टछाप में दो ही—सूर और परमानन्द ने—किया है। परन्तु शृङ्गार-प्रेम की भिन्न भिन्न परिस्थितियों का प्रचुर वर्णन आठों कवियों ने किया है। अब हम, परमानन्ददास के संयोग-वियोगात्मक प्रेम चित्रों को काव्यरस की दृष्टि से परखेंगे।

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ६१।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३६३

सूरदास और परमानन्ददास के काव्य में राधा जैसी कुमारिकाओं का तथा कृष्ण का प्रेम बाल-स्नेह से बढ़ कर प्रणयरूप में आया है। और कुछ अन्य गाँव की गोपियों का प्रेम सीधे प्रणय से ही आरम्भ हुआ है। जब सूर और परमानन्ददास ने इस प्रणय का चित्रण किया है उस समय उन्होंने प्रेम की पूर्वराग अवस्थाओं का भी वर्णन किया है। प्रणय-प्रेम के नये संसार में आते ही गोपियाँ बालापन से सुपरिचित कृष्ण में नई माधुरी, नया रूप और एक अज्ञात अपरिचित आकर्षण पाने लगती हैं। आस पास के गाँव की कुमारिकाओं के लिए तो कृष्ण में अपरिचित मोहिनी थी ही। गोपीकृष्ण प्रेम की इन्हीं परिस्थितियों में सूर और परमानन्ददास ने सुन्दर ढङ्ग से पूर्वराग की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण किया है। गोपी-कृष्ण की यह पूर्वराग अवस्था कभी पनघट जाते समय, कभी दधि बेचते समय; कभी कृष्ण के गोचारण समय और कभी योंहीं रास्ते में कृष्ण के सलोने रूप, उसकी बाँकी चितवनि, उसकी केहरि ठवनि, उसकी युवावस्था से भीनी भौंहें, उसकी छेड़छाड़ तथा उसकी सुरीली मुरली की तान ने उपस्थित करदी थी। यौवन की उन्मत्त अवस्था में कृष्ण में साक्षात् कामदेव दिखाई देता था, और व्रज पर आनेवाली अनेक आपत्तियों से घबराई अवस्था में वे उसे एक अतुल शक्तिशाली रक्षक के रूप में देखती थीं। गोपियाँ कृष्ण के रूप और गुण दोनों पर मुग्ध थीं। सौन्दर्य और शक्ति इन दो गुणों में से अष्टछाप भक्तों ने कृष्ण के सौन्दर्य के आकर्षण को अधिक चित्रित किया है।

पूर्वराग प्रेम

परमानन्ददास की कोई ग्वालिन यमुना के पनघट पर पानी भरने गई थी, वहीं कहीं कृष्ण भी अपनी गायों को पानी पिला रहे थे। औघट घाट पर रपटन थी, ग्वालिनी का पैर फिसलने लगा। अचानक उसने कृष्ण से सहायता माँगी। कृष्ण ने जाकर उसका हाथ इस प्रकार से पकड़ा कि उसकी गागर न गिरे। फँसी हुई ग्वालिन रपटन से तो निकल आई, किन्तु कृष्ण के रूप में, उसका मन उलझ गया इस चित्र को परमानन्द दास ने नीचे लिखे पद में दिया हैं—

पूर्वराग-प्रेम में रूप की ठगोरी

राग विलावल

नैंक लाल टेकहु मेरी बहियाँ,
औघट घाट चढ्यो नहि जाई रपटति हों कालिन्दी महियाँ।
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन देखि स्वरूप ग्वालि उरझानी,
उपजी प्रीति काम अंतर गति तब नागर नागरि पहिचानी।
हँसी ब्रजनाथ गह्यो कर पल्लव जैसे भरी गगरी गिरन न पावे,
परमानंद ग्वालिनी सयानी कमल नैंन तन परख्यो भावे।[1]

---

1. लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ६०।

घर आकर पनघट पर मोही हुई एक ग्वालिन कहती है—

राग आसावरी

साँवरो बदन देखि लुभानी ,
चले जात फिरि चितयो मो तन तबते संग लगानी ।
वे उहि घाट चरावत गैयाँ हों इतते गई पानी ,
कमल नैन उपरेनो फेर्यो परमानंदहिं जानी ।[१]

कृष्ण के सुन्दर रूप पर कोई ग्वालिन पनघट पर मोहित हुई तो दूसरी दधि बेचते समय कृष्ण को देख कर ठग गई । एक गोपी कहती है—

राग सारङ्ग

गोरस बेचत ही ठगी ,
कहा करों वाके बस नाहीं मनसा अनत लगी ।
खेलत बीच मिले नंद नंदन कालिंदी के तीर ,
चितयो नैन कँवल दल लोचन मन मोहन बलवीर ।
और सखी सब बूझन लागीं करत कौन को मोल ,
परमानन्द दास बलिहारी मीठे तेरे बोल ।[२]

गोपियाँ कृष्ण की रूप-माधुरी पर विमोहित हैं। लेकिन यह मोहिनी एकाङ्गी नहीं है। कृष्ण भी गोपियों के रूप-लावण्य पर मुग्ध हैं । उसे गोपियों के भीतरी भाव का भी परिचय मिल गया है । अब वह जानबूझ कर गोपियों को छेड़ता है । कभी किसी की 'ईंडुरी' छिपा दी तो कभी किसी का घड़ा लुढ़का दिया । किसी की ओर सेन मारी तो किसी की साहस कर बाँह मरोड़ दी । गोपियाँ भीतर से तो इस छेड़छाड़ का स्वागत करती हैं, परन्तु लोकलाज की कान और माता पिता के भय से कृष्ण को खराखोटा भी कहती हैं । एक गोपी कहती है—

राग सारङ्ग

लाल हो किन ऐसे ढंग लायो,
डगर छाँड़ि, उठि चतुर गुसाईं, चाहत गारि दिवायो ।
को तुम्हरे कुल भयो अचगरो गोरस दान निवेर्यो,
त्यों किन चलो ज्यों नंद भलो माने एक ब्रज वास बसेरो ।
दारुन कंस बसत है मथुरा ताहू की संक न माने,
नंद गोप को कुँवर लड़ैतो आपु बहुत करि जाने ।

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ६६ ।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ७६ ।

बातें कहत प्रेम रस बाढ्यो नैंन रहे अरुझाई,
परमानंददास वहि ग्वालिनि-घरहि कौन विधि जाई।[1]

दूसरी कहती है—

राग सारङ्ग

न गहो कान्ह कोमल मेरी बहियाँ,
सुंदर स्याम छबीले ढोटा हों नहिं आउं या बन महियाँ।
× × ×
ब्रज वसि बास बड़े के ढोटा करि न सकति तुमसों फिर नहियाँ,
परमानन्द प्रभु कहि निबहो कछु बैठहु नेंकु कदम की छहियाँ[2]*।*

कृष्ण के रूप और गुण की मोहक शक्ति तथा छेड़छाड़ की चर्चा गोपियों में आपस में पहले सशङ्क और दबे रूप में चली। एक एक करके गोपियों ने अपना आन्तरिक भाव खोलना आरम्भ किया। धीरे धीरे बात खुल गई। अभी तक माता-पिता, गुरुजन तथा लोक अपवाद का भय था, परन्तु जब प्रेम की दबी आग भभक उठी तो, लौ बाहर निकल आई. कृष्ण प्रेम में उन्मत्त एक गोपी साहस धारण, कर कहती है—

राग आसावरी

गोपाल सों मेरो मन मान्यो कहा करेगो कोउ री,
अब तो चरन कमल लपटानी जो भावे सो होउ री।
माय रिसाय बाप घर मारे हसें बटाउ लोग री,
अब तो जिय एसी बनि आई बिधना रच्यो संजोग री।
बरु इह लोक जाय किन मेरो अरु परलोक नसाय री,
नंद नंदन हों तऊ न छाडों मिलीहों निसान बजाय री।
बहुरि यहै तनु धरि कहाँ पैहों वल्लभ भेष मुरारि री,
परमानंद स्वामी के ऊपर सर्वस देहों वारि री।[3]

कृष्ण का रूप और उसकी शक्ति ही केवल रिझाने वाले नहीं है। उसकी मुरली की सुमधुर तानों में भी गोपियों के मन-कुरङ्ग को बेधा है। सूरदास ने प्रेम की उद्दीपक कृष्ण-मुरली पर अनेक अनूठी उक्तियों से युक्त पद लिखे हैं। मुरली की मोहनी शक्ति पर कभी रुझान, कभी सौतिया डाह से उसका तिरस्कार आदि भावों के प्रकट करनेवाले पद परमानन्ददास ने भी लिखे हैं, परन्तु ये पद उतनी मात्रा में नहीं है जितने सूरकाव्य में हैं। परमानन्ददास की एक गोपी कहती है—

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ७१।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ७८।
३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ६५।

राग धनाश्री

भावे मोहि माधो बेंनु बजावनि ,
मदन गोपाल देखि हम रीझीं मोहन की मटकावनि ।
कुंडल लोल कपोल लोल मधु लोंचन चारु चलावनि ,
कुंतल कुटिल मनोहर आनन मीठे धेनु बुलावनि ।
स्याम सुभग तन चंदन मंडित उर कर अंग नचावनि ,
परमानन्द ठगी नन्द नंदन दसन कुंद मुसकावनि ।[1]

पूर्वराग अवस्था की वियोग-वेदना और मिलन की उत्कट कामना के भावों की व्यञ्जना परमानन्ददास के पदों में बहुत प्रभावशालिनी है। इस अवस्था में प्रेमी की जो दशाएँ होती हैं, जैसे, मिलने की अभिलाषा, हृदय की लालसा भरी तड़पन, प्रिय का ध्यान और उसकी याद, तथा प्रेम की कसक भरी उमङ्ग, उन सबका परमानन्ददास के पदों में चित्रण हुआ है। कवि ने इस चित्रण में परिस्थिति का ध्यान रक्खा है। जो उत्कट विरह वेदना अपने मलिन और करुण रूप में कृष्ण के प्रवास गमन पर गोपीविरह में कवि द्वारा व्यक्त की गई है उसका यहाँ प्रेम पुलकित रूप है। इस वेदना में उमङ्ग है, उत्साह है और आत्म-समर्पण है; प्रलाप, व्याधि, जड़ता तथा उद्वेग आदि भावों का इसमें समावेश नहीं है। प्रेम-पीर से प्रताड़ित एक गोपी कहती है—

प्रेमानुभूति

राग सारङ्ग

जब ते प्रीति श्याम सों कीनी ,
ता दिन ते मेरे इन नैंननि नेंक हू नींद न लीनी ।
सदा रहत चित चाक चढ्यो सो और कछू न सुहाय ,
मन में रहे उपाय मिलन को इहै विचारत जाय ।
परमानंद पीर प्रेम की काहू सों न कहीए ,
जैसे बिथा मूक बालक की अपने तन मन सहीए ।[2]

एक दूसरी गोपी अपनी सखी से अपना हाल कहती है—

राग सारङ्ग

मन हर्यो कमल दल नैना ,
चितवनि चारु चतुर चिंतामनि मृदु मधु माधो बैना ।
कहा करों घर गयो न भावे चलनि बलनि गति थाकी ,
स्याम सुंदर हठि दासी कीनी लखि न परे गति ताकी ।

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ८८।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास पद-संग्रह से, पद नं० १०२।

कहु उपदेश सहचरी मोसों कहाँ जाउँ कहाँ पाऊँ ,
परमानन्द दास को ठाकुर जहाँ ले नैंन मिलाऊँ ।[1]

प्रेमासक्त राधा को उसकी अनुभवी सखी ने कई बार समझाया था कि तू छिप छिप कर कृष्ण को मत देख, परन्तु राधा ने एक न मानी और सखी से ओट करके 'एक नजर चुका ही ली।' उसी का फल यह बेवसी और 'बेहाली' है। सखी राधा से कहती है—

मैं तू कै बिरियाँ समुझाई
उठि उठि उझकि उझकि हरि हेरति चंचल टेव न जाई।
छिनु छिनु पल पल रह्यो न परे तब सहचरि ओट लगाई।
कमल नैंन को फिरि फिरि चितवति लोक की लाज मिटाई।
को मति प्रति उत्तर देइ सखी को गिरिधर बुद्धि चुंराई।
मदन मोहन राधा रसलीला कछु परमानन्द गाई।[2]

भारतीय काव्य परम्परा के अन्तर्गत, प्रेम के उत्कर्ष वर्द्धक उपकरणों में सखी, सखा, तथा दूतियों का विशेष स्थान है। नायक के साथ उसका अन्तरङ्ग सखा और नायिका के साथ उसकी अन्तरङ्गासखी का चित्रण सभी भारतीय महाकाव्यों में चित्रित हुये हैं। गोपी अथवा राधाकृष्ण प्रेम में भी कवियों ने प्रेम के उद्दीपन विभाव रूप में सखा और सखियों का वर्णन किया है। राधा की सखी, पूर्वराग अवस्था में, अनेक युक्तियाँ निकाल कर, किसी न किसी बहाने से उसको कृष्ण से मिलवाती है। परकीय भाव वाली गोपियों को उनकी दूतियाँ मिलवाती हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से इस प्रेम-मिलन में दूती अथवा सखी, मध्यस्थ गुरू के रूप हैं। शृङ्गार-रति के चित्रण में प्रेम की पूर्वराग तथा मान अवस्थाओं में अष्टछाप कवियों ने इनके कार्य कलाप का विशेष वर्णन किया है।

उद्दीपक रूप सखियाँ

जब परस्पर प्रेम में बाढ़ आई तो दोनों ओर का प्रेम उमड़ कर एक रस[3] हो गया। आखिर, यमुना के कछार कुञ्जों में मधुरमिलन हो ही गया। इस मिलन भाव का चित्रण अष्टछाप के सभी कवियों ने राधाकृष्ण की संयोग-लीला के रूप में तल्लीनता के साथ किया है। परमानन्ददास प्रिय और प्रेमी के मधुर मिलन पर, सखी रूप में, लिखते हैं—

मिलन

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १०८।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ११७।
३— राग आसावरी

मेरे माई हरिनागर सों नेह।
× × ×
कोऊ बंदो कोऊ निंदो मन को गयो संदेह,
सरिता सिंधु मिली परमानन्द भयो एक रस नेह।
—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ९४

राग सारङ्ग

आज नव कुंजन की अति सोभा।
करत बिहार तहाँ पिय प्यारी निरखत नयन मन लोभा।
रूप वारि सींचत निज जन को, उठत प्रेम की सोभा॥
परमानन्द प्रभु की चितवनी, लागत चित को चोभा।[1]

आज कुञ्जों में नई शोभा है, चारों ओर उल्लास है, रूप वारि से प्रेमी जनों की हृदय-स्थलि सिंच रही है और नये नये प्रेम के अङ्कुर उसमें उठ रहे हैं। इधर तमाल वृक्षों से लहलहाती वल्लरियाँ लिपट गई हैं। खिली फुलवारी में भौंरे मस्त हैं, उसी प्रकार कृष्ण और राधा रूप फुलवारी में उनके नेत्र मिले हैं। आज दम्पति की आँखों में अजब उल्लास है। इस शोभा का वर्णन परमानन्द दास फिर करते हैं—

राग सारङ्ग

शोभित नव कुंजन की छबि भारी।
अद्भुत रूप तमाल सों लपटी कनक बेलि सुकुमारी।
बदन सरोज उहलहे लोचन निरखि छबी सुखकारी॥
परमानंद प्रभु मत्त मधुप हैं श्री वृषभानु सुता फुलवारी।[2]

पीछे कहा गया है कि अष्टछाप कवियों ने वस्तु वर्णन की अपेक्षा भाव-चित्रण की ओर अधिक ध्यान दिया है। कृष्ण की इस प्रेम-कथा में यह हिसाब नहीं है कि अमुक गोपी का ही संयोग हुआ, अमुक का नहीं हुआ। कवि किसी ऐतिहासिक कथानक अथवा किसी कथात्मक प्रबन्ध को नहीं लिख रहा। उसने गोपियों की मिलन उत्कण्ठा में तथा राधा-कृष्ण-संयोग में केवल प्रेम की विभिन्न स्थितियों को ही चित्रित किया है। परिस्थिति के अनुसार पात्रों का चरित्र-विकास उन्होंने नहीं दिखाया, न यह उनका ध्येय ही है।

पीछे उल्लेख हुआ है कि भक्ति शास्त्र में, संयोग-वियोगात्मक प्रेम की उन सभी दशाओं का वर्णन है जिनका वर्णन काव्य शास्त्र में है। 'हरि भक्तिरसामृत-सिंधु', 'उज्ज्वल नीलमणि' आदि भक्ति-शास्त्र के ग्रन्थ इसी प्रकार के विषय का प्रतिपादन करते हैं। परन्तु जब भक्त लोगों ने गोपी-कृष्ण-प्रेम के रूप में अपनी बहुरूपा प्रेम-भक्ति की व्यञ्जना की है वहाँ उन्होंने हिन्दी-साहित्य के रीतिकालीन कवियों की तरह भिन्न-भिन्न प्रकार की नायिका, उनकी प्रेम-दशा, उनकी अवस्था तथा हाव-भाव का चित्रण गोपियों की प्रेमदशा रूप में शास्त्रीय ढङ्ग से नहीं किया, फिर भी गोपियों के प्रेम की व्यवस्था बहुत कुछ उसी ढाँचे में

प्रेम की संयोग अवस्था

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १२०।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १२३।

अकृत्रिम रूप से ढल गई है। कृष्ण प्रेम में विभोर गोपियाँ कई प्रकार की नायिकाओं के ही रूप में हमारे सामने आती हैं। उनकी प्रेम-व्यञ्जना में भी काव्य-शास्त्र में बताई हुई प्रेम की अनेक अवस्थाएँ मिलती हैं। परमानन्ददास के काव्य में संयोग-प्रेम की जो विभिन्न परिस्थितियाँ हमें मिलती हैं उनका दिग्दर्शन नीचे की पङ्क्तियों में कराया जाता है—

परमानन्ददास के काव्य में संयोग-प्रेम की नायिका-रूपा गोपी मुख्यतः वासकसज्जा, अभिसारिका, खण्डिता, स्वाधीन पतिका तथा, सम्भोग-सुख-हर्षिता के रूप में चित्रित मिलती है। इन नायिकाओं के कुछ उदाहरण परमानन्द दास के पदों में से दिये जाते हैं—

वासकसजा—

राग सारङ्ग

नवरंग कंचुकी तन गाढ़ी,
नवरंग सुरंग चूनरी ओढ़े चन्द्र बधूसी ठाढ़ी।
नवरंग मदन गुपाल लाल सों प्रीति निरंतर बाढ़ी,
स्याम तमाल लाल मन लपटी कनकलता सी आढ़ी।
सब रंग सुन्दर नवल किसोरी, कोककला गुनपाढ़ी,
परमानंद स्वामी की जीवनि रस सागर मथि काढ़ी।[1]

अभिसारिका—

राग सारङ्ग

सुनि राधा एक बात भली,
तू जिन डरै रैंनि अँधियारी मेरे पाछे आउ चली।
तहाँ ले जाउँ जहाँ मन मोहन में देखी एक बंक गली,
सघन निकुंज सेज कुसुमनि रचि भूतल आछी बिटप तली।
हरि की कृपा को मोहि भरोसो प्रेम चतुर चित करत अली,
परमानंद स्वामी को मिलि किन मित्र उदे जैसें कँवल कली।[2]

खण्डिता—अष्टछाप कवियों ने समान रूप से खण्डिता-भाव के पद प्रचुर सङ्ख्या में लिखे हैं। इन पदों में प्रातःकाल किसी गोपी के घर आए हुए कृष्ण के उनींदे नेत्र, विकृत वेशभूषा, लटपटी चाल, उनकी बातों में अव्यवस्था, तथा उनके मुख कपोलों पर चुम्बनादि के रति-चिह्नों का वर्णन है। साथ में इन चिह्नों को देखकर नायिका के कोप और कृष्ण के ऊपर उनके उपालम्भ का भी चित्रण है। खण्डिता भाव के इन पदों में एक बात यह देखने को मिलती है कि प्रेमासक्त गोपियों के प्रेम में, कृष्ण को अन्यत्र आसक्त जानकर

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० १२०।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० १२३।

भी, कोई कमी नहीं आती। वे कृष्ण पर कुपित होती हैं, उन पर व्यङ्गबाणों की बौछार करती हैं, परन्तु अन्त में कृष्ण की एक मधुर मुसकान और प्रेम भरी चितवनि उन्हें जीत लेती है। कोप दूर हो जाता है और वे कृष्ण के आने को ही, चाहे वह रात भर की प्रतीक्षा के बाद प्रातःकाल ही सही, अभिनन्दनीय तथा अपना अहोभाग्य, समझती हैं।

खण्डिताभाव— **राग विभास**

कमल नयन श्याम सुंदर निसके जागे आलस भरे,
करनख उर अरुन रेख मानँहु ससि अर्ध धरे।
लटपटी सिर पाग बनी खसित बरन तिलकु टरे,
मरगजी उर कुसुम माल भूषन अंग अंग परे।
सुरति रंग उमगि रहे, रोम पुलकि होत खरे,
परमानन्द रसिक राय जाके भाग ताहि ढरे।[1]

गोपी संयोग-सुख को सखी से छिपाना चाहती है, परन्तु भीतर की पुलक-भावना खुल ही जाती है।

स्वाधीन पतिका— **राग सारङ्ग**

सुनतहु जिय धरि मुरि मुसिकानी,
कौंन स्याम नंद सुत कैसो, अनगढ़ छोली बानी।
कछु अनुराग हृदे को जनायो, अलक लड़ी मनि ठानी,
लै श्यामता नैन में राखी, अंजन रेख सयानी।
जी की बात न प्रकट जनावति, चोंप रहत क्यों छानी,
परमानंद प्यारी विचित्र मति मुख रूखी, हिय बानी।[2]

संयोग-प्रेम-वर्णन में इन कवियों ने कोई भाव लोक-मर्यादा के भय से छिपाया और छोड़ा नहीं है। यहाँ तक कि राधाकृष्ण की सुरति-क्रीड़ा का भी इन्होंने चित्र अङ्कित कर दिया है, जो वास्तव में मर्यादा की दृष्टि से अश्लील ही कहा जायगा। परमानन्ददास जी सुरतान्त नायिका का चित्र खड़ा करते हैं। चित्र सचमुच में सजीव और सुन्दर है—

राग बिलावल

चली उठि कुंज भवन तें भोर,
डगमगात लटकत लट छूटें पहरे पीत पटोर।
अरुन नैन घूमत आलस बस मनु रस सिंधु हिलोर,
गिरि गिरि परत गलित कुसुमावलि सिथिल सीस कच डोर।

१—लेखक के निजी, परमानन्द दास-पद-संग्रह से, पद नं० १४६।
२—लेखक के निजी, परमानन्द दास-पद-संग्रह से, पद नं० १४६।

पद नख अंक जुगल राजत वर राजित सुभग हिये तन गोर,
परमानंद प्रभु रमी निसा अब लपटि हँसी मुख मोर ।[1]

गोपी और कृष्ण के प्रेम की अतिशयता इतनी अधिक है कि गोपियाँ गृह-कामों में कृष्ण का ही ध्यान करती हैं। दधि बेचने जाती हैं तो वे दधि का नाम भूल कर गोपाल नाम ही पुकारने लगती हैं। संयोग-सुख के वर्णन में अनेक पदों में गोपियों के रोमाञ्च, उमङ्ग,आत्मविस्मृति आदि अनुभावों का चित्रण हुआ है। संयोग-प्रेम की अवस्था, जैसा कि अन्यत्र भी कहा गया है, दो स्थानों पर होती है—एक तो कुञ्ज-भवन, मार्ग तथा रास-भूमि में साक्षात् मिलन रूप में; तथा दूसरी, दधि-बेचन समय अथवा बनान्तर, मान और प्रवास-विरह के भावनामय मिलन में। प्रेम की मान-दशा का अष्टछाप कवियों ने प्रचुरता के साथ वर्णन किया है।

प्रेम की मान-अवस्था

मान अथवा रूठने की अवस्था प्रेम का एक स्वाभाविक अङ्ग होता है। प्रिय कभी प्रेमी से रूठ जाता है और कभी प्रेमी प्रिय से। गोपी-कृष्ण-प्रेम में, तथा भारतीय प्रेम-पद्धति में प्रेम पाने का प्रयत्न नायिका की अनुभूति नायक में नहीं दिखाई जाती। संयोग के बाद जो प्रेम का रूप होता है, उसमें नायिका को ही प्रेम और रूपगर्विता के रूप में दिखाया जाता है। मान की अवस्था में नायिकाओं का ही रूठना बहुधा भारतीय प्रेम-परम्परा में दिया गया है। इसी प्रेम-परम्परा के अनुसार भक्त-कवियों ने भी गोपी-कृष्ण-प्रेम में जब मान-भाव का चित्रण किया है, तब गोपियों को ही मानिनी रूप दिया है। और उन्हीं का दूती द्वारा अथवा स्वयं कृष्ण द्वारा मान-मनावन दिखाया गया है। जैसे पूर्वराग की अवस्था में सखी का अथवा दूती का कार्य दो प्रेमी जनों को मिलाने का होता है, उसी प्रकार इन दोनों दूती और सखी का, मान अवस्था में भी बहुत कार्य होता है। दूती मानिनी के रूप लावण्य की प्रशंसा करती है, नायक की दशा का वर्णन करती है तथा फिर मना कर उसे उसके प्रिय के पास ले जाती है।

मान की अवस्था दो तरह से उपस्थित होती है। प्रेमी चाहता है, कि मेरे सिवाय मेरा प्रिय किसी को अपना प्रेम न दे। यदि नायक अन्यत्र अपनी अनुरक्ति रखता है, तब नायिका अपने प्रिय नायक से रूठ कर अपना कोप और असहयोग प्रकट करती है। इसे ईर्ष्या-जन्य मान कहते हैं। दूसरी स्थिति मान की उस समय होती है जब प्रत्येक समय प्रेमी अपनी संयोग की अतृप्तता प्रकट करता है। यद्यपि प्रिय का इसमें कोई दोष नहीं होता फिर भी प्रेमी अकारण प्रिय की 'बेवफ़ाई की शिकायत' किया करता है। इसे प्रणय-जन्य मान कहते हैं। मान में मानिनी के हृदय में नायक के प्रति उपेक्षा का भाव न आना चाहिए,

---

1—लेखक के निजी, परमानन्द दास-पद-संग्रह से, पद सं० १५९।

अन्यथा मुख्य प्रेम की उत्कर्षता के स्थान पर प्रेम का ह्रास होने लगता है और फिर विच्छेद की सम्भावना हो जाती है। उस समय प्रेम न रह कर शत्रुता का भाव प्रधान हो जाता है। कृष्ण भक्तों ने जहाँ मानिनी राधा अथवा किसी अन्य गोपी का मान दिखाया है वहाँ उन्होंने उनके मान को प्रेम का वर्द्धक उपकरण ही चित्रित किया है। और वास्तव में है भी ऐसा ही। बाल भाव के पदों की तरह परमानन्द दास के मान के पदों में भी बहुधा यह बात देखने में आती है कि कवि कृष्ण के नायक रूप के साथ कृष्ण की ईश्वरता का प्रदर्शन करना नहीं भूलता। ऐसे अनुभव से लौकिक प्रेम की स्वाभाविक सरसता भङ्ग होकर अन्योक्ति में कहे भक्ति-प्रेम का ही भान होने लगता है। मान अवस्था 'संयोग में वियोग' की अवस्था होती है। मानिनी राधा की दूती कहती है—

राग सारङ्ग

छाँड़ि न देत झूठो अति अभिमान,
मिलि रस रीति प्रीति करि हरि सों सुंदर हैं भगवान।
यह जोबन धन दिवस चारि को पलटत रंग ज्यों पान,
बहुरि कहाँ यह अवसर मिलि है गोप वेष को ठान।
बारंबार दूतिका सिखवे करि अधर रस पान,
परमानन्द स्वामी सुख सागर सब गुन रूप निधान।[1]

राग कान्हरो

मानिनी ऐतो मान न कीजे,
यह जोबन अंजुली को जल ज्यों जब गोपाल मांगे तब दीजे।
निति दिन घटे बढ़े नहीं सुंदरि जैसे कला चंद की छीजे,
पूरन पुन्य सुकृत फल तेरो काहे न रूप नैन भरि पीजे।
चरन कमल की सपति करति हों ऐसो जीवन दिन दस जीते,
परमानंद स्वामी सों मिलि के अपनो जनम सफल करि लीजे।[2]

राग सारङ्ग

चलि ले मिलहु मदन गोपालहि,
भले ठारे बैठे नंदनंदन कूजित वेन रसालहिं।
चतुर सखी माधो जु की पठई सिखवति है ब्रज बालहिं,
मानि मनामों पाय लगति हों औरु बात जिन चालहिं।
माता पिता बंधु सब गुरजन लाज छाँड़ि भजि लालहिं,
परमानद प्रभु भलो मानि है चित दे वा बनमालहि।[3]

१—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १२१।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से पद नं० १२६।

३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से पद नं० १२०।

प्रेम की संयोग अवस्था में सखा और सखी प्रेम के बढ़ाने में सहायक होते हैं, यह पीछे कहा गया है। संयोग प्रेम के सुख को बढ़ाने में प्राकृतिक वातावरण और प्रेमी जनों की नित्य की नवीन-नवीन वेष-भूषा तथा रूप का लावण्य भी विशेष सहायक होते हैं। राधा अथवा गोपीकृष्ण-प्रेम में कृष्णभक्त कवियों ने कृष्ण और राधा के अपार रूपराशि तथा उनके आकर्षक वेष का बहुत वर्णन किया है, साथ में संयोग प्रेम की अवस्था के ऐसे आमोद-प्रमोदों का भी वर्णन किया है जो उल्लास भरी ऋतु के प्रभाव के सहयोग से दम्पति के आनन्द की वृद्धि करते हैं। इस प्रकार के चित्रण परमानन्ददास के काव्य में भी मिलते हैं। ग्वाल सखाओं के बीच बैठे हुए कृष्ण के गोपी-वल्लभ रूप तथा वेश का चित्र कवि इस प्रकार देता है—

संयोग प्रेम के उद्दीपक

राग सारङ्ग

बंदसि बनी कमल दल लोचन ,
चितवनि चारु चतुर चिंतामनि बिनगुन चाप मदन सर मोचन।
कटि पीतांबर लाल उपरेना माथे पाग मनोहर कुंडल ,
मुक्ता कंठ हाथ में बीरा पाय पाउरी गति व्रज मंगल।
नंद किसोर कूल कालिंदी संग गोपाल सभा में मंडल।
परमानंददास बलिहारी जे जगदीस कंस-कुल-खंडन।[1]

नायक की सुन्दर चितवनि, उसकी कुटिल अलकावलि, तथा रस से युक्त रूप नायिका के मन को हठपूर्वक हरण करते हैं—

राग सारङ्ग

कान्ह कमल दल नैंन तुम्हारे ,
अरुन बिसाल बंक अवलोकनि हठि मन हरत हमारे।
तिन पर बनी कुटिल अलकावलि मानहु मधुप भ्कारे ,
अतिसे रसिक रसाल रस भरे चित तें टरत न टारें।
मदन कोटि रवि कोटि कोटि ससि ते तुम ऊपर वारे ,
परमानन्द दास की जीवनि गिरिधर नंददुलारे।[2]

उधर प्रेम की साक्षात् प्रतिमा राधा भी, सर्वगुण-सम्पन्ना, सुन्दरता की प्रति-मूर्ति तथा अपनी वेश भूषा में चन्द्रवधू के समान बनी हुई अपनी चारुचितवन से कृष्ण के हृदय को बींध रही है।

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १२९।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १३०।

राग सारङ्ग

राधा रसिक गोपालहिं भावै ,
सब गुन निपुन नवल अंग सुन्दर प्रेम मुदित कोकिल स्वर गावै ।
पहेरि कुसुंभी कटाव की चोली चंद्र वधू सी ठाढ़ी सोहै ,
सावन मास भूमि हरियारी मृग नैनी देखत मन मोहै ।
उपमा कहा देउँ को लाइक, केहरि की वाही मृगलोचनि ,
परमानंद प्रभु प्रान बल्लभा चितवनि चारु काम सर मोचनि ।[१]

कृष्ण के कमल-नयन राधा के मन-मधुर को बरबस विभोर करते हैं, तो उधर राधा का मुखचन्द्र अपनी सुधा-धारा से कृष्ण के 'हीतल' को सींच रहा है । राधा के चन्द्रमुख के लिए कृष्ण के नेत्र चकोर बने हैं । राधा के रूप पर परमानन्ददास कहते हैं—

राग कल्यान

अमृत निचोय कीयो एक ठौर ,
तेरो बदन समारि सुधानिधि तादिन विधिना रची न और ।
सुनि राधे कहा उपमा दीजे स्याम मनोहर भये चकोर ,
सादर पीवत मुदित तोहि देखत, तपत काम उर नंदकिसोर ।
कौन कौन अंग करों निरूपम गुन अरु सींव रूप की रासि ,
परमानंद स्वामी मन बाँध्यो लोचन बचन प्रेम के पासि ।[२]

प्रेम-शृङ्गार की उद्दीपक ऋतुओं में हमारे देश में दो ऋतुओं का विशेष महत्व रहा है और प्रेम-भाव के चित्रण में इन्हीं दो ऋतुओं का प्रचुर वर्णन हमारे देश के कवियों ने किया है । ये दो ऋतुएँ वर्षा और वसन्त हैं । दोनों ऋतुओं में प्रकृति की शोभा लुभावनी हो जाती है । मनुष्यों के हृदय उमङ्ग से भर जाते हैं और वे इन ऋतुओं में अनेक उत्सव मनाते हैं । अष्टछाप कवियों ने भी वर्षा तथा बसन्त ऋतु के उत्सवों का विशेष वर्णन किया है । उन उत्सवों के संसर्ग से उन्होंने इन ऋतुओं की शोभा और राधकृष्ण के प्रेम-प्रमोदों का वर्णन भी किया है । अष्टछाप कवियों के इस प्रकार के पद, वर्षोत्सव-कीर्तन संग्रह, भाग १ तथा कीर्तन-संग्रह, भाग २ वसन्त और धमार, नामक पुस्तकों में छपे हैं ।

वर्षा—परमानन्ददास ने भी वर्षाऋतु की मनोरम शोभा, तथा मोर कोकिल आदि के सुहावने शब्दों का वर्णन करते हुए, राधा कृष्ण के हिंडोला झूलने पर बहुत पद गाये हैं जो उनकी संयोग-प्रेम-लीला के ही अङ्ग हैं ।

वर्षाऋतु में संयोग-सुख को लूटनेवाली नायिका बादलों का स्वागत करती है—

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २६७ ।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १३५ ।

मल्हार

बरसि रे सुहाय मेहा में हरि को सङ्ग पायो ,
भीजन दे पीताम्बर सारी बड़ी बड़ी बूँदन आयो ।
ठाँड़े हँसत राधिका मोहन राग मल्हार जमायो ,
परमानंद प्रभु तरवर के तर लाल करत मन भायो ।[1]

प्रेम-रस से भीज-भीज कर राधा और कृष्ण ने वर्षा में हिंडोला डाला है—

राग गौरी

झूलत नवल किशोर किशोरी ,
उत ब्रज भूषण कुँवर रसिकवर इत वृषभान नंदिनी गोरी ।
नीलांबर पीतांबर फरकत, उपमा घनदायिनि छबि थोरी ,
देखि देखि फूलत ब्रजसुंदरि देत झुलाय गहे कर डोरी ।
मुदित भई यों सुरमिलि गावत, किलक किलक दै उरज अँकोरी ,
परमानंद प्रभु मिलि सुख बिलसत इन्द्रबधू शिर धुनत झकोरी ।[2]

बसन्त-बहार—ऋतुराज बसन्त की रङ्ग भरी शोभा के बीच परमानन्ददास ने राधा-कृष्ण के संयोग-प्रेम के अनेक हर्षोल्लासों का वर्णन किया है। इस ऋतु के मदन-महोत्सव, तथा होली-त्योहारों का वर्णन अष्टछाप के सभी कवियों ने किया है और उस वर्णन में उन्होंने राधा तथा गोपी कृष्ण के होली खेलने का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। परमानन्ददास की एक गोपी बसन्त आगमन पर राधा से कहती है—

आज मदन महोत्सव राधा ,
मदन गोपाल बसंत खेलत हैं नागर रूप अगाधा ।
निधि बुधवार पंचमी मंगल ऋतु कुसुमाकर आई ,
जगत विमोहन मकरध्वज की जहं तहं फिरी दुहाई ।
मन्मथ राज सिंहासन बैठे तिलक पितामह दीनों ,
छत्र चँवर तूणीर शंखधुनि विकट चाप कर लीनों ।
चलो सखी तहाँ देखन जैये हरि उपजावत प्रीति ,
परमानंददास को ठाकुर जानत है सब रीति ।[3]

होली— *लालन सँग खेलन फाग चली ,*
चोवा चंदन अगर कुंकुमा छिरकत घोष गली ।
ऋतु बसंत आगम नवनागरि जोबन भार भरीं ,
देखन चलीं लाल गिरधर को नंद जू के द्वार खरीं ।

१—वर्षोत्सव-कीर्तन, भाग २, देसाई, पृष्ठ २८३ ।

२—वर्षोत्सव-कीर्तन, भाग २, देसाई, पृष्ठ ३३० ।

३—कीर्तन-संग्रह, भाग २, बसन्त-धमार, देसाई, पृष्ठ ३६ ।

राती पीरी चोली पहरे नौतन झूमक सारी,
मुखहि तंबोल नैन में काजर, देत भामती गारी।
बाजत ताल मृदंग बाँसुरी गावत गीत सुहाए,
नवल गोपाल नवल ब्रज बनिता निकसि चौहटें आए।
देखो आय कृष्ण की लीला बिहरत गोकुल माहीं,
कहत न बने दास परमानंद यह सुख अनत जु नाहीं।[1]

राधाकृष्ण-प्रेम के बसंत-विहार और होली-सम्बन्धी पदों में भी कवि की भक्ति-भावना का कई स्थानों पर प्रकाशन हुआ है। जैसे—

नन्दकुँवर खेलत राधा संग यमुना पुलिन सरस रंग होरी,
नव घनश्याम मनोहर राजत श्यामा सुभग तन दामिनी गोरी।

× × ×

थके देव किन्नर मुनिगन सब मन्मथ निज मन गयो लज्योरी,
परमानंद दास या सुखकों याचत विमल मुक्ति पद छोरी।[2]

होली के ऊपर सूर, परमानन्दास तथा नन्ददास ने राधाकृष्ण अनुराग के बहुत पद लिखे हैं जिनमें बहुत लम्बे लम्बे पद भी हैं। परमानन्दास का भी एक पद, जिसके बीच में छन्द भी आये हैं, बहुत बड़ा है जो कीर्तन-संग्रह, भाग २, धमार में पृष्ठ १५४ पर छपा है।

वियोग-प्रेम

पीछे मधुर भक्ति के प्रकरण में, विरह-भाव की महत्ता और इस भाव की विविध अनुभूतियों द्वारा प्राप्त आनन्द का उल्लेख किया गया है। साथ में वहाँ यह भी कहा गया है कि अष्टछाप में विरहभाव का आत्मविषयात्मक तथा गीत्यात्मक शैली में चित्रण करने वाले तीन ही कवि हैं— सूरदास, परमानन्ददास तथा कुम्भनदास। इनमें भी सूर और परमानन्ददास के विरह के पद बहुत वेदनाभिभूत और प्रभावोत्पादक तथा भक्ति और काव्यानन्द पूर्ण हैं। नन्ददास ने भी विरह वर्णन किया है, परन्तु अपने कथानक काव्यों में ही, गीतों में ऐसा नहीं है। यहाँ परमानन्ददास द्वारा अङ्कित वियोग-प्रेम के चित्र उपस्थित किये जाते हैं।—

विरहभाव की अनुभूति प्रेम की चार अवस्थाओं में होती है—पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुणात्मक स्थिति। इनमें से पूर्वराग तथा मान-अवस्थाओं की मीठी कसक-भरी वेदना का वर्णन, जिसका परमानन्ददास ने गोपियों की स्थिति में बैठ कर अनुभव किया

१—कीर्तन-संग्रह, भाग २, बसन्त-धमार, देसाई, पृष्ठ ६।
२—कीर्तन-संग्रह, भाग १, बसन्त-धमार, देसाई, पृष्ठ ७७।

था, पीछे किया जा चुका है। करुण-वियोग का भक्तिकाव्य में कोई स्थान नहीं है। भारतीय आदर्श के अनुसार भी किसी घटना अथवा वर्णन को दुःखान्त नहीं बताया जाता। प्रेम-वियोग की व्याकुल अवस्था में अकिञ्चनता, दीनता, मलिनता, आत्मविस्मृति तथा मूर्छा आदि दशाएँ तो दिखाई ही जाती हैं, परन्तु उसकी अन्तिम अवस्था मृत्यु अथवा प्रिय या प्रेमी दोनों में से किसी की भी मृत्यु नहीं दिखाई जाती। दुःखान्त घटनाओं को, सुख की ओर मोड़ दिया जाता है। यह वास्तव में संसार का 'मामूल' नहीं है, केवल एक आदर्श भावना है, परन्तु लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर भारतीय काव्य ने सदा से ऐसा ही किया है। इधर भक्ति-क्षेत्र में भी भगवद्भक्तों ने विरह की चरमवेदना-पूर्ण अवस्था को परमानन्द में परिवर्तित कर दिया है। और विरह के आनन्द को मोक्ष अवस्था के आनन्द से बढ़ कर बताया है। कृष्ण-चरित्र की कथा को यदि साधारण दृष्टि से देखा जाय तो गोपी कृष्ण का वियोग चिरवियोग होने के कारण करुणात्मक विरह ही है, परन्तु भगवान् के अनन्य भक्तों ने वियोग में भावनामय संयोग का अनुभव कर विरह को पूर्ण आनन्द का स्रोत मान लिया है। और उस विरह का, उन्होंने इसी भाव से प्रेरित होकर वर्णन किया है।

सूर के काव्य में विरह-वर्णन दो स्थानों पर है। एक गोपी परस्पर विरह-व्यञ्जना में दूसरे, गोपी-उद्धव-संवाद अथवा भ्रमर-गीत में। परमानन्ददास ने कृष्ण-चरित्र के कथानक भाग को नहीं लिया। इसलिए उनके विरह के पद सूरसागर के क्रम के अनुसार नहीं है। वैसे परस्पर गोपी-वार्तालाप तथा गोपी-उद्धव-संवाद को प्रकट करनेवाले अनेक पद उनके काव्य में हैं, जिनमें ब्रजजनों की विकल वेदना का चित्रण है।

भक्त कवियों का ध्येय काव्यशास्त्र के अनुसार गिनाई हुई विरह की दशा और परिस्थितियों के अनुसार विरहभाव का चित्रण कर विरह की उक्त विविध परिस्थितियों के उदाहरण उपस्थित करना नहीं रहा है, जैसा कि बहुधा हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने किया है। कृष्णभक्तों की भाव-व्यञ्जना कृत्रिम नहीं हैं, यह उनकी स्वानुभूति है। इसी प्रकार परमानन्ददास ने भी गोपी-विरह में जिन भिन्न-भिन्न विरह-दशाओं का चित्रण किया है, वे उनकी अनुभूत बातें थीं। वैसे परमानन्ददास को विरह की काव्य-शास्त्रोक्त दशाओं का ज्ञान अवश्य था, क्योंकि गोपियों की विरह कथा के द्योतक एक पद में उन्होंने कहा है—'परमानन्दस्वामी के बिछुरे दसमी अवस्था आई'। काव्य की दृष्टि से इनकी विरह-व्यञ्जना का विवेचन यहाँ काव्य-शास्त्र में बताई विरह की दशाओं तथा अवस्थाओं के अनुसार ही किया जायगा।

नित्य के आमोद-प्रमोदों के बीच एक दिन अक्रूर जी कंस का निमन्त्रण लेकर आते हैं। और दूसरे दिन कृष्ण का मथुरा के लिए प्रस्थान हो जाता है। एक बार मथुरा जाकर

फिर कृष्ण अपने दिव्य तथा भौतिक शरीर से वापिस मथुरा नहीं आये। परमानन्ददास ने इस प्रसङ्ग पर भी पद बनाये हैं। परन्तु उनके इन कथानक-सम्बन्धी पदों में नीरसता है। उनके पदों में सरसता उस समय के प्रसङ्गों में आती है जब कृष्ण रथ पर चढ़कर चल देते हैं और पीछे गोपियाँ जाते हुए रथ को अपलक भाव से देखती रह जाती हैं। मथुरा-गमन-समय गोपियों की दशा का चित्रण परमानन्ददास जी इस प्रकार करते हैं—

राग सारङ्ग

चलतहु न देखन पायो लाल,
नीके करि न बिलोक्यो श्रीमुख इतनो ही रह्यो जिय साल।
लोचन मूँदि रहे जल पूरित दृष्टि भई कालिकाल,
दूरि भये रथ ऊपर देखे मोहन मदन गोपाल।
मींड़त हाथ बिसूरति सुंदरि आतुर बिरह बिहाल,
परमानन्द स्वामी फिरि चितयो अंबुज नैन बिसाल।[1]

गोपियों की दशा के साथ कृष्ण के मित्र-गोपों की दशा भी दयनीय है—

राग सारङ्ग

बिधिना बिधि करी बिपरीत,
स्याम मनोहर बिछुरन लागे बालदसा के मीत।
लै अक्रूर चले मधुबन को सब ब्रज भयो भयभीत,
साँचे भये तबहि हम जाने गग जु गाये गीत।
चूक परी सेवन नहिं पाये चरन सरोज पुनीत,
परमानंद अब कबहिं मिलेंगे सुबल श्रीदामा मीत।[1]

कृष्ण मथुरा चले गये, उनके आगमन की प्रतीक्षा में कई दिवस, कई महीने, कई वर्ष बीत गये। जैसे-जैसे दिन बीतते हैं वैसे ही वैसे उनकी आशा शिथिल होती जाती है और वेदना और विकलता वृद्धि पाती जाती हैं; घर में, डगर में, कुञ्ज में, जहाँ कहीं, गोपियाँ एक दूसरे से मिलती हैं अपनी विह्वल भावावलि को एक दूसरे पर प्रकट कर, थोड़ी देर को हृदय के भार को हलका कर लेती हैं। एक दिन कृष्ण का सन्देश लेकर कृष्ण की ही अनुहारि का, उनका एक मित्र उद्धव ब्रज में आया। गोपियों को आशा थी, कदाचित् उनका प्रिय कृष्ण आ गया, परन्तु कृष्ण के स्थान पर दूसरा व्यक्ति देखकर उन्हें निराशा हुई। अन्त में कृष्ण की पत्रिका पाकर ही उन्होंने सन्तोष किया। उद्धव ने गोपियों को ज्ञान का उपदेश दिया। गोपियाँ अपनी अनन्य भक्ति से तिल भर भी न डिगीं, आखिर उद्धव भी भक्त बन कर चले गये। इसके बाद गोपियाँ चिरवियोग में रहीं। विरह में ही, उनको आनन्द आने लगा और

१—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से पद नं० १७६।

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १७०।

भाव-जगत में कृष्ण-संयोग का आनन्द-लाभ कर सभी प्रकार के लाभ को उन्होंने त्याग दिया। परमानन्ददास के, भँवरगीत से आगे की कथा के पद, उपलब्ध नहीं हैं। इस सम्पूर्ण कथानक को विरह के पदों की असम्बद्ध शृंखला के साथ परमानन्ददास ने प्रकट किया है। इसी कथानक में गोपियों की विरह-दशा का भी चित्रण है।

काव्य-शास्त्र में विरह की दश दशाएँ[1] कही गई हैं—अभिलाषा, चिन्ता, गुण-कथन, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मरण। इन दश दशाओं के अतिरिक्त इनमें से कुछ से मिलती हुई प्रवास-विरह की दश स्थितियाँ[2] काव्य-शास्त्र में और बताई गई हैं जैसे—असौष्ठव अथवा मलिनता, सन्ताप, पाण्डुता अथवा विवृति, कृशता, अरुचि, अधृति अथवा चित्त की अस्थिरता, विवशता अथवा अनावलम्ब, तन्मयता, उन्माद, तथा मूर्छा। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न ऋतुओं में प्रेमियों के विरही मन की जो दशा होती है, तथा, अपने पास के वातावरण तथा सम्पर्क की वस्तुओं से जो दुःख की उद्दीप्ति होती है, उसका वर्णन भी काव्य-शास्त्र ग्रन्थों में किया गया है। परमानन्ददास के काव्य के गोपी-विरह-प्रसंग में इन मानसिक तथा शारीरिक विरह-दशाओं में से अनेक का सजीव और संवेदना-संक्रामक वर्णन है।

अभिलाषा

मन में प्रिय मिलन की अभिलाषा, पूर्वराग तथा प्रवास-विरह इन दोनों अवस्थाओं में हुआ करती है। गोपियाँ कृष्ण के प्रवास-विरह में अभिलाषा करती हैं कि कृष्ण जल्दी आ जायँ और यदि वे हमें भूल गये हैं तो हमारी विनीत चाहना है कि कोई जाकर उनको हमारी याद दिलादे। परमानन्ददास की एक गोपी कहती है—

राग सारङ्ग

जो पै कोउ माधो सों कहे,
तो कत कमल नैन मथुरा में एको घरी रहै।
प्रथम हमारी दशा सुनावे गोपी बिरह दहै,
हा ब्रजनाथ रटत बिरहातुर नैनन नीर बहै।
बिनती कर बलबीर धीर सों चरन सरोज गहै।
परमानंद प्रभु इत सिधारबो ग्वालिनि दरस लहै।[3]

सदैव प्रिय मिलन की लालसा और उसी का चिन्तवन चिन्ता है। यह अभिलाषा

१—नवरस, गुलाबराय, सन् १९३४ संस्करण, पृष्ठ ३९३।
२—नवरस, गुलाबराय, सन् १९३४ संस्करण, पृष्ठ ४०२।
३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १८६।

का उत्कट रूप है। परमानन्ददास गोपियों की इस दशा का इस प्रकार वर्णन करते हैं—रात को पपीहा 'पीऊ' 'पीऊ' का शब्द बोल कर प्रिय की याद दिला रहा है। नींद भाग गई है। यही चिन्ता लगी है कि किसी प्रकार प्रिय मिलें। जब बादल गरजता है और बिजली चमकती है तो उसका मन विकलता में उड़ने लगता है। मुरली के शब्द-श्रवण की जब वह कल्पना करती है तब वह मूर्छित होकर गिर जाती है। निम्नलिखित पद में चिन्ता और मूर्छा, दो विरह-दशाओं का चित्रण है—

चिन्ता

राग केदारो

रैंनि पपीहा बोल्यो री माई,
नींद गई चिंता चित बाढ़ी सुरति स्याम की आई।
सावन मास देखि बरषा रितु हों उठि आँगन धाई,
गरजत गगन दामिनी दमकत तामे जीउ उड़ाई।
राग मलार कियो जब काहू मुरली मधुर बजाई,
विरहिन विकल दास परमानंद धरनि परी मुरझाई।[1]

गुण-कथन—गोपियाँ कृष्ण की याद में बैठकर उनके गुणों को अपने साथ में किये गये प्रेम व्यवहार को तथा अपने आमोद को एक दूसरे पर प्रकट करती हैं—

राग सारङ्ग

यह बिरियाँ बनते आवते,
दूरहिं ते बर बेनु अधर धर वारंबार बजावते।
कबहुँक केहू भाँति चतुरचित अति ऊँचे सुर गावते,
कबहुँक लैलै नाउँ मनोहर धौरी धेनु बुलावते।
यह मिस नाउँ सुनाय श्याम घन मुरछे मनहिं जगावते,
आगम सुख उपचार बिरह जुर बासर अंत नसावते।
रुचि रुचि प्रेम पिया सैंन दे क्रम क्रम बलिहि बढ़ावते,
परमानंद प्रभु गुन निधि दरसनु पुनि पथ प्रगट करावते।[2]

अभिलाषा तथा चिन्ता से आगे बढ़ी हुई विरह की मानसिक दशा स्मृति की है। इसमें प्रत्येक समय प्रिय की याद सताती रहती है। उसकी लीला, ध्यान में अनेक रूप धारिणी हो साक्षात् सामने आ जाती है। इस दशा में कभी काल्पनिक संयोग से प्रेमी प्रसन्न होता है तो कभी सजग हो प्रिय के विछोह से विकल होता है। परमानन्ददास ने इस विरह-दशा के प्रदर्शन करनेवाले अनेक अनूठे पद लिखे हैं—

स्मृति

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३२३।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २०२।

राग कल्याण

हरि तेरी लीला की सुधि आवति ,
कमल नैंन मन मोहनी मूरति मन मन चित्र बनावति ।
एक बार जाय मिलत मया करि सो कैसे बिसरावति ,
मृदु मुसिकानि बंक अवलोकनि चालि मनोहर भावति ।
कबहुँक निबिड़ तिमिर आलिंगनि कबहुँक पिकस्वर गावति ,
कबहुँक संभ्रम क्वासि क्वासि कहि संग हीन उठि धावति ।
कबहुँक नयन मूँदि अंतरगति बनमाला पहिरावति ,
परमानंद प्रभु स्याम ध्यान करि ऐसे बिरह गँवावति ।[1]

राग सारङ्ग

मोहन वह क्यों प्रीति बिसारी ,
कहत सुनत समुझत उर अंतर दुख लागत है भारी ।
एक दिवस खेलत बन भीतर बेनी सुहथ सँवारी ,
बीनत फूल गयो चुभि कंटक ऐसी सही बिथा री ।
हम पर कठिन हृदय अब कीनों लाल गोबरधन धारी ,
परमानंद बलबीर बिना हम मरत बिरह की जारी ।[2]

प्रिय-वियोग में उद्वेग की वह विकल दशा है जब संयोग-समय की सभी सुखदायिनी वस्तुएँ प्रेमी को दुखदाई प्रतीत होती हैं। सूर ने गोपी विरह में इस दशा के अनेक कथनों में अनेक प्रकार से प्रभावयुक्त पद लिखे हैं। परमानन्ददास ने भी गोपियों के मन की इस प्रकार की उद्विग्न दशा का सुन्दर चित्रण किया है—

उद्वेग

राग गौरी

ब्रज की औरै रीत भई ,
प्रात समें अब नाहिंन सुनियत प्रतिगृह चलत रई ।
ससि की किरनि तरनि सम लागति जागत निसा गई ,
उद्भट भूप मकर केतन की आज्ञा होत नई ।
वृन्दाबन की भूमि भावती ग्वालनु छाँडि दई ,
परमानंद स्वामी के बिछुरे बिधि कछु और ठई ।[3]

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २५४ ।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३२० ।

३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २५१ ।

राग सारङ्ग।

माई री अब तो डर लागत है वृन्दावन जात,
गोबिन्द बिनु भीत भये तरुवर के पात।
ओही निसी ओही ससि ओही सखि साथ,
ओही गुल्म ओई बेली पे परत नाहिं हाथ।
ओई समीर जमुना नीर दहत हैं सरीर,
परमानंद प्रभु सीतल निधि नाहिंन बलबीर।[1]

प्रलाप की दशा में विरहीजन विवश होकर अपने मन की व्यथाओं को कहते हैं, चाहे सुननेवाला उनमें उतनी लीनता न प्रकट करे। परमानन्ददास की गोपियों की भी ऐसी ही दशा है। वे कहती हैं—"कृष्ण ने हमें बड़ी बेढब चोट दी है। विधाता ने हमें क्यों जन्म दिया और फिर जन्म भी दिया तो व्रजराज से हमारा प्रेम क्यों जोड़ा और हमारा नाम 'ब्रजनारि' क्यों रखवाया"। इस प्रकार अन्यत्र वे अपनी अकिञ्चनता प्रकट कर पुरानी याद से, अपनी हीन दशा तथा अभाव की पीड़ा का द्योतन करती हुई प्रलाप करती हैं—

प्रलाप

राग सारङ्ग

गोविंदा बीच दे सर मारी,
उर तन कुटी बिरह दावानल फूँकि फूँकि सँधि जारी।
सोच पोच तन छीन भयो अति कैसी देह बिगारी,
जो पहले बिधि हरि के कारन अपने हाथ सँवारी।
बरु गोपी घर जनम न लेतीं रहत गरभ में डारी,
परमानन्द ऐती कत होती नाउँ धर्यो ब्रजनारी।

तथा—

राग सारङ्ग

मायी को इह गाय चरावे,
दामोदर बिन अपने संघातिन कौन सिंगार करावे।
सब कोई पूजें दीपमालिका हम कहा पूजें माई,
राम गोपाल मधुपुरी गमने धाय धाय ब्रज खाई।
दाम दोहनी माट मथानी जाय पासि को पूजें,
काके मिलें चलें यह गोकुल कोन बेनु कल कूजें।
करत प्रलाप सकल गोपी जन मन मुकुंद हरिलीनों,
परमानंद प्रभु इतनी दूरि बसि मिलन दोहिलो कीनो।[2]

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १८६।
१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १८७।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २११।

जब प्रेमी की वेदना बहुत हो जाती है और मिलन की अभिलाषा अपना उत्कट रूप ले लेती है तब प्रलाप की एक अवस्था, 'खीज' की भी होती है। चित्त में आतुरता, साथ में उपालम्भ का भाव भी होता है। एक गोपी अपनी इस दशा को इस प्रकार प्रकट करती है-

राग सारङ्ग

क्यों ब्रज देखन नहिं आवत ,
नव विनोद नई रजधानी नौतन नारि मनावत।
सुनियत कथा पुरातन इनकी बहु लोक हैं गावत ,
मधुकर न्याय सकल गुन चंचल रसले रति बिसरावत।
को पतियाय स्याम घन तन को जो पर मनहिं चुरावत ,
परमानंद प्रीति पद अंबुज हरि असराग निभावत'।[1]

परमानन्ददास ने विरह की दशम अवस्था, मरण का काव्य-परम्परा के अनुसार केवल

मरण उल्लेख मात्र किया है, उस अवस्था का चित्रण अथवा वर्णन उन्होंने नहीं किया। गोपियाँ कहती हैं—

राग सोरठ

ऊधो यह दुःख छीन भई ,
बालक दसा नंदनंदन सों बहुरि न भेंट भई।
नैंन नैंन सों नैंन मिलावे बयनि बयनि सों बात ,
बहुरि अंग को संग न पायो यह करी कूर विघात।
बहुरि क्यों कान्ह न गोकुल आए मधुबन हम न बुलाई ,
परमानन्द स्वामी के बिछुरे दसमी अवस्था आई।[2]

प्रिय के वियोग से सच्चा प्रेमी कितनी ही वेदना सहे, परन्तु उसका प्रेम घटता कभी नहीं। गोपियाँ, कृष्ण की कठोरता पर उसे कोसती हैं, अपनी दशा की चिन्ता करती हैं, परन्तु फिर एक साथ, प्रिय को खोटा कहने पर पछताने लगती हैं। एक विरहिणी कहती है—

राग सारङ्ग

ता दिन सर्वसु देउँगी बधाई ,
जादिन दौरि कहै सुनि सजनी आए कुँवर कन्हाई।
मैं अपनों सो बहुत करति हों लाल न देत दिखाई ,
सोवत जागत दिन अवलोकत, उह मन कबहु न जाई।
मेरी उनकी प्रीति निरंतर बिछुरत पल न घटाई ,
परमानंद विरहिनी हरि की सोचति अरु पछिताई।[3]

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १८६।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २३७।

३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २२६।

पीछे कही विरह-दशाओं के अतिरिक्त परमानन्ददास के पदों में प्रवास-विरह की दश अवस्थाओं का भी चित्रण हुआ है। इस प्रसङ्ग में परमानन्ददास का एक एक पद विरह रस से आप्लावित है।

असौष्ठव अथवा मलिनता मलिन दशा में गोपियों को कोई शृङ्गार की अथवा बिलास की वस्तु अच्छी नहीं लगती। यहाँ तक कि अपने शरीर और वेशभूषा की उनको इतनी उपेक्षा है कि तन के वस्त्र भी नहीं धोतीं। शरीर काँटा होकर तेजहीन हो गया है—

राग सारङ्ग

किते दिन गए रैंनि सुख सोए,
कछू न सुहाय गोपाल बिछूरे रहे पूँजी सी खोए।
जबते गये नंदलाल मधुपुरी चीर न काऊ धोए,
मुख न तंबोर नैंन नहिं कज्जर बिरह सरीर बिगोए।
ढूँढ़त बाट-घाट बन पर्वत जहाँ जहाँ हरि खेल्यो,
परमानंद प्रभु अपनो पीतांबर मेरे सिर पर मेल्यो।[1]

राग कान्हरो

व्याकुल बार न बाँधति छूटे,
जब ते हरि मधुपुरी सिधारे उर के हार रहत सब छूटे।
सदा अनमनी बिलष बदन अति यह ढँग रहति खिलौना से फूटे,
बिरह बिहाल सकल गोपी जन अभरन मनहुँ चटकुटन लूटे।
जल प्रवाह लोचन ते बाढै बचन सनेह आभ्यंतर घूटे,
परमानंद कहौं दुख कासों जैसे चित्र लिखी मति टूटे।[2]

सन्ताप इस अवस्था में बिरही को प्रतीत होता है मानो वह अग्नि में जल रहा है। शरीर में होली सी जलती प्रतीत होती है। परमानन्ददास की गोपियों की भी यही दशा है। वे कहती हैं—

राग कल्याण

हरि बिनु बैरिनि रैंनि बढ़ी,
हम अपराधिनि निठुर बिधाता काहे को सँवारि गढ़ी।
तन मन जोवन वृथा जातु हैं बिरहा अनल डढ़ी,
नंदनंदन को रूप बिचारत निसि घर होरि चढ़ी।
जिहि गोपाल मेरे बस होते सो विद्या न पढ़ी,
परमानन्द स्वामी न मिलें तो घरते भली मढ़ी।

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १६४।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २४८।
३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २५६।

इस दशा में बिरही के शरीर की कान्ति नष्ट हो जाती है और शरीर तेजहीन हो जाता है। एक गोपी अपनी इस दशा को इस प्रकार प्रकट करती है—

पाण्डुता अथवा विवृति

राग गौरी

कहाँ वे तब के दिननि के चैन,
जब गोपाल गोकुल में रहते सुंदर अंबुज नैन।
यद्यपि राम गोप गोपी कुल नव गोधन के ठाट,
ए ब्रज बेन सकल संपति सुख ए जमुना के घाट।
एक कृष्ण बिनु सबहीं दीसतु है चंद्रहीन जैसें राति,
परमानंद स्वामी के बिछुरे गई देह कल काँति।[1]

'एक एक करके अपना गौरव दिखाती हुई ऋतुएँ चली जा रही हैं। हम रात-दिन तारे गिन गिन कर रात काटती हैं। हे नाथ! हम निरन्तर तुम्हारा ही नाम लेती रहती हैं। तुम्हारे वियोग के सन्ताप में हमें चैन नहीं। कभी घर में कभी घाम में, इस प्रकार दिन-रात तुम्हारी प्रतीक्षा करती हैं। आज यदि तुम हमें आकर देखो तो तुम पाओगे कि हमारे शरीर पर केवल हड्डी और चाम रह गये हैं।' इन करुण शब्दों में परमानन्ददास की एक गोपी अपनी इस विरह-अवस्था की कृशता का वर्णन करती है—

कृशता

राग मल्हार

बहुरि हरि आवहुगे किहिं काम,
रितु बसंत अरु मकर बितीते अरु बादर भये स्याम।
तारे गगन गनत री माई बीते चार्यो याम,
और काज सब बिसरि गये हरि लेत तुम्हारो नाम।
छिनु आँगन छिनु द्वारे ठाढ़ी हम सूखत हैं घाम,
परमानंद प्रभु रूप बिचारत रहे अस्थि अरु चाम।[2]

अरुचि-दशा उद्वेग-दशा से भी अधिक बढ़ी हुई होती है। इस दशा में विरही को संयोग-अवस्था की सुखदाई वस्तुओं से घृणा अथवा वैराग्य हो जाता है। न उसे खाना अच्छा लगता है और न पहनना। घर के काम-काजों में जी नहीं लगता। गोपियाँ कहती हैं—

अरुचि

१—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २३६।

२—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद संग्रह से, पद नं० ३२१।

राग सारङ्ग

मारग माधो कौ जोवैं,
वह अनुहारि न देख्यो कोऊ जो नैंनन दुख खोवैं।
बाल बिनोद किये नंदनंदन सुमरि सुमरि गुन रोवैं,
बासर प्रति गृह काज न भावें निस भरि नींद न सोवैं।
अंतर गति की बिथा मानसी सो तन अधिक बिगोवैं,
परमानंददास गोविन्द बिनु अँसुअन जल उर धोवैं।[1]

लौकिक वस्तुओं से वैराग्य तथा केवल कृष्ण-मिलन की उत्कण्ठा में मन की तन्यमता का वर्णन परमानन्ददास ने निम्नलिखित पद में बड़े मार्मिक शब्दों में किया है—

राग आसावरी

मेरो मन गोविंद सों मान्यो ताते और न जिय भावे,
जागत सोवत यहै उत्कंठा कोउ ब्रजनाथ मिलावै।
बाढ़ी प्रीति आनि उर अंतर चरन कमल चित दीनो,
कृष्ण बिरह गोकुल की गोपी घर ही में बन कीनों।
छाँड़े अहार बिहार देह सुख और न चाली काऊ,
परमानंद बसत हैं घर में जैसे रहत बटाऊ।[2]

अधृति की अवस्था में विरही का धैर्य छूट सा जाता है। और मन की ऐसी अस्थिर अवस्था हो जाती है कि वह अपनी विरह-वेदना के कहने में असमर्थता का अनुभव करता है।

अधृति

उसका मन कहीं पर भी नहीं लगता। परमानन्ददास की एक गोपी उद्धव से कहती है—'हे उद्धव! हमारी व्यथा ने हमें कुछ कहने के लिए असमर्थ बना दिया है। अब तक कृष्ण आगमन की अवधि और आशा में हमारे प्राण अटके हुये थे, परन्तु अब धैर्य छूटा जाता है और प्राण अब निकलना ही चाहते हैं। नेत्रों की बहती नदी को तो तुम देख ही रहे हो'—

राग सारङ्ग

ऊधो कछु नाहिन परत कही,
जबतें हरि मधुपुरी सिधारे बहुते बिथा सही।
बासर कलप भये अब मोको रैन न नींद गही,
सुमिरि सुमिरि यह सुरति स्याम की बिरहा बहुत दही।
निकसत प्रान अटिक में राखे अवध्यो जानि रही,
परमानँद स्वामी के बिनु रे नैननि नदी बही।[3]

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २१७।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३३२।
३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २३१।

मनुष्य के क्रिया-कलाप की घटना-स्थली प्रकृति का मानव-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतीय काव्य में प्रकृति का इतना स्वतन्त्र वर्णन नहीं हुआ जितना उसका मानव-भावों के उद्दीपक अथवा उसके क्रिया-कलाप की पृष्ठ-भूमि-रूप में हुआ है। सूरदास, परमानन्द तथा नन्ददास ने जहाँ कहीं गोपी-कृष्ण अथवा अन्य पात्रों के संयोग-सुख और वियोग-दुःख का चित्रण किया है वहाँ उन्होंने भिन्न-भिन्न रूप तथा व्यापारों में व्यक्त होनेवाली प्रकृति का भी वर्णन किया है। संयोग-अवस्था में जिन प्राकृतिक परिस्थितियों में गोपियों ने सुख लूटा था अब कृष्ण-वियोग में वे सब उनकी विरह-वेदना की उद्दीपक बन रही हैं। दिन-रात, छओं ऋतुएँ, मोर, कोकिल, पपीहा, वृन्दाविपिन की कुञ्ज और चाँदनी, ये सब उनको अब दुःखदायी प्रतीत होते हैं। प्राकृतिक व्यापारों के बीच गोपियों के विरह-दुःख की जो परमोज्वल रसधारा सूर के काव्य में बही है वैसी हिन्दी-काव्य में कहीं भी देखने को नहीं मिलती। परमानन्ददास की प्रतिभा भी इस ओर प्रखर है और उन्होंने सूर का बहुत अंश में अनुकरण किया है। परमानन्ददास की एक गोपी कहती है—

वियोग में प्राकृतिक व्यापार

राग विहाग

माई री चंद लग्यो दुःख देन ,
कहाँ वे देस कहाँ वे मोहन कहाँ वे सुख की रैन ।
तारे गिनत गई री सबै निसि नेंकु न लागे नैन ,
परमानन्द प्रभु पिया बिछुरे तें पल न परत चित चैन ।[1]

गोपियाँ रात में कृष्ण का स्मरण करती हैं, दिन में विरहोच्छ्वास से प्रताड़ित रास्ता जोहती रहती हैं। उन्हें सदा मिलन की प्यास सताया करती है—

सोवत सुमिरें श्याम को जागत विरह उसास ,
निसदिन मग जोवत रहैं सदा मिलन की प्यास ।[2]

वर्षा—प्रतीक्षा करते करते दिन गये, महीने गये और अब वर्ष बीतने लगा। वर्षा आगई, परन्तु न कृष्ण आये और न उनका सन्देश। इस बेबसी में एक गोपी कहती है—

राग गौरी

या हरि को संदेस न आयो ,
बरस मास दिन बीतन लागे बिनु दरसनु दुख पायो ।
घन गरज्यो पावस रितु प्रगटी चातुक पीउ सुनायो ,
मत्त मोर बन बोलन लागे बिरहिन बिरह जनायो ।

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३२४ ।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३३१ ।

राग मल्हार सह्यो नहि जाई काहू पथिकहि गायो,
परमानन्ददास कहा कीजे कृष्ण मधुपुरी छायो।[1]

तथा—

राग गौरी

माधो माई मधुबन छाए,
कैसे रहें प्रान गोबिंद बिनु पावस के दिन आए।
हरित बरन बन सकल द्रुम पातें मारग बाढ़ी कीच,
जल पूरित रथ को गम नाहीं बैरिन जमुना बीच।
काके हाथ संदेसो पठऊँ कमल नैन के पास,
आवत जात इहाँ कोउ नाहिंन सुन परमानन्ददास।[2]

पावस में राधा की विकल दशा देख कर उसकी एक सखी बादलों को सम्बोधन करके कहती है—

राग गौरी

बदरिया तू कत ब्रज पर घोरी,
असलन साल सलावन लागी बिधिना लिख्यो बिछोरी।
रहो जु रहो जाओ घर अपने दुख पावत हैं किसोरी,
परमानंद प्रभु सो क्यों जीवे जाकी बिछुरी जोरी।[3]

प्रकृति के व्यापारों में मानव भावों का आरोप तथा उसको सजीव सृष्टि का एक रूप मान कर, सम्बोधन के साथ उससे वार्तालाप करना बुद्धिवाद की दृष्टि से तो पागलपन ही कहा जायगा, परन्तु भाव-जगत में, जहाँ जड़-चेतन का कोई भेद नहीं है और जहाँ सम्पूर्ण सृष्टि एक जीवन-सूत्र से ही बँधी दीखती है, इस प्रकार के व्यापार और वर्णं, प्रकृति और मानव जीवन के घनिष्ट रागात्मक सम्बन्ध की याद दिलाते हैं और हमको अपने व्यक्तिगत जीवन के संकुचित दायिरे से निकाल कर प्रकृति के व्यापक प्राङ्गण में अनेक रूपों के साथ विस्मृत एक रूपता तथा एक जीवन की फिर से अनुभूति कराते हैं। उस समय हम मानों प्रकृति के नानारूपों के साथ सजातीयता में स्वच्छन्द प्रेमालिङ्गन करते प्रतीत होते हैं।

शरद—वर्षा के दिन किसी प्रकार कट गये। पावस की वाण-बौछार ने शरीर घायल कर दिया था, अब शरद-चन्द्र बजाय अमृत का मरहम लगाने के उन घावों पर विष

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २३३।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास पद-संग्रह से, पद नं० २३४।
३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २४८।

की वर्षा कर रहा है, इसमें सन्ताप की मात्रा और भी बढ़ गई है। शरद की रात्रियाँ फीकी हैं। एक गोपी कहती है—

राग गौरी

माई अब तो यह शरद निसा लागत है फीकी,
स्याम सुंदर सँग रहत तबही ये नीकी।
ससिहर संताप कारी बरसत विष बूँदें,
मारुत सुत सुभाय तज्यो दसो दिसा मूँदें।
परमानन्द स्वामी गोपाल परिहरि हम सिखई,
प्रान पयान करन चाहत मिलहु कपट बिषई।[1]

वसन्त—शरद के बाद अपनी शोभा और मोहक शक्ति के साथ ऋतुराज आगया। वृन्दाबन ने भी अपने को सजाया है, मानो कृष्ण आकर उसमें खेल करेंगे। सुगन्धित वायु वहन करने लगा। कामदेव की चारों ओर दुन्दुभी बजने लगी। परन्तु गोपियों का मन इस ऋतु के सुहावने उल्लासों में कसक रहा है। वे पथिक के हाथ सन्देश भेजती हैं— 'हे कृष्ण! तुमने देर क्यों लगा रक्खी है, देखो यह वसन्त भी और ऋतुओं के समान बीता जा रहा है'—

राग सारङ्ग

मधु, माधो, नीकी ऋतु आई,
खेलन योग अबहि वृन्दावन कमल नैंन हरि देखहु भाई।
मंद सुगन्ध बहै मलयानिल कोकिल कूजति गिरा सुहाई,
मदन महीपति कोपि पलानो दुहों दिसि जाकी फिरी दुहाई।
पथिक बीर संदेस हमारे चरन कमल गहि कहियो जाई,
परमानन्द प्रभु औंध बदी ही नाथ कहा औसेर लगाई।[2]

आखिर ऋतुराज भी अपनी घात करके गया; परन्तु कृष्ण ने कोई सुधि नहीं ली; एक पत्रिका भी नहीं भेजी। ग्रीष्म की प्रचण्ड ताप में छाती और भी धधकने लगी है। गोपियाँ विवश हैं, अपनी व्यथा किससे कहें और कहाँ जायँ—

राग सारङ्ग

इतनी दूर मदन मोहन की कबू आवत नाहिंन पाती,
ज्यों ज्यों गहरु करत हैं मधुवन त्यों त्यों धधकत छाती।
गत बसन्त ग्रीषम रितु प्रगटी बनस्पति सब पाती,
चातुक मोर कोकिला कलरव ए विरहिनि के घाती।

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २४१।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १६१।

कहाँ लगि जाँहि कौन सों कहि; बोलि जगावहि राती,
परमानन्द प्रभु चलत न जाने तौ संगहि उठि जाती।[1]

इस प्रकार प्रतीक्षा करते करते गोपियाँ जब विवश होगईं और किसी उपाय से कृष्ण उनके पास नहीं आये तब वे दीनता और विनय की बेबसी में आत्मोत्सर्ग कर सन्देश भेजती हैं—

राग सारङ्ग

कहियो अनाथ के नाथहिं,
श्याम मनोहर सब चाहति हैं बहुरि तुम्हारो साथहिं।
बारबार बिरहिनि ब्रज बनिता सुमिरत हैं गुन गाथहिं,
मुरली अधर लोल कर पल्लव ध्यान करति ओई हाथहिं।
लोचन सजल प्रेम बिरहातुर पुनि पुनि ढोरति माथहिं,
परमानंद मिलन बहुरि कब! दुखित निहारति पाथहिं।[2]

राग गौरी

गोविंद गोकुल की सुधि कीबी,
पहिलेहि नाते स्याम मनोहर इतनीक पाती दीबी।
गाम तुम्हारो देस तुम्हारो भूमि तुम्हारी देवा,
चूक परी अपराध हमारे नाथ न कीनी सेवा।
चंदन भील पुलिंदी के घर ईंधन करि ताहि माने,
परमानंद प्रभु जो जहाँ सो तहाँ जो न महातम जाने।[3]

परमानन्ददास ने, जैसा कि पीछे कहा गया है, गोपी-विरह पर बहुत पद लिखे हैं जिनमें गोपियों की मीठी कसकभरे सुन्दर वर्णन हैं। परन्तु गोपी-उद्धव-संवाद तथा भँवरगीत पर सूर की तरह उनके पद अधिक सङ्ख्या में नहीं है। इस प्रसङ्ग में जैसा ज्ञानयोग और भक्ति तथा निर्गुण और सगुण का तर्क-वितर्क-युक्त वाद-विवाद सूरदास और नन्ददास के काव्य में मिलता है वैसा परमानन्ददास के उपलब्ध पदों में नहीं है। उन पदों में कवि की भावानुभूति ही प्रधान है। चौपाई और साखी छन्दों में कहे हुए परमानन्ददास के भँवर-गीत में भी भाव ही की प्रधानता है। गोपी-उद्धव-संवाद के कुछ पद परमानन्द-काव्य से नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० २२४।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० २११।
३—लेखक के निजी, परमानन्ददास पद-सङ्ग्रह से, पद नं० २४६।

राग सारङ्ग

पतियाँ बाँचेहू न आवें ,
देखत अंक नैन जल पूरे गदगद प्रेम जनावें ।
नंदकिसोर सुहथ अच्छर लिखि ऊधो हाथ पठाए ,
समाचार मधुबन गोकुल के मुख ही बाँचि सुनाए ।
ऐसी दसा देखि गोपिन की भक्त भरम सब जान्यों ,
मन क्रम बचन प्रेम पद अंबुज परमानंद मन मान्यो ।[1]

उद्धव के योग और ज्ञान का उपदेश करने पर परमानन्ददास की एक गोपी उसके तर्कों का थोड़े से शब्दों में उत्तर देती है—

राग सारङ्ग

मेरो मन गह्यो माई मुरली के नाद ,
आसन पवन ध्यान नहिं जानों कोन करै अब वाद बिवाद ।
मुक्ति देहु सन्यासनि को हरि कामिन देहु काम की रासि ,
धर्मिन देहु धर्म को मारग मेरो मन रहै पद अंबुज पासि ।
जो कोउ कहे जोति सब यामें सपने न छुवें तिहारो जोग ,
परमानंद स्याम रँग राती सबै सहों मिलि एक अंग लोग ।[2]

गोपियों की भक्ति से प्रभावित होकर उद्धव वापिस कृष्ण के पास गये और उनको अपना अनुभव बताया—

राग सारङ्ग

ऐसी में देखी ब्रज की बात ,
तुम बिन कान्ह कमल दल लोचन जैसे दूलह बिन जात बरात ।
वेई मोर कोकिला वेई वेई पपीहा हैं बन बोलत ,
वेई ग्वाल गोपिका वेई वेई गोधन कानन डोलत ।
यह सब संपति नंद गोप की तुम्हरे प्रसाद रमा के नाथ ,
परमानंद प्रभु एक बार मिलि यह पतियाँ लिखि मेरे हाथ ।[3]

शृङ्गार-रति की वियोग-दशा के चित्रण के साथ परमानन्ददास ने कुछ पद वात्सल्य-वियोग पर भी लिखे हैं। इन पदों में यशोदा तथा मातृहृदया, वात्सल्य-भाव-धारिणी अन्य ब्रजाङ्गनाओं की विरह- वेदना के चित्र भी अङ्कित किये गये हैं। इस प्रकार के पद भी सूर-काव्य में बड़ी सङ्ख्या में तथा प्रचुर संवेदना युक्त मिलते हैं। नन्ददास ने विरह का वर्णन 'रूप-मञ्जरी', 'रास पञ्चाध्यायी', भँवरगीत तथा 'विरह मंजरी, ग्रन्थों में तो किया है,

---

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २२२ ।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २१२ ।

३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३३३ ।

परन्तु उनके विरह-भाव के द्योतक पद उपलब्ध नहीं है। परमानन्ददास के वात्सल्य-विरह के पद भी भाव पूर्ण हैं। मातृ-हृदया एक गोपी कहती है—

राग सारङ्ग

गोपाल बिनु कैसे कैं ब्रज रहिबो।
धूसर धूरि उठाय गोद लै लाल कौंन सों कहिबो।
जो मधुपुरी दिवस लागत हैं सोच सूल तन सहिबो।
परमानन्द स्वामी कों तजिके सरन कौंन की गहिबो।[1]

परमानन्ददास के काव्य में वर्णन

शब्दों द्वारा, किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना तथा प्रकृति की किसी स्थिति का चित्र उपस्थित करना 'वर्णन' कहलाता है। काव्य में वर्णन को दो प्रकार से स्थान मिलता है, एक किसी कथानक के अङ्ग-रूप में; दूसरे, स्वतंत्र रूप में। कथानक के अन्तर्गत वर्णन, घटनाओं की पृष्ठभूमि के बोध अथवा पात्र का परिचय कराने के लिए होते हैं, या वे कथानक की आगामी घटनाओं के सूचक अग्रदूत बन कर आते हैं। प्रभावशाली और मनोरञ्जक वर्णन चाहे वे कथानक के अङ्ग हों, चाहे व्यञ्जित कथानक से सम्बद्ध हों, और चाहे वे बिलकुल स्वतन्त्र मुक्तक रूप में हों, वे ही होते हैं जो कवि की मनोवृत्ति तथा परिस्थिति की सुखदुःखात्मक धारणा से अनुरञ्जित होते हैं। अष्टछाप के पदों में रूप, और प्रकृति का जो वर्णन है वह न तो स्वतन्त्र वर्णन है और न सिलसिले में वर्णित प्रबन्ध काव्य का अङ्ग है। वे वर्णन कृष्ण-चरित्र के व्यञ्जित कथानक से सम्बद्ध, मुक्तक वर्णन हैं। नन्ददास की प्रबन्धात्मक रचनाओं में अवश्य, वर्णन, व्यक्त कथानक का अङ्ग बने हैं। परमानन्ददास के पदों में भी कृष्ण के रूप-वर्णन और प्रकृति-वर्णन के रूप में वर्णन मिलता है। अष्टभक्तों ने वर्षोत्सवों का भी वर्णन किया है, परन्तु उनमें भी कृष्ण-चरित्र के कथानक का समावेश है, स्वतन्त्र रूप से त्यौहारों के उल्लास का अङ्कन नहीं है। सूरदास और परमानन्ददास ने कृष्ण के बाल-चरित्र के वर्णन के साथ बालकों के खेल, जैसे आँख-मिचौनी, भँवरा, चकडोर आदि का भी वर्णन किया है।

रूप वर्णन

अष्टछाप के सभी कवियों ने कृष्ण और राधा के नखशिख का वर्णन किया है क्योंकि उनके कथानक के मुख्य नायक और नायिका तथा उनके मनमन्दिर के उपास्य देव ये ही दो पात्र हैं। इन दोनों पात्रों की बालरूप-शोभा से लेकर उनके तरुण-रूप-लावण्य तक का इन्होंने वर्णन किया है। बाल्यकाल से लेकर कृष्ण की तरुण अवस्था तक उनके गुण और रूप, ब्रजजनों को उत्तरोत्तर अपनी ओर खींचते चले जाते हैं। कृष्ण की रूपसुधा का जो स्वाद अपने काव्य में इन कलाकारों ने व्यक्त किया है वह सब एक ही स्थान पर वर्णित नहीं है। धीरे-धीरे

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २२०।

नित्य दैनिक जीवन के कार्यों में छिटके हुए प्रेम के भाव ने जैसे जैसे रूप बदले हैं वैसे ही वैसे इनके काव्य में कृष्ण और राधा के रूप की माधुरी अपनी मोहिनी बखेरती चलती है। परमानन्ददास द्वारा वर्णित कृष्ण की बाल-शोभा देखिये।—

राग आसावरी

माई री कमल नयन श्यामसुन्दर झूलत पलना,
बाल लीला गावति सब गोकुल की ललना।
अरुन तरुन चरन कमल नख मनि ससि जोती,
कुटिल कच भँवरा कृत लटकत लट मोती।
अँगुठा गहि कमल पानि मेलत मुख माँहि,
अपनो प्रतिबिंब देखि पुनि पुनि मुसकाहि।
जसोमति के पुन्य पुंज निरखि निरखि लाले,
परमानंद प्रभु गोपाल सुत सनेह पाले।[1]

राग विलावल

नंद जू के लालन की छवि आछी,
चरन पैजनियाँ छुमु छुमु बाजें चलत पूँछ गहि बाछी।
अधर अरुन मुँख दधि सों लपट्यो तन राजत छींटें छाछी,
परमानंद प्रभू की लीला हँसि हँसि कें मुरि पाछी।[2]

अष्टछाप भक्तों ने किशोर-कृष्ण की रूपमाधुरी का सब से अधिक वर्णन कृष्ण के गोचारण से आगमन के समय का किया है। इस बात का सङ्केत गोचारण-लीला के भाव-चित्रण में हो चुका है। सायंकाल गोचारण से लौटते समय, 'जिनकी रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन तैसी'[3] के अनुसार कृष्ण के रूप में यशोदा जैसी मातृहृदया ब्रजाङ्गनाएँ वात्सल्यभाव-भरी सुकुमारता पाती हैं और गोपो जैसी युवतियाँ माधुर्यभाव की मोहिनी तथा रसरूप के उपासक भक्त उस रूप की कल्पना में विश्व-सौन्दर्य तथा विश्व-कोमलता का विराटमय स्रोत देखते हैं। गोचारण से आते समय के कृष्ण-रूप का वर्णन परमानन्ददास ने भी बहुत किया हैं। कृष्ण गौएँ चराकर अपने सखाओं के साथ किलकते हँसते आ रहे हैं—

राग गुर्जरी

वह सुख देख्योहि मोहिं भावे,
मदन गोपाल जगत को ठाकुर बनते जब गृह आवे।
लोचन लोल नासिका सुंदर कुंडल ललित कपोल,
दसन कुंद बिंबाधर राते मधु इव मीठे बोल।

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २१।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० १२।

३—रामचरित मानस, डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० २२८।

कुंचित अधर पीत रज मंडित जनु भवरनि की पाँति,
कमल कोस में ते ढिंग बैठे पंडुर बरन सुजाति।
चंद्रक चारु मुकुट सिर सोभा बीच बीच मनि गुंजा,
गोपी मोहन अभिमत मूरति प्रगट प्रेम के पुंजा।
कंठ कंठमनि स्याम मनोहर पीतांबर बनमाल,
परमानंद श्रवन मनि मंगल कूजत बेनु रसाल।[1]

राग सारङ्ग

बने बन आवत मदन गुपाल,
नृत्तत हँसत हँसावत किलकत संग मुदित ब्रज बाल।
बेंन मुरज उपंग चंग मुख चलत बिबिध सुर ताल,
बाजें अनेक बैनरव संमिलित कुनित किंकिनी जाल।
जमुना तट निकट बंसी बट मंद समीर सुढाल,
राका रजनी विमल ससि क्रीड़त बृंदा विपिन नंद को लाल।
स्याम सुभग तन कनक 'रूपसि' पट उर लंबित बनमाल,
परमानंद प्रभु रसिक सिरोमनि चंचल नैन बिसाल।[2]

राग सारङ्ग

भावै मोहि माधौ की आवनि,
बरहापीड़ दाम गुंजामनि बेनु मधुर धुनि गावनि।
स्याम सुभग तन गोरज मंडित भेष विचित्र बनावनि,
बालक वृंद मध्य नन्द नन्दन आनन्द रासि बढ़ावनि।
बासर अन्त अनन्त संग हित नट गति रूप दिखावनि,
परमानन्द गोपी मन आनन्द बिरह ताप बिसरावनि।[3]

परमानन्ददास के काव्य से राधाकृष्ण की रूप-माधुरी का वर्णन करनेवाले कुछ पद संयोगरति के उद्दीपन के प्रसङ्ग में पीछे दिये जा चुके हैं।

प्रकृति-वर्णन

पीछे कहा गया है कि हिन्दी कविता में प्रकृति-वर्णन, उद्दीपन विभाव की दृष्टि से, जैसे संयोग-वियोग-शृङ्गार के अन्तर्गत बारहमासा, षड्ऋतु वर्णन, कोकिल, मोर, पपीहा आदि अथवा घटनास्थली के चित्र रूप में अधिक हुआ है, स्वतन्त्र वर्णन कम हुये हैं। अष्टछाप में भी प्रकृति का प्रयोग इसी विचार से हुआ है। स्वतन्त्र वर्णन उनके काव्य में भी नहीं है। गोपियों की संयोग तथा वियोग-अवस्था में प्रकृति के व्यापारों का उन पर क्या और

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ८९।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ६७
३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ८१।

कैसा प्रभाव हुआ, यह संयोग तथा वियोग-भाव-चित्रण में दिखाया जा चुका है। कथानकों के अङ्ग अथवा उनके बीच में आनेवाले प्रकृति-वर्णन घटना की परिस्थिति तथा पात्रों की मनोवृति से अनुरञ्जित रहते हैं। भारतीय कवियों ने प्रकृति के अनेक रूपों के मानव के सुख-दुःख में सहगामी तथा उसके क्रिया-कलाप में हस्तक्षेप करनेवाले व्यक्तियों के रूप में चित्रित किया है। निर्जीव पदार्थ तथा विजातीय प्राणियों में अपनी भावना, अपनी अनुभूतियों की छाया और अपने स्वभाव का आरोप करके मनुष्य को एक प्रकार की प्रसन्नता सी हुआ करती है। मनुष्य की इस स्वाभाविक मनोवृत्ति के कारण ही प्रकृति के वर्णनों में मनुष्योचित सजीवता तथा मानव-भावों की अतिरञ्जना रहा करती है। अष्टछाप कवियों के प्रकृति-वर्णनों में भी प्रकृति का सम्बोधन और उनमें मानव व्यक्तित्व का आरोप है।

परमानन्ददास की विरह-विधुरा राधा की सखी जब बादलों से कहती है—'बदरिया तू कत ब्रज पर घोरी'[1] और सूरकाव्य की एक विरहिणी कहती है—'मधुबन तुम कत रहत हरे, विरह वियोग श्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे'[2] तब परमानन्ददास और सूरदास मानव जीवन और प्रकृति-जीवन की एकता की ही स्थापना करते हैं। अष्टछाप कवियों ने गोपी-कृष्ण-रास-वर्णन में भी रास की घटना-स्थली के रूप में प्रकृति का थोड़ा वर्णन किया है। यमुना को देवीस्वरूपा तथा उसको कृष्ण की एक प्रिया मान कर उन्होंने, उसकी प्राकृतिक शोभा के वर्णन के साथ उसकी अनेक स्तुतियाँ भी की हैं। उसी प्रकार परमानन्ददास ने भी यमुना में देव तुल्य भावों का आरोप कर उसकी अनेक स्तुतियों में प्राकृतिक शोभा का वर्णन किया है।

यमुना वर्णन—

राग रामकली

अति मंजुल जल प्रवाह मनोहर सुखावगाह नवदुति, राजति अति तरणिनन्दनी,
श्याम वरण झलक रूप, लोल लहरवर अनूप सेवित संतत मनोज वायु मंदिनी।
कुमुद कंजबन विकास मंडित दिश दिश सुवास, कुंजत अलि हंस कोक मधुर छंदिनी,
प्रफुल्लित अरविंद पुंज कोकिल कलसार गुंज गावत अलि मंजु पुंज विविध वंदिनी।
नारद शिव सनक व्यास ध्यावत मुनि धरत आस, चाहत पुलिनवास, सकल दुःख निकंदनी,
नामलेत कटत पाप मुनिकिन्नर ऋषिकलाप करत जाप परमानन्द महा अनंदिनी।[3]

प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूप और पदार्थों का प्रयोग, वर्णित भाव की प्रभावात्मकता को बढ़ाने तथा वर्णित वस्तु के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए भी उपमान रूप में होता है। इस

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २४८।
२—सूरसागर, वें० प्रे०, पृ० ४८९।
३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद संग्रह से, पद नं० ३९७।

प्रकार के प्रयोग में कुछ कवि वस्तु के आसपास के प्राकृतिक वातावरण तथा प्रकृति के वास्तविक सिद्धान्त की अनुकूलता का ध्यान रखते हैं और वे अपने निरीक्षण और अनुभूति से प्राकृतिक वस्तुओं का वर्णन करते हुए उपमान तथा सादृश्यों का अनुकरण करते हैं। वैसे यह सत्य है कि परम्परागत उपमान तथा प्रकृति के काल्पनिक रूप हमारे काव्य-जीवन के साथ इतने रूढ़ हो गये हैं कि उनके द्वारा भी भाव-तीव्रता तथा स्वरूप-बोधन का कार्य उतनी ही पूर्णता के साथ होता है जितना हमारे देखे हुए और अनुभव में आये हुऐ प्रकृति के पदार्थ और रूपों के द्वारा। अष्टछाप के कवियों ने अपने भाव-चित्रण तथा उसके रूपों का अवर्ण्यरूप में प्रयोग किया है, वहाँ वे प्राकृतिक सिद्धान्तों के बहुधा अनुकूल ही रहे हैं। परन्तु अनेक उपमानों का प्रयोग उन्होंने परम्परा के कोष से ही निकाल कर किया है। जैसे सौंदर्य-वर्णन में उन्होंने चरणों को कमल, और मुख को चन्द्र, कहा है। परमानन्ददास भी फलतः उक्त मार्ग के ही अनुगामी हैं।

पीछे कहे रूप और प्रकृति-वर्णन के अतिरिक्त अष्टछाप कवियों ने वर्ष के त्यौहार जैसे दीपमालिका, होली आदि तथा बालकों के विनोदकारी खेलों जैसे आँख मिचौनी, भँवरा, चकडोरी, चौगान आदि के वर्णन भी किये हैं। त्योहारों के वर्णन-सम्बन्धी इन कवियों के पद वल्लभसम्प्रदायी वर्षोत्सव कीर्तन-संग्रहों में एकत्र मिलते हैं। जैसाकि पीछे कहा गया है, इन वर्णनों में भी त्यौहारों को प्रकृति के किसी परिवर्तन शील व्यापार के द्योतक, अथवा मानव नीरसता तथा एक रसता को हटाकर उसको नवजीवन और नव उत्साह के वर्द्धक, मानकर उनके स्वतन्त्र महत्व का वर्णन नहीं है। इन त्यौहारों में मनाए जाने वाली क्रियाएँ सब कृष्ण चरित्र से ही सम्बद्ध हैं। फिर भी उनके त्यौहारों के वर्णन में तथा बालकों के विनोदकारी खेलों के चित्रणों में सजीवता है। परमानन्ददास जी के वर्षोत्सव पदों में से कुछ पद नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

दीपमालिका— **राग कान्हरो**

आज अमावस दीपमालिका बड़ी पर्वणी है गोपाल,
घर घर गोपी मंगल गावें सुरभी बृषभ सिगारो लाल।
कहत यशोदा सुनो मनमोहन अपने तात की आज्ञा लेहु,
बारो दीपक बहुत लाड़िले कर उजियारो अपने गेह।
हँस ब्रजनाथ कहत मातासों धोरी धेनु सिंगारो जाय,
परमानन्द दास को ठाकुर जाय भावत हैं निश दिन गाय।[1]

गिरिधर हटरी भली बनाई,
दीपावलि हीरा मणि राजत देखे हरख होत अति भाई।

१—वर्षोत्सव, कीर्तन-संग्रह, भाग २, देसाई, पृ० ६।

अनेक भाँति पकवान बनाये अति नौतन व्यंजन सुखदाई,
सुंदर भूषण पहरे सुदरी सौदा करन लाल सों आई।
सावधान ह्वै सौदा कीजै जो दीजै तो तोल पुराई,
राखो चित चंचल नहि कीजै ग्वालिन हँस मुसकाई।
कैसे बोली बोलत ग्वालिन कहत यशोदा माई,
परमानंद हँसी नँद घरनी सबै बात में पाई।[1]

होली—होली के वर्णन पर परमानन्ददास ने बहुत सजीव पद लिखे हैं जिनका उल्लेख संयोग-श्रृङ्गार के वर्णन में पीछे हुआ है और साथ में उक्त स्थल पर परमानन्ददास के काव्य से होली के कुछ पद भी उद्धृत किये गये हैं। कवि के होली के वर्णन बहुधा उसी प्रकार के हैं। कृष्ण के विनोद भरे खेलों का वर्णन—

चकडोरी का खेल— **राग विलावल**

गोपाल माई खेलत हैं चकडोरी,
लरिका पाँच सात संग लीने निपट साँकरी खोरी।
चढ़ घर हों री झरोखा चितयो सखी लियो मन चोरी,
बाँये हाथ बलैया लीनी अपनो अञ्चर छोरी।
चारों नयन मिले जब सन्मुख रसिक हँसे मुख मोरी,
परमानंददास रतिनागर चितै लई रति जोरी।[2]

बङ्गी (लट्टू) खेल— **राग विलावल**

गोपल फिरावत हैं बंगी,
भीतर भवन भरे सब बालक नाना विधि बहुरंगी।
सहज सुभाव डोरी खैंचत हैं लेत उठाय कर पै कर सगी,
कबहुँक करले श्रवण सुनावत नाना भाँति अधिक सुरंगी।
कबहुँक डार देत हैं मुँह में मुखहि बजावत जंगी,
परमानन्द स्वामी मन मोहन खेल सर्‌यो चले सब संगी।[3]

परमानन्ददास जी के काव्य में कला-कौशल

ऊपर परमानन्ददास के काव्य की अन्तरात्मा-भाव-प्रबलता का परिचय दिया गया है। नीचे उनकी भाव-व्यञ्जक कला का परिचय अलङ्कार, भाषा शैली तथा छन्द (अथवा पद) शीर्षकों के अन्तर्गत दिया जाता है—

१—वर्षोत्सव, कीर्तन-संग्रह, भाग २, देसाई, पृ० १४।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ११।

३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से पद नं० १७।

परमानन्ददास तथा नन्ददास ने अलङ्कारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में ही किया है, उन्होंने अपने काव्य को अलङ्कारों के भार और अद्भुत कल्पना की उक्तियों से नहीं लादा। उनके काव्य में सूक्तियाँ हैं जो भाव की सबलता के वितरण के

अलङ्कार

साथ मन का रञ्जन भी करती हैं, उसमें पाण्डित्यपूर्ण चमत्कारोक्तियाँ नहीं हैं। सूर के काव्य में अलङ्कारों का प्रयोग दोनों प्रकार का हुआ है। सूरसागर के साधारण पदों में स्वाभाविक, सरल, सुबोध रूप से अलङ्कारों का प्रयोग है, और उसके दृष्टकूट पदों में क्लिष्ट कल्पना और पाण्डित्यपूर्ण चमत्कार हैं। शृङ्गार-सजावट के विषय में परमानन्ददास अपना मत एक पद में इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

राग सारङ्ग

काहे को ग्वालि सिंगार बनावै, सादिए बात गोपालहिं भावै।
एक प्रीति तें सब गुन नीके, बिनु गुन अभरन सबही फीके।
कनकहि नूपुर लेहि उतारी, पहलें वसन पहरि ब्रजनारी।
हरिनागर सब ही की जाने, परमानंद प्रभु हित की माने।[1]

कवि का आशय यही है कि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए प्रेमभाव मुख्य वस्तु है। अलङ्कार, परिधान आदि की आवश्यकता पीछे है, उसमें भी भगवान् सादगी और अकृत्रिमता पसन्द करते हैं। भक्ति-पक्ष को छोड़ कर कविता-पक्ष में भी कवि ने इसी सिद्धान्त का अनुकरण किया है। इन्होंने अपने काव्य में भाव को प्रधानता दी है। और भावाभिव्यक्ति में स्वाभाविक उक्ति और अलङ्कारों को छोड़ कर वैचित्र्यपूर्ण अलङ्कारों की सजावट का पीछा नहीं किया।

परमानन्द दास ने अपने काव्य में सादृश्यमूलक अलङ्कारों में से उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और दृष्टान्त अलङ्कारों का अधिक प्रयोग किया है। और इनमें भी विशेष प्रयोग रूपक और उत्प्रेक्षा का है। यह पीछे कहा जा चुका है कि अवर्ण्य वस्तु रूप में उन्होंने जिन उपमानों को प्रकृति-क्षेत्र से चुना है वे बहुधा परम्परागत आए हुए उपमान ही हैं। उक्त अलङ्कारों के कुछ उदाहरण कवि की रचना से नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

उपमा— *घन में छिपि रहि ज्यों दामिनि,*

× × ×

परमानंद स्वामी रस भीजी प्रेम मुदित गज गामिनि।[2]

राधा रसिक गोपालहिं भावै।

× × ×

1—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० १५६।
2—लेखक के निजी, परमानन्ददास पद-संग्रह से, पद नं० १३१।

पहेरि कसूंभी कटाव की चोली चन्द्रबधू सी ठाड़ी सोहै
सावन मास भूमि हरियाली मृग नैनी देखत मन मोहै।[1]

रूपक— नयना रहट की घरी रहाई,
करि करि सुरति मदन मोहन की भरि आवें ढरि जाई।[2]

अपने चरण कमल कौ मधुकर मोहू काहे न करहू जू,
कृपावंत भगवंत गुसाईं यह विनती चित धरहू जू।
सीतल आतपत्र की छाया कर अंबुज सुखकारी,
पद्म प्रवाल नयन रतनारे कृपा कटाक्ष मुरारी।
परमानंददास रस लोभी भाग्य बिना क्यों पावै,
जाकों द्रवत रमापति स्वामी सो तुम्हरे ढिंग आवै।
पिछोरा खासा को कटि बाँधे,
वे देखो आवत नंदनंदन नैन कुसुम सर साधे।[3]

उत्प्रेक्षा—पिछोरा खासा को कटि बाँधे,
× × ×
चलत चारु गति रूप मनोहर जनु नटवा गुन बाँधे।[4]

चितै धों हरि के बदन की ओर,
चन्द्रकोटि वारूँ या ऊपर यथा साह बे चोर।
असित अरुन उज्ज्वल दीसत हैं दोऊ नैन के कोर,
मानों रस्मि पान के कारन बैठे निकट चकोर।[5]

वह मुख देख्योहि मोंहि भावै,
× × ×
कुञ्चित केस पीत रज मंडित जनु भँवरनि की पाँति,
कमल कोस में ते ढिंग बैठे पंडुर बरन सुजाति।[7]

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २६७।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ३१८।
३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ३१३।
४—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ८७।
५—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ८७।
६—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३०।
७—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ८९।

मदन गोपाल देखि री माई।
× × ×
अरुन अधर धृत मधुर मुरलिका तैसीए चन्दन तिलक निकाई,
मानों द्वितीया उदित अर्धससि निकसि जलद में देत दिखाई।
अद्भुत मनि कुंडल कपोल मुख अद्भुत उठत परस्पर झाई,
मनु बिधु मीन बिहार करत दोउ जल तरङ्ग में चलि चलि जाई।
× × ×
सोभा और कहाँ लौं बरनौं परमानंददास सुखदाई।[1]

दृष्टान्त—सहज प्रीति गोपालहि भावै।
× × ×
सहज प्रीति कमलनि अरु भानैं, सहज प्रीति कुमुदिनी अरु चंदे,
सहज प्रीति कोकिला बसंतैं सहज प्रीति राधा नंद नंदैं।
सहज प्रीति चातक अरु स्वातें सहज प्रीति धरती जल धारें,
मन क्रम बचन दास परमानंद सहज प्रीति कृष्ण अवतारें।[2]

प्रतीप—विमल जसु वृन्दाबन के चंद को,
कहा प्रकास सोम सूरज को जैसो मेरे गोविंद को।[3]

भाव के उत्कर्ष को बढ़ाने तथा भावनानुभूति की तीव्रता लाने के लिए भी कुछ अलङ्कारों का प्रयोग होता है, जैसे अतिशयोक्ति, निबन्धता, विभावना, स्वभावोक्ति, विषम आदि। परमानन्ददास के काव्य में इस प्रकार के अलङ्कारों का भी प्रयोग हुआ है। इन अलङ्कारों से युक्त कवि की उक्तियाँ पाठक को कभी भाव मग्न करती हैं तो कभी बुद्धि और कल्पना चमत्कार की प्रशंसा में उछाल देती हैं। उनके बालभाव के अनेक पदों में स्वभावोक्तियाँ इतनी सुन्दर बनी हैं कि पाठक पढ़ते ही बालभाव की स्वाभाविक माधुरी की अनुभूति करने लगता है। इस प्रकार के कुछ अलङ्कारों के उदाहरण उनके काव्य से दिये जाते हैं—

स्वभावोक्ति—रहि री ग्वालि जोबन मदमाती,
मेरे छँगन मँगन से लालहिं कत लै उछंग लगावति छाती।
खीजत ते अबहीं राख्यो है, नान्ही उठत दूध की दाँती,
खेलन दे, घरु जाय आपने, डोलति कहा इतो इतराती।
उठि चली ग्वालि, लाल लागे रोवन, तब जसोमति ल्याई बहुभाँती,
परमानंद ओट दे अंचर फिरि और नैंननि मुसकाती।[4]

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १२८।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १६७।
३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ४६०।
४—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २५।

ढोटा रंचक माखन खायो ,
काहे कोहरहि होति ग्वालिनि सब ब्रज गाजि हलायो ।
जाको जितनो तुम जानति हो, दूनों मोपै लेहु ,
मेरो कान्ह इहै एकलौतौ सबै असीस मिति देहु ।
कमल नैंन मेरी अँखियन तारो कुल दीपक ब्रज गेह ,
परमानंद कहति नंदरानी सुत प्रति अधिक सनेह ।[1]

विभावना— माइ अब तौ यह शरद निसा लागत है फीकी ।
ससिहर संताप कारी बरसत विष बूँदें ,
मारुत सुत सुभाय तज्यो दसों दिसा मूँदें ।[2]

भेदकातिशयोक्ति तथा विभावना—
ब्रज की और रीति भई ,
प्रात समै अब नाहिन सुनियत प्रति गृह चलत रई ।
ससि की किरन तरनि सम लागति जागत निसा गई ,
उद्भट भूप मकरकेतन की आज्ञा होति नई ।
वृन्दाबन की भूमि भावती ग्वालनु छाँड़ि दई ,
भेदकातिशयोक्ति—परमानंद स्वामी के बिछुरें विधि कछु और ठई ।[3]

असङ्गति— मुख अति मधुर मैल मन माहीं ।[4]

अन्योक्ति— वैसे अष्टछाप का सम्पूर्ण काव्य अन्योक्ति रूप में ही प्रकट हुआ है। गोपियों के भाव भक्त-स्वरूपा आत्माओं के भाव हैं और कृष्ण ईश्वर है । परन्तु कुछ पदों में अन्योक्ति भाव की रहस्यानुभूति अधिक प्रभावशालिनी है और उसमें ध्वनि के सहारे इङ्गित अर्थ अधिक मुग्धकारी है ।

तुमको टेरि टेरि मैं हारी ,
× × ×
भूलि परी आवत मारग में क्यों हूँ न पैड़ो पायो ,

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ४७ ।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २४१ ।
३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २४१ ।
४—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३२६ ।

बूझत बूझत यहाँ लों आई, तब तुम बेनु बजायो।
देखो मेरे अंग पसीना, उरु को अञ्चल भीनों,
परमानद प्रभु प्रीति जानि के धाय आलिगन कीनों।[1]

इस पद में परमात्मा के लिए आत्मा की खोज का भाव है।

तथा—ललन उठाइ देहु मेरी गगरी,

× × ×

यमुना तीर अकेली ठाढ़ी दूसरो नाहिंन कोऊ,
जासों कहों स्याम घन सुदर संगब नाहिनें सोऊ।
नदकुमार कहै ठाढ़ी ह्वै कछुक बात करि लीजे,
परमानंद प्रभु संग मिलि चले बातनि के रस भीजे।[2]

स्मरण—गोपियों के विरह-भाव के वर्णन में परमानन्ददास ने इस अलङ्कार का प्रयोग कर वियोग की स्मृति दशा का सुन्दर चित्रण किया है—

पून्यो चंद देखि मृगनैनी माधो कौ मुख सुरति करें,
रास विलास सँभारति पुनि पुनि सीस ढोर अरु नैन भरें।

× × ×

ओई दिन बहुरि कब करिहैं रहसि बाँह कर कमल धरें,
परमानंद स्वामी के बिछुरे मलिन बदन अरु हृदो जरें।[3]

रैनि पपीहा बोल्यो री माई,
नींद गई चिंता चित बाढ़ी सुरति स्याम की आई।
सावन मास देखि बरषा रितु हों उठि आंगन धाई,
गरजत गगन दामिनी दमकत तामें जीउ उड़ाई।
राग मलार कियो जब काहू मुरली मधुर बजाई,
बिरहिन विकल दास परमानन्द धरनि परी मुरझाई।[4]

इस अलङ्कार के द्योतक परमानन्द के काव्य में अनेक पद हैं।

१—'अष्टछाप-भक्ति' के प्रकरण में, 'अर्चन-भक्ति' के अन्तर्गत उद्धृत किया जा चुका है।—लेखक के निजी, परमानन्दास-पद-संग्रह से, पद नं० ४२७।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २१०।

३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २६०।

४—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३२३।

शब्दों के उच्चारण में सरसता तथा प्रवाह के गुणों को देनेवाला अनुप्रास अलङ्कार भी परमानन्ददास की भाषा में प्रयुक्त हुआ है, वस्तुतः परमानन्ददास तथा नन्ददास दोनों की भाषा बहुत श्रुति मधुर है। दोनों कवियों ने स्वाभाविक अनुप्रास के प्रयोग से भाषा के मोहक प्रभाव को बढ़ा दिया है। भाषा में नाद-सौन्दर्य का मुग्धकारी रूप तो अष्टछाप कवियों की सम्पूर्ण रचनाओं में मिलता है, परन्तु नन्ददास की रास-पञ्चाध्यायी में यह गुण सब से अधिक है। संस्कृत में जयदेव, मैथिल भाषा में विद्यापति और ब्रज भाषा में नन्ददास भाषा के मधुर गुण के लिए सदैव प्रसिद्ध रहेंगे। अनुप्रास अलङ्कार के कुछ उदाहरण परमानन्ददास के काव्य से यहाँ उद्धृत किये जाते हैं —

अनुप्रास—*बंदसि बनी कमल दल लोचन,*
चितवनि चारु चतुर चिंतामनि त्रिन गुन चाप मदन सर मोचन।
× × ×
नंदकिसोर कूल कालिंदी संग गोपाल सभा में मण्डन,
परमानन्ददास बलिहारी जै जगदीश कंस कुल खण्डन।[1]

रैनि पपीहा बोल्यो री माई,
नींद गई चिंता चित बाढ़ी सुरति स्याम की आई।[2]

पौराणिक उल्लेख

भाव को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण रूप में अथवा वर्ण्य वस्तु के सादृश्य के लिए उपमान-रूप में, कवि कभी-कभी इतिहास अथवा पुराण में प्रसिद्ध कथा, व्यक्ति अथवा घटनाओं को लेकर भी उनका उल्लेख अपने काव्य में करता है। कवि के भाव को ग्रहण करने से पहले पाठक को उक्त कथा, घटना अथवा व्यक्ति का परिचय होना आवश्यक है अन्यथा कवि-भाव की पूरी प्रबलता को वह नहीं समझ पाता। विदेशी काव्यों में इस प्रकार की कठिनाई पाठकों को बहुधा होती है। अपने समाज और देश की पुरानी कथाएँ तो हम बचपन से ही सुनते रहते हैं। अष्टछाप कवियों ने प्राचीन पौराणिक कथा तथा व्यक्तियों का उल्लेख उक्त आशय की पूर्ति के लिए भी किया है। सूरदास और परमानन्द दास के किसी किसी पद में ये पौराणिक उल्लेख इतने अधिक आ जाते हैं कि पद का पूरा कवित्व उभरने की अपेक्षा दब जाता है। उदाहरण के रूप में परमानन्द दास के काव्य से पौराणिक उल्लेख वाले पद उद्धृत किये जाते हैं—

1—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १२४।
2—लेखक के निजी परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३२३।

राग सारङ्ग

जाको तुम अंगीकार कियो,
तिनके कोटि विघन हरि टारे अभै प्रतापु दियो।
बहु सासना दई प्रह्लादै सबहिं निसंक जियो,
निकसे खम्भ मध्य से नर-हरि आपुन राखि लियो।
दुर्वासा अम्बरीष को सतायो सो पुनि सरन गयो,
राखि प्रतिज्ञा मदन मोहन उन ही पै पठै दयो।
मृतक भये हरि सबै जिवाये दृष्टिहि अमृत पियो,
परमानन्द भगत के बस सो, उपमा कौन बियो।[1]

राग सारङ्ग

ताते तुमारो मोहि भरोसो आवै,
दीन दयालु पतित पावन जसु वेद उपनिषद गावै।
जो तुम कहो कोन खल तारे तो हों जानों साखि,
पुत्र हेत हरि लोक चल्यो द्विज सक्यो न काहू राखि।
गनिका कहा कियो व्रत संजम शुक हित मनहि खिलावै,
कारन करि सुमिरे गज बपुरो ग्राह परम गति पावै।
कठिन आपदा तें द्विज पतनी पति द्वारिका पठावै,
ऐसो को ठाकुर जे जन कों सुख दै भलौ मनावै।
देखे दुखित सुत कुबेर के तिनतें आप बँधावै,
करुना नाथ अनाथ बंधु बिनु इह मोह सर को है आवै।
ऐसे दुष्ट देख हरि राक्षस दिन प्रति त्रास दिखावै,
सिसु प्रह्लाद प्रगट हित कारन इंद्र निसान बजावै।
द्रुपद सुता दुष्ट दुर्योधन सभा माँहि दुख द्यावे,
ऐसी करे कौन पै होवै बसन प्रवाह बहावै।
बकी गई इह भाँति घोष में जसोदा की गति दीनी,
जे मति कही शुक प्रगट व्याघ की प्रभु जैसी तुम कीनी।
अभय दान दीवान प्रगट प्रभु साँचो बिरद बुलावे,
कारन कौन दास परमानंद द्वारे दाद न पावे।[2]

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से पद नं० ३१०।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३०१।

भाषा-शैली

अष्टछाप का सम्पूर्ण काव्य ब्रज-भाषा में लिखा गया है। सूरदास और परमानन्द-दास ब्रज भाषा के अग्रगामी काव्यकार हैं। आयु में यद्यपि कुम्भनदास जी इन दोनों कवियों से बड़े थे, परन्तु 'वार्ता' से विदित होता है कि काव्य-रचना सूर और परमानन्ददास ने ही पहले आरम्भ की थी। ये दोनों कवि वल्लभ-सम्प्रदाय में आने से पहले भी पद बनाते थे। ब्रजभाषा की प्रथम रचना होने पर भी सूर और परमानन्द की भाषा में काव्य-भाषा के सभी गुण विद्यमान हैं। इन दोनों कवियों में भी अधिक श्रेय सूर को ही है, क्योंकि इनकी कविता तथा पद-भाषा की ख्याति इनके जीवन काल में ही हो गई थी। आगे की पङ्क्तियों में परमानन्ददास की भाषा-परीक्षा निम्न लिखित दृष्टियों से की जायगी—भाषा में (१) भावात्मकता। (२) चित्र उपस्थित करने की क्षमता। (३) आलङ्कारिकता तथा ध्वनि के सहारे साङ्केतिकता। (४) सजीवता तथा। (५) प्रवाह और लय।

भाषा में भावात्मकता

परमानन्ददास की भाषा में भावमत्ता का गुण एक बड़ी मात्रा में है। भाव के अनुकूल ही उन्होंने शब्दों का चयन किया है। परमानन्ददास के काव्य-विवेचन से यह ज्ञात है कि उन्होंने कृष्ण-लीला के सरस और प्रभावपूर्ण प्रसङ्गों पर ही पद लिखे हैं। कृष्ण चरित्र के पराक्रमपूर्ण कथा भाग को छोड़ दिया है। इसलिए उनके सम्पूर्ण काव्य की भाषा सरस और भाववाहिनी ही है। कर्णकटु शब्दों का कहीं भी प्रयोग उन्होंने नहीं किया है। वात्सल्य और रति भावों की व्यञ्जना में भाषा की मधुरावृत्ति ही प्रधान है। वात्सल्य भाव के विनोद और सुकुमार चित्रों में कवि की भाषा सरल और पद-विन्यास विनोदकारी हैं। संयोग-शृङ्गार के रास और होली के वर्णनों में भाषा का रूप भी उन्मत्त और उमङ्ग भरा प्रतीत होता है, नखशिख-रूप-वर्णन में भाषा में कुछ आलङ्कारिकता है और विरह के पदों में शब्दावली सरस, मधुर तथा शोक की दीनता और 'बेबसी' से भरी गम्भीरता की द्योतक है। कवि की भाषा की 'भावमयता' का गुण भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों से उद्धृत पदों से ज्ञात होगा। भाषा में भावुकता लाने के लिए कवि ने मानव जीवन से इतर सम्पूर्ण सृष्टि के पदार्थों में मानवीय भावों का आरोप भी किया है और उनको मनुष्यवत् सम्बोधन करके भाव के उत्कर्ष को बढ़ाया है—

वात्सल्य भाव की शब्दावली— **राग आसावरी**

माई मीठे हरि के बोलना,
पाँय पैंजनियाँ रुनझुन बाजें आँगन आँगन डोलना।
कज्जर तिलक कंठ कठुला मनि पीताम्बर को चोलना,
परमानंददास को ठाकुर गोपी झुलावत मो ललना।[1]

१—लेखक के निजी, परमानन्दास-पद-संग्रह से, पद नं० २२।

इस पद में 'बोल या बात' शब्द के स्थान पर उसका लघुत्व प्रकट करने के लिए कवि ने 'बोलना' शब्द का प्रयोग किया है। इसी प्रकार 'चोलना', 'पैंजनियाँ' तथा 'ललना' शब्द भी शिशुता भाव के सहगामी ही बन रहे हैं। 'आँगन आँगन डोलना' के पुनरुक्ति-प्रकाश-कथन में कवि ने बालक के कभी इधर कभी उधर चलने का भाव भरा है, बालक छोटा है इसीलिये वह आँगन में ही रहता है। पद की शब्दावली वात्सल्य भाव की पूर्ण द्योतक है।

बाल-विनोद--बालकों की सहज क्रीड़ा, भोले कृष्ण का माता से बलभैया की शिकायत करना, माता का सरल भाव और उसका अन्धविश्वास, इस सम्पूर्ण विनोदकारी चित्र के भाव को सामने लाने वाली शब्दावली निम्नलिखित पद में है। शब्दों का उतार चढ़ाव और पुनुरुक्ति, भाव के वेग का प्रकाशन कर रही है।

राग धनाश्रिरी (धन्याश्री)

देखिरी रोहनी मैया, ऐसे हैं बल मैया, जमुना के तीर मोकों चुचुकाय बुलाओ,
सुबल श्रीदामा साथ, हँस हँसि मिलवें बात, आपु डरप्यो और मोहूँ डरपायो।
जहाँ तहाँ बोलें मोर, चितवे तिनकी ओर, भाजो रे भाजो भैया उहि देखो आयो,
आपु चढ़े तरु पर, मोहिं छाँड़यो घर तर, घर घर छाती करै घरु हूँ को धायो।
लपाक लियो उठाय, उर सों रही लगाय, मेरो, री मेरो, काह हियो भरि आयो,
परमानंद बोले द्विज, वेद मंत्र पढ़ि पढ़ि बछिया की पूँछ सों हाथ दिवायो।[1]

यहाँ 'हँसि हँसि मिलवें बात' वाक्य में एक गुट्ट बना कर. ऊपर से चिढ़ाने के लिए हँसने वाले और गुप्त रूप से कूट मन्त्रणा करनेवाले बालकों का विनोद इङ्गित है। इस विनोद का वेग इस शब्दावली के साथ और भी बढ़ जाता है, 'भाजो रे भाजो भैया उहि देखो आयो'। यहाँ क्या आया, हऊआ या मोर या कोई भयानक और हिंसक पशु? इस भाव को कवि ने प्रकट नहीं किया, क्योंकि यहाँ तो खाली बन्दूक छोड़ कर डराने का भाव लाना था। वास्तव में बालकों के सामने कोई डरावनी वस्तु नहीं थी। छोटा अबोध बालक कृष्ण, कल्पना में किसी भयानक जीव (सम्भव है हउआ) का अनुमान कर डर गया और हड़बड़ा कर घर की ओर दौड़ा।

होली की उमंग—*खेलत गिरिधर रँगमगे रँग,*
गोप सखा बनि बनि आए हैं हरि हलधर के सँग।

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १८।

बाजत ताल मृदङ्ग झाँझ डफ मुरली मुरज उपंग,
अपनी अपनी फेंटन भरि भरि लिये गुलाल सुरंग।
पिचकाई नीकें करि छिरकत गावत तान तरंग,
उत आईं ब्रज बनिता बनि बनि मुक्ताफल भरि मंग।
अंचरा उरसि कंचुकी कसि कसि राजत उरज उतंग,
चोवा चन्दन बन्दन लै मिलि भरत भामते अंग।
किशोर किशोरी दोउ मिलि बिहरत इत रति उतहि अनंग,
परमानन्द दोऊ मिलि बिलसत केलि कला जू निसंग।[1]

इस सम्पूर्ण पद की शब्दावली स्वच्छन्द यौवन की उन्मत्त उमङ्ग की द्योतक है।

रूपशृङ्गार की शब्दावली— रूप-शृङ्गार-वर्णन में भाषा की आलङ्कारिकता भी दर्शनीय है।

राग सारङ्ग

बन्दसि बर्नौ कमल दल लोचन,
चितवनि चारु चतुर चिंतामणि बिन गुन चाप मदन सरमोचन।
कटि पीताम्बर लाल उपरेना माथे पाग मनोहर कुण्डल,
मुक्ता कण्ठ हाथ में बीरा पाय पाउरी गति ब्रज मङ्गल।
नन्द किसोर कूल कालिंदी सङ्ग गोपाल सभा में मण्डन,
परमानन्ददास बलिहारी जै जगदीश कंस कुल खण्डन।[2]

विरह की करुण कथा की सरल शब्दावली—

राग सारङ्ग

किते दिन भए रैनि सुख सोए,
कछू न सुहाय गोपाल बिछूरे, रहे पूँजी सी खोए।
जबते गए नन्दलाल मधुपुरी चीर न काहू धोए,
मुख न तँबोर, नैन नहिं कज्जर बिरह समीर बिगोए।
ढूंढ़त बाट घाट बन पर्वत जहाँ जहाँ हरि खेल्यो,
परमानन्द प्रभु अपनो पीताम्बर मेरे सिर पर मेल्यो।[3]

इस पद में शब्दावली चित्त की मलिनता की द्योतक है। 'बिगोए' शब्द में अपनी अकथनीय क्षति और उपाय की किङ्कर्तव्यविमूढ़ता के साथ बेबसी का भाव निहित है।

१—कीर्तन-संग्रह, भाग ३, वसन्त-धमार, देसाई, पृष्ठ ३५।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १२१।
३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १३२।

सूर की तरह मनोविज्ञान के पारखी कवि परमानन्ददास की कल्पना शक्ति भी, उपयुक्त शब्दावली के योग द्वारा भिन्न भिन्न भावों के सजीव चित्र अङ्कित करने में पूर्ण सफल हुई है। उनके पदों में शब्द और वाक्यों की सजावट

भाषा में चित्रमयता

तथा उनका उतार-चढ़ाव, पूरे भाव का संकेत करते हुए अभीष्ट चित्र को अङ्कित करते हैं, यहाँ तक कि पात्रों के कथनों से उनकी भावभङ्गी का भी दृश्य सामने आ जाता है। चित्र उपस्थित करने की क्षमता में वस्तुतः सूर, परमानन्द और नन्ददास तीनों ही कवि सिद्धहस्त हैं। इनकी भावानुकूल शब्दावली केवल भाव ही का संक्रमण नहीं करती, किन्तु हमारी कल्पना के सामने एक दृश्य उपस्थित कर देती है। पीछे 'भाव व्यञ्जना' के अन्तर्गत परमानन्ददास के ऐसे कुछ शब्द चित्र दिये जा चुके हैं। इस प्रकार की शब्दावली के द्योतक कुछ पद यहाँ और दिये जाते हैं। नन्द का सुन्दर लाडिला बालक पैरों की पैंजनियाँ घूम-घूम बजाता हुआ गोवत्स की पूँछ पकड़कर जा रहा है। उसके लाल-लाल होठ हैं, मुख पर दही लिपटा है और शरीर पर छाछ की छींटें पड़ी हैं। वह किलक-किलककर हँसता हुआ, पीछे मुड़-मुड़कर कदाचित् नन्द को देखता जाता है। इस लीला-दृश्य पर मुग्ध भक्त परमानन्ददास इसका शब्द-चित्र इस प्रकार देते हैं—

राग विलावल

नन्द जू के लालन की छबि आछी,
चरन पैजनियाँ छुमु छुमु बाजें चलत पूँछ गहि बाछी।
अधर अरुन मुख दधि-सों लपट्यो तन राजति छींटे छाछी,
परमानन्द प्रभू की लीला, हँसि हँसि कै मुरि पाछी।[१]

दानलीला का चित्र--

राग विलावल

नन्द नन्दन दान निबेरत,
राखीं रोकि दधि समेत ग्वालिनी, सखा वृन्द प्रति टेरत।
जब उठि चलत प्रबल गोपी जन, तब आगें उठि घेरत,
बाँधि जठर पट पीत ललित गति कर लै लकटी फेरत।
काहू के भुज अंचल गहि गहि सबहिन को मन फेरत,
परमानन्द प्रभु रसिक शिरोमनि मुसकत निरखत हेरत।[२]

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १२।
२—वर्षोत्सव, कीर्तन-संग्रह, भाग १, देसाई, पृष्ठ २२०।

विरह से व्याकुल विरहिणी का सजीव चित्र—

राग केदारो

रैनि पपीहा बोल्यो री माई,
नींद गई चिंता चित बाढ़ी सुरति स्याम की आई।
सावन मास देखि वर्षा रितु हों उठि आँगन धाई,
गरजत गगन दामिनी दमकत तामें जीउ उड़ाई।
राग मलार कियो जब काहू मुरली मधुर बजाई,
बिरहिन बिकल दास परमानन्द धरनि परी मुरझाई।[1]

पीछे कहा गया है कि परमानन्ददास की भाषा सरल, सुबोध और मधुर है। इसमें कृत्रिम आलङ्कारिकता अथवा शब्दों का जाल नहीं है। रीतिकालीन कवियों की रचना में भाषा-सौष्ठव के साथ कृत्रिम आलङ्कारिकता बहुत है। परमानन्ददास ने अपनी भाषा को स्वाभाविक तथा श्रुतिमधुर अनुप्रास के प्रयोग से प्रवाहमयी बनाया है। परन्तु अनुप्रास का नाद-सौन्दर्य, शब्दों के भाव को दबने नहीं देता। पद्माकरी भाषा की तरह, भावावली को पीछे छोड़कर 'चकार' और 'हकार' की पटरी पर उनकी भाषा का इञ्जन नहीं दौड़ता। सूरदास ने अपने दृष्टकूट पदों में श्लेष और यमक अलङ्कारों के प्रयोग से शब्दों पर खेल किया है। सूरदास की भाषा में एक ओर अकृत्रिम सरलता है तो दूसरी ओर बनावटी कठोरता भी है। परमानन्ददास की भाषा सर्वत्र स्वाभाविक आलङ्कारिकता के साथ प्रसाद गुण-पूर्ण है। कहीं-कहीं शब्दों में अर्थ का संकेत है और लाक्षणिक ध्वनि है, परन्तु उन स्थानों पर क्लिष्ट कल्पना नहीं है और न व्यङ्ग्यध्वनि लाने के लिए श्लेष आदि अलङ्कारों का सहयोग लिया गया है। स्वाभाविक अलङ्कार और सरल, सुपरिचित शब्दों के चतुर प्रयोग ने ही भूरि भाव को ध्वनित कर दिया है। नीचे के पद में अकृत्रिम शब्दावली में कितना भाव खिल रहा है।—

आलङ्कारिकता

राग विलावल

चलि उठी, कुंज भवन तें भोर,
डगमगात लटकत लट छूटे पहिरे पीत पटोर।
अरुन नैन घूमत आलस बस मनु रस सिंधु हिलोर,
गिरि गिरि परत गलित कुसुमावलि सिथिल सीस कच डोर।

× × ×

परमानन्द प्रभु रमी निसा अब लपटि हँसी मुख मोर।[2]

सजीवता भाषा का सबसे बड़ा गुण होता है। इस गुण की स्थिति भाषा के शिष्ट

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३२३।

२—लेखक के निजी, परमानन्ददास पद-संग्रह से पद नं० १४२।

तथा प्रचलित शब्द और रूपों के प्रयोग तथा लाक्षणिक मुहावरों के समुचित समावेश पर निर्भर होती है। जिस काव्य-भाषा में कवि के समय की अप्रचलित शब्दावली और अपरिचित व्याकरण का प्रयोग है वह सजीव नहीं कही जा सकती है। प्राचीन कवियों की भाषा की सजीवता की जाँच, वर्तमान समय में, भाषा का रूप बदलने के कारण, सम्भव है, हम भली प्रकार न कर सकें, परन्तु किसी समय के कवियों की उस भाषा की जाँच से, जो प्राचीन हस्तलिखित पोथियों में सुरक्षित चली आती है, इस बात का पता हम अवश्य लगा सकते हैं कि उस भाषा का अमुक रूप उस समय में प्रचलित था अथवा नहीं। अष्टछाप की ब्रजभाषा में तथा आधुनिक ब्रजभाषा में बहुत अधिक अन्तर नहीं हुआ है। अष्टछाप की भाषा में वर्तमान प्रचलित ब्रजभाषा का सुन्दर रूप बहुत अंश में मिलता है। अष्टछाप कवियों की, एक दूसरे की भाषा में भी बहुत बड़ी समानता है। वार्ता-साहित्य से विदित है कि अष्टछाप के पद दूर-दूर प्रदेशों में अपनाये और समझे जाते थे। इसलिए कहा जा सकता है कि अष्टछाप की ब्रज भाषा साहित्यिक होते हुए भी अपने समय की प्रचलित तथा सजीव भाषा थी। कोमल-कान्त-पदावली, श्लेष, यमक, पर्यायोक्ति आदि अलङ्कारों के सहारे भाषा में अर्थ-गाम्भीर्य, ध्वनि तथा कठिन और अप्रचलित शब्दों के प्रयोग से पाण्डित्य, की विद्यमानता को भले ही लोग साहित्यिक भाषा का रूप मान लें, परन्तु इस प्रकार की भाषा को कभी भी सजीव नहीं कहा जा सकता। सूर के दृष्टकूटों की भाषा कवि के समय की प्रचलित सजीव भाषा नहीं है। जो भाषा सूर ने बाल और विरह वर्णन में और परमानन्ददास तथा नन्ददास ने अपने सम्पूर्ण काव्य में लिखी है वह उस समय की सजीव साहित्यिक ब्रज-भाषा है। इन कवियों ने, संस्कृत से शब्द लिये हैं, विदेशी प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है और कुछ संस्कृत शब्दों के नये रूप भी गढ़े हैं परन्तु वे सब ब्रजभाषा के व्याकरण से बँधे हैं। इसलिए उस भाषा में वे शब्द आत्मसात् किये हुए से ही प्रतीत होते हैं।

भाषा में सजीवता

परमानन्ददास की भाषा में हमें सर्वत्र सजीवता मिलती है। उनकी भाषा में अधिक शब्दावली ऐसी है जो अब भी ब्रज प्रान्त में प्रचलित है। उन्होंने तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत ही कम किया है। बहुधा भाषा के मूल रूप अथवा ब्रज-भाषा के रङ्ग में रँगे संस्कृत शब्दों का ही उन्होंने प्रयोग किया है। 'मटुकिया,' 'लकुटिया,' या 'गागरि,' 'अँचरा' आदि अनेक शब्द ऐसे हैं जो वर्तमान ब्रजभाषा की ठेठ माधुरी से पूर्ण है। ब्रजभाषा में बहुधा 'ण' अक्षर 'न' में बदल दिया जाता है, यही नियम हमें परमानन्द दास की भाषा में मिलता है। मणि के स्थान पर मनि, 'कंकण' के स्थान पर कंकन,' निर्गुण के स्थान पर निर्गुन, इसी प्रकार रेनु, चरन आदि शब्द हैं। विभक्तियों के प्रयोग में ब्रजभाषा में कर्मकारक के रूप के लिये 'कौं' या 'कूँ' शब्द प्रयुक्त होते हैं परन्तु साथ ही साथ, 'को' के स्थान पर संज्ञा अथवा सर्वनाम शब्द में ही 'ऐ' या 'ऐं' जोड़ कर अथवा 'हि' लगाकर कर्मकारक का रूप बन जाता है। जैसे—

ब्रज रूप	ब्रज रूप	ब्रज रूप	खड़ीबोली रूप
छोराकों, या कू	छोराऐ	छोराहि	छोरा को
चंदा कों या कू	चन्दाऐ	चंदाहि	चंदा को
चंद कों या कू	चंदे	चंदहि	चंद को
ग्वा कों या कू	ग्वाऐ	ग्वाहि	उसको
वाकों या कू	वाए	वाहि	उसको

इसी प्रकार के प्रयोग परमानन्द दास के काव्य में भी पाये जाते हैं। उन्होंने द्वितीया का कारकचिन्ह 'कों' का भी प्रयोग किया है तथा शब्द में 'ऐ' और 'हि' लगा करके भी द्वितीया का रूप बनाया है। जैसे—

राग वसन्त

सहज प्रीति 'गोपालहि' भावै ,
मुख देखे सुख होत सखी री प्रीतम नैन सों नैन मिलावै।
सहज प्रीति कमलनि अरु 'भानें' सहज प्रीति कुमुदिनि अरु 'चंदै' ,
सहज प्रीति कोकिला 'बसन्तैं', सहज प्रीति राधा नन्द 'नन्दै'।
सहज प्रीति चातक अरु 'स्वातें' सहज प्रीति घरनी 'जल धारै' ,
मन क्रम बचन दास परमानंद सहज प्रीति कृष्ण 'अवतारै'।[१]

प्रान्तीय बोलियों तथा विदेशी शब्दों का प्रयोग

ब्रजभाषा के स्वरूप की रक्षा करते हुए अष्टछाप कवियों की भाषा में हिन्दी की अन्य प्रान्तीय बोलियों के शब्द और रूप तथा फारसी जैसी विदेशी भाषा के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। वस्तुतः सजीव भाषा वही है जो अपने समकालीन प्रभावों को आत्मसात् करले और अपना प्रभाव अन्य भाषाओं पर छोड़े। अष्टछाप के समय में कृष्णभक्ति के प्रचार के कारण ब्रज प्रान्त में भारतवर्ष के सुदूर स्थानों से यात्री आया करते थे और वे वहाँ कुछ समय ब्रजवास भी करते थे। यह प्रथा अब भी ब्रज में प्रचलित है। इसलिए उस समय की ब्रज-भाषा में अन्य प्रान्तीय उपभाषाओं के शब्द भी मिलते हैं। अष्टछाप के समय में फारसी तो राज्य भाषा थी ही, इसलिये उसके प्रभाव का आना तो स्वाभाविक था। परमानन्ददास की भाषा में भी हम अवधी, बुन्देलखण्डी जैसी प्रान्तीय भाषाओं के शब्द पाते हैं। परमानन्ददास की भाषा की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें फारसी अरबी शब्दों का एक प्रकार से वहिष्कार ही है। फ़ारसी और अरबी के दस-पाँच शब्द ही उनके सम्पूर्ण 'परमानन्दसागर' में मिलेंगे। हिन्दी की प्रान्तीय बोलियों के तथा अरबी फारसी के, कवि द्वारा प्रयुक्त, कुछ शब्द नीचे दिये जाते हैं —

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास पद-संग्रह से, पद नं० १६७।

अवधी शब्द—

चुचुकाय—'जमुना के तीर मोकों 'चुचुकाय' बुलायो।'[1]
उहि—'जहाँ जहाँ बोलैं मोर चितवै तिनकी ओर, भाजो रे भाजो भैया 'उहि' देखो आयो।'[2]
नीको—'आछो 'नीको' लोंनों मुख मोर ही दिखाइये।'[3]
कत—'मेरे छगन मगन से लालहिं 'कत' ले उछंग लगावति छाती।'[4]
नाहिन—'परमानंद स्वामी बालक हैं 'नाहिंन' तरुन किसोर।'[5]
काहे—'काहे' कोहरहिं होत ग्वालिनि सब ब्रज गाजि हलायो।[6]
हमरी—'हमरी' आँखिन तरहि न आवें।[7]

अरबी शब्द—

लायक—उपमा काहि देउँ को 'लायक'।[8]
कागद (कागज)—कारे 'कागद' बाँचि सुनावहु।[9]

फारसी शब्द—

सिरताज—मेरो सुत 'सिरताज' सबनि को।[10]
सादा—'सादिए' बात गुपालहिं भावै।[11]
बिहाल (बेहाल)—आतुर बिरह 'बिहाल'।[12]
सूरत (सूरति)—कमल नैन भावै वह 'सूरति'।[13]
दाद—द्वारे 'दाद' न पावै।[14]

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १८।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १८।
३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २३।
४—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २४।
५—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद संग्रह से, पद नं० ३०।
६—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ४७।
७—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २०१।
८—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ४६१।
९—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २१६।
१०—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १६।
११—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १५६।
१२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १५६।
१३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २०१।
१४—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३०१।

जिन संस्कृत शब्दों में 'होना,' 'जाना,' आदि सहायक क्रिया लगाकर, क्रिया का खड़ी बोली रूप बनाया जाता है, उनमें से कई शब्दों का ब्रज भाषा की क्रिया का रूप सूर, परमानन्द आदि, अष्टछाप कवियों ने, शब्द में ही परिवर्तन करके बना लिया है।

परमानन्ददास के काव्य से इसके दो उदाहरण दिये जाते हैं—

ब्रज रूप	खड़ी बोली	
१—आनन्दे	आनन्दित हुए—	*'परमानंद स्वामी आनन्दे बहुत बेर जब पाई री।'*[1]
२—आनंद्यो	आनन्दित हुआ—	*'आनंद्यो ब्रज भीतर डोले करै अटपटो सूत।'*[2]

बुन्देलखण्डी शब्दों का प्रयोग—परमानन्ददास के कुछ पदों में, जो हमें काँकरौली और नाथद्वार की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में मिलते हैं, बुन्देलखण्डी भाषा के शब्दों के भी रूप मिलते हैं। ऐसे प्रयोग महात्मा तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' के पदों में भी आए हैं। 'सूरसागर' में हमें इस प्रकार के बुन्देलखण्डी रूप नहीं मिले। नीचे लिखे पदों में ये शब्द कोष्ठकबद्ध हैं।

राग सारङ्ग

बारक गोकुल तन मन (कीबो)।
गोपी ग्वाल गाय बनचारी अपनो दरसन (दीबो)।[3]

राग सारङ्ग

मोते कछु सेवा न भई,

× × ×

रामकृष्ण सों बीनती (कीबी) सब अपराध छमा (कीबो),
ऐसो भाग्य होय है कबहूँ बहुरि गोपाल गोद (लीबो)।
चरन कमल गहि विनती (कीबी) एक बेर दरसन (दीबो),
परमानन्द स्वामी कृपालु (चित) इतनो अनुग्रह अब (कीबो)।[4]

राग गौरी

'दिन दस रहि चलिये हरिदास,
बहुरि गोपाल कथा कहाँ (सुनिबी) बैठि कौन के पास।[5]

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २७।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ३८।
३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० १६७।
४—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २२७।
५—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २४३।

भाषा में लाक्षणिक प्रयोग और मुहावरे भाषा की जीवन शक्ति के बढ़ाने वाले उपकरण होते हैं। उनके प्रयोग से भाषा में एक प्रकार की निकटता, अपनत्व और घरेलूपन का सा भाव आजाता है। परमानन्ददास की भाषा में मुहावरों के समुचित प्रयोग के साथ लाक्षणिक सजीवता है। नीचे, कवि द्वारा प्रयुक्त कुछ मुहावरे तथा शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग कोष्ठक बद्ध दिये जाते हैं—

भाषा में मुहावरों का प्रयोग

राग सारङ्ग

'प्रेम की पीर सरीर न माई,
प्रबल सूल रह्यो जात न सखिरी, (आवे रोंबु न गाई)।
निसि वासर जिय (रहत चटपटी) यह (धुक धुकी न जाई),
कासों कहों (भरम की) माई, (उपजी कौन बलाई)।
जो कोउ खोजै खोज न पैयत ताको कौन उपाई,
हों जानति हों मेरे मन कों (लागी है कछु बाई)।[1]

राग सारङ्ग

'अब मन बसी गोपाल मूरति,
× × ×
यद्यपि मधुप ज्ञान दिखरावे,
(हमरी आँखिन तरहि न आवै')।[2]

राग सारङ्ग

'माधो (मुख देखत के मीत),
पाछे कों काकी चलवत है, (मढहा तर के गीत)।
सो प्रीतम (जो और निबाहे) सदा करै निचीत।[3]

जादिन ते सुंदर बदन निहार्यो,
तादिन ते मधुकर मनसों में बहुत करी निकस्यो न निकार्यो।
× × ×
(होनी होय सो होउ) करम बस सजनी जिय को सोच निबार्यो।
दासी भई दास परमानंद (भलो पोच अपनो न बिचार्यो)।[4]

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ११४।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० २०६।
३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३१६।
४—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ६२।

मुहावरों का भूरि भाव शब्दों की लक्षणा शक्ति के कारण भी हुआ करता है। लाक्षणिक अर्थ को प्रकट करनेवाले कुछ शब्द परमानन्ददास के काव्य से कोष्ठकबद्ध दिये जाते हैं—

हरि की आवनी (बनी)।[1]

रैनि पपीहा बोल्यो री माई,

× × ×

गरजत गगन दामिनी दमकत तामें (जीउ उड़ाई)।[2]

भावे मोहि माधो बेनु बजावनि।

× × ×

कुंडल लोल कपोल लोल मधु (लोचन चारु चलावनि)।[3]

राग सारङ्ग

'आनंदी चरावत गैया,
प्रेम सुहाई बातें कहि कहि मेरो मन (हर्‍यो) कुँवर कन्हैया
चेटक (घालि) सकल ब्रज राख्यो, चलि हो रे संकरषन भैया

इस प्रकार के और भी अनेक लाक्षणिक प्रयोग कवि के पदों में हैं।

हिन्दी ब्रज तथा अवधी भाषा के सभी कवियों ने अनुप्रास तथा तुकान्त लाने के लिए शब्दों के रूपों को बदल लिया है। इस प्रकार की स्वच्छन्दता परमानन्ददास के पदों की भाषा में भी मिलती है।

जैसे—**विकृत रूप**	**भाषा रूप**	
राई	राय	*खेलन बन चले 'यदुराई।'*[4]
बहियाँ	बाँह	*न गहो कान्ह कोमल मेरी 'बहियाँ।'*
महियाँ	माहिं	*सुन्दर स्याम छबीले ढोटा हों नहिं आऊँ या बन 'महियाँ।'*
कहियाँ	कँह, को	*बलि बलि जाउं चरन कमलनु की जाहि अपने घर 'कहियाँ।'*[6]

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ८२।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३२३।
३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ८८।
४—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ७२।
५—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-सङ्ग्रह से, पद नं० ६३।
६—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ७८।

बँधना	बन्धन	*परमाननंद प्रभु भगत बछल हरि रुचिर हार उर सोहै 'बँधना' ।*[1]
गोपाला	गोपाल	*इन मोरन की भाँति देखि नाचै 'गोपाला ।'*[2]

परमानन्ददास के पदों में आए हुए 'क्यों' 'कैसे' 'ताहि' आदि शब्दों के साथ बहुधा 'ब' निरर्थक अक्षर लगा रहता है। जैसे अवधी में बहुधा संख्यावाची शब्दों में 'ठो' लगा दिया जाता है जैसे, 'याक ठो', 'दू ठो', उसी प्रकार परमानन्ददास के उक्त शब्दों में 'ब' लगा है। सूर अथवा नन्ददास की भाषा में इस प्रकार के प्रत्यय का सा जोड़ नहीं है। ज्ञात होता है यह 'ब' 'अब' शब्द का संक्षिप्त रूप है।

राग सारङ्ग

क्यों यह भरोसे ग्वालनि सी डोलै,
'कैसैब' याकी गारि समुझिये मेरो लाल तोतरे बोलै ।[3]

नयना रहटि की घरी रहाई ।
× × ×
परमानंद स्वामी के बिछुरे हियरो 'क्योंब' सिराई ।[4]

हँसत गोपाल नंद के आगे नंद स्वरूप न जाने ।
निगुण ब्रह्म सगुण धरि लीला 'ताहिब' सुत करि जाने ।[5]

कवि के अनेक पदों में लेखक ने यह प्रयोग देखा है। परन्तु इस नियम का पालन कवि ने सर्वत्र नहीं किया। किसी सीमा तक इस प्रयोग को परमानन्ददास की भाषा की एक साधारण विशेषता कह सकते हैं। ब्रजभाषा में कुछ स्थानों पर वर्तमानकालिक क्रिया में बहुधा 'गो' अक्षर लगा देते हैं जो कोई अर्थ नहीं रखता जैसे—

'कतु हैगो', 'जातु हैगो', 'खातु हैगो'।

शाहजहाँपुर, हरदोई और कानपुर जिलों में निरर्थक 'गो' सहायक प्रत्यय क्रिया के वर्तमान काल के रूपों में लगाया जाता है[6]।

परमानन्ददास की भाषा में कुछ शब्दों के साथ यह 'ब' का जोड़ इसी प्रकार का है।

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३१।
२—लेखक के निजी, परमानन्ददास पद-संग्रह से, पद नं० ७०।
३—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ४४।
४—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३१८।
५—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० १७।
६—'ला लाँग ब्रज', डा० धीरेन्द्र वर्मा, पैरा २२१, पृष्ठ ११२।

पीछे कहा गया है कि अष्टछाप का लगभग सम्पूर्ण काव्य गेय पदों में लिखा गया है और श्रीनाथजी के समक्ष इसका कीर्तन भी होता था। इसीलिए इन कवियों की काव्य-भाषा में सङ्गीतमयता के गुण का होना स्वाभाविक है। राग-

भाषा में लय और सङ्गीत

रागिनियों के स्वर और ताल में बैठी हुई शब्दावली लययुक्त होनी ही चाहिए। सङ्गीतमयता के गुण की वृद्धि शब्दों की मैत्री तथा भावानुकूल ध्वनिवाले शब्दों की योजना से भी होती है। अष्टछाप में सबसे अधिक सङ्गीत और शब्दों की अर्थानुगामिनी ध्वनि का सबसे अधिक मधुर गुण नन्ददास की भाषा में है और विशेष रूप से उनकी 'रासपञ्चाध्यायी' में। नन्ददास के 'रोला' छन्दों की भाषा में जो लय, प्रवाह और सङ्गीतात्मकता है वह व्रजभाषा के किसी भी कवि की रचना में नहीं है। नन्ददास के पदों में यह गुण इतना प्रबल नहीं है। परमानन्ददास की भाषा सरल और मधुर है और सभी पद गेय हैं, परन्तु उनके पदों की भाषा में नन्ददास की रासपञ्चाध्यायी' की सी मधुर स्वरलहरी और शब्दों का उतार-चढ़ाव तथा प्रवाह नहीं है। सूर की भाषा के साथ परमानन्द की भाषा इस गुण में समकक्ष रक्खी जा सकती है।

परमानन्ददास के काव्य में छन्द

परमानन्ददास की रचना गेय पदों में है। जिन रागों में लिखे कवि के पद हस्त-लिखित तथा वल्लभसम्प्रदायी छपे कीर्तन-संग्रहों में मिलते हैं वे बहुधा निम्नलिखित हैं—

१—कान्हरा	१२—विभास	२३—रामकली
२—गौरी	१३—गन्धार	२४—जङ्गला
३—सारङ्ग	१४—देव गन्धार	२५—पीलू
४—गूजरी	१५—मलार	२६—झिझोटी
५—बिलावल	१६—कल्याण	२७—सिन्धु
६—धन्याश्री	१७—टोडी	२८—बसन्त
७—रामगिरि	१८—नायिकी	२९—ईमन
८—आसावरी	१९—सामेरी	३०—नट
९—केदारा	२०—बिलास	३१—काफी
१०—सोरठी	२१—बिहाग	३२—मारू
११—भैरव	२२—मालकोश	३३—जैतश्री

परमानन्ददास ने उक्त रागों के अन्तर्गत कुछ लम्बे पद भी लिखे हैं। जिनमें उन्होंने कुछ परिचित छन्दों का प्रयोग किया है। सारङ्ग राग में भ्रमरगीत विषयक उनका एक लम्बा पद है जिसको उन्होंने चौपाई तथा दोहा के क्रम में लिखा है। इस पद के कुछ उद्धरण आगे दिए जाते हैं—

राग सारङ्ग

चौपाई—कमल नैन मधुबन पढ़ि आए, ऊधो गोपिन पास पठाए।
ब्रज जन जीवत हैं केहि लागी, रहते संग सदा अनुरागी।
× × ×
साखी— दोहा—सबै सखी एकत भई, निरखत स्याम सरीर।
आए चित के चोरना, कहाँ गए बलबीर।
ज्यों नलिनी पूरण समें, बाढ़ी उदधि तरंग।
निरखति चंद चकोर ज्यों, बिसरि गई सब अंग।[१]

इसी प्रकार कवि का एक और वसन्त धमार के पदों में सारङ्ग राग का लम्बा पद है जिसमें कवि ने 'सार'[२] छन्द का प्रयोग किया है। सारङ्ग राग के अन्तर्गत 'सार' छन्द का प्रयोग कवि ने अन्य प्रसङ्ग के कई[३] पदों में भी किया है। वसन्त धमार से उक्त पद के कुछ अंश नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

राग सारङ्ग

अहो रस मोहन मोरे लाल श्याम तमाल होरी खेलहीं,
× × ×
सार छन्द—गृह गृह तें नवला चपला सी, जुरि जुरि झुंडन आई,
लहँगा पीत हरे और राते, सारी श्वेत सुहाई।
अति झीनी, झलकत नव सुतनन करन जटित पिचकाई,
कंचुकि कनक कपिस सब पहरें, तहँ उरजन की छाई।[४]

इसी सार छन्द में कवि ने अन्त में लघु गुरु दो मात्राओं का भी प्रयोग किया है जैसे—

जेहर तेहर पायन अनवट कुंदन हीरा वलिता,
पीन पिंडुरिया, तैसोई चरनन, जावक दीनों ललिता।
यह विधि राधारानी गई, नाहिं सावरे सरिता।
जो रसिक गाइहैं ऐसे, प्रेम पुंज फल फलिता।[५]

१—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३२५।

२—सार छन्द में २८ मात्राएँ होती हैं और १६, १२ के बीच यति होती है। बहुधा छन्द के अन्त में गुरु गुरु आते हैं। अन्त में एक गुरु अथवा अन्त में दो लघु अथवा एव लघु एक गुरु का भी 'सार छन्द' में प्रयोग आता है।

—छन्द-प्रभाकर, सप्तम संस्करण, पृ० ६१।

३—ताते तुमारो मोहि भरोसो आवै।

—लेखक के निजी, परमानन्ददास-पद-संग्रह से, पद नं० ३०१।

४—कीर्तन-संग्रह, भाग २, वसन्त-धमार, देसाई, पृ० १५४।

५—कीर्तन-संग्रह, भाग २, वसन्त-धमार, देसाई, पृ० १५५, १५६।

नन्ददास के प्रामाणिक ग्रन्थों का विशेष विवरण तथा काव्य-समीक्षा

'रसमञ्जरी'

'रसमञ्जरी' ग्रन्थ का विषय नायक-नायिका-भेद है। ग्रन्थ के विषय का संक्षिप्त विवरण कवि ने स्वयं इस ग्रन्थ में अपने मित्र के तथा अपने आरम्भिक कथन में दे दिया है। इसमें

ग्रन्थ का विषय

कवि ने नायक-नायिका-भेद, भाव, हाव, हेला, रति तथा दूती-भेद का वर्णन किया है। ग्रन्थ की रचना का आधार भानु कवि-कृत संस्कृत 'रसमञ्जरी' है। इसका उल्लेख नन्ददास ने इस प्रकार किया है—

रस मंजरी अनुसार कै, नन्द सुमति अनुसार,
बरनत बनिता भेद जहँ, प्रेम सार विस्तार।[1]

कवि ने यह भी कहा है कि नायक-नायिका और प्रेम-भाव के[2] भेदों को न जानने वाला व्यक्ति प्रेम के रहस्य को नहीं जान सकता। इसलिए प्रेम-मार्ग के अनुयायी को प्रेम के भेद जानना आवश्यक है। कवि ने पहले नायिकाओं के तीन भेद किये हैं—स्वकीया, परकीया, सामान्या। फिर प्रत्येक के मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा तीन तीन भेद किये हैं। मुग्धा के नवोढ़ा तथा विश्रब्ध नवोढ़ा और ज्ञातयौवना और अज्ञातयौवना भेद दिये हैं। मध्या और प्रौढ़ा के धीरा, अधीरा, धीराधीरा भेद दिये गये हैं। इन सब के लक्षण कवि साथ-साथ देता गया है। फिर मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा के नौ, नौ भेद और किये हैं। नायक चार प्रकार

१—'रसमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द, नं० २४।

२—हाव भाव हेलादिक जिते, रति समेत समझावहु तिते। ११।
जब लग इनको भेद न जाने, तब लग प्रेम तत्त्व न जाने। १२।

× × ×

बिन जाने यह भेद सब, प्रेम न पर परचे होय।
चरण हीन ऊँचे अचल, चढ़त न देख्यो कोय। १६।

—रसमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास।

के बताये हैं—धृष्ट, शठ, दक्षिण और अनुकूल। इसके बाद भाव, हाव, हेला, रति, और दूती-भेद के लक्षण बताये गये हैं। नायक-नायिका-भेद विस्तार के साथ दिया गया है। उपर्युक्त विषय का प्रतिपादन करते समय कवि ने लक्षण भाग विस्तार के साथ दिया है, परन्तु उदाहरण शब्द-चित्र रूप में नहीं दिये। उदाहरण-सहित नायिका भेद का वर्णन केशवदास से लेकर हिन्दी-साहित्य के रीतिकालीन कवियों ने विस्तार के साथ किया है। नन्ददास के लक्षण वर्णन के उदाहरण रूप में 'रति-वर्णन' को यहाँ दिया जाता है।

उचित धाम काम तो करै, जाने नहीं कवन अनुसरै।
भूख प्यास सबै मिट जाय, गुरु जन डर कछु रंचक खाय।
मन की मति प्रिय में इकतार, समुद्र मिली जिमि गंग की धार।
तनक बात जो पिय की पावै, सो बिरियाँ तपत ह्वै आवै।
यद्यपि विघन गन आवहि भारे, जो रति रस के मेंटन हारे।
तदपि न भृकुटी रंचक भटके, एक रूप चित रसकूँ गटके।
स्तंभ स्वेद पुनि पुलिकित अंग, नयनन जलकन अरु स्वरभंग।
तन-विवरन, हिय कंप जनावे, बीच बीच मुरझाई आवै।
यह प्रकार जाको तन लहिये, सो वह रंग भरी रति कहिये।[1]

ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने शृंगार-भाव के ज्ञान को भगवद्-भक्ति ज्ञान के लिए आवश्यक बताया है, और सब प्रकार के रतिभाव को भगवान् की ओर प्रेरक भी कहा है, परन्तु लक्षणों के वर्णन में (उदाहरण भाग तो इस ग्रन्थ में है ही नहीं) मानव की लोक रञ्जित तथा विलासमयी शृङ्गारिक प्रवृत्ति प्रत्यक्ष सामने आने लगती है। सिद्धांत की दृष्टि से इसमें वास्तव में कोई असङ्गतता नहीं है क्योंकि माधुर्य-भक्ति के अन्तर्गत पर पुरुष-भक्ति में तो लोक की मर्यादा का कोई ध्यान ही नहीं किया जाता। दूसरे, भक्तों ने तो सभी प्रकार के भावों को लोक की दृष्टि से चाहे वे श्लील हों, चाहे अश्लील, भगवान् के साथ लगाया है। नायक-नायिका भेद पर लिखने वाले जितने भी कवि, भारतीय भाषाओं के हुये हैं, सभी ने इस प्रकार का शृङ्गारिक वर्णन किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि नन्ददास जैसे माधुर्य-भक्ति के उपासकों ने इन शृङ्गारिक भावों को कृष्ण को नायक मानकर प्रकट किया है और कहा है कि जैसे अग्नि में पड़कर सब वस्तुएँ भस्म होकर शुद्ध बन जाती हैं, उसी प्रकार बुरे भाव भी भगवान् के संसर्ग से भस्म होकर शुद्ध हो जाते हैं। लोककवियों का शृङ्गार लौकिक नायक-नायिकाओं से सम्बन्ध रखता है। वास्तव में लोक दृष्टि से दोनों एक से हैं।

१—रसमञ्जरी, बलदेवदस करसनदास, छन्द नं० २४८—२५६

अपनी ईश्वरोन्मुख रति का परिचय कवि ने ग्रन्थ के आरम्भ में इस प्रकार दिया है। वह कहता है, "मैं आनन्द घन सुन्दर नन्दकुमार[1] को नमस्कार करता हूँ जो रस रूप हैं, रस के कारण हैं, रस के भोक्ता रसिक हैं और जो सम्पूर्ण जगत के आधार हैं। इस संसार में जो रस (आनन्द) है उसके आधार और मूलस्रोत आप उसी प्रकार हैं, जैसे अनेक सरिताओं का आकार समुद्र है जिसमें उनका जल बह कर फिर ज्यों का त्यों उसी समुद्र में पहुँच जाता है। इस जगत में जिस किसी रस का कवि वर्णन करता है वह सब आपही का रस है जैसे बादल समुद्र से जल लेकर पृथ्वी पर बरसाता है और वह फिर समुद्र में पहुँच जाता है, उसी प्रकार सब भाव आप से आये हैं और आपही में समा जायँगे और जैसे अग्नि के अनेक रूप दीपक जलते हैं, परन्तु वे सब मिलकर अग्नि में समा जाते हैं, उसी प्रकार जो रूप और प्रेम का रस हम इस संसार में पाते हैं, वे सब आपके अंश हैं, आपसे उत्पन्न होते हैं और आपही में उनका अवसान होता है। इसलिए मैं रूपानन्द और प्रेमानन्द रस को आपका बनाकर बेधड़क वर्णन करता हूँ।" यहाँ नन्ददास ने लोक-भाव को भगवान् का बनाकर वर्णन किया है, लोक भाव को लोक दृष्टि से नहीं देखा है। लोक-मर्यादा की दृष्टि से नायक-नायिकाओं के सम्बन्ध के श्रृङ्गारिक चित्र अनेक कवियों ने नन्ददास की तरह नग्न रूप में खींचे हैं।

नन्ददास का यह 'रसमञ्जरी' ग्रंथ काव्य-शास्त्र के एक अङ्ग, नायक-नायिका-भेद का वर्णन करता है, जिससे सिद्ध होता है कि नन्ददास केवल कवि और भक्त ही नहीं थे, वरन् वह काव्य-रीति के ज्ञाता आचार्य भी थे। कृपाराम और मोहनलाल मिश्र, कवि केशव से पहले हिंदी साहित्य के रीतिकाल के प्रवर्तक कहे जाते हैं। केशव के बाद तो उनके प्रभाव से काव्य शास्त्र का विवेचन करने वाले कवियों का एक ताँता सा ही लग

१—नमो नमो आनन्द घन सुन्दर नन्दकुमार।
रस मय रस कारन रसिक, जग जाके आधार। १।
है जो कछुक रस यह संसारा, ताको प्रभु तुमहीं आधारा। २।
ज्यों अनेक सरिता जल बहे, आन सबै सागर में रहे। ३।
जग में जो कवि बरने काही, सो रस यथा तुम्हारो आही। ४।
ज्यों जलनिधि ते जलधर जल ले, बरखे हरषे अपने कर ले। ५।
अग्नि ले अनगन दीपक बरैं, बहुरि आय सब तिन में ररैं। ६।
ऐसेइ रूप प्रेम रस जो है, तुमते है, तुमहीं कर साहै। ६।
रूप प्रेम आनन्द रस, जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरधर देव को, निधरक बरनों ताहि। ८।

—'रस मञ्जरी' बलदेवदास करसनदास।

जाता है। इस रचना के आधार से नन्ददास को भी रीति-ग्रन्थकारों में अग्रगामी कहा जा सकता है।

ठाकुरदास सूरदास तथा भाई बलदेवदास करसनदास कीर्तनियाँ वाली 'रस मञ्जरी' की प्रतियों में ३५६ छन्द हैं, जिसमें १४ दोहे और ३४५ चौपाइयों की अर्द्धालियाँ हैं। मयाशङ्कर याज्ञिक सङ्ग्रहालय की प्रति में छन्द संख्या ११० है। चौपाइयों की गणना इसमें अर्द्धालियों से नहीं की गई है। ग्रन्थ का विषय काव्य-शास्त्र का अङ्ग होने के कारण, इसमें काव्य-सौष्ठव का समावेश नहीं है।

अनेकार्थ मञ्जरी

ग्रन्थ के मङ्गलाचरण और आरम्भिक बन्दना में नन्ददास जी ने शुद्धाद्वैत-अविकृत-परिणामवाद के साम्प्रदायिक विचारों को प्रकट किया है, जिनका विशेष विवेचन नन्ददास के दार्शनिक विचारों के साथ किया गया है, 'अनेकार्थ मञ्जरी' में एक एक शब्द के अनेक अर्थ दोहा बद्ध करके दिये हुए हैं। कवि ने ग्रन्थ लिखने का कारण बताते हुये कहा है "जो लोग संस्कृत भाषा नहीं जानते उनके लिए मैंने अनेकार्थ सांस्कृत कोष को भाषा में लिखा है" हिन्दी भाषा के विद्यार्थियों के लिये ग्रन्थ बड़ा उपयोगी है।

जैसा कि अभी कहा गया है, ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने वल्लभ-सम्प्रदायी शुद्धाद्वैत विचार व्यक्त किये हैं। कवि कहता है कि मैं उस देव को नमस्कार करता हूँ[1] जो (कृष्ण) स्वयं ही उस जगत का कारण (उपादान कारण) और करन (निमित्त-कारण) हैं, एक ही वस्तु अनेक रूप बनकर इस जगत को बना रही है जैसे एक वस्तु कञ्चन ही कङ्कन, कुण्डल, किङ्किनी आदि अनेक रूपों में स्थित रहता है। यही वल्लभ-सम्प्रदाय का अविकृत-परिणामवाद है। इस ग्रन्थ में एक विशेष उल्लेखनीय बात यह भी है कि कवि ने शब्द के अनेक अर्थ देने के साथ साथ प्रत्येक छन्द के अन्तिम चरण में उस शब्द को भगवान् के नाम के साथ सम्बद्ध किया है, जैसे—

१—जु प्रभु जोतिमय जगतमय, कारन करन अभेव,
विघन हरन सब सुख करन, नमो नमो ता देव।
एके वस्तु अनेक ह्वै, जगमगात, जगधाम,
जिमि कंचन के किंकिनी, कंकन कुंडल नाम।
—'अनेकानार्थ मञ्जरी' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० १, २
तथा —अनेकार्थमञ्जरी, 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १८।

मधु शब्द—मधु बसंत मधु चैत्र द्रुम, मधु मदिरा मकरन्द,
मधु जल मधु पै मधु सुधा, 'मधु सूदन गोविन्द'।[1]

नन्ददास ने कुछ दोहों में अनेकार्थ देनेवाले शब्द के मेल से जो शब्द बनते हैं, उनको भी अनेकार्थ में रक्खा है जैसे 'गो' शब्द के अनेकार्थ में गोधर, गोतरु, गोकिरन, गोपालक और गोविन्द शब्द भी कवि ने लिये हैं। ग्रन्थ के अन्त में 'सनेह' शब्द के अर्थ देते हुये कवि ने 'गिरधर' कृष्ण भगवान् से उनके चरणों में प्रेम देने की प्रार्थना की है[2]

तेल सनेह, सनेह घृत, बहुरो प्रेम सनेह,
सो निज चरनन गिरधरन नन्ददास कों देहु।

इसमें नन्ददास ने कृष्ण-भक्ति का उपदेश, कृष्ण नाम की महिमा, भगवत्-भजन में निरन्तर अभिरुचि की कामना, कपट आदि मानसिक विकारों के त्यागने की प्रार्थना आदि भाव भी प्रकट किये हैं। इसलिए 'अनेकार्थमञ्जरी' केवल एक कोष ग्रन्थ ही नहीं है, वरन् नन्ददास का भक्ति ग्रन्थ भी है। कवि कहता है—"कलियुग[3] में केवल 'केशव' नाम ही उद्धारक है। संसार[4] में मानव-जीवन तभी सफल है जब भगवान् का भजन किया जाय। कञ्चन[5] से जैसे संसारी जनों को प्रीति होती है, उसी प्रकार (हे मन!) तू भी कपट त्याग कर भगवान् का भजन कर, इससे तुझे सुख मिलेगा। हे भगवान्! ये इन्द्रियाँ[6] मुझे दुख देती हैं, मेरे ऊपर दया करो, भगवान् घट घट में व्याप्त हैं।[6] अज्ञान रूपी अन्धकार को हरनेवाले भक्त के प्रबोधन को हृदय में धारण करो।[7] जो भगवान् को नहीं भजता वह गर्दभ सम है।[8] हे लम्पट जीव, अपने सच्चे मन से भगवान् से प्रेम कर ले।[9]" इस प्रकार की चेतावनी अनेक दोहों में नन्ददास ने प्रकट की है। कोष-ग्रन्थ होने के कारण इसमें काव्य-सौष्ठव का समावेश नहीं है।

१—अनेकार्थ मञ्जरी, नन्ददास 'शुक्ल', पृ० ९८ तथा
अनेकार्थ मञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ६,
२—अनेकार्थ मञ्जरी, बलदेवदास करसन दास, छन्द नं० ११५,
३—अनेकार्थ मञ्जरी, बलदेवदास करसन दास, छन्द नं० १४,
४— ,, ,, ,, छन्द नं० १६,
५— ,, ,, ,, छन्द नं० १७,
६— ,, ,, ,, छन्द नं० १८,
७— ,, ,, ,, छन्द नं० ३४,
८— ,, ,, ,, छन्द नं० २३,
९— ,, ,, ,, छन्द नं० ९०,
१०— ,, ,, ,, छन्द नं० ९८,

मान-मञ्जरी, नाम-माला

नन्ददास के ग्रन्थों के परिचय में कहा गया है कि 'मानमञ्जरी नाममाला' ग्रन्थ में 'अमर कोष' के आधार पर शब्दों के पर्यायवाची रूप दिये हुये हैं। परन्तु यह केवल कोष ग्रन्थ ही नहीं है। इसमें राधा का मान-वर्णन भी है। प्रत्येक छन्द की प्रथम पंक्ति में एक एक शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं और दूसरी में कवि ने उस शब्द का प्रयोग कर दूती द्वारा राधा के मानमनावन तथा राधा के श्रृङ्गार का वर्णन किया है। कवि ने ग्रन्थ के दो नाम होने का कारण स्वयं दिया है। वह कहता है—

गूँथनि नाना नाम की अमर कोस के भाय,
मानवती के मान पर मिले अर्थ सब आय।[1]

ग्रन्थ के आरम्भ में अपने इष्टदेव कृष्ण और गुरु की वन्दना[2] के बाद कवि ने एक दोहा[3] दिया है, जिसमें उसने अपने शुद्धाद्वैत सिद्धान्त को प्रकट किया है। यह दोहा बलदेवदास करसनदास, तथा सूरदास ठाकुरदास द्वारा प्रकाशित दोनों 'मानमञ्जरियों' में दिया हुआ है; परन्तु 'नन्ददास' ग्रन्थ में श्री उमाशंकर शुक्ल द्वारा सम्पादित 'मानमञ्जरी' के मुख्य पाठ में छोड़ दिया गया है, और परिशिष्ट भाग में, सन्दिग्ध दोहों में दिया गया है। यह दोहा नन्ददास का ही है, क्योंकि उसमें कवि के सिद्धान्तों की छाप है। इसमें कवि ने कहा है—"एक ही तत्व, नाम रूप और गुणों के भेद से अनेक होकर प्रकट हो रहा है, जो एक परम तत्व के अतिरिक्त दूसरा तत्व कोई बताता है वह पागल है।" इसके बाद कवि ने ग्रन्थ-रचना का कारण यह दिया है कि जो लोग संस्कृत भाषा नहीं जानते, उनके लिए वह 'अमरकोष' के आधार पर इस ग्रन्थ को लिख रहा है। तदनन्तर (मान) शब्द के पर्यायवाची शब्द देते हुए कवि राधा के मान की कथा को उठाता है।

यहाँ कवि के ही शब्दों में दूती द्वारा मानिनी राधा के मान-मनावन की कथा को दिया जाता है। कोष्ठकबद्ध वे शब्द हैं जिनको क्रमशः कवि ने पर्यायवाची शब्द देने के लिए लिया है और जिनके साथ ही साथ मान-मनावन के वर्णन

कथानक का विस्तार को आगे बढ़ाया है। कवि कहता है—"राधा का मान सबका कल्याण करनेवाला है। राधा की (सखी) उसे मनाने जाती है।

१—'मानमञ्जरी', पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, छं० नं० ४।

२—तन्नमामि पद परम गुरु कृष्ण कमल दल नैन।
जग कारण करुणार्णव, गोकुल जाको ऐन।
—मानमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, छंद नं० १

३—नाम रूप गुण भेद जे, सोइ प्रकट सब ठौर।
ता बिन तत्व जु आन कछु, कहै सो अति बड़ बौर।[1]

सखी रास्ते में अपनी (बुद्धि) से विचार करती जाती है। उसने राधा को मनाने में वाणी अथवा (सरस्वती)-रूपा वचन-चातुरी का प्रयोग किया है। कृष्ण को आतुर देखकर वह (शीघ्र) राधा के पास चली और वृषभानु भूप के (धाम, भवन) के पास पहुँच गई।" यहाँ कवि ने वृषभानु के (सोने-रूपे) के बने, (उज्ज्वल) (शोभा) से युक्त ऊँचे ऊँचे भवन तथा गोशाला का वर्णन किया है जिन पर सूर्य चन्द्र की पड़ी हुई (किरणें) जगमग जगमग करती हैं और जहाँ अटारियों पर चढ़े (मोर) नाचते हैं। फिर सहचरी उस भवन की (सिंह)पौरि पर पहुँची। वहाँ वह योद्धाओं का जमघट देखकर भीतर प्रवेश करने में सकुचाई। इसके बाद, कवि ने (अश्व), (हस्ती), (अष्टसिद्धि), (नवनिधि) आदि शब्दों के नामों में (राजा) वृषभानु के घोड़े हाथी, और उनकी समृद्धिशालीनता का वर्णन किया है। (मोक्ष) के नाम बताते हुए कवि कहता है कि जो चार प्रकार की मुक्ति बताई गई हैं वे विना योग्याभ्यास के प्राप्त नहीं होतीं, उन सबको वे पामर लोग भी सहज ही में पा जाते हैं जो वृषभानु के दरवाज़े पर सिर झुकाते हैं। इसमें कवि की (राधा) के प्रति भक्ति का परिचय मिलता है।

राजा वृषभानु की सभा जुड़ी है जिसमें (देवता) गोप-वेष बना बनाकर बैठे हैं। उस सभा के सामने (इन्द्र) की सभा कौन चीज है। कृष्ण की (अमृत)मयी कथाओं में उस सभा के सब लोग मस्त हैं। वृषभानु के (सेवक) जो कामदेव के समान सुन्दर हैं चारों ओर भाग दौड़ कर रहे हैं। मणिमय अजिर में उर्वशी और रम्भा के समान (दासियाँ) हैं। दूती (मन) में सोचती है कि मैं भीतर किस प्रकार जाऊँ। उसने अदृश्य होने का एक (अञ्जन) अपनी आँखों में लगाया जिससे वह किसी को दिखाई न दे। भवन में (हीरा) जड़े हैं जो बहुत चमकते हैं। दूती उन हीरों को वृषभानु भवन के नेत्र जानकर डरती है कि कहीं भवन उसे देख न रहा हो, वहाँ जगह जगह पर (मङ्गल)मय दीपक जल रहे हैं। गजमुक्ता ऐसे मालूम होते हैं मानों (शुक्र) के तारे पिरोकर वहाँ रख दिए हों। बन्दनवारों के (मोती) ऐसे लगते हैं मानों वृषभानु के महल हँस रहे हों। जिस (लक्ष्मी) के नयन के एक कटाक्ष की शोभा संसार की शोभा बनकर छाई हुई है, वही लक्ष्मी वृषभानु गृह में प्रकट हुई हैं। दूती ने भवन के भीतर राधा की (माता) को बैठे देखा। दूती ने उनको (नमस्कार) किया और राधा के पास जाने लगी। राधा (अटारी) पर थी। दूती (सीढ़ी) चढ़कर ऊपर पहुँची, जहाँ वृषभानु-(सुता) दुग्ध-फेन-(शय्या) पर बैठी हुई विचारों में लीन शोभा के साथ, गेंदे का (पुष्प) हाथ में लेकर उछाल रही थी। दूती को देखकर वह (उसीसा, तकिया) के सहारे गम्भीर बन मान से बैठ गई। उसके (मुख) का रुख इस प्रकार मलिन हो गया जैसे मुख की भाप से दर्पण मलिन हो जाता है।

इस स्थान पर कवि ने मानिनी राधा के मान-द्योतक नखशिख का वर्णन दिया है। राधा की (लट) अलक उसके चन्द्र मुख पर लटक रही है, मानों चन्द्रमा में दरार हो गई हो जो लकीर सी दीखती है। (भील) की बिन्दी ऐसी मालूम होती है मानों राधा की सौभाग्य-

मणि बाहर प्रकटित दीख रही हो। उसकी (वक्र) (भृकुटि) ऐसी मालूम होती है मानों प्रातः-कालीन कमल पर बैठा भौंरा पङ्ख पसार रहा हो। यहाँ पर कवि ने आँखों को भौंरा और भृकुटी को भौंरे के पङ्ख बताया है। नन्ददास की इस प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ उनकी कल्पना और काव्य-कुशलता की द्योतक हैं। उसके (नेत्र) रिस से राते हैं मानों जावक रङ्ग में भीगी मछलियाँ हों। (कानों) में खूँभी शोभित है मानों चन्द्र के निकट कमल अपना स्वभाव छोड़कर खिल रहे हों। (नासिका) में गजमुक्ता सुशोभित हैं मानों शोभा से युक्त तोते की नाक हो। उसकी लट बेसर में उलझकर और भी शोभा को बढ़ा रही है। (ओष्ठों) की शोभा के वर्णन में कवि की लेखनी बन्द हो जाती है। उसके (दाँत) अत्यन्त उज्ज्वल और बाल अति (श्याम) हैं। चिबुक-विन्दु ऐसा शोभित है मानों चन्द्र के नीचे (बृहस्पति) उदय हुआ हो। उसका (कण्ठ) इतना कोमल है कि पीक की लीक भी उसमें दिखाई देती है। जब वह अपने (हाथ) को कपोल पर रखती है तो ऐसा प्रतीत होता है मानों कमल बिछाकर चन्द्र उस पर सो रहा हो। उसके कटि की (क्षुद्र घण्टिकाएँ), ऐसी प्रतीत होती हैं मानों कामदेव के घर पर बन्दनवार बाँधे गये हों। इसी प्रकार उसके (नूपुरों) का शब्द अति मधुर है। नील (वस्त्र) में उसका गौरवर्ण का शरीर ऐसा झलकता है मानों वस्त्र के भीतर दीपक दमकता हो। मान भरे मन में वह अनखाती है, इसी से (पान) नहीं खाती। (दर्पण) का देखना उसने छोड़ दिया है, वह सखियों को वाद्य (यन्त्र) बजाने से मना करती है। कृष्ण की भेजी हुई दूती ने इस प्रकार राधा को देखा।

उस दूती ने (पानी) से अपने नेत्रों का काजल धोया और राधा के सामने प्रकट होगई। वह (भय) के साथ कुँवरि के पास पहुँची और उसके (चरणों) की बन्दना करके सामने जा खड़ी हुई। उसने मानिनी राधा को (क्रोध) से ऐसी लाल देखा जैसे (हल्दी) में चूना मिल कर लाल रङ्ग हो जाता है। थोड़े (समय) तक दूती उसके मुख की ओर देखती रही फिर राधा बोलीं—'हे सखी, तू (कुशल) से है, तू यहाँ क्यों आई है?' सखी ने उत्तर दिया—"तुम्हारी (प्रीति) और दर्शनों से मेरा कल्याण है। हे सखी, तू इस समय बड़ी सुन्दर दीखती है, तेरे समान (ब्रह्मा) ने तीनों लोकों में अन्य सुन्दरी नहीं बनाई। संसार की सम्पूर्ण (स्त्रियों) की शोभा को लेकर ब्रह्मा ने तेरा रूप रचा है और तेरे समान ही उसने (सुन्दर) कुँवर कृष्ण को बनाया है। बड़ी सुन्दर जोड़ी बनी है। तू किस कारण से (दीर्घ) स्वास ले रही है। जैसे (गङ्गा) इस लोक में पाप संहारिणी है, उसी प्रकार तेरी कीर्ति भी स्त्री-पुरुषों को पवित्र बनानेवाली है। तेरी शरीरकान्ति पाने को सोना अग्नि रूपी तप में अपनी (काया) को जलाता है। तेरा (कमल)-सा मुख, मैं मलिन क्यों देख रही हूँ। तू ऐसी दीखती है जैसे (चन्द्र) से अलग चन्द्र की कला हो। ज्ञात होता है तू अपने प्रिय से रूठ गई है। मैं तुझे ऐसी देख रही हूँ जैसे (मेघ) से बिछुड़ी हुई बिजली हो। (दामिनी) मेघ बिन शोभा नहीं पाती और मेघ दामिनि बिन मलिन लगता है। और जैसे राजा (सेना) के बिना और सेना राजा के बिना शोभाहीन है, जैसे प्रत्यञ्चा बिना (धनुष) और धनुष बिना

प्रत्यञ्चा, उसी प्रकार तुम दोनों एक दूसरे के बिना शोभा नहीं पाते। "हे सखी तू मालती है और लाल तेरा लालची (भौंरा) है। तेरे समान लाल की अन्य कोई (प्रिया) नहीं है। तेरा मान अमर(लता) के समान निर्मूल है। तू (प्रीतम) से अकारथ क्यों मान करती है। नन्द के (पुत्र) गोविन्द से तू मान मत कर। वास्तव में कृष्ण (नर) नहीं है, वह तो साक्षात् हरि भगवान् हैं, जिसको (तपस्वी) अपने निर्मल चित्त से नित्य ढूँढ़ते हैं, (वेद) जिसका वर्णन करते हैं, (शेषनाग) जिसके गुणों का अन्त नहीं पाते। जिसके भय से (धर्मराज) तक डरते हैं वे ही कृष्ण तेरी एक भ्रूभङ्गी से थर थर काँपते हैं। (कुबेर) की भी तेरे पिय के चरण-स्पर्श तक पहुँच नहीं हैं। (वरुण) उनके चरणों में सिर रगड़ता है। करोड़ों (गणेश) भी उनके गुणों को नहीं गिन सकते। वास्तव में उसी का (जन्म) सफल है, जो ऐसे कृष्ण को भजता है।"

यह सुनकर मानिनी नायिका बोली—"तू उस (वञ्चक) कपटी कृष्ण की क्या बड़ाई कर रही है ! वह भला नहीं है।"

यह सुन कर फिर दूती कहती है—"हे (मृग)-शावकनयनी ! इस अनखने को बन्द कर दे, जिसका एक बार नाम लेना (पाप) के महावन को जला देता है, उसको तू कपटी कहती है, जिसके नाम आधार से (पत्थर) भी पानी पर तैर गये, जिनके नाम की नौका पर न जाने कितने अजान तर गये, जिसके शरीर-स्पर्श से (रुधिर) पीने को आई हुई पूतना पवित्र बन गई, जिसके संसर्ग से पाप-रूप (राक्षसों) की भी सुगति हो गई, जिसकी चरण-(रज) की सनकादि ऋषि इच्छा करते हैं, (महादेव) जैसे देवता जिसका ध्यान करते हैं, संसार के अन्धकार को नष्ट करने वाले (सूर्य) को वही ज्योति-दाता है। उस कृष्ण को तू कपटी कहती है ! ऐसे प्रिय के प्रति तू क्यों मिथ्या (झूठ) बात कहती है। कृष्ण तेरे निरन्तर (निकट) रहते हैं, इसी से तू उनका अनादर करती है। मलयगिरि पर रहनेवाले मनुष्य (चन्दन) के मूल्य को नहीं जानते, वे उसे ईंधन ही समझते हैं। क्षीर-सागर की (मछली) अपने पार्श्ववर्ती चन्द्र को जलचर ही समझती है। गुण और रूप के (समुद्र) प्यारे कृष्ण की प्रेम-तरङ्गों के साथ क्यों नहीं कल्लोल करती ?" राधा ने कहा—"हे सखी, (हलधर)-बीर कृष्ण की तू मेरे सामने बड़ाई मत कर।" सखी ने उत्तर दिया—"ठीक है, जिस हलधर ने अपने शेषनाग-रूप से सम्पूर्ण (पृथ्वी) को हीरा कणवत् धारण किया है उसका भी भाई तुम्हारी आँख तरे नहीं आता। हे सखी, तेरे ये वचन-(बाण) मुझे पीड़ा पहुँचाते हैं। बाण का घाव अच्छा होजाता है, परन्तु बाणी का घाव युग-युग पीड़ा देता है। (अग्नि) से जलाये हुए लता वृक्ष फिर हरे हो जाते हैं, परन्तु बचनों से जलाया हुआ हृदय कभी हरा नहीं होता। प्रिय के अवगुणों को इस प्रकार हृदय में गुप्त रखना चाहिए जैसे कुआँ अपनी छाँह को रखता है। हे भामिनि, तेरे हृदय का वह (प्रेम) कहाँ गया ? जब कृष्ण ने वामहस्त पर गोवर्धन (पर्वत) धारण किया था, तब उस समय जो तेरे हृदय में धकधकी हुई थी वह अभी तक नहीं मिटी।

जब कृष्ण ने काली (सर्प) का गञ्जन किया था तब तू भी प्रेम-वश यमुना में कूदी पड़ती थी, मैंने ही तुझे बाँह पकड़ कर रोका था; तब प्रिय के लिए उस प्रकार की (पीड़ा) का क्या तू अनुभव नहीं करती ! तैने यह कैसी बान पकड़ी है ! कृष्ण (बन) में अकेले हो बैठे हैं। अब सुबह से शाम होगई, उन्हें क्षमा कर दे और रोष छोड़ कर उनके पास चल। तू प्रेम-रस में क्रोध का (विष) क्यों घोलती है। चल देर न कर। बादल से यदि (पपीहा) रूठ जाय तो क्या पपीहे का निर्वाह हो सकता है। (मनोहर) नन्द-नन्दन सम्पूर्ण ब्रज का जीवनाधार हो रहा है। वह तो ऐसा (सौम्य) है कि समस्त विश्व उस पर निछावर है। वह सब के (मनोरथों) को पूर्ण करनेवाला है, उसके सम्पर्क से जितना (धन) नन्द के यहाँ है उतना तीनों लोकों में नहीं है।"

राधा कहने लगी—"सखी, मुँह सँभालकर बात कर, यहाँ मैं कोई (गणिका) नहीं हूँ।" सखी बोली—"नहीं सखी, तू (पतिव्रता) है, तेरा नाम लेकर संसार की स्त्रियाँ पतिव्रता बनती हैं। तेरे नाम का जप करके ही (पार्वती) अपने पति शिव की उरवशी बनी हैं। हे, राधे ! अब (दया) धारण कर, और कोप छोड़ दे। तेरा कथन (कृपाण) की सी चोट करता है। शरद की कैसी सुन्दर (यामिनी) है ! प्रिय के पास चल, यहाँ बैठकर इतरावे मत। हे सखी, मेरा कहना मान ले और अपनी सुन्दर ग्रीवा को मलिन मुखभार से (नीचे) 'मत' झुका। क्रोध त्यागकर देख, (आकाश) में तारे कैसे सुन्दर लगते हैं ! ज्ञात होता है कि देवताओं की स्त्रियाँ झरोखां से तेरे रूप को झाँक-झाँककर देख रही हैं। अपने (नखों) से तू पृथ्वी खरोंच रही है। तेरा पेट तो अति (सूक्ष्म) है, परन्तु इतना भारी मान तूने कहाँ रख रक्खा है ! यह (मकरी) की विद्या तूने कब सीखी ? तेरा (मार्ग) देखते देखते कृष्ण आतुर हो रहे हैं। वे तेरी (दिशा) की ओर इस प्रकार देख रहे हैं जैसे चकोर चन्द्रमा के उदय की प्रतीक्षा करता है। अब सोंच किस बात का है ? रास्ते में कोई (नदी)-नाला भी नहीं है। (वृक्ष) के नीचे प्रिय ने तो शय्या रची है और तू इस प्रकार निष्ठुर हो रही है। जब वृक्ष का कोई (पत्ता) खड़कता है तो वे तेरे आगमन के भ्रम में चौंक उठते हैं। और तेरे आने के रास्ते पर जाने लगते हैं। तेरे शरीर की सुगन्धि को स्पर्श कर जो (वायु) उनके पास जाती है, वे उसका बड़े सम्मान के साथ आलिंगन करते हैं। हे सखि, इस प्रकार अब प्रिय को (दुख) न दे। जो तुम्हारे प्रेमरस को विरस बनावे उस पर (वज्र)-प्रहार हो। प्रिय के पास चलने में क्या (लाज) है। औषधि खाने में क्या कोई लज्जा करता है ! तू अपने (अनुज) की लाज क्यों करती है, वह तो श्याम का सखा है। तेरे माता (पिता) तो पहले ही तेरा कृष्ण के साथ (विवाह) करते थे, उनकी भी क्या कान !"

नायिका ने फिर कहा—"हे दूती, तू (मदिरा)पीकर कैसी 'मद्यप' की सी बातें कर रही है !" दूती फिर बोली—"हे सखी, इस समय तेरे सरल सुन्दर (स्वभाव) की कैसी टेढ़ी गति हो रही है ! मैंने तुझको इतना शिक्षा-(समूह) दिया, परन्तु वह सब तत्ते तवे की बूँद हो गया।

किसी बात की (अति) सदैव हानिकर होती है। मैं लौट जाऊँ, तेरी क्या (आज्ञा) है ?" ये बातें सुनकर मानिनी नायिका दूती की ओर देखकर (तनिक) हँसी और कहा—"हे सखी, (अर्धरात्रि) हो गई, अब प्रातःकाल चलेंगे।" सखी ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसने नायिका की जड़ाव से जड़ी (पनहीं) लाकर उसके चरणों में रख दीं। नायिका (अटारी) में से निकली, मानों उज्ज्वल जल से चाँद निकला हो और हँसती हुई दूती के साथ चल दी। दूती ने नायिका से कहा कि तेरे मुख की कान्ति (चन्द्र-कान्ति) सी फैल रही है, अब अपना हँसना बन्द कर दे ; कहीं अधिक प्रकाश न हो जाय और लोग दिन समझकर जग न जायँ। उतरकर दोनों चलीं। सखी ने अमुक गली (वीथी) में चलने को कहा जिससे लोग उन्हें देख न लें। सखी कहने लगी—(अन्धकार) तो तेरे बदन के उजाले में मिटता ही जाता है। देख, यह वृन्दावन है, जो सदैव (वसन्त) से प्रफुल्लित रहता है। जगह जगह पर कोमल कण्ठ से (पक्षी) बोलने लगे हैं मानों वृक्ष आपस में तेरे आगमन की बातें कर रहे हों। इस वन में तेरे आने से चारों ओर प्रेम-(अनुराग) फैल गया है।

सखी राधा से कहने लगी—देख, यह (पीपल) है इसको दाहिने लेकर हाथ जोड़ ले। देख, यह (पाटल) का वृक्ष तुझे प्रणाम कर रहा है, (आम) की डाल भी नीचे को झुक गई है। यह (चम्पा) अपने पुष्पों का उपहार तेरे चरणों पर चढ़ा रहा है। ये (मधूक) के पुष्प गण्डस्थल के समान हैं। ये (दाड़िम) कुछ कुछ तेरे दाँत के समान हैं ; इन (श्रीफलों) की कवि व्यर्थ तेरे कुचों से उपमा देते हैं। इन (कदलियों) में तेरे उरुओं की झलक है। और देख वह (तमाल) वृक्ष है जहाँ तैने और प्यारे कृष्ण ने बैठकर आनन्द मनाया था। यह (कदम्ब) है जहाँ तू और कृष्ण बाँहजोटी से कूद कूदकर खेलते थे। देख ! इस (पलाश) को मत छूना। और इस (बहेड़े) के नीचे होकर मत चल, यहाँ भूतों का वास है। यह (सुपारी) का पौधा है, इसे अच्छी तरह देख ले। यह (नारियल) भी तुझको प्रणाम कर रहा है। यह (कोंच) है जो छूने से खुजली पैदा कर देता है। यह (पीपरी) है जो तुझसे कह रही है कि हे कुँवरि, अब तू प्रीतम प्राणाधार के पति अति मत करे। यह (हरीतिकी) है जो उदर के सब रोगों को हरकर सुख देती है जैसे तू गिरधर लाल को सुख देती है। यह (द्राक्षा) यद्यपि बहुत रसीली है परन्तु तेरे समान रसीली नहीं है। यह (केसर) क्यारी तेरे चरणों पड़ रही है। यह (स्वर्णपुष्पी) खड़ी तेरी बलाएँ ले रही है। इस पुष्पित (मालती) की सुगन्धि तेरी शरीर-सुगन्धि से मिलकर चारों ओर महक रही है। देख, यह (संजीवनी) है, बस तेरे समान, जैसी तू संजीवनी है। इस (कुन्द) की कली में तेरी क्रान्ति की शोभा देख रही है। ये (बन्धूक) दिन में दोपहर को खिलते हैं, परन्तु अब रात्रि में तुझे देखकर फूल रहे हैं। ये (गुञ्जाफल) भी तुझे प्रणाम करते हैं। इनका मुख श्याममय है, ये सदा श्याम का नाम लेता रहता है। यह (केतकी) तेरे आगमन से फूली नहीं समाती यह (लवङ्ग) की बेलि तेरे चरणों से लिपट रही है। यह (इलाइची) तेरे पैरों पड़कर तेरे मुख के समीप आने की इच्छा कर रही है। इस (माधवी) ने तेरी सुगन्धि धारण

कर सम्पूर्ण बन को सुवासित कर दिया है। और यह (वंशीवट) है जहाँ सब सुख की प्राप्ति होती है।

आगे सखी ने कहा कि यह (मानसरोवर) है जो तेरे अनुराग के जल से भरा हुआ है। यह (यमुना) है जो अपनी (तरङ्गों) के कर पसारकर तेरे चरणों का स्पर्श करना चाहती है। आ, सखी! चली आ, अब हम प्रिय के (तीर) आ चुकी हैं। देखो, वे (बेतस) की कुञ्जें हैं जहाँ बलवीर बैठे तेरी प्रतीक्षा करते हैं। उसी स्थान पर (कोकिला) अपने शब्द से रस घोल रही है मानों प्रिय कृष्ण को विरह से आर्त देखकर तुझे पुकार रही हो और वंशी नाद (शब्द) में कृष्ण भी 'प्राणेश्वरी आव !' 'प्राणेश्वरी आव !' शब्द निकाल रहे हैं।

इस प्रकार वार्तालाप करती हुई दूती राधा को लेकर कृष्ण के पास पहुँच गई। कृष्ण और राधा दोनों का प्रेम-भाव से इस प्रकार (मिलाप) हुआ जैसे (इन्द्रियों) में इन्द्रिय-शक्ति मिल जाती है, अथवा जैसे दूध और पानी मिलजाते हैं। यहाँ नन्ददास राधाकृष्ण के (युगल) रूप में अपनी भक्ति प्रकट करते हुए प्रार्थना करते है—"यह युगलरूप मेरे हृदय में सदा निवास करे। जिन रसिक जनों ने इस रचना के (सौरभ) को जान लिया उनको परमानन्द मिल गया और जो इस नाम(माला) को कण्ठ करेंगे वे शोभा के स्थान बनेंगे।"

इस ग्रन्थ से नन्ददास के भाषा-पाण्डित्य तथा काव्य-कौशल दोनों का परिचय मिलता है। कोष-ग्रन्थ में जिस खूबी के साथ कथानक को सटाया है वह वास्तव में एक कलात्मक-कार्य है। कथानक के वर्णन सजीव और कवितामय हैं। कवि की कल्पना शक्ति अनेक स्थलों पर उत्प्रेक्षा और उपमा रूप में प्रकट होकर पाठक के मनोराज में अपूर्व काव्यानन्द का सञ्चार करती है। सखी के वाक्चातुर्य, शिक्षा और उपालम्भ में सने वाक्य नन्ददास की वर्णन शक्ति की महत्ता और वर्णन की प्रभावोत्पादकता के द्योतक हैं। छन्दों के अन्तिम चरणों में ही कथानक का सिलसिला चलता है, उसी में कवि की काव्यमयी मधुर भाषा का परिचय मिलता हैं। बीच बीच में 'भई तवे की बुन्द' जैसे मुहावरों के प्रयोग ने भी भाषा में जान डाल दी है।

दशम स्कन्ध

नन्ददास का कहना है—"मित्र के कहने से ही मैं संस्कृत 'भागवत' का भाषा में वर्णन करता हूँ।"[1] ग्रन्थ के पढ़ने से ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ 'श्री मद्भागवत' का अक्षरशः

नोटः—कथानक के कोष्ठकबद्ध शब्दों की नन्ददास ने 'नाममाला' बनाई है। लेखक ने इस ग्रन्थ के विवेचन में बलदेवदास करसनदास कीर्तनियाँ द्वारा प्रकाशित 'पञ्चमञ्जरी' का आधार लिया है।

[1] —तिन कही दशम स्कंध जु आहि, भाषा करि कछु बरनौं ताहि।

—दशम स्कन्ध, प्रथम अध्याय, नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० १६६।

श्रीमद्भागवत और नन्ददास का दशम स्कन्ध

अनुवाद नहीं है। इसका केवल भावानुवाद इसमें है। कवि ने 'श्रीमद्भागवत' की टीकाओं का भाव लेकर ग्रन्थ को रचा है। मुख्य टीकाएँ दो हैं जिनके भावों का इस ग्रन्थ में विशेष रूप से समावेश है। एक श्रीधर स्वामी-कृत 'भावार्थ-दीपिका' है, कवि ने स्वयं इस ग्रन्थ में श्रीधर स्वामी जी का उल्लेख किया है।[1] दूसरी टीका श्री वल्लभाचार्य जी-कृत 'सुबोधिनी' है। इस दूसरी टीका का, कवि पर, विशेष रूप से प्रभाव पड़ा है। परन्तु जहाँ श्रीधर स्वामी और वल्लभाचार्य जी के विचारों में मतभेद है, वहाँ कवि ने दोनों के मतों को दे दिया है। श्रीधर स्वामी की जो प्रशंसा कवि ने की है उससे ज्ञात होता है कि वल्लभ-सम्प्रदाय में आने के पहले कवि के ऊपर श्रीधर स्वामी के विचारों का विशेष प्रभाव था जिसको वह 'सुबोधिनी' के सुनने के बाद भी पूर्ण रूप से नहीं हटा सका था। उपर्युक्त कथन की पुष्टि 'दशम स्कन्ध' में, 'भागवत पुराण' के दस लक्षणों के वर्णन से होती है।

'भागवत' के द्वितीय स्कन्ध के दशम अध्याय में 'भागवत' के दश लक्षण दिये हुए हैं—सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानु कथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय। नन्ददास ने ग्रन्थ के आरम्भ में कहा है—"'भागवत' के नव लक्षणों को पहले समझे बिना कोई 'भागवत' के वर्णित दशवें विषय 'आश्रय' (परम ब्रह्म परमात्मा) को नहीं पहचान सकता। इसलिए पहले मैं नव लक्षणों का वर्णन करता हूँ।" 'दशम स्कन्ध' के इस वर्णन में 'आश्रय वस्तु' की स्थिति श्रीधर स्वामी जी के अनुसार बताई गई है। और इसमें निरोध की स्थिति वल्लभाचार्य जी के अनुसार बताई गई है। इस प्रकार दोनों के मतों को कह दिया गया है। सम्भव है उन्होंने ऐसा इस विचार से किया हो कि उनका भागवत भाषा ग्रन्थ किसी साम्प्रदायिक दृष्टि से न देखा जाय और वह लोकसुखकारी और लोकप्रिय बन सके।

ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने गिरिधर-रूप गुरु की बन्दना की है।[2] ग्रन्थ-रचना के समय श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी उनके गुरू थे, परन्तु कवि ने गुरू का नाम नहीं दिया है।

१—अरु जु महामति श्रीधर स्वामी, सब अर्थनि के अंतरजामी।
तिन कही यह श्री भागवत ग्रन्थ, जैसे छीर उदधि को मंथ।
—दशम स्कन्ध, प्रथम अध्याय नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० १६६।

२—जो गुरु गिरिधर देव की, सुन्दर दया ढरैर।
गुंग सकल पिंगल पढ़े, पंगु चढ़ैं गिरि मेर।
—दशम स्कन्ध, प्रथम अध्याय।

वर्णित विषय का परिचय, प्रथम अध्याय

आरम्भ में कृष्ण की बन्दना है। बन्दना के बाद कवि ने अपने मित्र को 'भागवत पुराण' के निम्न लिखित दस लक्षण समझाये हैं।[1]—

१—सर्ग— महत् तत्व, पञ्च महाभूत, सूक्ष्म पञ्च इन्द्रियाँ आदि जो इस सृष्टि के कारण वर्ग हैं, उनकी उत्पत्ति-विषय के वर्णन को सर्ग कहा है। श्रीमद्-भागवत के अनुसार इसकी स्थिति भागवत के तीसरे स्कन्ध में है।

२—विसर्ग— कार्यरूप यह सृष्टि अथवा जगत का परिचय विसर्ग है। इसकी स्थिति भागवत के चौथे स्कन्ध में है।

३—स्थान— उत्पन्न सृष्टि की मर्यादा स्थापित कर भगवान् उसकी उन्नति करते हैं। इस उन्नति कार्य को स्थान कहा गया है। यह भागवत के पाँचवें स्कन्ध में है।

४—पोषण— यद्यपि भगवान् के भक्त, दोषों से मुक्त नहीं हैं फिर भी भगवान् अपने भक्तों पर अनुग्रह अथवा पुष्टि करते हैं। भगवान् के इस अनुग्रह और रक्षा के भाव को पोषण कहा गया है। नन्ददास का यह विचार पुष्टि-मार्ग के बिलकुल अनुकूल है। इस भाव की स्थिति भागवत के छठे स्कन्ध में है।

५—ऊति— जहाँ साधु और असाधु, पुण्य और पाप से उत्पन्न वासनाओं का विषय वर्णित है, वहाँ इन वषयिक प्रसंगों में ऊति की स्थिति है। यह विषय भागवत के सातवें स्कन्ध में वर्णित है।

६—मन्वन्तर— प्रत्येक मन्वन्तर के अधिपतियों का धर्म 'मन्वन्तर' कहा गया है। इसकी स्थिति आठवें स्कन्ध में है।

७—ईशानुकथा—भगवान् के अवतारों की लीला, चरित्र तथा हरि के अनुगामी सत्पुरुषों की कथा को, (जैसे मुचकुन्दादि राजा) ईशानु कथा कहा गया है। इसकी स्थिति भागवत के नवें स्कन्ध में है।

८—निरोध— निरोध के विषय में जैसा कि पीछे कहा गया है श्रीधर स्वामी और वल्लभाचार्य में मतभेद है।

श्रीधर स्वामी के मतानुसार निरोध का अर्थ है दुष्ट राजाओं का अवबोध-नाश, अथवा जीवों की चार प्रकार की प्रलय। यह विषय श्रीधर स्वामी के मतानुसार दशम-स्कन्ध में वर्णित नहीं है। उनके मतानुसार श्रीकृष्ण-चरित्र आश्रय-वस्तु ही इस दशम-स्कन्ध का विषय है और निरोध का वर्णन भागवत के बारहवें स्कन्ध में है। उनके मता-नुसार नव लक्षणों का लक्ष्य आश्रय-रूप श्रीकृष्ण-चरित्र है।

१—दशम स्कन्ध, प्रथम अध्याय, 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६७।

श्रीवल्लभाचार्य के मतानुसार निरोध का अर्थ है—भक्त की भगवान् में पूर्ण आसक्ति, इतर विषयों से विरक्ति, भगवान् का अपनी प्रभुता छोड़कर भक्त की ओर ध्यान लगाना और उसके प्रति वत्सलता दिखाना। इन भावों की अभिव्यक्ति कृष्ण की लीलाओं में हुई है। इसलिए निरोध (विषयों से विरक्ति और भगवान् में आसक्ति) के लिए कृष्ण-लीला का वर्णन दशम स्कन्ध में हुआ है। नन्ददास ने इन दोनों मतों को ग्रन्थ के आरम्भ में दे दिया है।[1] परन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि अमुक मत श्रीधर स्वामी का है। और अमुक मत श्रीवल्लभाचार्य जी का है।

९—मुक्ति— अन्यथा रूप को त्यागकर अपने स्वरूप की प्राप्ति मुक्ति है। इसका वर्णन भागवत के ११वें स्कन्ध में है।

१०—आश्रय— जगत का जिसमें आविर्भाव और तिरोभाव है वह 'आश्रय' है। नन्ददास श्रीधर स्वामी के मत का इस विषय में अनुकरण करते हैं। आश्रय कृष्ण का वर्णन उन्होंने दशम स्कन्ध में ही माना है, जो उनकी निम्नलिखित पङ्क्तियों से प्रकट होता है—

इन लच्छन करि लच्छित जोई, आश्रय वस्तु कहावे सोई।
सो दसयें इहि दसम निकेत, प्रगट आहि भक्तन के हेत।[2]

इस वर्णन के उपरान्त कवि आगे भागवत की कथा का वर्णन करता है। पहले कृष्णावतार के कारणों का वर्णन है फिर मथुरा में कंस के वंश और राज्य का वर्णन किया गया है। दूसरे अध्याय में देवकी के गर्भ में स्थित श्रीकृष्ण की ब्रह्मादिक देवताओं द्वारा की गई स्तुति में नन्ददास ने अपने कुछ धार्मिक विचारों का परिचय दिया है। श्रीमद्भागवत में भी यह स्तुति है, परन्तु नन्ददास ने अपने साम्प्रदायिक विचार अधिक मिला दिये हैं। तीसरे अध्याय में कृष्ण-जन्म-वर्णन है। श्रीमद्भागवत में भी यह विषय वर्णित है। चौथे अध्याय में कंस का कुपरामर्श वर्णित है। भागवत में भी यही विषय है। पाँचवें अध्याय में नन्द के घर में कृष्ण-जन्म के महोत्सव का वर्णन है। भागवत में भी यही विषय वर्णित है।

१—दुष्ट नृपन को हरन अबोध, बुध जन ताको कहत निरोध।
भक्तहि इतर विषय ते निरोध, उतहि मोच्छ सुख ते अवरोध।
शुद्ध प्रेम मधि प्रापति करै, इक निरोध यह विधि विस्तरै।
× × ×
अवर निरोध भेद सुनि मित्र, बरनत जा कहुँ परम विचित्र।
जद्यपि कोटि ब्रह्माण्ड के कर्ता, अरु तिनके भरता संहरता।
परम सनेह भगति होइ जाके, ईश्वरता कछु फुरै न ताके।
—दशम स्कन्ध, प्रथम अध्याय, 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० ११७, १६८।

२—दशम स्कन्ध, प्रथम अध्याय, 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० ११७।

परन्तु भाषा-कवियों ने इस वर्णन को बहुत विस्तार दिया है। इस ग्रन्थ में नन्ददास ने इस प्रसङ्ग का संक्षेप में ही, वर्णन किया है। छठे अध्याय में बकासुर और पूतना-वध की कथा है। सातवें अध्याय में कृष्ण का बाल-चरित्र वर्णित है। भागवत की कथानुसार शकटासुर और तृणावर्त-वध का भी इसमें वर्णन है। आठवें अध्याय में भागवत के अनुसार कृष्ण का उत्तरोत्तर बढ़ने और उनकी बाल-क्रीड़ाओं का वर्णन है। परन्तु नन्ददास ने अन्य भाषा-कवियों की भाँति, इस विषय को विस्तार दिया है। कृष्ण का मिट्टी खाना, देहरी लाँघना, माता का बालक को चलना सिखाना आदि प्रसङ्ग नन्ददास ने इसमें बढ़ा दिये है, नन्ददास के इन प्रसङ्गों का वर्णन इतना रोचक नहीं है जितना सूरदास और परमानन्ददास के पदों का वर्णन बन पड़ा है।

नवें अध्याय में कृष्ण के ऊखल-बन्धन की कथा है। दसवें अध्याय में यमलार्जुन के उद्धार की कथा है और कृष्ण की स्तुति है। श्रीमद्भागवत में भी यही विषय है। ग्यारहवें, बारहवें तथा तेरहवें अध्यायों में वत्सासुर, बकासुर और अघासुर के वध की कथा है। ब्रह्मा का मोह और उनके मोहनाश का भी वर्णन है। भागवत में भी इन्हीं अध्यायों में यही कथा है। चौदहवें अध्याय में ब्रह्मा द्वारा कृष्ण-स्तुति है। भागवत में भी यही प्रसङ्ग है परन्तु नन्ददास ने इस स्तुति में ब्रह्म का स्वरूप और ज्ञानयोग से बढ़ कर भक्तियोग की उत्कृष्टता का अधिक वर्णन किया है।

पन्द्रहवें अध्याय में श्री कृष्ण का वृन्दावन में गोचारण और वहीं धेनुकासुर के बध का वर्णन है। गोचारण प्रसङ्ग में 'रास-पञ्चाध्यायी' के वर्णन के ढङ्ग पर वृन्दाबन का वर्णन किया गया है। श्रीमद्भागवत में भी यही विषय है। सोलहवें अध्याय में भागवत के अनुसार कालीनाग-नाथन का विषय है। सत्रहवें अध्याय में भागवत के अनुसार ही दावाग्नि का वर्णन है। अठारहवें अध्याय में कृष्ण की विविध क्रीड़ाओं का वर्णन और भागवत के अनुसार बलराम द्वारा प्रलम्बासुर वध का वर्णन है। उन्नीसवें अध्याय में भागवत के अनुसार, दावाग्नि से गो, गोप, ग्वालों की रक्षा का वर्णन है। बीसवें अध्याय में वर्षा और शरद ऋतुओं का वर्णन है। श्रीमद्भागवत में भी यही विषय है। इस वर्णन में कवि द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य का सुन्दर चित्र खींचा गया है। वर्णन के उपमान-वाक्यों में कवि ने तुलसीदास जी के प्रकृति-वर्णनों की भाँति उपदेश और नीति की बातें भी कहीं हैं।

इक्कीसवें अध्याय में भागवत के अनुसार गोपी-गीत वर्णित है। शरद-समय के वृन्दाबन की शोभा के बीच से वंशीनाद सुन कर गोपियां कृष्ण के रूप की माधुरी और उनके प्रति अपने अनुराग का परस्पर वर्णन करती हैं। वे, बन की हरिणी, वहाँ के पशुपक्षी, वृक्ष, लतादि की सराहना करती हैं जो बन में कृष्ण के नैकट्य और उनके बंशीनाद का आनन्द लूट रहे हैं। यह वर्णन सुन्दर है।

बाइसवें अध्याय में भागवत के अनुसार ही चीर-हरण लीला का वर्णन है। अध्याय के अन्त में कवि ने कृष्ण से कहलाया है—"जो ऐहिक विषयों से आक्रान्त-मति को भी मुझमें लगावेंगे उनकी मति फिर संसार के विषयों में नहीं जायगी। जैसे भुजे हुए धान के बोने से धान नहीं उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार मुझमें लगे हुए मन में भी ऐहिक विषय-फलीभूत नहीं होते।[1]" इसी सिद्धान्त के अनुसार सूर आदि भक्तों की भक्ति-पद्धति में लौकिक विषयों को लोक से विमुख कर के कृष्ण के साथ लगाया गया है। तेइसवें अध्याय में भागवत के अनुसार कृष्ण की आज्ञा से गोपों का ब्राह्मणों के यज्ञ में भोजन माँगने के लिए जाने की कथा वर्णित है। कवि ने बताया है कि कृष्ण-भक्ति के बिना व्रत, जप, तप, यज्ञ आदि कर्म किसी चिर-सुख के दाता नहीं हो सकते। चौबीसवें अध्याय में भागवत के अनुसार ही इन्द्रयज्ञ-भङ्ग करने की कथा वर्णित है।

पचीसवें अध्याय में श्रीमद्भागवतानुसार कृष्ण के गोवर्द्धन-धारण और गोवर्द्धन पूजा की कथा वर्णित है। इस अध्याय की बहुत सी पङ्क्तियाँ ज्यों की त्यों नन्ददास के ग्रन्थ 'गोवर्धन-लीला' की पङ्क्तियों से मिलती हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि गोवर्धन-लीला के आदि में बन्दना है और अन्त में लीला के माहात्म्य का वर्णन है। जैसे चौपाई छन्दों से दशम स्कन्ध की गोवर्द्धन-लीला वाला यह पचीसवाँ अध्याय लिखा गया है उसी प्रकार स्वतन्त्र ग्रन्थ रूप में प्रचलित गोवर्द्धन-लीला भी उसी छन्द में लिखी गई है। संभव है, इसी अध्याय में कुछ चौपाई और बढ़ाकर एवं आरम्भ में बन्दना देकर इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ का रूप या तो कवि ने स्वयं ही दे दिया है अथवा उनके बाद किसी अन्य व्यक्ति ने ऐसा किया है।

छब्बीसवें अध्याय में भागवत के क्रमानुसार नन्द और गोपों के वार्तालाप का वर्णन है। इस वार्तालाप में गोपों का कृष्ण के अलौकिक कार्यों पर विस्मय और गर्गाचार्य द्वारा कृष्ण के ब्रह्मरूप के वर्णन में गोपों का समाधान वर्णित है। सत्ताईसवें अध्याय में इन्द्र द्वारा कृष्ण की स्तुति है। इन्द्र-दर्प की कथा से कवि ने इस प्रकार निष्कर्ष निकाला है—

गरबु करहु जिन भूलि कोउ, मह जन धन कों पाइ।
नन्द इन्द्र तें को बड़ो दीनों धूरि मिलाइ।[2]

१—मेरे विषै जुमति अनुसरैं, सो मति बहुरि न विषै संचरै।
भूजित धान जगत में जैसे, बीज के काज न आवैं तैसे।
—दशम स्कन्ध, बाईसवाँ अध्याय। 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० २११।

२—दशम स्कन्ध, २७ वाँ अध्याय, नन्ददास 'शुक्ल' पृ० २१६।

अट्ठाईसवें अध्याय में भागवत के अनुसार वरुणालय से नन्द के छुटाने की कथा का वर्णन है। उन्तीसवें अध्याय में भागवत के अनुसार वेणुगीत संङ्ग्रहीत हैं और कृष्ण-रास-लीला का वर्णन है। भागवत में २६ से ३३ अध्याय तक रासक्रीड़ा का वर्णन आता है। नन्ददास के इस अध्याय में रास का वर्णन पूर्ण नहीं है। वेणुनाद सुन कर गोपियाँ कृष्ण के पास जाती हैं, पर कृष्ण उन्हें घर वापस लौट जाने का उपदेश करते हैं। गोपियाँ भी अपने दृढ़ व्रत से नहीं टलती, फिर कृष्ण उनके साथ रासक्रीड़ा रचते हैं। बस, इसी कथा तक का इस अध्याय में वर्णन किया गया है। आगे कृष्ण का छिपना, गोपियों का ढूंढ़ना और उनका दैन्य और अन्त में रास-क्रीड़ा आदि के प्रसङ्ग जो नन्ददास की 'रास पञ्चाध्यायी' में है, इसमें नहीं दिये गये हैं। सम्भव है, ये प्रसङ्ग नन्ददास द्वारा लिखित अन्य आगे के अध्यायों में हों, परन्तु वे अध्याय अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके। वृन्दाबन तथा रासक्रीड़ा का वर्णन (नन्ददास) कवि की लिखी 'रास पञ्चाध्यायी' के वर्णनों से बहुत मिलता है।

यह ग्रन्थ काव्य की दृष्टि से उतना उत्कृष्ट नहीं है जितना कवि की 'रास पञ्चाध्यायी' है। फिर भी इसमें अनेक स्थानों पर वर्णन बहुत सजीव हुये हैं। 'रास पञ्चाध्यायी' की भाँति इस ग्रन्थ में भी कवि ने अपने भावों को तीव्र और स्पष्ट करने के लिए अलङ्कारों का प्रयोग किया है काव्य की दृष्टि से नन्ददास का यह ग्रन्थ महत्वशाली नहीं है; एक साधारण कोटि की रचना है।

श्याम सगाई

राधा कृष्ण के घर नित्य खेलने आया करती थी। एक दिन राधा के रूप-सौन्दर्य को देखकर यशोदा के मन में इच्छा हुई कि उसके प्यारे पुत्र कृष्ण के साथ राधा की सगाई हो जाय। इस विचार से प्रेरित होकर उसने अपनी अभिलाषा की प्रार्थना एक ब्राह्मणी के हाथ, राधा की माता कीर्तिजी के पास 'बरसाने' भेजी। जब कीर्ति ने सुना तो उसने यह कहकर अस्वीकार कर दिया—"मेरी राधा बहुत सीधी है और कृष्ण बडा नटखट और चोर है। दोनों की समान जोड़ी नहीं है।" यशोदा को इस निराशापूर्ण उत्तर से दुख हुआ। उधर, राधा कृष्ण पर मोहित थी। एक दिन राधा के हृदय पर कृष्ण के मोहन रूप का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह बहुत विकल हो गई। उसकी अन्तरङ्ग सखियों ने कृष्ण-मिलन का एक उपाय यह निकालकर उसे बताया कि तू अपनी माता से कहना—"मुझे काले साँप ने काट लिया है।" हम कृष्ण को विष उतारने के लिए तेरे पास बुलवा लेंगी। राधा ने ऐसा ही किया। जब कीर्ति अपनी पुत्री राधा की मूर्छा पर व्याकुल होने लगी, तब राधा की सखियों ने सम्मति दी कि कृष्ण बड़ा गारुड़ी है, उसी ने काले नाग को नाथा था। कीर्ति ने एक सखी को यशोदा के पास भेजा और कहलवाया—"यदि तेरा पुत्र मेरी बेटी

विषय

को अच्छा कर देगा तो मैं उसे तुझको दे दूँगी।" बरसाने से यशोदा के पास एक-एक करके कई सखियाँ आईं ; अन्त में कृष्ण राधा के घर गये। उन्होंने वहाँ जाकर उसकी मूर्छा को अच्छा कर दिया। कीर्ति ने इस कृतज्ञता में राधा की सगाई कृष्ण के साथ कर दी।

काव्य-समीक्षा

नन्ददास की 'श्याम-सगाई' नामक रचना एक साधारण कृति है। काव्य की दृष्टि से कवि के उत्कृष्ट ग्रन्थों में इसकी गिनती नहीं हो सकती इसमें न तो वर्णन की सचित्रता है और न भावाभिव्यञ्जन की रसात्मकता। कथा-कथन की रोचकता इसमें अवश्य पर्याप्त मात्रा में है। उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों के प्रयोग से जैसे 'रासपञ्चाध्यायी' और 'रूपमञ्जरी' में, कवि ने भावानुभूति की तीव्रता को बढ़ाया है और कल्पनापूर्ण सुन्दर उक्तियों से काव्य छटा छिटकाई है, उस प्रकार का काव्य सौन्दर्य और रस इस रचना में नहीं प्रतीत होता और न कवि के आध्यात्मिक भाव और विचारों का ही इसमें कोई व्यक्तीकरण है।

रचना की भाषा बहुत सरल, अकृत्रिम और प्रसाद-गुणपूर्ण है। भाषा में प्रवाह है और शब्दों में सङ्गीत का आनन्द है, जो नन्ददास की भाषा के प्रधान गुण हैं। लेखक के पीछे कहे मतानुसार, यह वास्तव में कवि की कोई स्वतन्त्र रचना नहीं है। न तो इसमें कवि ने आरम्भ में कोई वन्दना दी है और न इसके अन्त में लीला का माहात्म्य ही है जैसा कि कवि ने अपने अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थों में किया है। पीछे यह भी कहा गया है कि यह रचना नन्ददास का एक बड़ा पद है, जो नन्ददास के नाम से वल्लभ-सम्प्रदायी वर्षोत्सव-कीर्तन-संग्रह[1] में राग विलावल के अन्तर्गत दिया हुआ है।

कथा-प्रसंग का आरम्भ इस प्रकार होता है—

एक दिन राधे कुंवरि श्याम घर खेलन आई,
चंचल और विचित्र देखि जसुमति मन भाई।
नन्द महरि ने तब कह्यो, देखि रूप की रास,
यह कन्या मो श्याम कों, गोविन्द पुजवै आस।
कि जोरी सोहती। १।[2]

यशोदा, राधा की माता कीर्ति के पास अपनी अभिलाषा की प्रार्थना इस प्रकार भेजती है और जो उत्तर पाती है वह भी निम्नाङ्कित है—

नीकी राधे कुंवरि, स्याम इत मेरो नीको,
तुम किरपा करि करौ, लाल मेरे को टीकौ,

१—वर्षोत्सव-कीर्तन-संग्रह, भाग २, देसाई, पृष्ठ ४०-४३।

२—स्याम-सगाई, 'नन्ददास', शुक्ल, पृष्ठ ११२।

सब भाँतिन सुख होइगो, हम तुम बाढ़े प्रीति,
और न कछु मन में चहौं, यही जगत की रीति।
परस्पर कीजिये। ४।

कीरति उत्तर दयो. सुनो नहि करौं सगाई,
सूधी राधे कुंवरि श्याम है अति चरबाई,
नन्द-ढोट लंगर महा, दधि माखन को चोर,
कहत सुनत लज्जा नहीं, करत और ही और।
कि लरिका अचपलो। ५।[1]

पर अन्त में जब सगाई हो गई, उस समय का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

सुनत सगाई श्याम ग्वाल सब अंगनि फूले,
नाचत गावत चले, प्रेम रस में अनुकूले।
जसुमति रानी घर सज्यो, मोतिन चौक पुराइ,
बजति बधाई नन्द के नन्ददास बलि जाइ।
कि जोरी सोहनी।[2]

राधाकृष्ण-प्रेम-लीला-वर्णन के अन्तर्गत सूरदास ने भी इस श्याम-सगाई की कथा का वर्णन अपने पदों में किया है। सूरदास का यह वर्णन नन्ददास की इस रचना से कहीं अधिक उत्कृष्ट हैं। नन्ददास की इस रचना में जैसा कि अभी कहा गया है भाषा के लालित्य को छोड़कर अन्य कोई विशेष काव्य-सौंदर्य नहीं हैं।

गोवर्द्धन-लीला

'गोवर्द्धन-लीला' के अध्ययन से ज्ञात होता हैं कि इस रचना में कृष्ण-चरित्र की लीलाओं के वर्णन और गुणगान के अतिरिक्त कवि का अन्य किसी आध्यात्मिक सिद्धान्त के प्रतिपादन करने का ध्येय नहीं है। कवि ने इस रचना के अन्तिम छन्द में कृष्ण-चरित्र के गुणगान में अपने अनुराग की कामना अवश्य की है।[3] 'श्रीमद्भागवत' के अन्तर्गत इस प्रकार की अनेक कृष्ण-लीलाओं का वर्णन है। नन्ददास ने उन्हीं लीलाओं में से इस प्रसङ्ग को लेकर यह एक छोटी सी स्वतन्त्र रचना की है। इसके आदि में गुरु-चरणों की वन्दना[4] है और अन्त में, जैसा ऊपर कहा गया है, कवि की कृष्णलीला-विषयक रति की कामना है।[5] इसका कथानक इस प्रकार है—

१—स्याम-सगाई, 'नन्ददास', शुक्ल, पृष्ठ ११६।

२—स्याम-सगाई, 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १२२ पद नं० २८।

३—नन्ददास कौं इतनों कीजै, पावन गुन गावन रति दीजै।

४—श्री गुरुचरण सरोज मनावौं, गिरि गोवरधन लीला गावौं।

५—नवलकिशोर सुन्दर गिरिधारी, स्रवन नैंन मन अमृत भारी।
नन्ददास कौं इतनों कीजै, पावन गुन गावन रति दीजै।

इन्द्रपूजा के उत्सव के दिन कृष्ण ने नन्द महर से पूछा कि वह उत्सव क्यों मनाया जा रहा है? नन्द ने उत्तर दिया "तात! इन्द्रदेव जलवृष्टि कर हमारे अन्न को उपजाता है; इसीलिए उसकी पूजा का यह मण्डान हो रहा है।" यह सुन कर कृष्ण ने कहा—"गोवर्धन पर्वत ही ब्रज-जनों की रक्षा कर रहा है और यही वास्तव में वृष्टि करनेवाला है, इसलिए हमें इन्द्रपूजा को छोड़कर गोवर्धन की पूजा करनी चाहिए।" कृष्ण के कहने से सम्पूर्ण ब्रज ने बड़े बाजे गाजे के साथ गोवर्धन की पूजा की। कवि ने कथा के इस स्थल पर संक्षेप में इस समारोह का वर्णन किया है।[1]

जब इन्द्र ने सुना कि ब्रज ने उसकी पूजा बन्द कर दी है, तो उसे बड़ा क्रोध आया। उसने बादलों को आदेश दिया कि वे ब्रजजनों को अति-वृष्टि से नष्ट कर दें। उसी क्षण ब्रज पर बादल घहराने लगे। इसका वर्णन भी कवि ने किया है।[2] कवि कहता है कि जिस कृष्ण की चितवनि में सम्पूर्ण सृष्टि स्थित है और जिसके एक भ्रू-विलास से कोटि कोटि सृष्टि उत्पन्न और ध्वंस हो जाती हैं, उसी ने अति वृष्टि से व्याकुल ब्रजजनों को सान्त्वना दी और गोवर्धन उठाकर, उसकी छत्रछाया में सबकी रक्षा की। सात दिन तक घोर वर्षा हुई; परन्तु किसी का बाल भी बाँका नहीं हुआ। इन्द्र हार गया; अन्त में कवि ने इस लीला का माहात्म्य इस प्रकार वर्णन किया है—

यह नागर नगधर की लीला, सुधासींव सम सुंदर सीला।
मन क्रम बचन जु या अनुरागै, ताहि मुकति अति फीकी लागै।

× × ×

नवल किशोर सुंदर गिरिधारी, स्रवन नैंन मन अमृत भारी।
नंददास कौं इतनौ कीजै, पावन गुन गावन रति दीजै।[3]

यह कथानक कृष्ण के चरित्र की एक अलौकिक घटना का वर्णन करता है। काव्य की दृष्टि से नन्ददास की यह रचना भी एक साधारण कृति है। भावों का चित्रण न्यून है।

काव्य-समीक्षा

कथानक का भी साङ्गोपाङ्ग विस्तार नहीं है। बीच बीच में संक्षेप में वर्णन अवश्य आये हैं, जिनमें कुछ अंश में काव्यमयता है। गोवर्धन-पूजा के निमित्त जाते हुए गोप-गोपिकाओं का वर्णन कवि ने अच्छा किया है।

१—चले गोप अति ओप विराजे, भेरी मंदिर कंदर बाजे।
सोहत सीसनि पाग जरकसी, सुरपति उर की कठिन करकसी।
सकटनि चढ़ि चढ़ि छबिली गोपी, गावहिं पिक जस अतिरस ओपी॥ —गोवर्द्धन-लीला।

२—कारी घटा डरावनी आईं, पापिन साँपिनि सी घिरि धाईं।
बिजुरी चमकि लपकि यों आवै, मानों उरगिन जीभ चलावै।
फन फुंकार पवन अति ताते, हरि न होत तो सब जरि जाते।
गरजनि तरजनि अनु अनु भाँती, फूटे कान अरु फाटै छाती। —गोवर्द्धन-लीला।

३—गोवर्द्धन-लीला छन्द नं० ३९।

सुदामा चरित्र

'सुदामा चरित' की कथा कवियों ने 'श्रीमद्भागवत' से ली है। यह चरित्र इतना प्रसिद्ध और लोकप्रिय रहा है कि अनेक भाषा-कवियों ने, जैसा कि पीछे कहा गया है, इस विषय पर छन्द रचना की हैं। नन्ददास की इस रचना का ध्येय कृष्ण की दयालुता, भक्तवत्सलता, दीन-प्रतिपालकता और मैत्री-निर्वाह, भावादि का दिखाना है। ग्रन्थ में कवि की कृष्ण-भक्ति के भी दर्शन होते हैं।

विषय-तत्व कथानक

पहले कवि ने सुदामा का परिचय[1] दिया है। इसके बाद उसकी पतिव्रता स्त्री के सच्चरित्र और कर्तव्य-परायणता की प्रशंसा की है। उसकी स्त्री अपनी निर्धन अवस्था से दुःखी होकर पति के बालपन के मित्र और सहपाठी कृष्ण के पास आग्रहपूर्वक उसको भेजती हैं। सुदामाजी अपने घर से चलकर थोड़े समय में यदुपुरी द्वारिका पहुँचते हैं। यहाँ मार्ग में सुदामा जी कहाँ कहाँ हो कर गये, उनकी यात्रा कैसे कटी, आदि वर्णनों को कवि ने बिल्कुल छोड़ दिया है।[2] द्वारिकापुरी का वर्णन अवश्य किया गया है, पर वह संक्षेप में है और कवि-परम्परानुसार अत्युक्ति-पूर्ण है।

काव्य-समीक्षा

द्वारिकापुरी की शोभा को देखता हुआ ब्राह्मण सुदामा कृष्ण-भवन की पौरि पर पहुँचता है। वहाँ उसे साधारण व्यक्ति जान पौरिया लोग भीतर जाने से रोकते हैं। किसी प्रकार एक पौरिया उसे कृष्ण के पास ले जाता है। सुदामा को देखकर कृष्ण उसका बड़े प्रेम-भाव से स्वागत करते हैं। वे अपने हाथ से ही उसके चरण धोते हैं। इस दृश्य का

१—जदुवर! एक सुदामा नामा, पुरी द्वारिका ढिंग बिसरामा।
जामें बसैजु अलि-पति ऐसे, सरवर में सरसीरुह जैसे।
परम अकिंचन कछु नहिं चहै, यथा लाभ संतोषित रहै।
दीन, कृष्ण चरननि रति सरसै, इहि संसार बयार न परसै।
नेह न देह गेह सब कबहूँ, उपसम चिंतन समता सबहूँ।
—सुदामा चरित, 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० ४९१,४९२।

२—दृष्टि पड़ी जदुपुरी सुहाई, जगमगात छवि वरनि न जाई।
ऊँचे कनक भवन जगमगहीं, चखन माहि चकचौंधा लगहीं।
लागे नग जगमग रहे ऐना, मानहुँ सरस भवन के नैना।
तापर चपल पताका चमकै, बिनु छन जनु दामिनि सी दमकै।
सुन्दर सुथरी डगर जो पुर की, चोवा चंदन बंदन भुरकी।
—सुदामा चरित, 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० ४९२।

नन्ददास वैसा सजीव और प्रभावात्मक चित्र नहीं खींच पाये हैं, जैसा कवि नरोत्तमदास ने किया है। फिर भी इस वर्णन में कवि की काव्य-प्रतिभा की अल्प झाँकी अवश्य मौजूद है।[1] कृष्ण सुदामा के चरण धोकर उन्हें अपने ही पीताम्बर से पोंछते हैं। पोछते में पीताम्बर सुदामा के पैरों में उलझ जाता है जिस दृश्य को देखकर 'रमा' मुस्कराने लगती हैं, इस प्रकार स्वभावोक्ति लाकर कवि ने वर्णन में कहीं कहीं सजीवता ला दी है—

अपने आसन द्विज बैठारे, निजकर कंजनि चरन पखारे।
पोंछत रुचिकर पग जगनायक, अपने पियरे पट सुखदायक।
चरन माँहि पट अटक रहत जब, रमा सुन्दरी मुसकि परत तब।[2]

कृष्ण सुदामा के पास बैठकर मित्र से कुशल-क्षेम पूछते हैं और बाल्यकाल के उस समय के गुरुकुल की बातों का स्मरण करते हैं जब कृष्ण और सुदामा, गुरू की आज्ञा से दोनों जंगल से लकड़ी बीन कर लाये थे। कृष्ण भाभी (सुदामा की स्त्री) की भेजी हुई सौगात माँगते हैं। सुदामा थोड़े से 'चिरवा' लाये थे; परन्तु इतने वैभवशाली मित्र को देने में उन्हें सङ्कोच हो रहा था। इसलिए उन्होंने उन्हें अपनी काँख में दबा रक्खा था। कृष्ण ताड़ गये। उन्होंने सुदामा की काँख से चिरवा खोल लिये और मुट्ठी भर-भर कर बड़े चाव से चबाने लगे। कथा के इस भाग का भी नरोत्तमदास ही का वर्णन अधिक सजीव बन पड़ा है।

प्रातःकाल होते ही सुदामा अपने घर को चल देते हैं; परन्तु जिस आशा से सुदामा मित्र कृष्ण के पास आये थे, वह प्रत्यक्ष रूप से पूर्ण नहीं हुई; कृष्ण ने सुदामा को कुछ नहीं दिया। गुप्त रूप से कृष्ण ने सुदामा के घर और नगर को सम्पत्तिशाली बना दिया। सुदामा जी बड़े कुढ़ते हुए घर लौटे।

करत चबाव जात निज घर को,
मन में कहत कहा कहौं हरि को।[3]

अपने नगर और घर आकर जब सुदामा ने वहाँ का वैभव देखा और अपनी स्त्री को भी सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित देखा तो वे चकित और विमूढ़ हो गए। उनकी स्त्री ने बड़ी धूमधाम से उनका स्वागत किया। स्त्री पुरुष दोनों अपने मनोरथों की सिद्धि पाकर कृष्ण-कृपा से आभारी, उनकी भक्ति में रहने लगे। अन्त में कथानक के उद्देश्य और उपदेश को बताते हुए कवि कहता है।

ऐसे जो कोउ हरि को भजें, हरि उदारता ते सुख सजें।
दीनन को वरदायक नित ही, रहत अधीन भक्त के हित ही।
चरित स्याम को इहि है ऐसो, बरन्यो नन्द यथामति जैसो।[4]

१—'नन्ददास, शुक्ल, पृष्ठ ४८३।

२—'नन्ददास, शुक्ल, पृष्ठ ४८३।

३—'नन्ददास' शुक्ल, पृ० ४८४।

४— ,, ,, ४८७, छं० नं० ६१।

नन्ददास कृत यह 'सुदामा-चरित' बहुत साधारण रचना है। 'रास पञ्चाध्यायी' अथवा 'भँवर गीत' का सा इसकी भाषा में पदलालित्य नहीं है। रचना में व्यक्त किया हुआ मुख्य भाव सख्य-प्रेम है। वर्णन बहुत थोड़ा है। श्रीमद्भागवत में इस कथानक को वर्णनों से तथा भावव्यञ्जना से कुछ विस्तार दिया गया है; परन्तु नन्ददास ने भावात्मक तथा वर्णनात्मक स्थलों को विस्तार नहीं दिया। कथानक भी संक्षेप में ही कह दिया गया है। सम्भव है यह रचना नन्ददास की आरम्भिक रचना हो।

विरह मञ्जरी

विषय और उसकी रचना का ध्येय

'विरह-मञ्जरी' भावात्मक काव्य है। इसमें एक ब्रजबाला की वियोग-दशा का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ में कोई कथानक नहीं है, और न कृष्ण चरित्र से सम्बन्ध रखने वाला कोई प्रसङ्ग है। इस ग्रन्थ का प्रसङ्ग केवल इतना है कि कृष्ण प्रेम में मग्न एक संयोगिनी युवती कृष्ण के वियोग का अनुमान करती है, यह सोचते सोचते उसे भ्रम हो जाता है कि कृष्ण द्वारिका चले गये हैं। वह इस भ्रम में ही विकल हो जाती है। वह रात्रि में चंद्रमा को अपनी विरह दशा सुनाती है, और उसे दूत बनाकर कृष्ण के पास अपना सन्देश ले जाने की प्रार्थना करती है। यह ब्रज-बाला बारह महीनों में होनेवाली वियोग-दशाओं का अनुभव इस क्षणिक काल्पनिक वियोग-दशा में ही कर लेती है। जब उसकी चेतना जागती है, वह फिर कृष्ण-संयोग की वास्तविक अवस्था में मग्न हो जाती है। अस्तु, कवि ने वियोग-वर्णन की परिस्थिति वास्तविक नहीं रक्खी। संयोग ही में वियोगावस्था की काल्पनिक अनुभूति कराई है।

ग्रन्थ में वर्णित विषय केवल वियोग-शृङ्गार है, तथा वर्णन बारहमासे की परिपाटी में किया गया है। ब्रज के लोक-गीतों में 'बारहमासी' अथवा 'बारहमासा' बहुत ही प्रचलित और लोक-प्रिय गीत का रूप है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने भी नागमती की विरह-दशा बारहमासे में ही चित्रित की है। नन्ददास ने जैसे 'रूप-मञ्जरी' का विरह षड्ऋतु में व्यक्त किया है, उसी प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में ब्रज-बाला का विरह बारहमासे में प्रकट किया गया है। विरहणी ब्रजबाला 'चन्द्र' को दूत बनाकर कृष्ण के पास भेजती है। चन्द्र-दूत की कल्पना का संकेत कदाचित् कवि ने कालिदास के प्रसिद्ध काव्य मेघदूत से लिया है। इस वियोग वर्णन में नन्ददास की काव्य-प्रतिभा का तो दर्शन होता ही है, साथ में कवि के कुछ धार्मिक सिद्धान्तों का भी परिचय मिलता है।

प्रेम-भक्ति में सभी भक्तों ने बिरहावस्था को साधना की एक उच्च सीढ़ी माना है। कुछ भक्तों ने तो विरह को इतना महत्व दिया है कि वे इस अवस्था की 'कसक' के अपूर्व आनन्द के सामने मोक्ष को भी उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। 'रूप-मञ्जरी' में नन्ददास ने

भी विरह-भाव की महत्ता बतलाते हुए कहा है कि संयोग में प्रिय का एक ही रूप मिलता है, और विरह में प्रिय सर्वत्र और सब समय दिखलाई देता है[1], इसलिए विरह अधिक आनन्द-प्रद है।

भक्ति-भावना के अतिरिक्त लौकिक प्रेम में भी विरह, प्रेम का पोषक तथा उद्दीपक ही होता है। इसीलिए भक्त-लोग अपने मन में अपने प्रिय परमात्मा के वियोग की अवस्था का अनुमान कर उसके विरह में विकल रहा करते हैं। वल्लभ सम्प्रदायी भक्त कवियों में भी यह बात देखने में आती है। उन्होंने वियोगावस्था की कल्पना के अभ्यास से अपना मन परमात्मा की ओर लगाया है। इस प्रकार के काल्पनिक अभ्यास से भक्त के चित्त में वास्तविक विरह की जागृति हो जाती है, और उसकी अविच्छिन्न लगन परमात्मा में लग जाती है। सगुण-प्रेम-भक्ति में तो विरह की वास्तविक परिस्थिति होती ही है, निर्गुण ब्रह्म के साधकों (कबीरादि) में भी अपने ध्यान को ईश्वरोन्मुख करने के लिए काल्पनिक परिस्थिति द्वारा किसी अज्ञात प्रिय के विरह में अपने मन की वृत्ति रमाई है, और इस विरह-व्याकुलता द्वारा उन्होंने चित्त की एकाग्रता प्राप्त की है। 'विरह-मञ्जरी' में जो विरह का काल्पनिक रूप कवि ने दिया है, वह साधन-कोटि का, प्रेम का उद्दीपक विरह है। "विरह प्रेम-वृद्धि का साधन है। भगवान् कृष्ण के विरह की कल्पना से उनके प्रति प्रेम में उत्कर्ष होता है"। यह भाव नन्ददास ने 'विरह-मञ्जरी' के आरम्भिक छन्द में दिया है—

परम प्रेम उच्छलन कौं बढ़्यो जु तन मन मैन,
ब्रज-बाला विरहिन भई, कहत चंद सों बैन।१।

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि कृष्ण-वियोग ब्रज-बाला की कल्पनामात्र है, और यथार्थ में कृष्ण-प्रवास का वियोग अङ्कित नहीं किया गया। वल्लभ-सम्प्रदाय के मतानुसार यह ठीक भी है, क्योंकि उसके अनुसार ब्रज, कृष्ण का नित्यधाम है, उनका ब्रज से कभी वियोग ही नहीं होता। एक ही कृष्ण के दो रूप हैं—१ रस-रूप यशोदा-नन्दन ब्रज-कृष्ण और २—चतुर्व्यूहात्मक भगवान्, जो जहाँ जैसा कार्य होता है वहाँ वैसा ही रूप धारण करते हैं। यह मथुरा-द्वारकाधीश वासुदेव देवकीनन्दन हैं। इनमें से प्रथम रस-रूप, भावमय ब्रज-कृष्ण, ब्रज में नित्य रहते हैं, वह ब्रज छोड़कर कहीं नहीं जाते। ब्रज छोड़कर कृष्ण अपने व्यूहात्मक वासुदेव रूप से गये थे। अस्तु, वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार ब्रज का भावमय वियोग कृष्ण से कभी नहीं होता। जब कृष्ण सदैव ब्रज में रहते हैं, तब विरह की परिस्थिति क्यों और कैसे उत्पन्न हुई? यह प्रश्न नन्ददास ने स्वयं 'विरह-मञ्जरी' के आरम्भ में उठाया है—

१—हौं जानौं पिय के मिलें, बिरह अधिक सुख होय,
मिलते मिलिए एक सों, बिछुरे सब ठाँ सोय।
—रूप-मंजरी, बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ४४४।

प्रश्न भयो इक, सुंदर स्याम, सदा बसत वृन्दावन-धाम ।
वाके विरह जु उपज्यो महा कहो नन्द, सो कारन कहा ।

इस विरह का कारण विरह की काल्पनिक अनुभूति द्वारा ब्रज-बाला के हृदय में कृष्ण प्रेम की उद्दीप्ति तथा कृष्णानन्द का अनुभव कराना है । प्रवास-विरह की परिस्थिति को भी काल्पिनिक रूप में रखकर ही दिखाया गया है, क्योंकि नित्य ब्रज में रहनेवाले कृष्ण के साथ प्रवास-विरह बनता नहीं ।

विरह-वर्णन तथा काव्य-समीक्षा नन्ददास ने 'विरह-मञ्जरी' में कृष्ण का विरह चार प्रकार का बतलाया है—[१] प्रत्यक्ष, [२] पलकान्तर, [३] वनान्तर और [४] देशान्तर ।

प्रत्यक्ष-विरह— प्रिय के पास रहते हुए भी प्रिय के प्रगाढ़ प्रेम की उत्कट लालसा में प्रिय के वियोग का क्षणिक भ्रम प्रत्यक्ष विरह होता है ।

पलकान्तर-विरह—प्रिय को पल-मात्र भी प्रेमी ओट में नहीं देखना चाहता । पलक मारने में जितनी देर प्रिय-दर्शन से ओट होती है, उतने समय के वियोग को पलकान्तर-वियोग कहा है । यह प्रेम की पराकाष्ठा की अवस्था है ।

वनान्तर-विरह— जब कृष्ण गोचारण के लिए वन में जाते हैं. उस समय का विरह वनान्तर-विरह है । इसका उदाहरण नन्ददास ने इस प्रकार दिया है—

जब वृन्दावन गोगन गोहन, जात हैं नन्द-सुवन मनमोहन ।
तब की कही परत नहि बात, इक-इक अल्प कल्प-सम जात ।
नयन बैन मन स्रवन सब, जाय रहत पिय पास ,
प्रान - मात्र घट रहत हैं, फिर आवन की आस ।[२]

देशान्तर-विरह – प्रिय के परदेश चले जाने पर देशान्तर-विरह होता है । पिछले तीन विरह तो यथार्थ रूप में घटित होते हैं. परन्तु यह चतुर्थ विरह वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार यथार्थ रूप में नहीं माना जाता, क्योंकि ब्रज-कृष्ण का देशान्तर-वास कभी होता ही नहीं । इसकी परिस्थिति केवल भावना में प्रेम को उत्कर्ष देने के लिए भक्त- लोक बना लेते हैं ।

१—'विरह-मञ्जरी' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ६ तथा ७ ।
२—'विरह मञ्जरी' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं०, २४ से २७ तक ।

देशान्तर अथवा प्रवास-विरह में विकलता और प्रिय के मिलन की उत्कण्ठा अधिक उत्कट होती है। इस विरह में प्रेमी प्रिय के साथ तदाकार हो जाता है। नन्ददास ने इस विरह की कल्पना इस प्रकार की बताई है–जैसे कोई कण्ठ में मणि बाँधकर उस मणि को इधर उधर ढूढ़े।[1] यह भावमय अवस्था देखने में कृत्रिम है, परन्तु यथार्थ में यह उस कञ्जूस की सी अवस्था है, जो पैसा पास होते हुए भी हमेशा पैसा पाने के लिए विकल रहता है, और कभी कल्पना करता है कि उसका द्रव्य चोर ले गये, तो उस मिथ्या अनुमान में ही व्याकुल हो जाता है। इस प्रकार के भ्रम की अवस्था उस कञ्जूस की पैसे के साथ भारी लिप्ति की द्योतक है। उसी प्रकार इस ग्रन्थ की व्रज-बाला भी रसेश श्रीकृष्ण के द्वारावति जाने की कल्पना करती है यद्यपि वह उसके समीप ही है। देशान्तर-विरह का वर्णन करने के बाद कवि ग्रन्थ के अन्त में कहता है—

यह विधि घरिक रही चटपटी, प्रेम की रीति निपट अटपटी।
बहुर्यो व्रज-लीला सुधि आई, जामें नित्य किसोर कन्हाई।
सुपने को दुख पावत जैसे, जाग परे सुख होत है तैसे।
और भाँति व्रज को विरह बने न काहू अंग,
पूरनता हरि वृंद की परत तासमै भंग।
जो कोऊ सुने-गुने, चित लावे, सो सिद्धांत तत्व को पावे।[2]

'विरह-मञ्जरी' में वियोग, प्रवास अथवा देशान्तर-वियोग है। व्रजबाला अपनी विरह-दशा चन्द्र के समक्ष प्रकट कर उसे कृष्ण के पास दूत बनाकर भेजती है। विरह-दशा बारहमासे में प्रकट हुई है। कवि ने इस प्रकार कथा आरम्भ की है—

रही हुती रजनी कछु थोरी, जाग परी सहजहि बर गोरी।
द्वारावति-लीला सुधि भई, ताही छिन सों बिकल ह्वै गई।
दृष्टि परि गयो चंदा गैन, लागी ताहि संदेसो दैन।
द्वादस मास बिरह की कथा, विरहिनी को दुखदायक यथा।
छिनक माँझ बरनी यह बाला, महा बिरहिनी ह्वै तिहि काला।[3]

बारहमासे में कवि ने विरह की दयनीय दशा का चित्र अङ्कित किया है। काव्य की दृष्टि से इस ग्रन्थ में कवि की शब्दावली उतनी मार्मिक नहीं है जितनी उसकी भावावली है। बारह महीनों में प्रकृति के भिन्न-भिन्न व्यापार मानव-हृदय के साथ कितना गहरा सम्बन्ध रखते हैं, यह भाव कवियों ने 'बारह-मासा' और षड्ऋतु-वर्णन में व्यक्त किया है। हिन्दी-

---

१—ज्यों मनि कंठ बाँधि के कोई, बिसरे बन बन ढूँढ़त सोई।
—'विरह-मञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छं० नं० ३१।

२—'विरह-मञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० १६४-१६५, १७५-१७६

३—'विरह मञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छं० नं० ३५-३६।

कवियों ने मानव-भावों को प्रकृति का अनुगामी चित्रित नहीं किया, वरन् प्रकृति को ही मानव-भावों की सहचारिणी चित्रित किया है। मन की प्रफुल्लित अवस्था में प्रकृति शोभामयी, चित्ताकर्षक और उमँगती हुई प्रसन्नता से युक्त दिखाई गई है। नन्ददास ने 'विरह-मञ्जरी' के अन्तर्गत बारहमासे में इस कवि-परम्परा का अनुकरण किया है, और प्रकृति के व्यापार और वस्तुओं को विरहिणी व्रज-बाला की विरह विकलता का उद्दीपन बताया है। इस प्रकार कवि ने प्रकृति-वर्णन में बहुत सी परम्परागत वस्तुओं का वर्णन किया है, परन्तु इसके साथ ही उसकी निरीक्षक-दृष्टि प्रकृति के परिवर्तनों की ओर भी गई है। ऐसे स्थलों पर उसके प्रकृतिज्ञान का परिचय मिलता है।

बारहमासा चैत्र से आरम्भ होता है। चैत्र में चारों ओर वसन्त की बहार है, परन्तु कोकिल की कूक और भौंरों की गुञ्जार विरहिणी बाला के मन को प्रेम-पीड़ा से मसोस रही है। बार बार प्रिय की याद आती है। प्रिय की अनुपस्थिति में उसके प्यारे गुणों का महत्व उसे इस प्रकार ज्ञात होता है, जैसे जल से बिछुड़कर मछली को जल का महत्व ज्ञात होता है।

जलचर जिमि जल भीर में, परसत नाहिंन पीर।
बिछुरि परे जब तीर में, तब जाने गुन नीर।[1]

बैशाख में उसे प्रिय की संयोगावस्था की प्रेम क्रीड़ाएँ याद आती हैं, वह सोचती है—"पेड़ों से लताएँ लिपट रही हैं। वे मुझे अकेली देखकर, मानों मेरी हँसी उड़ाकर खिलखिला रही है।"[2] अपनी कल्पना में जब वह प्रिय-मिलन का अनुमान करती है, तो सुख की मन्दाकिनी में डुबकियाँ लगाने लगती है। जब वह प्रिय का अभाव देखती है, तो विरहाग्नि की भयङ्कर लपटों में जलने लगती है। विरहिणी की इन सुख-दुख की अवस्थाओं पर कवि ने विरहिणी को लुहार की सँड़सी बनाकर एक अनूठी उत्प्रेक्षा की है—

यह विधि बल बैसाख जो, बीत्यो सुख-दुख लाग,
संड़सी भई लुहार की, छिन पानी, छिन आग।

जेठ की तपन ने विरह की अग्नि प्रज्वलित कर दी।[3] आषाढ़ मास में पावस की सेना लेकर मदन ने विरहिणी पर चढ़ाई की। अषाढ़ सावन की घुमड़ गर्जना और वियोगिन के

१—'विरह मञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छं० नं० ५१।

२—द्रुमन सों लपटित प्रफुलित बेली, जनु मोहिं हँसत हैं देखि अकेली।
—'विरह-मञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छं० नं० ६०।

३—वृष के तपन तपत अति दई, घर बन अनलमई सब भई।
तैसी विरह व्यथा नित नई, आगिनि में अवर अग्नि जनु दई।
—'विरह मञ्जरी,' बलदेवदास करसन दास, छं० नं० ६५, ६६।

दहलते हुए दिल पर उनके प्रभाव का, रूपक द्वारा जो चित्र नन्ददास ने अङ्कित किया है, वह बहुत परिचित और रूढ़ है। पानी की बूँदों को बाण-वर्षा बनाना, काले बादलों को हाथियों की पंक्ति कहना और बगुला पंक्ति को हाथियों के दाँत मानना आदि सादृश्य जायसी, सूर आदि कवियों की रचनाओं में भी मिलते हैं। परन्तु 'विरह-मञ्जरी' के वर्णन परम्परागत होते हुए भी, विरही हृदय की मर्मस्पर्शी वेदना की व्यञ्जना और कवि की सूझ भरी उक्तियों से युक्त है। भादों में विरहिणी कहती है—

भादों अति दुख-ऐन, कहियो चंद ! गोविंद सों ,
घन अरु घन के नैन, होइन बरसत रैन दिन ।

× × ×

आवहु, बल बिलंब जिन करो, बहुरो गिरि गोबर्धन धरो।
एक बार ब्रज आवन कीजै, बिरह व्यथा की औषधि दीजै ।[1]

विरह दशा के चित्रण में कवि ने विरहिणी की अभिलाषा, स्मृति, प्रिय के गुण कथन आदि सञ्चारी भावों का भी मार्मिक वर्णन किया है। ये वर्णन अत्युक्ति पूर्ण हैं, परन्तु कवि के काव्य-कौशल ने विरह वेदना का गाम्भीर्य विकृत नहीं होने दिया। नीचे लिखे उद्धरणों में क्वार के महीने में वियोगिनी की वेदना और उसकी पूर्व स्मृतियों से भरी विकलता का सफल चित्र अङ्कित किया गया है।

कहियो उडुप ! उदार, सुंदर नंद किसोर सों।
अस कुस कीनी क्वार, हार भार तें डार दिय ।
खंजन प्रकट भए दुख देना, संजोगिनि तिय के से नैना।
निर्मल जल अंबुज तहँ फूले, तिन पर लंपट अलि कुल झूले ।
सुधि आवत वा मोहन मुख की, कुटिल अलक युत सीमा सुखकी।
मोरन नूतन चँदवा डारे, देखि देखि दृग होत दुखारे।
साँझ समय बन ते बन आओ, गोरज मंडित बदन दिखाओ।
वा छबि बिन ये नैन हमारे, जरत हैं महाविरह के जारे।
और ठौर की आगि पिय, पानी लागि बुझाय ,
पानी में की आगि बलि, काहे लागि सिराय ।[2]

प्रत्येक महीने के वर्णन में कवि ने भिन्न-भिन्न प्राकृतिक व्यापारों के रूप दिखलाये हैं। इसमें कवि के प्रकृति-निरीक्षण का परिचय मिलता है। कार्तिक मास में सुहावनी शरद् ऋतु की रात्रि है, चारों ओर चमेली खिल रही है। विमल चाँदनी की शोभा ने

१—'विरह मञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छं० नं० ९२ तथा १००।

२—'विरह मञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० १०८, ११८।

कालिन्दी पुलिन को रम्य बना दिया है। इस उन्मत्त शरद् रजनी में ब्रज-बाला को कृष्ण-रास की याद आती है। उसका मन-मयूर फिर एक बार उसी रास में थिरकने को उल्लसित हो उठता है। अगहन में वह कहती है—"हे प्रिय, यह अगहन का महीना पापग्रह राहु के समान आया है, उसने मेरे शशि-शरीर को ग्रस लिया है, अब आप उसके 'उगहन' के लिए यहाँ आकर दर्शन दीजिए।"[1] पूस और माह में शीत भरी रातों की तुषार-वर्षा उसे अग्नि-वर्षा सी प्रतीत होती है। कवि ने इस स्थल पर विरह जन्य वेदना और उसके शारीरिक प्रभावों का जो चित्र खींचा है, वह भी अत्युक्ति पूर्ण है, परन्तु इन अत्युक्तियों में भी हृदयग्राहकता है, और वे प्रेम के वियोग पक्ष के सफल चित्र अङ्कित करती हैं। यथा—

माह मास के कदनकर, मास रह्यो नहि देह,
स्वाँस रहे घट लपटि के बदन चहन कें नेंह। १५८।

रूपमञ्जरी

'रूपमञ्जरी' नन्ददास-कृत एक छोटा-सा आख्यान काव्य है। इसमें एक रूपवती स्त्री रूपमञ्जरी के रूप, उसके लौकिक प्रेम का त्याग, तथा अलौकिक नायक कृष्ण के साथ 'जारभाव' से उसके प्रेम लगाने की कथा का वर्णन है। साथ में 'रूपमञ्जरी' की एक सखी, इन्दुमती की उसके साथ सङ्गति का भी वर्णन है।

विषय तत्व

नन्ददास की एक मित्र 'रूपमञ्जरी' का उल्लेख, 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' तथा 'गोवर्धनदासजी के प्राकट्य की वार्ता' के आधार पर, नन्ददास की जीवनी के सम्बन्ध में दिया जा चुका है। इस ग्रन्थ के पढ़ने से ज्ञात होता है कि कथानक की नायिका 'रूपमञ्जरी' नन्ददास की मित्र रूपमञ्जरी ही है। कवि ने रूपमञ्जरी की जिस सखी इन्दुमति का वर्णन किया है, उसके चरित्र-वर्णन में इस बात के प्रमाण मिल जाते हैं कि कवि स्वयं अपने को रूपमञ्जरी की सहचरी इन्दुमती बनाकर लिख रहा है। रूपसौन्दर्योपासना के मार्ग का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि यह (नन्ददास) प्रभु के चरण कमलों को पाने के लिए इसी मार्ग पर चलना चाहता है।

पैबे कौं प्रभु के पग पंकज, कविन अनेक प्रकार कहे मग। १५।
तिनमें इह इक सूक्ष्म रहे, ते बल जो यह चल्यो चहे। १६।

इसी भाव को आगे कवि इन्दुमती बनकर कहता है कि मतिमन्द इन्दुमती के मन का अन्य किसी मार्ग में निर्वाह नहीं है, इसलिए वह इसी मार्ग से 'नागर नगधर' कृष्ण के चरणों में पहुँचना चाहती है—

इन्दुमती मतिमन्द पै, अवर नाहि निबहंत।
नागर नगधर कुंवर पद, यह मग छुयो चहंत। २१।

१—अगहन गहन समान, गहियत मोर सरीर ससि।
दीजिय दरसन दान, उगहन होहि जो पुण्य बस। १२०।

और भी आगे, रूपमञ्जरी के रूप का वर्णन करते हुए कवि कहता है—"रूपमञ्जरी की छवि का वर्णन करने को इन्दुमती की बुद्धि में सामर्थ्य नहीं है, यह प्रयत्न ऐसा ही है जैसे चन्द्रमा के पकड़ने को बौना हाथ पसारे।" इसमें भी कवि अपने को इन्दुमती की स्थिति में रखकर इस ग्रन्थ में वर्णित रूपमञ्जरी के साथ अपने सम्बन्ध का परिचय दे रहा है—

रूपमंजरी छवि कहन इन्दुमती मति कौन,
ज्यों निर्मल निशिनाथ को हाथ पसारे बौन। १४८।

'रूप मञ्जरी' के इस शृङ्गार कथानक में नन्ददास ने अपने आध्यात्मिक भावों के साथ अपनी भक्ति पद्धति का रूप भी प्रकट किया है। आध्यात्मिक अनुरञ्जन के साथ एक बात यह भी इस ग्रन्थ में देखने में आती है कि रूपमञ्जरी के रूप के और उसकी विरह-दशा के वर्णन कहीं-कहीं अमर्यादित रूप में चित्रित हुये हैं। नन्ददास ने अमर्यादित प्रेम (उपपति-प्रेम) को ही रहस्यमय आनन्द का साधन माना है, इस दशा में उस प्रेम के चित्रण में मर्यादा भङ्ग करनेवाले शृङ्गारिक वर्णनों का होना आश्चर्य की बात नहीं है। कवि के ध्येय तथा विचारों के साथ सहानुभूति रखते हुए तथा रचना को केवल कला की दृष्टि से जाँचते हुए यह कहा जा सकता है कि यह वर्णन बहुत सरस हुआ है, और रूपमञ्जरी के शृङ्गार-प्रेम-वर्णन में मुग्धकारी चित्र अङ्कित हुए हैं, परन्तु जब हम लोक-कल्याण की कसौटी पर नन्ददास के उन वर्णनों को उतारते है जिनमें उन्होंने स्वतन्त्रता के साथ अश्लील उपमानों का प्रयोग किया है, तो यह काव्य सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से कुछ नीचे गिर जाता है। इस प्रकार का अमर्यादित शृङ्गार नन्ददास के अन्य ग्रन्थों में भी आया है, जिसका कारण नन्ददास की वह भक्ति-पद्धति ही है जिसमें लोक के व्यावहारिक भावों को तोड़ने के बजाय, ईश्वर की ओर मोड़ देना ही भगवद्-प्राप्ति का साधन बताया गया है। इस प्रकार की भक्ति का करना, वास्तव में बड़ा कठिन योग है। इस में दम्भ और पाखण्ड के प्रवेश पाने की बड़ी गुञ्जाइश रहती है। 'रास पञ्चाध्यायी' की तरह इस ग्रन्थ में भी दो भाव-धाराएँ—एक शृङ्गार काव्य की, दूसरी माधुर्य भक्ति की (आध्यात्मिकता की) प्रवाहित मिलती हैं। इसलिए, इन्हीं दो भागों में—'रूपमञ्जरी में आध्यात्मिक भाव'; और 'रूपमञ्जरी में शृङ्गार काव्य'-इस ग्रन्थ के विषय का विभाजन और विवेचन किया जायगा।

ग्रन्थ की कथा

निर्भयपुर के राजा धर्मधीर के एक अत्यन्त सुन्दरी रूपमञ्जरी नाम की कन्या थी। जब वह विवाह के योग्य हुई तो उसके माता-पिता ने उस के अनुरूप किसी सुयोग्य वर के साथ उसका विवाह करने का विचार किया। वर की खोज का कार्य उन्होंने एक ब्राह्मण को सौंप दिया। ब्राह्मण ने लोभ-वश कन्या का विवाह, एक क्रूर और अयोग्य वर के साथ करा दिया। इस अनमिल विवाह से रूपमञ्जरी के माता-पिता को अपार दुःख हुआ। उधर रूपमञ्जरी भी

अपने पति से असन्तुष्ट रहने लगी। उसकी एक इन्दुमती नाम की सखी भी थी जो उसे बहुत अधिक प्यार करती थी और उसके रूप-गुण के ऊपर मुग्ध थी। वह सदैव इस विचार में रहने लगी कि रूपमञ्जरी का रूप किसी रूप-गुण-सम्पन्न नायक के उपभोग के योग्य है; लोक में इसके अनुरूप कोई नायक दिखाई नहीं देता; लोक से अतीत कृष्ण भगवान्, जो अनन्त रूप और अनन्त शक्तिधारी हैं, इसके उपयुक्त नायक हैं; उनके प्रति किसी प्रकार इसके हृदय में प्रेम जाग्रत हो जाय तो बड़ा अच्छा हो। कथानक के इस स्थल पर कवि ने रूपमञ्जरी के नखशिख का वर्णन किया है।

इन्दुमती ने मन में सोचा 'यह विवाहिता है; इसलिए इसके हृदय में उपपतिरति का बीज अङ्कुरित करना चाहिए। उपपति रति में जो रस है वह अन्य किसी प्रकार के प्रेम में नहीं है। लेकिन लोक के नायक सब नश्वर हैं, और उनके साथ का प्रेमरस भी अस्थायी होता है, केवल कृष्ण का प्रेम ही निरन्तर सुखदाई है। उसने कृष्ण के रूप और गुणों का ज़िक्र रूपमञ्जरी से किया। एक दिन वह उसे गोवर्द्धन पर्वत पर ले गई और वहाँ कृष्ण के स्वरूप (मूर्ति) के दर्शन कराये। रूपमञ्जरी के मन में कृष्ण के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया। इन्दुमती भगवान् कृष्ण से नित्य प्रार्थना किया करती थी—'भगवन्! मेरी इस सखी को अपनाइये।" इस स्थल पर कवि की धार्मिक प्रवृत्ति का प्रखर रूप में दर्शन होता है।

राजकुमारी को एक दिन स्वप्न में कृष्ण के दर्शन हुये। दूसरे दिन रूपमञ्जरी ने अपने स्वप्न की अनुभूति अपनी सखी इन्दुमती को सुनाई। यहाँ पर कवि ने रूपमञ्जरी के मुख से कृष्ण के रूप का वर्णन कराया है। रूपमञ्जरी काल्पनिक नायक कृष्ण के ऊपर ऐसी मुग्ध हो गई कि दिन रात उसे उसी का ध्यान रहने लगा। संसार में जो कुछ रूप और गुण देखती वह उसको कृष्ण के ही रूप की ओर प्रेरित करता और उसकी याद दिलाता हुआ प्रतीत होता था। अन्त में रूपमञ्जरी के प्रगाढ़ प्रेम और निरन्तर लगन का ऐसा प्रभाव हुआ कि कृष्ण के साथ स्वप्न में उसने फिर संयोग-सुख का अनुभव किया और उस सुख की छाप उसके हृदय पर अब ऐसी लगी कि उस दिन से वह सब वेदना को त्याग कर आनन्द-मग्न रहने लगी। कृष्ण-प्रेम में मतवाली रूपमञ्जरी, एक दिन अपने घर और अपनी सखी इन्दुमती से छिप कर ब्रज-वृन्द्राबन को चल दी। पीछे उसकी सखी भी उसकी खोज में निकल पड़ी। और ढूँढ़ती ढूँढ़ती वह भी ब्रज-वृन्दावन के कुञ्जों में जा पहुँची। वहाँ उसने अपनी सखी रूपमञ्जरी को कृष्ण के रास में आनन्द लूटते देखा। इस आनन्द लूटने के दृश्य-दर्शन में इन्दुमती भी आनन्दमग्न हो गई। कवि कहता है कि दोनों का एक दूसरे की सङ्गति से निस्तार हो गया।

कवि के आत्मचारित्रिक उल्लेखों तथा 'वार्ता' की 'रूपमञ्जरी' की कथा से यह ज्ञात होता है कि 'रूपमञ्जरी' नन्ददास की कोरी कल्पना मात्र नहीं है।

रूपमञ्जरी के पिता धर्मधीर थे, जो निर्भयपुर के राजा थे, तथा रूपमञ्जरी का विवाह किसी क्रूर अयोग्य वर से हुआ, उसने अपने उस पति का त्याग कर दिया, उसने लोकप्रेम को त्याग दिया और कृष्ण से प्रेम करने लगी, आदि प्रसङ्गों का कोई उल्लेख 'वार्ता' में नहीं मिलता। 'वार्ता' कहती है कि रूपमञ्जरी अकबर की लौंडी थी। तब क्या ब्राह्मण ने रूपमञ्जरी का विवाह अकबर से अथवा अकबर के किसी दरबारी से करा दिया था, जो रूपमञ्जरी और उसके माता पिता की दृष्टि में अनुचित संयोग था! ज्ञात होता है कि रूपमञ्जरी के कुल, जन्म, विवाह आदि की कथा कवि ने अपनी कल्पना से गढ़ी है। रूपमञ्जरी की अपने पति की ओर से उदासीनता, तथा कृष्ण से प्रेम लगाने की कथा में कोई अस्वाभाविकता नहीं है और आध्यात्मिक दृष्टि से न उसमें कोई अनौचित्य है। भक्तिनी मीरा का जीवन-चरित्र तथा उसका कृष्ण-प्रेम इस कथा से समभाव रखता है। मीराबाई का काव्य और राजस्थान की ऐतिहासिक खोजें उसके जीवन चरित्र को ऐतिहासिक सत्य की सीमा में रखने के लिए पर्याप्त है। परन्तु 'रूपमञ्जरी' में वर्णित चरित्र को ऐतिहासिक रूप देने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस विषय में 'वार्ता' ही कुछ प्रकाश डालती है। इन्दुमती इस कथा में काल्पनिक पात्री है, यह बात कवि ने स्पष्ट ही कर दी है।

कवि का आध्यात्मिक दृष्टिकोण

इस आख्यान में नन्ददास ने अपनी भक्ति-पद्धति के दो रूपों का वर्णन किया है—एक ससीम लोक-सौंदर्योपासना द्वारा निःसीम दिव्य सौंदर्य को पाना और दूसरा, प्रेम के 'उपपति' भाव द्वारा भगवान् के नैकट्य का प्राप्त करना। कवि ने, रूपमञ्जरी के रूप में इन्दुमती की आसक्ति द्वारा रूपोपासना के मार्ग का वर्णन किया है, और कृष्ण में 'जारभाव' से रूपमञ्जरी की आसक्ति द्वारा, भक्ति के माधुर्य-भाव को दिखाया है। सौंदर्योपासना-मार्ग के विषय में वर्णन करते हुए कवि कहता है कि आनन्दस्वरूप भगवान् के नैकट्य को प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं, उन्हीं में ये दो साधन मार्ग भी हैं—एक नाद का मार्ग, और दूसरा रूप का मार्ग।[1] इनमें भी रूप का मार्ग बड़ा सूक्ष्म और कठिन है, क्योंकि इस रूपोपासना-मार्ग में विष और अमृत दोनों एकत्र स्थित हैं।[2] लोकरूप की आसक्ति से वासना के गर्त में गिरने का इसमें विष है और इस लोकरूप के भीतर और बाहर, सर्वत्र रहने वाले भगवान् के रूप को पहचान कर उनके नैकट्य का आनन्दानुभव अमृत है। जो नीरक्षीर-विवेक[3] से रूप के पुण्य प्रभाव के अमृत को ग्रहण करता है वही भगवान् के

१—जग में नाद अमृत मग जैसे, रूप अमीकर मारग तैसे।
—'रूपमञ्जरी' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० १७।

२—गरल अमृत एकठाँ कर राखे, भिन्न भिन्न कर बिरलो चाखे। १८।

३—नीरक्षीर निरवारे जोई। यह मग प्रभुपद पावे सोई।
—रूपमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० १९।

नैकट्य को पाता है और जिसने लौकिक वासनाओं के विष का पान किया वह, संसार-यातना को प्राप्त करता है। वास्तव में लोकरूप में आसक्ति पैदा कर उसमें भगवान् के अनन्त सौन्दर्य को देखना और लोकरूप के लौकिक प्रभाव से बचे रहना बड़ा कठिन साधन है। इसीलिए नन्ददास ने इस रूप के मार्ग को 'सूक्ष्म' मार्ग कहा है।

यह जगत् नाम-रूपात्मक है। विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों का परिचय उन के नाम और रूप से ही मिलता है। इसलिए नाम और रूप के अभ्यस्त, आध्यात्मिक सत्य के खोजी नाम और रूप-मार्गों का भी अवलम्बन लेते हैं। नाम-रूपात्मक जगत के भीतर साधक लोग परमात्मा की भासमान सत्ता के दर्शन करते हैं। हमारी पञ्च ज्ञानेंद्रियों में कान और आँख भगवान् के विराट्मय रूप इस नाम-रूपधारी विश्व का अधिक ज्ञान कराती हैं। इसीलिए साधक लोग सम्पूर्ण इन्द्रिय-शक्तियों को इन दो इन्द्रिय शक्तियों में ही समेट कर ईश्वर का ध्यान करते हैं। कर्णेन्द्रिय में सब शक्तियों को इकट्ठा कर चित्तवृत्ति-निरोध से शब्दरूप ईश्वर का ध्यान करना शब्द का मार्ग है, और चक्षुरिन्द्रिय में सब शक्तियों को केन्द्रीभूत कर साकार रूप ईश्वर का ध्यान करना रूप का मार्ग है।

(वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार परब्रह्म श्रीकृष्ण अपने आनन्द अथवा रस-रूप से नाम और रूप के गुण, और आकार को धारण कर गोलोक में नित्य आत्मानन्द में मग्न रहते हैं। वे अपने शब्द-रस-रूप को मुरली नाद में तथा रूप-रस-रूप को गोपीरास तथा गोलोक में होनेवाली अन्य लीलाओं में प्रकट करते हैं। इस जगत में हमारी पञ्च ज्ञानेंद्रियों के जो रस हैं, वे सब उसी अखण्ड, अनादि रस के आभास हैं। भक्त-लोग इन्द्रियों के लौकिक रसों को छोड़ कर तथा उन रसों से सत्य रस की प्रेरणा ले, अपनी इन्द्रियशक्तियों को सत्य-रस की ओर ही मोड़ने का साधन करते हैं। नन्ददास ने कान और आँख दो इन्द्रियों की शक्ति द्वारा भक्तिसाधन मार्गों को इस ग्रन्थ में नाद और रूप का मार्ग कहा है)

भक्तिमार्ग के अन्तर्गत नाद-मार्ग का अनुसरण भगवान् के नाम, गुण और लीला के श्रवण और कीर्तन द्वारा किया जाता है, जिससे चित्त की एकाग्रता उस अखण्ड अमृत-नाद का आस्वादन कराती है। कृष्णभक्तों की शासित श्रवण-शक्ति श्रीकृष्ण के 'शब्द ब्रह्ममय' मुरली नाद को सुनने का प्रयत्न करती है। संसार में जिस शब्द अथवा नाद या नाम में भक्त को रसात्मकता की प्रतीति होती है वह उसी को भगवान् के नादरूप की ओर प्रेरित करनेवाला समझता है। इस नाते से वह रसात्मक शब्द से अनुराग करता है। इसी सिद्धान्त को लेकर भक्ति के आचार्यों ने अपनी भक्ति-पद्धति में नाद-सौंदर्य-पूर्ण सङ्गीत को भक्ति के अन्तर्गत एक साधन माना है। कृष्ण के नाम गुणादि का श्रवण, कीर्तन तथा उनके मुरली नाद का संसार के नादों के बीच ध्यान ही शब्दयोगियों के अनहद नाद श्रवण मार्ग के अनुरूप भक्तों के नाद का रसीला मार्ग है। इस नाद मार्ग का उल्लेख नन्ददास ने अपने दो ग्रन्थों, 'रूपमञ्जरी' तथा 'रासपञ्चाध्यायी', में इस प्रकार किया है—

नाद-मार्ग की भक्ति-पद्धति

जग में नाद अमृत मग जैसे, रूप अमीकर मारग तैसे ।[1]

नाद अमृत को पंथ रंगीलो सुच्छम भारी
तेहि मग ब्रजतिय चलीं आन कोउ नहिं अधिकारी ।

'रूपमञ्जरी' में एक स्थान पर कवि ने नाद-मार्ग का एक उदाहरण दिया है। रूप-मञ्जरी कृष्ण के ध्यान में मग्न वीणा लेकर गा रही है, उस समय कवि कहता है, वह वास्तव में नाद के मार्ग से प्रिय के पास जा रही है –

मधुर मधुर धुनि बीना बाजै, रस भरे घुमरे नैन बिराजै ।
राग के मग ह्वै पिय पै जाय, कोऊ जानै यह बैठी गाय ।[3]

रूपमार्ग का परिचय देते हुए नन्ददास ने कहा है--"भगवान् स्वयं रूपनिधि हैं, और लोकरूप को पवित्र बनानेवाले हैं। उसी एकरूप भगवान् के अनेक रूप इस सृष्टि में दिखाई दे रहे हैं।[4] कवि का भाव है कि बाह्य जगत् के रूपों में अनुराग, भगवान् के रूप के प्रेम की ही ओर अग्रसर करता है।

रूप-मार्ग की भक्ति-पद्धित

नन्ददास की जीवनी से ज्ञात होता है कि वे एक सौंदर्य-प्रेमी प्राणी थे। लौकिक वासनाओं से लिप्त अपने आरम्भिक रसिक-जीवन में वे सौन्दर्य पर रीझे थे। सौन्दर्य-रूपों में नन्ददास की आत्मा अज्ञात रूप से किसी अत्यधिक रूप को, रूप के मूल स्रोत को, ढूंढ़ रही थी। अन्त में जब गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने उन्हें श्रीनाथ जी की भव्य मूर्ति के दर्शन कराए तो उसमें उन्हें, अपार रूपराशि तथा रूप के मूल स्रोत का संकेत मिला और लोकरूप लिप्सा, भगवान् के रस-रूप-प्रेम में परिणत हो गई। अब वे बन, वृक्ष, लता, कुञ्ज आदि की प्रफुल्लता में भगवान् श्रीकृष्ण की ही मधुर मुसकान की आभा देखने लगे, मानों सम्पूर्ण प्रकृति अखण्ड रूपधारी कृष्ण के संसर्ग से ही रूपवती हो रही हो।[5]

कृष्णभक्त चैतन्य महाप्रभु भी श्यामवर्ण मेघों की शोभा में श्यामकृष्ण का ही रूप देखते थे, और उसे देखकर प्रेम विभोर हो जाया करते थे। प्राकृतिक वस्तुओं में तथा संसार के रूपों में अपने इष्ट कृष्ण का संसर्ग और रूप देखने का भाव नन्ददास ने भी 'रूपमञ्जरी'

१—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छंद, नं० १७।
२—'रास पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६०।
३—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द, नं० ५२१ तथा ५२२।
४—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० १।
५—पूछहु री इन लतन फूलि रहीं फूलन जोई।
सुंदर पिय कर परस बिना अस फूल न होई।
— रास पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६८।

में प्रकट किया है, जैसे वर्षा और फाग के वर्णन में इसी रूपोपासना के भाव को लेकर रूप-रसिक नन्ददास ने रूपमञ्जरी के सौंदर्य में अपने इष्ट भगवान् कृष्ण के अपार रूप-सौंदर्य को देखा था। उसके सौंदर्य पर अपने मन की आसक्ति का जो भाव नन्ददास ने 'रूप-मञ्जरी' में चित्रित किया है, उसके द्वारा उन्होंने रूपोपासना-मार्ग का ही वर्णन किया है। रूपमञ्जरी के रूप में इंदुमती का अगाध प्रेम है। कवि अपने को इंदुमती की स्थिति में रखकर कहता है—

रूपमञ्जरी तिय को हियो, गिरिधर अपनो आलय कियो।
इंदुमती तहाँ अति अनुरागी, ताही में प्रभु पूजन लागी।[1]

रूपमञ्जरी के हृदय-मन्दिर में भगवान् कृष्ण की मूर्ति प्रतिष्ठित हो गई और उसकी सखी इन्दुमती उसके हृदय-मन्दिर में स्थित श्रीकृष्ण की पूजा करने लगी। उसे रूपमञ्जरी के रूप में भगवान् के दर्शन इस प्रकार होने लगे जैसे चन्द्रकान्त मणि में चन्द्रमा का दर्शन होता हो—

रूपमंजरी तियहिय, पिय झलकै इम आय,
चंद्रकांत मणि मांझ जिम, परम चंद की झाँय।[2]

वास्तव में भक्त-लोग भक्तों के रूप में ही भगवान् के दर्शन किया करते हैं। नन्ददास के समकालीन भक्त नाभादास ने भक्तमाल के आरम्भ में कहा है—

भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुरनाम वपु एक।
इन के पदबंदन किए, नाशैं बिघन अनेक।[3]

भक्त, भक्तिभाव, भगवान् और गुरु चारों का एक ही रूप है, भक्तरूप में भी भगवान् हैं, भावरूप में भी भगवान् हैं, और गुरुरूप में भी भगवान् ही अवतरित होते हैं। नन्ददास के लिए रूपमञ्जरी के रूप की उपासना 'साध्य' नहीं है, वह केवल ससीम द्वारा निःस्सीम को पाने का साधन मात्र है। इस बात की पुष्टि 'रूपमञ्जरी' में और भी कई स्थानों के वर्णनों से होती है। रूपमञ्जरी के रूप-वर्णन के अन्तर्गत उसकी चिबुक की शोभा का वर्णन करते हुए कवि कहता है:—

चिबुक कूप में उझके जोई, जगत् कूप पुन परे न कोई।[4]

१—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छंद, नं० २६८, २६६।

२—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छंद, नं० २८८।

३—'भक्तमाल', भक्तिसुधास्वाद तिलक, रूपकला, पृ० ४१।

४—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० १२०।

कृष्ण-रूप-माधुरी के रङ्ग में रँगी रूपमञ्जरी[1] होली में, किस से अपने ऊपर रङ्ग डलवाये। लोक का कोई पुरुष उसकी आँख के नीचे नहीं आता। कवि कहता है कि जिसके पास सूर्य का प्रकाश जगमगा रहा हो उसको दीपक का प्रकाश कैसे आकर्षित कर सकता है ![1] रूपमञ्जरी की आँख फाग खेलनेवालों के बीच केवल उस रङ्ग वाले को ढूढ रही थी जिसने पृथ्वी, आकाश सम्पूर्ण सृष्टि को अपने रङ्ग में रँग रक्खा है। होली के वर्णन में रूपमञ्जरी की तरह नन्ददास भी उस 'रङ्गमँगे' रूप में दिखाई देते हैं, जिसका वर्णन भक्त नाभादास ने अपने ग्रन्थ 'भक्तमाल' में इस प्रकार किया है—

श्री नंददास आनंद निधि, रसिक सु प्रभुहित रंगमंगे।[2]

यहाँ सूर्य और दीपक के दृष्टान्त से कवि ने यही भाव दिखाया है कि लोकरूप, भगवान् के दिव्य रूप के सामने कोई महत्व नहीं रखता। दीपक-प्रकाश तो उस अपार ज्योति का एक छोटा सा अंश मात्र है और रूपमञ्जरी का रूप भी उसी अपार रूप का एक अंश है। इन्दुमती रूप में नन्ददास एक स्थान पर भगवान् से प्रार्थना करते हुए कहते हैं— "भगवान्, तुम जगत के कर्ता हो, ब्रह्मा के भी स्रष्टा हो, तुम में सब सामर्थ्य है, मैंने रूपमञ्जरी को संसार से तरने के लिए अपनी नौका बनाया है। मेरी यह नौका मँझधार में ही डूबी जा रही है। इसलिए भगवान्, इस नौका को पार लगा दीजिए, जिसके सहारे मैं भी पार लग जाऊँ।[3]" इस प्रार्थना से स्पष्ट है कि नन्ददास रूपमञ्जरी के रूप को लौकिक भाव से नहीं देखते थे। रूप उपासना मार्ग से नन्ददास को जो सिद्धि मिली उसका उल्लेख उन्होंने ग्रन्थ के अन्त में इस प्रकार किया है—

यह विधि कुंवरि रूपमञ्जरी, सुंदर गिरधर पिय अनुसरी।
इंदुमती ताकी सहचरी, सो पुनि तिहि संगति निस्तरी।

१—को छिरके कायें छिरकावे, पुरुष न कोऊ आँखतर आवे।
दिनमणि जगमगाय ढिग जाके, दीपक कहा आँख तर ताके।
—'रूपमञ्जरी', छंद, नं० ३८८, ३८९।

२—'भक्तिसुधास्वाद तिलक, रूपकला, पृष्ठ ६०२।

३—अहो पिय गिरधर परम उदारा, करता के तुम हो करतारा।
भवसागर तरिवे कों, तरी, पाई हुती कहूँ क्रम क्रम करी।
सो तरि बूड़त है मध्यधारा, मोहनलाल लगावहु पारा।
निसि दिन तो विनती करत, और न कछू सुहाय।
मन के हाथन नाथ के, पुन पुन पकरत पाय।
—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० १७०-१७३।

४—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ५८२ तथा ५८३।

पीछे कहा गया है कि रूपमञ्जरी के चरित्र में नन्ददास ने 'उपपति' अथवा परकीय माधुर्य-भक्ति का वर्णन किया है। नन्ददास की 'रास पञ्चाध्यायी' के विवेचन में यह भी कहा जा चुका है कि अष्टछाप भक्त-कवियों ने लोक की शृङ्गार-भावमयी अभिरुचि को पकड़ कर, इसी के भीतर ईश्वर के आनन्द रूप को पाने का साधन किया था। भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीभगवद्गीता में कहा है—

माधुर्य-भक्ति

ये यथा मां प्रपद्यंते, तांस्तथैव भजाम्यहम्।[१]

"जो मुझे जिस भाव से भजता है, मैं उसे उसी भाव से भजता हूं।" श्रीवल्लभाचार्य जी ने श्रीमद्भागवत और भगवद्गीता के ऐसे ही विचारों से प्रेरित हो कर इस लोक की शृङ्गारमयी प्रवृत्ति को भगवान् की ओर मोड़ा था। 'रूपमञ्जरी' में, नन्ददास ने भी यही भाव एक स्थान पर प्रकट किया है। इन्दुमती रूप में कवि कहता है—"हे कृष्ण भगवान्, आप सब प्रकार से कल्याणकर्ता हैं। आपने अपने मुख से ही यह बात कही थी कि, जो जिस भाव से मुझे भजता है, मैं उसी भाव से अपने भक्त की कामना पूर्ण करता हूँ। आप मेरी सखी, रूपमञ्जरी का (जो उपपति भाव से आपको भजती है) निस्तार कीजिए।"[२] उपपति भाव के विषय में नन्ददासजी कहते हैं कि प्रेम के जितने रूप हैं, उनमें स्त्री के उपपति प्रेम में सबसे अधिक लगन और रस की पराकाष्ठा होती है। इसीलिए उन्होंने इस भाव की प्रशंसा की है और भक्ति में उस का प्रयोग किया है—

रसन में जो 'उपपति' रस आही। रस को अवधि कहत कवि ताही।[३]

रूपमञ्जरी के चरित्र में भी इसी उपपति प्रेम का आरोप कवि ने किया है, परन्तु कृष्ण के स्वरूप वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस प्रेम का नायक कृष्णचरित्र की आड़ में लौकिक पुरुष नहीं है। वह अवतरित रूप में स्वयं परब्रह्म परमात्मा है। अपने लौकिक विवाह से असन्तुष्ट रूपमञ्जरी के प्रेमतृषित हृदय को उसकी सखी इन्दुमती ने पहचान लिया। उसने विचार किया कि यह अनूठा रूप और प्रेम इस नश्वर संसार में या तो व्यर्थ ढलकर नष्ट हो जायगा अथवा इसकी अतृप्त वासना, अमर्यादित लौकिक रूप धारण कर समाज में अनिष्ट का सञ्चार करेगी। इसीलिए उसने रूपमञ्जरी के प्रेम के ललकते हुए रुख को लोक से हटाकर ईश्वरोन्मुख किया।

१—'गीता', अध्याय ४, श्लोक ११।

२—तुम सब लायक त्रिभुवन नायक, शुभदायक शुभकरण सुभायक।
अरु तुम हूँ अपने मुख कही, सो सब पूर रही है मही।
जिहिं जिहिं भांत भजे जो मोही, तिहिं तिहिं विध पूरन होय सोही।
—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास ४८३-४८५।

३—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छं० नं० १५१।

इन्दुमती ने रूपमञ्जरी के समक्ष कृष्ण के रूप-गुणों का वर्णन किया। रूपमञ्जरी के ऊपर कृष्ण के रूप-गुणों के बखान का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसके हृदय में कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न हो गया। एक दिन उसने अपने इष्ट को स्वप्न में भी देखा। अब तो वह और भी अधिक उनके प्रेम में फँस गई, जैसे गहरी कीचड़ में हाथी फँस जाता है और जितना वह निकलने का प्रयत्न करता है उतना ही अधिक वह उसमें फँसता जाता है।[1] इन्दुमती रूपमञ्जरी के पार्थिव प्रेम को पारमार्थिक रूप देने में सफल हो गई।

रूपमञ्जरी के विरह-वर्णन में लौकिक प्रेम की दशाओं का वर्णन हुआ है, परन्तु इस वर्णन में प्रेम का आध्यात्मिक रूप तनिक भी नहीं छिपने पाया। आलम्बन विभाव अपार्थिव नायक कृष्ण हैं, उनके रूप के और उनके प्रति रूपमञ्जरी के प्रेम-व्यवहार के वर्णन में कवि की आध्यात्मिक दृष्टि प्रत्यक्ष व्यक्त हो रही है। विरह-विधुरा रूपमञ्जरी ने फाग खेलते हुए ब्रज के नरनारियों से कृष्ण के रूप और गुणों का मधुर गान सुना। उसने ब्रज-युवतियों से पूछा—"हे सखियो, तुम जिन श्यामसुन्दर का गान कर रही हो, वह कौन है, और कहाँ रहता है?" ब्रज युवतियों ने उत्तर दिया—"जिस का हम गान कर रही हैं वह सब सृष्टि का रचने वाला है। पृथ्वी, आकाश, सूर्य, तारे, सब उसी ने बनाए हैं। ज्ञानी लोग उसको सर्वत्र बताते हैं। वह सब को देखता है, परन्तु उसको कोई नहीं देख पाता। किसी के पास उसको देखने की दृष्टि ही नहीं है। यदि कोई उस दृष्टि को पा ले तो वह उस दृष्टि से उसको देख सकता है। उसी कृष्ण के बारे में हम ने यह भी सुना है कि वह ब्रज-गोकुल में नित्य निवास करता है।"[2] रूपमञ्जरी को विश्वास हो गया कि जिस कृष्ण का ये युवतियाँ पता दे रहीं हैं वह मेरा ही प्यारा कृष्ण है। यह सोचते सोचते वह ऐसी प्रेम विभोर हो गई कि वह

१—गह्यो जु मन प्रिय प्रेमरस, क्यों हूँ न निकस्यो जाय।
कुंजर जिम चेहलें परयो, छिन छिन अधिक समाय। २११।

२—सुंदर गीत सुहावने माई, कहाँ के हैं वे कुँवर कन्हाई।
सो सब कहन लगी व्यवहारा, जाको बल यह सब संसारा।
धर अंबर शशि सूरज तारे, सर सरिता सागर गिरि भारे।
हम तुम अरु सब लोग लुगाई, रचना जिनहीं देव बनाई।
बहुरि कुँवरि हँसि तासों कहे, तो वह देव कहाँवे रहे।
तब तिन में एक और सयानी, बोली परम मनोहर बानी।
पंडित कहें कि सब ठां सोई, वह देखे वहि लखे न कोई।
ज्यों बल दृष्टि कुंभकूं देखे, कुंभ तो नाहिन दृष्टि कों पेखे।
कुंभ के दृष्टि होय जब माई, तब भली दृष्टि देखे दिखराई।
× × ×
गोकुल गाम कहै एक कोई, तामे बसत सदा सखि सोई।
—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छं० नं० ३६७-४०७

अपनी सुधि बुधि भूल गई इस स्थान पर कवि कहता है—"भूत प्रेतादि और मदिरा के प्रभाव की मूर्च्छा में सज्ञानता हो सकती है। परन्तु जिस ने प्रेम की सुधा पी ली, उसे फिर सुध बुध नहीं रहती।"[1] यहाँ कवि का लक्ष्य उस आध्यात्मिक प्रेम-सुधा की ओर ही है जिस को सूर परमानन्ददास तथा नन्ददास जैसे भक्तों ने पिया था। ब्रज-युवतियों द्वारा कवि ने कृष्ण का जो वर्णन कराया है, वह वल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार ही है। ईश्वरोन्मुख प्रेम की अनुभूति में वल्लभ-सम्प्रदाय में प्रेम की वियोग-अवस्था पर बहुत ज़ोर दिया जाता है। विरह में रहे बिना भक्त के हृदय में दैन्य और आत्मसमर्पण का भाव नहीं आ पाता। विरह में प्रेमीभक्त प्रिय भगवान् के स्वरूप को सर्वत्र देखता है। विरह की महिमा के विषय में कवि 'रूपमञ्जरी' में इस प्रकार कहता है—

हों जानों पिय के मिलें, विरह अधिक सुख होय।
मिलते मिलिये एक सों, बिछुरे सबठाँ सोय।[2]

पीछे कहा गया है कि वल्लभ-मतानुसार सतयुग, त्रेता और द्वापर युगों में भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् अपने साकार रूप में अवतरित हो, भक्तों को दर्शन देते हैं; परन्तु कलियुग में भगवान् के दर्शन केवल कल्पना में, तथा स्वप्न में ही होते हैं। इसी भाव के अनुसार, जब रूपमञ्जरी ने विरह में पूर्ण समर्पण कर दिया, तब उस को कवि ने स्वप्न में कृष्ण का संयोग प्राप्त कराया है। कवि कहता है कि वेद, भगवान् को दूरातिदूर बताते हैं, परन्तु वही भगवान् मन, और वचन से प्रेम करने पर भक्त के बिल्कुल निकट आ जाते हैं।[3]

रूपमञ्जरी का गृहत्याग, तथा उसका कृष्णरास में प्रवेश—इन दो प्रसङ्गों के वर्णन में कवि ने वल्लभ सम्प्रदायी भक्तों की मुक्ति और गोलोक प्राप्ति, का वर्णन किया है। वृन्दावन का वर्णन भी कवि ने आध्यात्मिक दृष्टि से किया है। रूपमञ्जरी ने सब वस्तुएँ इस प्रकार त्याग दीं जैसे कोई पुराने वस्त्र को त्याग देता हो। यह भगवान् से ऐसे जा मिली जैसे रवि की किरणों की गरमी रवि में जाकर समा जाती है—

१—भूत छिये मदिरा पिये, सब काहू सुधि होय।
प्रेम सुधारस जो पिये, तिहि न रहे सुधि कोय। ४१८।

२—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ४४४।

३—यद्यपि दूर ते दूर प्रभु, निगम कहत है ताहि।
तदपि प्रेम मन बच गहे, निपट निकट हीं आहि।
तिहु काल में प्रगट हरि, प्रकट नहीं कलिकाल।
ताते स्वपनो ओट दै, भेंटे गिरिधर लाल।

—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छं० नं० ५७१, ५८०

तजत भई तिय सम तन सोई, ज्यों जीरन पट त्यागत कोई।
ज्यों रवि और रवि की गरमाई, किरण माँज हो रवि पें जाई।[1]

वृन्दाबन के विषय में कवि कहता है—"वह भूमि चिंतामणि के समान मनोवाञ्छित फल देने वाली है। वहाँ सब ऋतुएँ सदैव रहती हैं। सम्पूर्ण बन दिव्य सङ्गीत के प्रभाव और प्रेम की भावना से ओत-प्रोत रहता है। यमुना भी प्रेमवारि वहन करती है। यदि कवि के अनन्त मुख और अनन्त जिह्वा हो जाँय तब भी उसकी शोभा का कथन नहीं हो सकता।[2] इस बन में पहुँचना बहुत दुर्लभ है। इस बन की रज पाने के लिए ब्रह्मा से देव भी पच पच कर हार गये। जो रज वृन्दाबन की है वह बैकुण्ठ आदि लोकों में नहीं है। परन्तु इस पवित्र रज को अधिकारी जन ही पाते हैं।"[3]

रूपमञ्जरी को ढूँढ़ती हुई इन्दुमती भी वृन्दाबन में पहुँच गई और उसने रूपमञ्जरी को युगल रूप के निकट आनन्द में मग्न देखा। रूपमञ्जरी के संसर्ग से इन्दुमती और इन्दुमती की सहायता से रूपमञ्जरी, दोनों भगवान् के नित्य लोक वृन्दाबन में पहुँच गईं। नन्ददास ने रूपमञ्जरी के साथ अपने संग को परस्पर लाभकारी सिद्ध किया है। सत्सङ्ग के के विषय में वे कहते हैं कि उत्तम सङ्ग से उत्तम गुण मिलते हैं और बुरे सङ्ग से बुरे, जैसे निर्मल दर्पण में मुख की शोभा उज्ज्वल दीखती है और बुरे मुकुर में सुन्दर रूप भी शोभाहीन दिखाई देता है—

उत्तम संग उत्तम छवि पावें, मध्यम संग मध्यम दिखरावें।५२५।
जैसे सुंदर मुकुर में, मुख पानीय अधिकाय।
बुरे मुकुर में सुकरते, भलेई पानीय जाय।५२६।

१—'रूपमंजरी, बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ५४४ तथा ५४५।

२—धरनी चिंतामनि मन हरे, वंछित अनवंछित सब करे।
सब रुति बसत बसंत नित जहाँ, पात पुरातन होत न तहाँ।
× × ×
सुधि न रही एही छवि गोहन, रागमई किधों प्रेममई बन।
× × ×
जो मुख होय अनन्त सखि, रसना ताहि अनन्त।
वृन्दाबन गुन कथन को, तोऊ न पहुँचे अन्त।
—रूपमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास छन्द नं० ५४७-५५४।

३—इह बन दुर्लभ आइबो, इन्दुमती सुनि बात।
जाकी रंचक रज गरज, अज से मरि पचि जात।
× × ×
जो रज ब्रज वृन्दावन माहीं, बैकुंठादि लोक में नाहीं।
जो अधिकारी होय सो पावे। बिन अधिकारी भए न आवे।
—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छं० नं० ५६१-५७८।

रूपमञ्जरी की सङ्गति, रूप की उपासना और प्रेम के द्वारा, नन्ददास को जो सिद्धि मिली उसके विषय में अन्त में वे कहते हैं—

जो बांछित ही रैन दिन, सो कीनों करतार।
महा मनोरथ सिध तरी, सहचरि उतरी पार।५८१।
यह बिधि कुंवरि रूपमञ्जरी, सुन्दर गिरिधर पिय अनुसरी।५८२।
इंदुमती ताकी सहचरी, सो पुनि तेहि संगति निस्तरी।५८३।

आगे कवि कहता है "यद्यपि भगवान् अगम्य हैं, परन्तु 'रँगीले' प्रेम द्वारा भक्त उन के 'निपट निकट' पहुँच जाता है, आवश्यकता इस बात की है कि अभ्यास पूर्ण होना चाहिये, केवल कहने मात्र से भगवान् नहीं मिलते—

यदपि अगम ते अति अगम, निगम कहत हैं ताहि,
तदपि रंगीले प्रेम ते, निपट निकट प्रभु आहि।५८५।
कथनी नाहिंन पाइये, करनी पैये सोय,
बातन दीपक ना बरे, बारे दीपक होय।५८६।

काव्य-समीक्षा

'रूपमञ्जरी' नन्ददास का एक छोटा सा आख्यान काव्य है, जिसमें काव्य की दृष्टि से शृङ्गार रस प्रधान है। यह आख्यान घटना-प्रधान नहीं है और न इसमें दृश्यों के वर्णन की प्रधानता है। इसमें एक व्यक्ति का चरित्र वर्णित है, जिसमें चरित्र की अनेकरूपता के स्थान पर केवल एक प्रेम-व्यापार का वर्णन है। इसे एक प्रेम-कहानी कह सकते हैं। पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि इसमें वर्णित प्रेम ईश्वरोन्मुख होने के कारण आध्यात्मिक माधुर्य-प्रेम है। इस ग्रन्थ में कवि का ध्यान कथावस्तु के विस्तार तथा प्रासङ्गिक घटनाओं के रोचक मेल से मुख्य कथा को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने की ओर नहीं गया, और न उसने घटना-स्थली रूप में प्रकृति के अनेक दृश्यों का ही वर्णन विस्तार से किया है। प्रबन्ध काव्य में कथानक की घटनाओं की बँधी शृङ्खला के बीच मर्मस्पर्शी प्रसङ्ग पाठक को जिज्ञासा-तृप्ति और भावानुभूति के अवसर दिया करते हैं। नन्ददास ने रूपमञ्जरी के चरित्र के उन अनेक प्रसङ्गों को भी, जहाँ पाठक की जिज्ञासा माँगती है कि प्रसङ्ग का विस्तार और चरित्र का स्पष्टीकरण हो, छोड़ दिया है। जैसे रूपमञ्जरी के प्रथम विवाह का वर्णन, उसके अयोग्य पार्थिव पति का परिचय, और लौकिक सम्बन्ध में उसके हृदय को ठेस पहुँचाने वाली परिस्थितियाँ। इन प्रसङ्गों के छूटने से पाठक उन परिस्थितियों के ज्ञान अथवा अनुमान से वञ्चित रह जाता है, जिनके बीच मुख्य चरित्र के भाव और विचारों का क्रमिक विकास हुआ है। कहानी में कथा का उत्थान, उत्कर्ष और अवसान आदि अवस्थाओं का विकास बहुत ही सङ्कुचित है, रूपमञ्जरी के चरित्र का केवल एक अङ्ग अर्थात् प्रेम वर्णित है जिस

का सम्बन्ध हमारे भावों से अधिक और घटनाचक्र से कम है। वर्णन के अन्तर्गत इस कथानक में रूप वर्णन प्रधान है। इसके अतिरिक्त उद्दीपन विभाव की दृष्टि से प्रकृति का वर्णन षड्ऋतु रूप में हुआ हैं, तथा घटनास्थली रूप में निर्भयपुर और वृन्दाबन के संक्षिप्त वर्णन हैं। चरित्रों में, इस ग्रन्थ में, केवल तीन पात्र कथा के आधार हैं, जिनमें रूपमञ्जरी और उसकी सखी इन्दुमती मुख्य रूप से हमारे सामने आती हैं। कृष्ण का चरित्र परोक्ष रूप से काल्पनिक रूप में वर्णित है। भावव्यञ्जना के अन्तर्गत रूपमञ्जरी के प्रेम की वियोग और संयोग अवस्थाओं का चित्रण है।

रूपमञ्जरी के सौंदर्य का वर्णन विस्तार से किया गया है और काल्पनिक नायक कृष्ण का रूप-वर्णन संक्षेप में है। वास्तव में रूपमञ्जरी के रूप और उसके प्रेम की अवस्थाओं का वर्णन ही ग्रन्थ का मुख्य आधार है। रूपमञ्जरी के स्वभावबोध-

रूप वर्णन

के लिए कवि ने सादृश्यमूलक अलङ्कारों से अधिक काम लिया है, जिनमें कवि-परम्परा के अनेक उपमानों का प्रयोग हुआ है। वर्णन अत्युक्तिपूर्ण है, कहीं कहीं शृङ्गार भाव ने अमर्यादित रूप भी धारण कर लिया है, परन्तु कवि की अनूठी उत्प्रेक्षा और मनोहर उक्तियों ने वर्णन की रोचकता का ह्रास नहीं होने दिया। पहले कवि ने रूपमञ्जरी के बालवय का वर्णन किया है, जो उसके 'मुग्धा' रूप से आरम्भ होता है। उसके अङ्ग-अङ्ग शुभ लक्षणों से युक्त हैं। सृष्टि के पदार्थों का सौंदर्य सिमट कर उसके रूप में बस गया है। उसके मुख की शोभा इतनी उज्ज्वल और कान्ति पूर्ण है कि उसके पिता का घर बिना दीपक के ही उस की मुख आभा से प्रकाशमान रहता है, यह पता ही नहीं चलता कि कब सूर्य उदय हुआ और कब 'साँज' हुई। कवि कहता है —

ता भूपति के भवन की, उदय न बारे साँज।
बिन ही दीपक दीप जनु, दिये कुंवरि घर माँज।[१]

उसके बाल स्वभाव ही से काले, सुगन्धित और चमकीले हैं। उसकी भौंहें मानों बाल कामदेव की 'धनुही' हैं। उसके प्रत्येक अङ्ग में टोना भरा है। इस प्रकार रूप वर्णन करते करते कवि कहता है कि उसका बालरूप संसार को प्रकाशित करने वाला एक दीपक है, जिसमें स्त्री पुरुष सभी के नेत्र पतङ्ग बनकर गिरते हैं—

बाल बये को रूप जनु, दीप जग्यो जग ऐन।
उड़ि उड़ि परत पतंग जिमि, नर नारिन के नैन।[२]

जब वह सरोवर में स्नान करने जाती है तो भ्रमर पुष्पों को छोड़ कर उसके मुख-कमल की सुगन्धि लेने लगते हैं। यहाँ पर कवि ने रूपमञ्जरी का शृङ्गार अज्ञातयौवना[३] के

१—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ६१।

२—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ७८।

३—'सो अज्ञातयौवना बाला, राजत नखसिख रूप रसाला'। ८१।

रूप में प्रकट किया है। उसके गौर वर्ण के सामने तपे हुए स्वर्ण का रङ्ग भी फीका लगता है[1]। उबटन और स्नान के बाद उसकी देह की शोभा के सामने बिजली भी छिप जाती है।[2] उसकी वेणी नागिन है, जो उसे बुरी दृष्टि से देखता है उसे वह डस लेती है।

बेनी बनी कि सांपिन आहि, बुरी दृष्टि देखे तिहि खाहि।[3]

यहाँ 'बुरी दृष्टि' से कवि का अभिप्राय, वासना की विकार दृष्टि से है। कवि ने सौन्दर्य को वासना की विकारमयी दृष्टि से देखने की वस्तु नहीं बताया। मस्तक की बिन्दी आदि शृङ्गार का वर्णन करने के बाद कवि कहता है कि उसके शैशव काल की चरणों की चञ्चलता यौवन आने पर नेत्रों में आगई है—

बालपने पग चंचलताई, अब चल छबीलें नयनन आई। ११२।

यही भाव नन्ददास से पहले राधा के रूपवर्णन में विद्यापति ने प्रकट किया है—

किछु किछु उतपति अंकुर भेल, चरन चपल गति लोचन लेल।[4]

और जब नेत्र तिरछे रुख देखते हैं तो प्रतीत होता है मानों वे कानों के पास जाकर उनसे कुछ मन्त्रणा कर रहे हैं।[5] उसके नेत्रों के सामने मृग, खञ्जन, कमल और मछली, सब छविहीन होकर छिप गये हैं।[6] कवि ने उसकी नासिका, कपोल, अधर, दाँत, चिबुक आदि अङ्गों का वर्णन उत्प्रेक्षाओं द्वारा किया है। उसकी कोमलता का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि जब वह पान खाती है तब पीक की लकीर भी उसके कण्ठ में दीखती है—

कंठ लीक मझ पीक की धारा, फीक परी सब छबि संसारा।[7]

इस प्रकार का भाव मलिक मुहम्मद जायसी ने भी पद्मावती के रूपवर्णन में

१—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० १०४।

२—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० १०६।

३—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० १०८।

४—'विद्यापति-पदावली', बेनीपुरी, लहरिया सराय, द्वितीय संस्करण, पृ० ७।

५—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ११३।

६—'इत उत चलत चहत अनुरागे, बात करन कानन सों लागे'।
'मोहियत दृगन के अचरज भारे, चलहि आनतन आनहि मारे।
'मृगज लजे, खंजन लजे, कंज लजे छबि छीन।
दृगन देख दुख छीन ह्वै, मीन भये जल लीन।
—'रूपमञ्जरी' बलदेवदास करसनदास, छं० नं० ११३-११५।

७—'रूपमंजरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० १२१।

किया है। आगे इस रूपवर्णन में कवि कहता है कि जब रूपमञ्जरी अपने अरुण कमल चरणों को पृथ्वी पर रखती है तब ज्ञात होता है मानों पृथ्वी अपनी जिह्वा के पाँवड़े बिछाती चलती है।[1] द्युति, लावण्य, रूप, माधुर्य, कान्ति, रमणीयता, सुन्दरता, मृदुता और सुकुमारता, इन गुणों को कवि ने रूपवती नायिका रूपमञ्जरी के सौंदर्य के अङ्ग कहा है और इनका एक एक अर्द्धाली में अलग अलग वर्णन किया है—

द्युति—*द्युति तिय तनु अस दीन दिखाई, शरद चंद सी झलमलताई।१३७।*
लावण्य—*ललना, तन लावण्य लुनाई, मुक्ताफल जनु पानीय आई।१३८।*

रूपमञ्जरी के रूप के वर्णन के अन्त में कवि कहता है—

रूपमञ्जरी छबि कहन, इंदुमती मति कोन।
ज्यों निर्मल निशिनाथ को, हाथ पसारे बोन।[2]

कृष्ण के रूप का वर्णन दो स्थानों पर आया है। एक रूपमञ्जरी के प्रथम स्वप्न दर्शन के वर्णन में, दूसरे फाग वर्णन में। कवि कहता है कि रूपमञ्जरी अपने हृदय में स्थित कृष्ण के रूप का वर्णन हृदय खोलकर इस भय से नहीं करना चाहती कि कहीं हृदय और मुख खोलने पर हृदय में स्थित कृष्ण मूर्ति निकल न जाय—

कृष्ण का रूप

कह्यो चहत पुन ना कहत, रहत डरप यह भाय,
मोहन मूरति हीय ते, कहत निकस जिन जाय।२३०।

इस प्रकार की अनेक उत्प्रेक्षाओं से पूर्ण उक्तियाँ इस ग्रन्थ में मिलती हैं। इसके आगे रूपमञ्जरी कृष्ण के रूपरङ्ग-वेशादि का वर्णन करती है, इसमें कृष्णरूप वर्णन की परम्परा मोरमुकुट, पीताम्बर, मुरली आदि के वर्णन का ही कवि ने अवलम्बन लिया है। दूसरे स्थान पर रूपमञ्जरी ब्रज-युवतियों से कृष्ण का वर्णन उनके फाग के गानों में सुनती है। इस वर्णन में कृष्ण के ब्रह्म अथवा ईश्वर रूप का ही वर्णन किया गया है।

रूपमञ्जरी की जन्मभूमि निर्भयपुर का वर्णन कवि ने घटना-स्थली के रूप में किया है। इस वर्णन में भी अतिशयोक्तिपूर्ण उक्तियाँ और सादृश्यमूलक अलङ्कारों का बाहुल्य मिलता है। कवि कहता है—"निर्भयपुर पृथ्वी पर मानों दूसरा कैलाश है। उसके मकानों की अटारियाँ बादलों की घटा से बातें करती है।[3] अटारियों पर केकी कल्लोल करते हैं। आकाश

निर्भयपुर का वर्णन

१—'रूपमञ्जरी' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० १३४।

२—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० १४८।

३—'ऊँची अटा, घटा बतराहीं, तिन पर केकी केलि कराहीं।३८।

में उड़ती हुई पतंगें ऐसी मालूम होती हैं मानों विमानों पर चढ़कर देवता नगर की शोभा देख रहे हों।[1] नगर के आसपास अमराइयों के बीच बावड़ी बनी हैं जिनके चारों ओर फुलवाड़ी खिली हैं। इन अमराइयों में, शुक, सारस, कोकिल, चातक, कपोत आदि पक्षियों का कलरव हो रहा है, मानों कामदेव अपनी चटसार में बाल-विद्यार्थियों को पढ़ा रहा हो।[2] वृक्ष फलों के भार से इस प्रकार झुके हैं, जैसे सम्पत्ति पाकर सज्जन झुक जाते हैं। तालाबों में निर्मल नीर भरा है जिनमें कमल फूल रहे हैं। जल के ऊपर कमलों का पराग इस प्रकार बिखरा हुआ है मानों आरसी की मणि पर नायिका ने अबीर छिटका दिया हो। पुष्पों पर भौंरे बैठने का प्रयत्न करते हैं परन्तु चञ्चल वायु उन्हें बैठने नहीं देता।" इस स्थान पर कमलों के ऊपर उड़ते हुए भ्रमरों के दृश्य पर कवि ने एक अनूठी और सुन्दर उत्प्रेक्षा की है। कवि कहता है—"प्रभात समय कमलों के ऊपर गुञ्जार करते हुए भौंरे उड़ रहे हैं। ज्ञात होता है सूर्य के भय से अन्धकार अपने बच्चों को छोड़कर भाग गया है और वे बच्चे ही भ्रमर रूप में रोते फिरते हैं।"[3] नगर का यह वर्णन यद्यपि कवि ने बहुत संक्षेप में किया है, परन्तु इसमें भी कवि की कल्पना-शक्ति और वर्णन-कौशल का परिचय मिलता है।

वियोग तथा संयोग श्रृङ्गार

रूपमञ्जरी में जिस विरह दशा का वर्णन है वह पूर्वराग की अवस्था का है; वियोग की अन्य तीन अवस्थाओं का रूप इस ग्रन्थ में नहीं आया। पूर्वराग अवस्था की उत्पत्ति प्रेम के आलम्बन के सौंदर्यादि गुणों के श्रवण अथवा रूप-दर्शन से मानी गई है। गुणों का श्रवण, दूत, भाट, अथवा सखी-सखा के द्वारा होता है और दर्शन, चित्र में, स्वप्न में अथवा साक्षात् रूप में होता है। हिन्दी के आचार्यों ने गुणश्रवण को एक प्रकार का दर्शन ही कहा है। वास्तव में रूप-गुण-श्रवण से भी प्रेम के आलम्बन का काल्पनिक चित्र सामने खड़ा कर लिया जाता है। कभी-कभी नायक अथवा नायिका के गुणों की ख्याति से ही, नायक अथवा नायिका के हृदय में प्रेम की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। नल-दमयन्ती का परस्पर प्रेम उनके गुणों की ख्याति द्वारा ही उत्पन्न हुआ था।

१—'गुड़ी उड़ी छबि देत अति, अस कछू बन रह्यो बान'।
देखन आवत देव जनु, चढ़ चढ़ व्योम विमान'। ४०।

२—'बोले शुक सारस पिक तोती, चातक हरियर कपोत कपोती'।
'मीठी ध्वनि सुन यह मन आवै, मैन मनो चटसार पढावै'।
'फलन के भार नमित द्रुम ऐसे, संपति पाय बड़े जन जैसे'।
—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ४३-४५

३—'कंज कंज प्रति पुंज अलि, गुंजत द्रुम परभात।
जनु रवि डर तम त्यज भजो, रोवत ताके तात।' ५२।

रूपमञ्जरी के पूर्वानुराग के हेतुओं में सखी द्वारा गुण-श्रवण, स्वप्न-दर्शन तथा चित्र अथवा मूर्ति-दर्शन हैं।

रूपमञ्जरी की सखी इन्दुमती ने उसके प्रेम-तृषित हृदय की अवस्था का अनुमान कर कृष्ण के रूप और गुणों का वर्णन किया, जिससे रूपमञ्जरी के हृदय में कथित नायक के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया। उसके हृदय में उस नायक के समागम की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न होने लगी। एक दिन इसी नायक को रूपमञ्जरी ने स्वप्न में भी देखा।[1] स्वप्न में नायक के रूप और उसके समागम ने रूपमञ्जरी के हृदय के भाव को पुष्टता दे दी। इस प्रेम-दशा के वर्णन में कवि ने एक सुन्दर रूपक बाँधा है। "रूपमञ्जरी का हृदय दर्पण है और शरीर रुई है। जब प्रीतम्-रूप-रवि की किरणें हृदय रूप दर्पण पर पड़ीं तो तन रुई से विरह की आग जाग उठी।"

तिय हिय दर्पण तन रुई, रही हुती पुटपाग।
प्रीतम रवि की किरण लगि, जाग परी तन आग

गुण-श्रवण से अभिलाषा का जो बीज इन्दुमती द्वारा रूपमञ्जरी के हृदय में डाला गया था अब वह स्वप्न-दर्शन में अंकुरित होकर भाव-रूप में प्रकट हो गया, और इस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ने लगा, जैसे शरदचन्द्र की कला बढ़ती है।[3] गोवर्द्धन पर्वत पर प्रिय की मूर्ति के दर्शनों ने उस प्रेमभाव रूप पौधे को सींच कर इतना वृहदाकार दे दिया कि उसका सम्पूर्ण हृदय-क्षेत्र उसकी सुखद छाया से आच्छादित हो गया। अब उसके हृदयगत भाव 'हाव' और 'हेला' द्वारा व्यक्त होने लगे। इस स्थान पर कवि ने उसके 'हाव' और 'हेला' व्यापारों का संक्षेप में वर्णन किया है। जिसमें इन दोनों व्यापारों के लक्षण भी कवि ने किये हैं—

हाव— *रूप जोति सी लटकत डोले, सब सों बचन मनोहर बोले। २७५।*
नयन बेन जब प्रकटे भाव, ताको सुकवि कहत हैं हाव। २७७।

हेला— *हाव ते बहुरि उपज्यो 'हेला', सखी कहे परम अमीरस रेला। २७८।*
बार बार कर दरपन धरे, कुन्तल हार सँवार्यो करै। २७६।
अति शृंगार मग्न मन रहे, ताको कवि हेला छवि कहै। २८०।

इस स्थान पर भाव चित्रण बहुत अरोचक तथा रूढ़ सा है।

१—'सपने में एक सुन्दर नायक, पायो कुंवरि आपने लायक'। १७५।

२—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० २६५।

३—'छिन छिन भाव बढ़त चल्यो ऐसे, शरद दूज शशि कला न जैसे'।
—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० २७२।

इस प्रकार रूपमञ्जरी के हृदय में कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम इतना गहरा जम गया कि उसकी भूख-प्यास सब मिट गई। उसका यह भाव अश्रु आदि अनुभावों में भी प्रकट होने लगा। कवि इस दशा का वर्णन करते हुए कहता है—

डभकर्द नैन नीर भरि आवै, पुन सुक जाय महाछवि पावै।२८५।
पुलक अङ्ग स्वरभंग जनावे, बीच बीच मुरछाई आवै।२८६।
रूपमंजरी तिय हिय, पिय झलकै इम आय।
चंद्रकांत मणि माँझ जिम, परम चंद की झाँय।२८८।

आन के ढिंग उसास नहिं लेई, मुँह मूँदे ते उत्तर देई।२६२।
जो कोऊ कमल फूल पकरावे, हाथ न छुवे निकट धरवावे।२६४।
अपने कर जु विरह ज्वर ताते, मति मुरझाय डरत जिय याते।२६५।

आगे कवि ने रूप मञ्जरी की विरहदशा का वर्णन षड्ऋतुओं के अन्तर्गत किया है। पावस ऋतु में काले-काले बादल वियोगिनी रूपमञ्जरी को भयङ्कर दिखाई देते हैं। उसे अनुमान होता है मानो मन्मथ अपनी सेना लेकर उसके ऊपर आक्रमण कर रहा है। बादलों में अपने प्रिय की 'अनुहारि' देख कर दिन को तो वह किसी प्रकार बिता देती है, परन्तु रात्रि उसको महा-दुखदाई प्रतीत होती है।[1] रात में बादलों की घोर गर्जना, पवन के झकोरे, दादुर और झींगुरों का शब्द सब उसके हृदय को त्रस्त कर रहे हैं। जुगनू विरहाग्नि की चिनगारियाँ उड़ा रहा है। पापी पपीहा 'पीऊ पीऊ' की रट से प्रिय-स्मृति को उन्मत्त बना रहा है। पपीहे की 'लगन' और उसके प्रेम के 'नेम' में रूपमञ्जरी प्रेम की अनन्यता का पाठ सीखती है। उसकी सखी कहती है—

प्रेम एक इकचित्त सों, एकहि संग लगाय।
गाँधी को सौदा नहीं, जन जन हाथ बिकाय।[2]

जब रूपमञ्जरी बहुत विकल होने लगती है तब उसकी सहचरी इन्दुमती वीणा बजाकर उसका मन बहलावा करती है। कवि कहता है—"यदि मर्मस्थान में कोई सीधा

१—'उमगे बादर कारे कारे, बड़रे बहुरि भयानक भारे'।
'घुमड़न मिलन देख डर आवे, मन्मथ मानों हाथी लरावे'।
× × ×
'घन में तनक जु प्रिय अनुहारी, तिहिं लालच देखे बरनारी।
वगन की माला नयन विसाला, मानत पिय उर पंकजमाला।
दामिनी दमक देखि दृग नावे, पिय पटपीत छोर सुधि आवे'।
'दिन तो यह अवलंब बोरावे, रैन में रवन महादुख पावे'।
—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छं० नं० ३०३-३१०।

२—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ३२०।

शस्त्र घुस जाता है तो वह महान् दुखदायी होता है परन्तु जहाँ 'ललित त्रिभङ्गी' रूप टेढ़ी गाँसी हृदय में घुस जाय तो उस पीड़ा का तो कहना ही क्या, उसे तो अनुभव करनेवाला ही जानता है।"

सूधो जो कछु उर गढ़े, सो काढ़े दुख होय।
ललित त्रिभङ्गी जहँ गढ़े, सो दुख जाने सोय।[1]

इस प्रकार वर्षा ऋतु बीती। वर्षा के बाद शरद आई। इस ऋतु में रूपमञ्जरी का मन पक्षियों की भाँति उड़ उड़ कर प्रिय के पास जाता है। वह अपने मन से कहती है—"तू अकेला ही क्यों उड़ कर प्रिय के पास जाता है, मेरे इन नेत्रों को भी साथ लेता जा, जिस से तेरे साथ उन्हें भी प्रिय का दर्शन मिल जाय।"[2] शरद ऋतु में खञ्जन पक्षियों के कल्लोल, चन्द्र के उज्ज्वल प्रकाश, तथा कमलों के सरोवरों में खिलने पर कवि उत्प्रेक्षा करते हुए कहता है—"ये सब मानो इसलिए प्रसन्न हो रहे हैं कि रूपमञ्जरी के रूप के सामने पहले ये लज्जित थे, अब इस विरह दुख में उसका रूप रङ्ग मलिन हो गया है, जिसे देख ये अब हर्ष से फूल रहे हैं। अञ्जन हीन नेत्रों को देख खञ्जन प्रसन्न हो गये, उदास मुख को देख आकाश में चन्द्रमा प्रसन्न हो गया और मुख की मलिनता को देख कमल प्रफुल्लित हो गये।"[3] दूज का चन्द्रमा विरहिणी को कटारी के समान प्रतीत होता है। टूटते हुए तारे मानों उसकी ओर अङ्गार फेंक रहे हैं। इस स्थान पर चन्द्रमा के प्रति विरहिणी रूपमञ्जरी के रोष पर कवि ने बड़ी अनूठी और मुग्धकारी कल्पना की है। रोष में भरी रूपमञ्जरी दर्पण में प्रतिविम्बित चन्द्रमा के सिर पर प्रतिहिंसा में हथौड़ा लेकर मारती है।[4] इस वर्णन द्वारा कवि ने वियोग की उन्मत दशा का चित्र अङ्कित किया है।

१—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छंद नं० ३३१।

२—'मनसों कहै कुटिल तू आही, इकलोई उड़ पिय पे जाई'। ३३७।
'रंचक नयनन हू संग लैरे, मोहन मुख देख आवन दै रे'। ३३८।

३—'अंजन बिन देख नयन सुहाये, खंजन हुरे कहाँ ते आये'।
'देखि कुँवरि को वदन उदासा, इंदु मुदित ह्वै उदित अकासा'।
'निरखि मलिन मुख नलिन हू, फूले सब इकसार।
बैरी चीत्यो जगत में, तू जिन कर करतार'।

× × ×

'कवन समय आयो यह सजनी, इंदु अनल बरसे सब रजनी।
—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ३४१-३४७।

४—'द्वैज चंद देखि भयभारी, उगे गगन जनु काम कटारी'। ३४४।
'टूट तारक अंगार बगावहिं, काम भूत जनु मोहि छरावहिं। ३४५।
'ले अरन पर धर मुकर, मुकर लोह घन लेय।
जब ही आन परे तहां, तब ही ता सिर देय'। ३५३।
—रूपमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, छन्द नं०, ३४४,३४५,३५३।

शरद बीतने पर हेमन्त ऋतु आई। उस समय रातें बड़ी हो गईं और दिन छोटे। विरहाकुल रूपमञ्जरी को रात्रि में नींद नहीं आती। कभी वह आँखें मूँद कर सोने का प्रयत्न करती है और सोचती है—कदाचित् वह मधुरस्वप्न फिर प्रिय को ले आवे। परन्तु उसे नींद कहाँ! इस स्थान पर भी कवि ने बहुत ही सुन्दर उत्प्रेक्षा की है जो कवि की अनोखी सूझ और कवित्व-शक्ति की महत्ता का समर्थन करती है। नींद न आने पर रूपमञ्जरी कहती है—"हे दई, नींद कहाँ गई, क्या वह स्वयं सो गई है?"

नयन मूंद निशि नींद न आवे, मत वह सुपन बहुरि ही लावे।[1]

रूपमञ्जरी के विरहाश्रुओं पर कवि उत्प्रेक्षा करता है—"यौवन-रूप बालक प्रीतम के अधरदुग्ध के पान को मचल रहा है। वह उसे अपनी नयन-कटोरियों में अश्रुनीर भर कर पिला रही है और उसे इस प्रकार बहला रही है।"

अति शिशु यौवन कैसै रहे, प्रीत मअधर दूध को चहै।
विलपत देख दया जब आवे, भरि भरि नयना नीर पियावे।[2]

शीत का तुषार उसे सिंह के समान भयकारी प्रतीत होता है। हिमाहत कमल के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए वह कहती है—"हे कमल, दुख में तेरा कोई साथी नहीं है। ब्रह्मा तेरा पुत्र है, सूर्य तेरा मित्र है, और जल तेरा पिता है, फिर भी तुझे तुषार के आघात से कोई न बचा सका। ठीक है दुख में कोई किसी का साथी नहीं होता।"

विधि सो पूत मित्र रवि ताको, जल सो जनक जगत यश जाको। ३६८।
सो अंबुज यह हिम ऋतु जारयो, इतने माँझ न किन हूँ उबारयो। ३६९।
तू को आहि हितू को तेरो, एक मित्र सो नाहिन तेरो। ३७०।

शीत की कठोरता का सहन करने के बाद वसन्त ऋतु का आगमन हुआ। कवि कहता है कि रूपमञ्जरी के मन की व्यथा अकथनीय है। उसके हृदय की आग इस प्रकार नहीं बुझती जैसे रूई में लिपटी आग नहीं दबती।[3] वसन्त में कवि ने ब्रज की होली का वर्णन किया है। रङ्ग से रँगी फाग-मण्डली के विषय में कवि कल्पना करता है—मानों रति के व्याहने के लिए उमङ्गभरी कामदेव की बरात जा रही हो।

रंग रंग छिरकें बसन वर, बदन बदत तब बात।
जानो रतिब्याहन 'रहसि, आई वितनु बरात। ३८६।

१—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ३२७।

२—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ३२९ तथा ३६०।

३—'अकथ कथा मन मन व्यथा, तथा उठी तन जागि।
केहि विधि राखे क्यों रहै, रुई लपेटी आगि'। ३७६।

"बसन्त में कोकिल कामदेव की प्रभुता की दुहाई देती फिरती है।[1] सम्पूर्ण बन फूलों से सजा हुआ है मानो आखेट को जाते हुए अनङ्ग राजा की सवारी के स्वागत में चारों ओर सजावट हो रही हो।[2] काम रूप राजा अपने पञ्च शरों को लेकर विरही रूपी हरिणी के शिकार को निकला है।" आगे बसन्त में विरहिणी रूपमञ्जरी की प्रेमपीड़ा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

कुसुम धूर धुंधरि दिशा, इंदु उदय रसपोन।
कुहु कुहु जो कोयल करे, तो बिरहिन जीवे कोन।[3]

बसन्त के बाद ग्रीष्म ऋतु आई। पहाड़ से दिन काटे नहीं कटते। दुपहरी डाइन सी दुखदाई हो रही है।[4] चन्दन जलता हुआ लगता है, चन्द्र-किरण उस आग में घृत डाल रही है।[5] हृदय में इतनी अधिक विरहताप है कि हार के मोती उसके हृदय पर तच तच कर जाते हैं।[6] वह इस प्रकार तड़पती है जैसे थोड़े जल में मछली। उसकी सखी इन्दुमती शीतल पुष्पों की शय्या बिछाती है, चन्दन का लेप लगाती है, पङ्खे की शीतल वायु डुलाती है और मीठे स्वर में राग सुनाती है; परन्तु इतने उपकारों में भी रूपमञ्जरी को चैन नहीं पड़ता। इस प्रकार बारह महीने और छहों ऋतुओं में वह पूर्वानुराग विरह की वेदना को सहन कर रही है। ऋतुओं में प्रकृति जो जो रूप धारण करती है, वे सब रूप और व्यापार, विरहिणी रूप मञ्जरी के मानसिक और शारीरिक व्यापारों से घनिष्ट साम्य रखते हैं। विरह में प्रेमी अपने प्रिय में इतना लीन हो जाता है कि प्रत्येक क्षण और प्रत्येक वस्तु में उसे अपना प्रिय ही नज़र आता है। रूपमञ्जरी विरह में प्रिय को सर्वत्र देखती हुई कहती है—

१—'जामें मैन नृपाई पाई। पिक बोलत मनु फिरत दोहाई'। ४४६।

२—'एक दिन राव अखेटक चढ्यो। विरही मृग मारन रिस बढ्यो'।
'पुहुप को चाप पनच अलि किये। पांच बाण पांचो कर लिए।
सब बन फूल फूल अस भये। आन अनंग राव जनु छये।'
—'रूपमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास छंद नं० ४५३, ४५४, ४५६।

३—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छंद नं० ४६०।

४—'बड़रे तपत पहाड़ से दिना। क्यों भरि हैं पिय प्यारे बिना।
दुपहरी तहां डाइन सी आवे। ताहि निरखि अति तिय दुख पावै। ४६३।

५—'चंदन चरचे अति परजरै, इन्दुकिरन घृत बुन्द सी परें'। ४६७।
घनसारहि देख मुरछित ऐसे, मृगीवंत जल दरसे जैसे।४६८।

६—हारके मोती उरजन माहीं, तचि तचि तरक रवा ह्वै जाहीं।
देख देख इंदुमती अरबरे, थोरे जल जिमि मछली फिरे।
—'रूपमन्जरी,' बलदेवदास करसनदास छन्द नं० ४६६-४७०।

हों जानों पिय के मिले, विरह अधिक सुख होय।
मिलत मिलिए एक सों, बिछुरे सबठाँ सोय।

संयोग शृङ्गार का वर्णन कवि ने बहुत संक्षेप में किया है। रूपमञ्जरी का कृष्ण के साथ संयोग स्वप्न में तथा उसकी भावना में हुआ था। एक दिन विरह-विदग्धा रूपमञ्जरी को थोड़ी देर के लिए नींद आ गई। सौभाग्य से वही स्वप्न और वही प्यारा रूप उसने फिर देखा जिस पर उसका मन रीझा हुआ था। इसी स्वप्न की अवस्था में कवि ने रूपमञ्जरी के संयोग का वर्णन किया है। इस वर्णन में भी काव्य की दृष्टि से सुन्दर उक्तियाँ आई हैं और मानव अनुभूत साधारण भावों का चित्रण सजीव हुआ है; परन्तु संयोग रति के कुछ शृङ्गारिक चित्र मर्यादा से दूर चले गये हैं। स्वप्न के संयोग के बाद कवि ने रूपमञ्जरी को संभोग-हर्षिता नायिका के रूप में अङ्कित किया है। इस स्वप्न के संयोग सुख का अनुभव करने पर रूपमञ्जरी अपनी सेज से मदमाती सी उठी, मुख पर मधुर मुसकान, बिथुरे हुए बाल, पीक भरे पलक और आँखों में आनन्द का रङ्ग। अपनी कल्पना में वह इसी संयोग-सुख का नित्य अनुभव कर आनन्द मग्न रहने लगी। ठाकुरदास सूरदास द्वारा प्रकाशित 'रूपमञ्जरी' की कथा यहीं पर समाप्त हो जाती है[२], परन्तु भाई बलदेवदास कीर्तनियाँ वाली प्रति में यह प्रसङ्ग और आगे बढ़ाया गया है। इस प्रति के आधार पर, रूपमञ्जरी अन्त में कृष्ण के नित्य रास में भी प्रवेश करती है और उसके पीछे ढूँढ़ती ढूँढ़ती उसकी सखी इन्दुमती भी उसके पास उसी रास में पहुँच जाती है और उसका भी चिर संयोग हो जाता है। रूपमञ्जरी के स्वप्न के संयोग के बाद कवि ने उसके शृङ्गार का वर्णन किया है। वहाँ पर नायिकाओं के २८ अलङ्कारों में से कवि ने स्वभावसिद्ध कुछ अलङ्कारों के नाम गिना कर कहा है कि तरुणी रूपमञ्जरी का तन, प्रेम के इन लक्षणों तथा अलङ्कारों से अत्यन्त शोभा पाने लगा। इन अलङ्कारों में से कवि ने कुछ अलंकारों का वर्णन भी किया है। यथा—

संयोग शृङ्गार

लीला, छबि विलास संभ्रमा, मोहायत, कुटमित कमकमा।
ललित बिहित बिदोक किलकिंचित, स्थाई सखि पियहिय संचित।
पिय सों नवहित गरबित जोई, सो कहिये बिदोक छबि होई।
मोद बिशाद एक हैं जहाँ, किलकिंचित छबि कहिये तहाँ।[३]

रुक्मिणी मङ्गल

नन्ददास ने अपने अन्य कथानकों की तरह रुक्मिणी मङ्गल की कथा को भी

१—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ४४४।

२—नोट—'नंददास' नामक ग्रन्थ में श्री उमाशङ्कर शुक्ल ने ठाकुरदास, सूरदास की रूपमञ्जरी के कथानक का अनुकरण किया है।

३—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ५२७, ५२८, ५३४, ५३५।

'श्रीमद्भागवत' से ही लिया है। 'श्रीमद्भागवत' में दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध के ५२, ५३ और ५४वें अध्यायों में रुक्मिणी-हरण और उसके साथ कृष्ण के विवाह की कथा दी हुई है। भागवतकार ने यह कथानक विस्तार के साथ दिया है। नन्ददास ने कथानक के कुछ अंशों को छोड़ दिया है, परन्तु भावपूर्ण स्थलों को उन्होंने कुछ विस्तार के साथ लिखा है।

कथानक

विदर्भ देश के राजा भीष्मक अपनी रूपवती कन्या रुक्मिणी का विवाह श्रीकृष्ण के साथ करना चाहते थे। रुक्मिणी भी कृष्ण के रूप, गुण और पराक्रम की चर्चा सुनकर सङ्कल्प कर चुकी थी कि वह श्रीकृष्ण को ही अपना पति बनायगी। उधर, कृष्ण ने भी रुक्मिणी के रूप-सौंदर्य की ख्याति सुनी थी। भीष्मक के पुत्र रुक्म ने, जो श्रीकृष्ण का विरोधी था, अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल के साथ ठहरा दिया। विवाह की तिथि निश्चित हो गई। राजा शिशुपाल मगध के राजा जरासंध को साथ लेकर विदर्भ में बरात लाने की तैयारी करने लगा। जब रुक्मिणी ने यह समाचार सुना तो उसे बड़ा दुःख हुआ। नन्ददास ने 'रुक्मिणी मङ्गल' में इसी स्थल से अपने ग्रन्थ की कथा आरम्भ की है।

रुक्मिणी, कृष्ण के वरण का सङ्कल्प कर चुकी थी। शिशुपाल की बरात की चर्चा सुनकर उसकी वेदना और भी उद्दीप्त हो गई। उसी समय रुक्मिणी ने एक वृद्ध ब्राह्मण को बुलवाया और उसके हाथ श्रीकृष्ण के पास सन्देशा भेजा। ब्राह्मण रुक्मिणी का पत्र लेकर द्वारिकापुरी पहुँचा। श्रीमद्भागवत की कथा में रुक्मिणी ने अपने पत्र में अपने आत्मसमर्पण और अनुनय-विनय के साथ अपने हरण की युक्ति भी लिख कर भेजी थी। नन्ददास ने इस प्रकार हरण की युक्ति का वर्णन अपने ग्रन्थ में नहीं किया है। वास्तव में प्रबन्ध-रचना की दृष्टि से 'भागवत' का कथानक अधिक पूर्ण है।

कृष्ण ने रुक्मिणी का पत्र पढ़ा तो वे रुक्मिणी की विनय से द्रवित हो गये। वे शीघ्र ही रुक्मिणी के निवास-स्थान कुण्डनपुर को चल दिये। 'श्रीमद्भागवत' के कथानक में कृष्ण के बड़े भाई बलभद्र जी भी यादवों की सेना लेकर कृष्ण के साथ गये थे। कुण्डनपुर में राजा भीष्मक ने दोनों का स्वागत किया। उसने समझा था कि कृष्ण और बलराम, रुक्मिणी के विवाह के उत्सव में सम्मिलित होने के लिये आये हैं। नन्ददास जी ने बलभद्र जी के आने और उनके स्वागत के प्रसङ्ग को छोड़ दिया है। कृष्ण के रूप-लावण्य को देखकर नगर के नर-नारी सोचते हैं कि यह सुन्दर वर रुक्मिणी के अनुरूप है। नागरिकों की इस प्रशंसा और कामना का नन्ददास और भागवतकार दोनों ने ही वर्णन किया है। इसी प्रकार का वर्णन नन्ददास के समकालीन, कविकुल-चूड़ामणि महात्मा तुलसीदास के 'रामचरित मानस' में सीता स्वयंवर के प्रसङ्ग में आता है।

विवाह से पूर्व रुक्मिणी अपनी माता और सखियों के साथ गौरी पूजन को मन्दिर में गई। रुक्मिणी ने देवी से प्रार्थना की—'हे अम्बिके, आप मेरे जी की सब बात जानती हैं, में चाहती हूँ कि गोकुलचन्द्र गोविन्द कृष्ण मेरे पति हों।' पार्वती ने प्रसन्न होकर रुक्मिणी को वरदान दिया कि तेरे पति श्री कृष्ण ही होंगे। यह प्रसङ्ग भी श्रीमद्भागवत में दिया हुआ है। रामचरित मानसकार महात्मा तुलसीदास ने भी सीता-विवाह के समय इस प्रकार के प्रसङ्ग का 'रामचरितमानस' में समावेश किया है। रुक्मिणी देवी का पूजन कर वापस चली, उसी समय कृष्ण रुक्मिणी को रथ पर चढ़ाकर ले भागे। राजाओं ने पीछा किया; परन्तु कृष्ण ने सबको एक एक कर परास्त कर दिया। 'श्रीमद्‌भागवत' में इस स्थल का विस्तार से वर्णन किया गया है। नन्ददास ने युद्ध का वर्णन तीन रोला छन्दों में समाप्त कर दिया है। यह युद्ध-वर्णन इस रचना में एक प्रकार का उल्लेख मात्र है। द्वारिका में आकर कृष्ण ने रुक्मिणी से विधिवत् विवाह किया। कृष्ण के विवाह का वर्णन नन्ददास ने नहीं किया है। विवाह की केवल सूचना दे दी है। अन्त में कवि ने कथा को धार्मिक दृष्टि से देखते हुये उसके पठन-पाठन का माहात्म्य-वर्णन किया है।

काव्य-समीक्षा

'रुक्मिणी-मङ्गल' में कथा-भाग बहुत संक्षेप में है; परन्तु कथानक के विस्तार की कमी को कवि ने भावपूर्ण स्थलों के वर्णन और दृश्यों के चित्रण से पूर्ण किया है। इन वर्णनों में रुक्मिणी के पूर्वराग की विरह-वेदना का चित्रण तथा कृष्ण के रूप और द्वारावति के वर्णन हैं। जैसा कि पीछे कहा गया है, युद्धस्थल के वर्णन को कवि ने छोड़ दिया है। नन्ददास शृङ्गार भाव के कवि हैं। शृङ्गार भाव के अन्तर्गत कवि ने विरह-वर्णन की ओर अधिक ध्यान दिया है। सूरदास आदि अन्य अष्टछाप कवियों ने भी वीर रस के प्रसङ्गों का वर्णन नहीं किया। जहाँ कथानक में ऐसी परिस्थिति आई भी है वहाँ वे वीर रस के चित्रण में सफल

१—'सिसुपालहि को देत रुक्मिनी बात सुनी जब,
चित्र लिखी सी रही दई यह कहा भई अब'। ३।
'चकित चहूँ दिसि चहति, बिछुरि मनु मृगी माल तें,
भयो वदन कछु मलिन, नलिन जनु गलित नाल तें'। ४।
'अलि पूछति बलि बात, कहो नैनन क्यों पानी,
पुहुप रेनु उड़ि परयो, कहत तिनसों मधुबानी'। ६।
'सुभग कुसुम की माल सखी जब गुहि गुहि लावै,
करसों कुँवरि न परसै, अरसों निकट धरावै'। ६।
'अपने कर जो विरह जरें जानत अति ताते,
मति मुरझाय सो माल बाल डरपति है याते'। १०।
—'रुक्मिणी मङ्गल', नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० १४२, पाठभेद से

नहीं हुये। नन्ददास की काव्य-प्रतिभा का प्रस्फुटन शृङ्गार भाव के चित्रणों में ही हुआ है। प्रेम-विरह को कवि ने अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के कारण से भी महत्ता दी है।

गुरु वन्दना और कृष्ण-कृपा के आवाहन के बाद ग्रन्थ का कथानक रुक्मिणी की विरह-दशा से आरम्भ होता है। इसको रुक्मिणी-विवाह का पूर्ण कथानक न कह कर खण्ड कथानक कहना चाहिए। रुक्मिणी ने जब यह सुना कि उसका विवाह शिशुपाल से होनेवाला है तो उसकी कृष्ण-वरण की आकांक्षा को भारी आघात लगा। वह व्याकुल हो गई। इस समाचार से उसका मुख इस प्रकार मलिन हो गया जैसे कमल अपनी नाल से मुरझाकर झुक जाता है। सखियाँ उसके अश्रुओं का कारण पूछती हैं तो वह लज्जावश बहाना कर देती है कि आँखों में पुष्परज गिर जाने से आँसू आ गये हैं। फूल की माला उसे दुखदायी प्रतीत होती है। यहाँ कवि विरह की अत्युक्ति करते हुये कहता है कि रुक्मिणी कमलमाल को इसलिए अपने हाथ से नहीं छूती और पास में रख लेती है कि कहीं विरह ज्वर से सन्तप्त हाथों के स्पर्श से फूल मुरझा न जायँ।[1] पूर्वराग की दशा में प्रिय की याद और अभीष्ट की सिद्धि में आशङ्का, इन दोनों दशाओं में हृदयगत भावों को कवि ने रुक्मिणी के शारीरिक अनुभवों द्वारा प्रकट किया है—

भाव-व्यञ्जना

दुरि न रहति पिय आरति, प्रगटहि देत दिखाई,
पुलक अंग सुर भंग स्वेद कबहूँ जड़ताई।
उर थर थर अति कंपत जपत जब कुँवर कन्हाई,
कबहूँ टकी लगि जाय कबहुँ आवति मुरझाई।
ह्वै गयो कछु विवरन तन छाजत यों छवि छाई,
रूप अनूपम बेलि तनक मनु घाम में आई।

शोक में उसे कभी मूर्छा आती है तो कभी चेतना। विवाह की मङ्गल-दुन्दुभि और बाजे दुःख की उद्दीप्ति कर रहे हैं। उसके हाथ में विवाह का शुभ कङ्कन भी बँध गया। कङ्कन को देख कर उसकी वेदना का बाँध टूट जाता है और दुख का वेग अश्रुओं में बह निकलता है। रुक्मिणी की व्याकुलता और हृदय की निराशाजन्य बेचैनी का चित्र कवि ने यद्यपि अत्युक्तिपूर्ण किया है; परन्तु इस वर्णन का समवेदनात्मक रूप तनिक भी बिगड़ने नहीं पाया है—

टप टप टप टप टपकि नैन सों अँसुआ ढरहीं,
मनु नवनील कमलदल तें भल मुतिया झरहीं।
उपजि विरह दुख दवा अवाँ तन ताप तये हैं,
कोऊ कोऊ हार के मोतिया तचि तचि लाल भये हैं।

१—रुक्मिणी-मङ्गल, नन्ददास, 'शुक्ल' पृ० १४३, कुछ पाठ-भेद से।

कबहुँ मनहि मन सोचति मोचति स्वास ढरारे,
मोहन सोहन श्याम न है, हैं कंत हमारे।[१]

थोड़ी देर की अधीरता के बाद रुक्मिणी ने धैर्य और विवेक से काम लेने का विचार किया। उसने सोचा—"अब लोक-लाज को त्यागने से ही काम चलेगा। व्रज की गोपियों ने लोक-लाज को त्याग कर ही हरि भगवान् को पाया था। मैं भी उसी मार्ग का अनुसरण करूँगी।" उसने कृष्ण के लिए एक पत्र लिखा—

इहि विधि धरि मन धीर चीर अँसुवन सिराय कै,
लिख्यो पत्र सुविचित्र चित्र रुक्मिणी बनाय कै।[२]

रुक्मिणी के पत्र में उसकी विवशता और दीन विनय का भाव चित्रित है।[३] उधर तो पत्र लेकर ब्राह्मण कृष्ण के पास द्वारिकापुरी गया, इधर रुक्मिणी विरह में छटपटाने लगी। उसे घर आँगन कहीं चैन नहीं पड़ता, वह अटारी पर चढ़ चढ़कर कृष्ण-आगमन की प्रतीक्षा इस प्रकार करती है, जैसे चकोरी चन्द्रमा की प्रतीक्षा करती है।[४] कृष्ण को पत्रिका देकर जब ब्राह्मण वापस आया और रुक्मिणी से मिला, उस समय वह बड़ी दुश्चिन्ता में पड़ी हुई थी। एक ओर शुभ शकुन उसे भावी मङ्गल की, और दूसरी

१—रुक्मिणी-मङ्गल, नन्ददास, 'शुक्ल' पृ० १४३, कुछ पाठ-भेद से।

२—'रुक्मिणी मङ्गल,' 'नन्ददास' 'शुक्ल,' पृ० १४४, कुछ पाठ-भेद से।

३—'स्वस्ति स्वस्ति श्री श्री निवास, श्रुतिवास सहायक।
सुन्दर सुचिवर, श्री गुविन्द तुम सब| वरदायक'। २७।
'नृप विदर्भ की कन्या, रुक्मिनि अनुचरि गनिये।
ताको प्रथम प्रनाम बाँचि पुनि विनती सुनिये।' २८।
'विलगु मानिये नाहिं जानिये अपनी करि के।
मगन होत दुख जलनिधि में उधरो कर धरिके'। २९।
'जबतें तुम्हरे गुनगन मुनिजन नारद गाये।
तबते और न भाए अमृत तें अधिक सुहाये।'
'मैं तुम मन करि बरे कुंवर गिरिधरन पियारे।
हौं भई तुम परिचारि नाथ तुम भये हमारे।'
—'रुक्मिणी-मङ्गल,' 'नन्ददास,' 'शुक्ल,' पृष्ठ १४७।

४—'ह्याँ दुलहिन तरफरे फिरत घट आँगन ऐसे।
रति तेजहिं सों दुखित मछरि थोरे जल जैसे।
चढ़ि चढ़ि अटनि, झरोकनि झांकति नवल किशोरी।
चंद उदै बिनु जैसे आतुर त्रिषित चकोरी।'
—'नन्ददास,' 'शुक्ल,' पृ० १२९ पाठ-भेद से।

और परिस्थिति की गंभीरता अभीष्ट में असिद्धि की सूचना दे रहे थे। ब्राह्मण के आगमन ने उसे आशा और निराशा के बीच सशंङ्कित अवस्था में डाल दिया। ब्राह्मण ने समाचार कहने को जब मुख खोला तब उसके प्राण निकल कर मानों ब्राह्मण के बचनों में बसने लगे और जब उसने सुना कि 'कृष्ण आगये', उस समय वह ऐसी प्रफुल्लित हुई मानो उसके शरीर से गए हुये प्राण शरीर में फिर वापस आगये हों। इस समय की दशा का कवि ने बहुत सुन्दर और सजीव चित्र अङ्कित किया है।[१]

'रुक्मिणी मङ्गल' में वर्णन विशेषतया दो स्थानों पर हैं - एक, ब्राह्मण के द्वारिकापुरी पहुँचने के समय द्वारावति का वर्णन,दूसरे, कृष्ण के कुण्डनपुर आने पर उनके रूप का वर्णन,

वर्णन

दोनों ही वर्णन भावों से अनुरञ्जित हैं। द्वारिकापुरी के वन और उपवन अत्यन्त मनमोहक हैं। वृक्षों में अमृत तुल्य मीठे फल लगे हैं। ललित लताओं का फूलना और वायु के मन्द सञ्चार में उनका झूलना और भी शोभा को बढ़ा रहा है। लताओं के ऊपर भ्रमर गुञ्जार करते हुए वीणा सी बजा रहे हैं। कवि कहता है कि तोता, कोकिल, चातक आदि पक्षियों का मीठा शब्द ऐसा प्रतीत होता है मानों कामदेव की पाठशाला में विद्यार्थीवर्ग अपना पाठ याद कर रहा हो। उपर्युक्त उत्प्रेक्षा सुन्दर है, परन्तु इसीका प्रयोग कवि ने 'रूपमञ्जरी' में भी किया है। वृक्षों पर बैठी चिड़ियाँ मनोहारी ढङ्ग से चहचहा रही हैं, ज्ञात होता है मानों 'वृक्ष परस्पर बातें कर रहे हों'।[२] यह उत्प्रेक्षा भी अनूठी है।

१—'फरकन लागी भुजा बाँय कंचुकि बँध तरकन,
हिय ते सरकन लग्यो सूल, उर अन्तर धरकन। ७८।
'तिहि छिन द्विजवर चल्यो चल्यो अन्तःपुर आयो।
बदन डहडह्यो देखि कछू मन धीरज आयो। ७९।
'पूँछि न सक मुख बात दई यह कहा कहैगौ।
कै अमृत सों सींचि किधौं विष देह दहैगौ। ८०।
'निकसि प्राण तब तन तें द्विज के बचननि आये।
तबहि कह्यो'हरिआए' मनु फिर बहुर्यो आये। ८१।
—'नन्ददास' शुक्ल, रूक्मिणी-मङ्गल, पृ० १४१, पाठ-भेद से।

२—'ललित लतनि की फूलनि झूलनि अति छवि छाजै।
तिनपर अलिवर राजैं मधुरे यन्त्र से बाजैं। ३०।
'सुन पिक चातक सवद, सुमीठी धुनि अस रटहीं।
मनों मार चटसार सुठार चटा से पढ़हीं। ३१।
'और बिहंगम रंगन भरे बोलत हिय हरहीं।
मनु तरुवर रस भरे परस्पर बातें करहीं। ३२।
—'रुक्मिणी मङ्गल,' नन्ददास, 'शुक्ल' पृ० १४४,१४५।

तालाबों का पानी बहुत स्वच्छ मुनियों के मन की तरह निर्मल है उसमें चन्द्रमा का सुन्दर प्रतिबिम्ब और भी शोभा की वृद्धि करता है। मकानों की अटारियाँ बादलों की छटा से बातें करती हैं, चारों ओर सूर्य चन्द्र के समान मकानों की ज्योति जगमगा रही है। उन पर सूर्य-प्रकाश में पताकाएँ फहराती हैं और मधुर भाव में मग्न मोर नाचते हैं। आकाश में, नगर के बाहर और भीतर पतंगें-उड़ाई जा रही हैं। 'गुड़ियों' के साथ देवताओं के विमान भी उड़ रहे हैं मानों कृष्ण भगवान् की द्वारावती पर प्रसन्न होकर पुष्पवर्षा कर रहे हों। कवि कहता है कि ऐसे शुभ नगर में पहुँच कर ब्राह्मण को ऐसा आनन्द हुआ मानों उसने संसार के द्वन्द्व से छूट कर ब्रह्मानन्द पा लिया हो।[१] आगे ब्राह्मण ने कृष्ण का राज्य-वैभव देखा, और अन्त में उसने कृष्ण का नैकट्य प्राप्त किया। ब्राह्मण ने रुक्मिणी की पत्री कृष्ण को दी—

तब रुक्मिणी कौ कागर नागर नेह नवीनों,
वसन छोर तें छोरि विप्र श्रीधर कर दीनों। ५२।
मुद्रा खोलि गुविन्द चन्द जब बाँचन आँचे,
परम प्रेम रस साँचे अच्छर परत न बाँचे। ५३।[२]

कृष्ण ने पत्र की छाप खोली और कृष्ण की प्रेमाश्रुप्लावित आँखों द्वारा न पढ़े जाने पर वह पत्रिका ब्राह्मण ने ही पढ़कर सुनाई। उस समय पत्रिका के शीघ्रता-सापेक्ष समाचार को सुनकर कृष्ण आतुरता के साथ कुण्डनपुर चलने को तैयार हो गये। इस आतुरता का भी कवि ने स्वाभाविक दृश्य अङ्कित किया है। पत्र के भाव को सुन कर कृष्ण चपलता के साथ उठे। जल्दी में उनका पीताम्बर खसक कर गिर गया। उसी समय पीछे जानेवाले ब्राह्मण ने लपककर पीताम्बर कृष्ण के हाथ में पकड़ा दिया। नन्ददास के वर्णन यद्यपि संक्षेप में ही हुये हैं, परन्तु इस प्रकार के सूक्ष्म निरीक्षण-पूर्ण साधारण सुपरिचित दृश्यों ने उन वर्णनों में जान सी डाल दी है—

तुरत चढ़े छवि मढ़े, चढ़त बानक बनि आयो,
हरवर में खसि पर्‌यो पीतपट द्विज पकरायो। ७२
कहत विप्र सों हँसत लसत विकसत सुन्दर मुख,
जनु कुमुदिनि घर चल्यो चन्द्रमा देन परम सुख। ७३[३]

जब कृष्ण कुण्डनपुर पहुँचे और नगर के लोगों ने सुना कि द्वारावति से कृष्ण आये हैं तब सब उन्हें देखने को दौड़ने लगे। किसी की आँख उनकी अलकों में अटक गई, कोई

१—'रुक्मिणी मङ्गल', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १४५।

२—'रुक्मिणी मङ्गल', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १४६।

३—'रुक्मिणी मङ्गल', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १४८।

सिर पर शोभित पाग के पेचों में पकड़ गये, किसी को उनकी निरछे कटीली भौंहों ने विवश कर दिया, तो किसी को आँखों की चितवनि ने खींचा। कुछ लोग ललित कपोल और मीठे बोल की चाशनी में इस प्रकार फँस गये जैसे मस्त हाथी दलदल में 'फँसकर' 'चट से मट' न हो पाता हो। कभी कोई पीताम्बर की चमक से चकाचौंध हो जाता है तो कभी कृष्ण की चितवनि के लोभ में फँस जाता है।[१] इस प्रकार चमत्कृत मनुष्य की दशा की, कवि ने, यहाँ, एक बड़ी सुन्दर उपमा दी है। कवि कहता है कि कृष्ण के अङ्ग-अङ्ग के रूप पर रीझे हुए मन की वह दशा हो रही है जैसे भरे घर में एक से एक सुन्दर वस्तु को देखकर चोर की दशा हो जाती है, वह कौन वस्तु ले और कौन वस्तु छोड़े, कभी वह एक वस्तु उठाता है और उसे रखकर दूसरी बदल लेता है—

कोउ इक नैननि अटकि गए हैं लोभ लुभारे।
भरे भवन के चोर, भये बदलत ही हारे।[२]

कृष्ण-रूप-वर्णन के बाद बहुत संक्षेप में कवि ने रुक्मिणी के रूप का भी वर्णन किया है जिसमें भी नन्ददास की काव्यपटुता के दर्शन होते हैं। रुक्मिणी अपने विवाह के पूर्व, गौरी पूजन के लिए देवी के मन्दिर में गई थी। वहाँ से वह गौरी से अभीष्ट-सिद्धि का बरदान पाकर बहुत प्रसन्न-बदन लौटी। रास्ते में वह मन्द-मन्द गति से चल रही थी। उसके अरुण चरणों का पृथ्वी पर प्रतिबिम्ब पड़ता था। कवि कल्पना करता है कि मानों पृथ्वी कोमल चरणों के लिए अपनी जिह्वा के पाँवड़े बिछाती जाती है।[३] जब उसने अपने मुख का अञ्चल उघाड़ा उस समय ज्ञात होता था मानों आकाश से पूर्ण आभा सहित चन्द्र निकला हो। उसके कानों की खुंभियाँ सब के मन में चुभ रहीं थीं। जब

१—'पुर के लोगन सुनी कि श्री सुन्दर वर आए।
जहाँ तहाँ ते धाय देखि हरि बिसमय पाये। ८४।
जो अलकन छवि उरझे, ते अजहूँ नहिं सुरझे।
ललित लसै सिर पाग तके नक तहँ तहँ मुरझे। ८६।
'कोउ कटीली भौंहन निरखत विवस करे हैं।
कोउ दृगन छवि गिनत गिनावत रार परे हैं। ८७।
'कोउ लखि ललित कपोलनि मधुरी बोलनि अटके।
मद गज ज्यों परै चहलै टहले फेर न मटके। ८८।
—'रुक्मिणी मङ्गल', 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १४९, पाठ-भेद से।

२—'रुक्मिणी मङ्गल' 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १५०, पाठ-भेद से।

३—'अरुन चरन प्रतिबिम्ब अवनि में यों उनमानी,
जनु वर अवनी जीभ धरति पग कोमल जानी,
—'रुक्मिणी-मङ्गल', नन्ददास, 'शुक्ल' पृ० १५१।

वह सखी की भुजा का सहारा लेकर अपने बिखरे बालों को सवाँरती थी, उस समय उसका कटाक्ष राजाओं के हृदय को भी मथ डालता था। मन्दगति से चलती हुई रुक्मिणी ने राजाओं के बीच आकर उन्हें अपने रूप-लावण्य से मूर्छित कर दिया।[1] जब वह कृष्ण के निकट आई और उसने कृष्ण को देखा तो वह उस मोहिनी मूरत को देख स्वयं मूर्छित होने लगी, उसी समय कृष्ण ने उसका हरण कर लिया। यहाँ कवि ने एक बड़ी सुन्दर और मौलिक उपमा दी है। राजाओं के बीच से कृष्ण रुक्मिणी का हरण इस प्रकार से करके ले गये जैसे मक्खियों की आँख में धूल झोंककर मधुहा छत्ते से मधु चुरा ले जाता है।[2]

भाषा

'रुक्मिणी मङ्गल' के छन्दों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि कवि की उक्तियों में कवित्व है, वाणी में प्रौढ़ता है और भाषा पर उसका अधिकार है। यह बात यद्यपि उसके दोहा चौपाई में लिखे ग्रन्थों में अनुभूत नहीं होती। इस ग्रन्थ में भी कहीं कहीं छन्द-भङ्ग दोष है। 'रुक्मिणी मङ्गल' की कथा का वर्णन महात्मा सूरदास ने भी 'सूरसागर-दशम स्कन्ध' के उत्तरार्ध में किया है। सूरदास ने जिस प्रकार कृष्ण की अनेक लीलाओं को छन्दों और पदों में, दो प्रकार से, लिखा है, उसी प्रकार से 'रुक्मिणी मङ्गल' को भी। सूर का पदों में लिखा 'रुक्मिणी मङ्गल' काव्य कविता की दृष्टि से उत्कृष्ट रचना है, परन्तु पदों में कथानक की पुनरुक्ति आ जाने से उसकी रोचकता का बहुत अंशों में ह्रास हो गया है। सूरदास ने इस विवाह के कई ऐसे प्रसंगो को जिनको नन्ददास ने छोड़ दिया है, विस्तार से पदों में गाया है। इस विवाह में सूरदासजी ने एक गाली भी गाई है जो कृष्ण की माता और उनकी 'माया' दोनों पर घटती है। नन्ददास के 'रुक्मिणी मङ्गल' में यद्यपि कथानक की कमी है, परन्तु सुन्दर वर्णन, मधुर भाषा और रोला छन्द के प्रवाह ने उसे सूरसागर के 'रुक्मिणी मङ्गल' से अधिक रोचक बना दिया है।

ग्रन्थ में कवि का कृष्ण के प्रति भक्ति-भाव विद्यमान है; परन्तु किसी सिद्धान्त अथवा आध्यात्मिक अनुभूति का वर्णन इसमें नहीं किया गया। ग्रन्थ के अन्त में कथा के पठन-पाठन का माहात्म्य वर्णन करते हुए कवि कहता है—

जो यह मंगल गावै चित्त दै सुनै सुनावै,
सो सब मंगल पावै हरि रुक्मिनी मन भावै। १३०।
हरि रुक्मिनी मन भावै, सो सबके मन आवै,
नन्ददास अपने प्रभु कौ नित मंगल गावै। १३१।

१—'रुक्मिणी-मङ्गल, 'नन्ददास' शुक्ल पृ० १२२।
२—'रुक्मिणी-मङ्गल', 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १२२।

रासपञ्चाध्यायी

नन्ददास की 'रासपञ्चाध्यायी' में दो विभिन्न भाव-धाराएँ प्रवाहित मिलती हैं—एक धारा कवि के आध्यात्मिक भावों की है ; और दूसरी, लौकिक श्रृङ्गार की। लौकिक श्रृङ्गार की तह में आध्यात्मिक धारा इतनी प्रच्छन्न चलती है कि नन्ददास के काव्य को पढ़नेवाला साधारण विद्यार्थी सहज ही में भ्रमित होकर कहने लगता है कि 'रासपञ्चाध्यायी' एक श्रृङ्गारिक काव्य है जिसमें लौकिक-संयोग-प्रेम का रूप अङ्कित है. परन्तु जिन्होंने कवि के आन्तरिक भावों का मनन किया है उनको ज्ञात होगा कि इस ग्रन्थ में व्यक्त विषय पर कवि के धार्मिक भावों तथा उन आदर्शों की, जिनको श्री वल्लभाचार्य जी ने सामने रक्खा था, अमिट छाप है। वास्तव में नन्ददास के काव्य का ध्येय धार्मिक था। उन्होंने जिस विचार-पथ को ग्रहण किया, वह सांसारिक न होकर आध्यात्मिक था। उस समय की प्रवृत्ति भी ऐसी ही थी। इसीलिए उस समय के समस्त काव्य की अभिरुचि मानव-क्रिया-कलाप और लौकिक व्यवहार से हटी हुई आत्मिक जगत की ओर अग्रसर दिखाई देती है। उस समय काव्य-कला का ध्येय हमारे सामने उन आदर्शों को रखना नहीं था जिनका हमारी सांसारिक वासनाओं से सम्बन्ध है, उसका ध्येय था आध्यात्मिक तुष्टि सम्पादन करना। इस अभिरुचि को महात्मा तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' (बालकांड) में स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है—

विषयतत्व

कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना,
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।[1]

"लौकिक पुरुषों के गुणगान से सरस्वती दुःखित और अप्रसन्न होती है।"

नन्ददास की जीवनी से और उनके ग्रन्थों के सूक्ष्म मनन से ज्ञात होता है कि उनकी आत्मा भी लोकरूप के रमण से हटकर उस अनन्त और अपार रस-रूप ईश्वर के साथ रमण के लिए विह्वल थी जिस ईश्वर से, कवि नन्ददास के विचारानुसार, आत्मा बिछुड़ी हुई है। 'रासपञ्चाध्यायी' में व्यक्त लौकिक श्रृङ्गार के पीछे अन्योक्ति है और वह अन्योक्ति आध्यात्मिक है। अपनी भक्ति-पद्धति में नन्ददास ने माधुर्य-प्रेम का अनुसरण किया है। लौकिक प्रेम के सब स्वरूपों में स्त्री-पुरुष के प्रेम में बहुत अधिक गहनता और तीव्रता होती है। आध्यात्मिक प्रेमानुभव की गहनता, भक्तों ने, उससे भी अधिक गहन बताई है। और जब भक्तों ने इस प्रेम की अभिव्यञ्जना की है तो उन्हें यह व्यञ्जना लोकानुभूत प्रेम के रूपकों द्वारा ही करनी पड़ी है। 'निर्गुण' पन्थ के अनुयायी कबीर, जायसी आदि महात्माओं ने भी अपने आध्यात्मिक अनुभवों को लौकिक श्रृङ्गार की अन्योक्तियों में प्रकट किया है। नन्ददास के काव्य में माधुर्य-भक्ति के कारण श्रृङ्गार-भाव का समावेश अधिक मात्रा में हुआ है। 'रासपञ्चाध्यायी' के

१—'रामचरितमानस', बालकाण्ड, श्यामसुन्दर दास, पृ० १७।

लौकिक रति के चित्रों में आध्यात्मिक प्रेम का रहस्य छिपा है। 'रासपञ्चाध्यायी' के आध्यात्मिक पक्ष का विवेचन नन्ददास की दूसरी रचना 'सिद्धान्तपञ्चाध्यायी' को लेकर विशेषता से हो सकता है।

कथानक

ग्रन्थ के नाम से प्रकट है कि 'रासपञ्चाध्यायी, में पाँच अध्याय हैं, जिन में गोपी कृष्ण की रासलीला का वर्णन है। आध्यात्मिक दृष्टि से कृष्ण परब्रह्म परमात्मा हैं, और गोपियाँ आत्माएँ हैं जो उसी का अंश हैं। भगवान् के आनन्दांश से अलग होकर ये आत्माएँ संसार-चक्र के बीच फिर उसी आनन्दस्वरूप परमात्मा से मिलने को लालायित होती हैं। इन पाँच अध्यायों में बिछुड़ी हुई आत्मा और रसरूप परमात्मा के साथ उसके पुनर्मिलन की आनन्दावस्था का वर्णन किया गया है।

प्रथम अध्याय में ग्रन्थ का आरम्भ श्री शुकदेवजी की वन्दना से होता है। करुणामूर्ति परम भक्त, श्री शुकदेव जी का आकर्षक नखशिख-वर्णन करने के उपरान्त कवि रास-क्रीड़ा की रम्य घटनास्थली वृन्दाविपिन के प्राकृतिक सौंदर्य, और उल्लासपूर्ण शरद ऋतु के वातावरण का मनोरम वर्णन करता है। पेड़ों की पत्तियों से बनी झिझरियों से चन्द्रमा की शीतल चाँदनी छन छन कर फैल रही है, मानों चन्द्रमा छिद्रों से उझक कर कृष्णरास को देखने की प्रतीक्षा में हो। खिली हुई मल्लिका की मनोरम शोभा शरद-रात्रि की ज्योत्स्ना से मानों होड़ लगा रही है। सुख से सनी अमृत की फुहारें उछल उछल कर प्राकृतिक उल्लास में सहयोग दे रही हैं। एक ओर भ्रमर गुञ्जार कर रहे हैं, दूसरी ओर अपना पराग बिखेर कर पुष्प उनका स्वागत कर रहे हैं, प्रकृति की इस आनन्दमयी शोभा के बीच 'कोटि कन्दर्पों' को लज्जित करनेवाले श्रीकृष्ण अपनी 'योगमाया' सी मुरली बजाते हैं। कृष्ण की मुरली का नाद केवल सङ्गीतमय ही नहीं है, वरन् उसको कवि ने शब्दब्रह्म का उत्पादक कहा है। इस प्रेरणास्वरूप मोहक शब्द को सुनकर गोपियों में कृष्ण-मिलन की प्रसुप्त आकांक्षा जाग्रत हो उठती है, और वे घरबार छोड़, उन्मत्त की तरह उस शब्द का अनुकरण कर चल पड़ती हैं। जिन गोपियों का प्रेम दृढ़ और परिपक्व था वे कृष्ण के पास पहुँच जाती हैं और जिन की प्रेम-साधना अपरिपक्व थी, वे लोकलज्जा और अपने कुटुम्बियों की कान से रुक जाती हैं। जब गोपियाँ कृष्ण के पास पहुँचती हैं, कृष्ण उन्हें स्त्रियों के लौकिकधर्म का उपदेश देते हैं और उनको वापिस घर जाने को कहते हैं। कृष्ण के उपदेश में गोपियाँ कृष्ण की निष्ठुरता का भाव पाकर दुःखित होती हैं। वे कृष्ण के तर्कों का उत्तर देकर वापिस न जाने में अपनी विवशता प्रकट करती हैं। इसमें कृष्ण को गोपियों के निर्मल तथा सच्चे प्रेम का परिचय मिल जाता है। कृष्ण गोपियों के साथ, उनके प्रगाढ़ प्रेम का उपहार देने को यमुना तट की सघन कुञ्जों में रासक्रीड़ा आरम्भ करते हैं। उस समय गोपियों के चित्त में कुछ गर्व का सञ्चार हुआ। भक्तस्वरूपा गोपियों का अभिमान मिटाने के लिए श्रीकृष्ण थोड़ी देर के लिए अचानक छिप जाते हैं।

दूसरे अध्याय में गोपियाँ कृष्ण की खोज करती हैं। इस स्थल पर गोपियों की विरह-दशा का कवि ने वर्णन किया है। प्रेमोन्मत्त, विरहाकुल गोपियाँ कृष्ण के पुनर्मिलन को छटपटाती हैं और सजीव और निर्जीव का भेद भूल कर सब बन-वृक्षों से पूछती फिरती हैं, कहीं किसी ने कृष्ण तो नहीं देखे। गोपियाँ कृष्ण को ढूँढ़ते ढूँढ़ते उनकी एक विशेष प्यारी गोपी राधा से मिलती हैं और अब सब मिल कर और भी अधिक परिश्रम के साथ कृष्ण को ढूँढ़ते लगती हैं। तृतीय अध्याय में कवि ने गोपियों की असहनीय विरह दशा तथा कृष्ण की खोज में उनके अनवरत परिश्रम का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। इस अध्याय में गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेमाधिक्य में उपालम्भ भी है। इसके उपरान्त कवि ने गोपियों की आत्मविस्मृति का प्रभावशाली वर्णन किया है।

चतुर्थ अध्याय में कृष्ण प्रकट हो जाते हैं और चिरकाल के बिछुड़े प्रेमियों की भाँति उन्मत प्रेम की उत्सुकता के साथ गोपियाँ उनसे मिलती हैं। कृष्ण गोपियों के प्रेम से प्रभावित होते हैं और उनके अनन्य प्रेम की प्रशंसा करते हैं। कवि ने इस पुनर्मिलन का बड़ा हृदयग्राही चित्र अङ्कित किया है। पाँचवें अध्याय में कृष्ण और गोपियों की रासक्रीड़ा का वर्णन है। कृष्ण के साथ रास, गोपियों की आन्तरिक इच्छाओं का अन्तिम फल है। इस अध्याय में कवि ने गोपी-कृष्ण-रास में उनके नाचने और गाने का बहुत ही सजीव और कलात्मक वर्णन किया है। नृत्य और गान समाप्त होने के बाद जलक्रीड़ा आरम्भ होती है। प्रातःकाल सूर्योदय से पहले ही गोपियाँ अपने अपने घर पहुँच जाती हैं। इस सम्पूर्ण वर्णन में कवि ने अपने आध्यात्मिक ध्येय को पिछड़ने नहीं दिया। आध्यात्मिकता की रक्षा करते हुए कवि ने शृङ्गार-भाव के चित्रण में असाधारण काव्य-पटुता का परिचय दिया है। और काव्यानन्द और भक्ति-प्रेमरस की सुखदा-मन्दाकिनी प्रवाहित की है।

ग्रन्थ का आधार और 'श्रीमद्भागवत'

'रासपञ्चाध्यायी' का मुख्य आधार 'श्रीमद्भागवत' है। वल्लभसम्प्रदायी कवियों के काव्य का मुख्य आधार यही ग्रन्थ रहा है। इन कवियों ने कृष्ण की रासलीला की कथा तथा कहीं कहीं भाव भी स्वतन्त्रता पूर्वक इसी ग्रन्थ से लिये हैं, परन्तु यह कहना अनुदारता होगी कि इन कवियों के भाव 'श्रीमद्भागवत' के संस्कृत श्लोकों के अनुवादमात्र हैं। सूरदास के 'सूरसागर' में जिसका, आधार 'श्रीमद्भागवत' है, अनेक स्थल सूर की स्वतन्त्र रचनाएँ हैं। इसी प्रकार नन्ददास का काव्य भी 'भागवत' पर अवलम्बित होते हुए अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। विषय के प्रतिपादन की रीति, भाषा-सौंदर्य, कवि-कल्पना से युक्त काव्योक्तियाँ, कथा में स्वतन्त्र प्रसंगों का समावेश तथा धार्मिक सिद्धान्त इस मौलिकता के विशेष अङ्ग हैं। नन्ददास की रचनाओं में मौलिकता के उपर्युक्त अङ्ग विद्यमान हैं। 'श्रीमद्भागवत' में, दशम स्कन्ध के २९वें अध्याय से ३३वें अध्याय तक गोपी कृष्ण की रासलीला का वर्णन है। यही पाँच अध्याय नन्ददास की रचना 'पञ्चाध्यायी'

कहलाते हैं। 'हरिवंश पुराण' में भी गोपी-कृष्ण की रासलीला का 'हल्लीस क्रीडन' नाम से वर्णन है, परन्तु कवि ने इस ग्रन्थ से 'रासपञ्चाध्यायी' की कथा और उसमें व्यक्त विचारों का आकलन नहीं किया। 'रासपञ्चाध्यायी' के प्रथम अध्याय में कवि स्वयं इस बात को स्वीकार करता है कि उसने 'भागवत' से रासलीला की कथा ली है—

श्री भागवत सुनाम परम अभिराम परम मति,
निगम सार सुकसार बिना गुरु कृपा अगम अति।
ताही में मणि अति रहस्य यह पंचाध्याई,
तन में जैसे पंच प्रान अस सुक मुनि गाई।
परम रसिक इक मित्र मोहि तिन आज्ञा दीनी,
याही ते यह कथा यथामति भाषा कीनी।[1]

ऊपर कहा गया है कि नन्ददास की 'रासपञ्चाध्यायी' में, 'श्रीमद्भागवत' का भावानुवाद होते हुए भी विशेष मौलिकता है। 'रासपञ्चाध्यायी' के प्रथम अध्याय का आधार 'भागवत' का २९वाँ अध्याय है। परन्तु शुकदेवजी की वन्दना, वृन्दावन की शोभा का वर्णन, जिसकी छटा चन्द्रमा से अलंकृत शरद रात्रि को और भी अधिक रमणीय बनाती है, आदि स्वतन्त्र कल्पनाएँ हैं। श्रीशुकदेवजी के नखशिख का वर्णन नन्ददास ने 'भागवत' से लिया है, जिसमें यह वर्णन प्रथम स्कन्ध के १९वें अध्याय में आया है। नन्ददास ने शुकदेवजी के नखशिख वर्णन में जो उत्प्रेक्षाएँ दी हैं वे उनकी अपनी हैं, और वे उनकी रास-विषयक आध्यात्मिक भावों की पुष्टि करती हैं। 'भागवत' में शरद ऋतु तथा चन्द्रोदय के वर्णन केवल दो श्लोकों में ही दिये गये हैं; परन्तु इस स्थल पर नन्ददास ने शरद की शोभा तथा रास के अनुकूल वातावरण के चित्रण में जिस काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है वह वास्तव में प्रशंसनीय है। नन्ददास की 'रासपञ्चाध्यायी' के प्रथम अध्याय में अनङ्ग के आगमन और उस पर गोपी कृष्ण द्वारा विजय-प्राप्ति का वर्णन है। इस ओर कवि की सूझ बड़ी निराली और मौलिक है। 'श्रीमद्भागवत' में इसका कोई चित्र नहीं मिलता। कालिदास की प्रसिद्ध कृति 'कुमारसम्भव' में तो ऐसा प्रसङ्ग अवश्य मिलता है। शिवजी अपने नेत्र से उत्पन्न क्रोधाग्नि द्वारा अभागे कामदेव को जला देते हैं। इस प्रसङ्ग के लाने का नन्ददास का आशय यह दिखाना है कि गोपी-कृष्ण-रास में लौकिक कामवासना का कोई समावेश नहीं है।

दूसरे अध्याय की कथा 'भागवत दशम स्कन्ध' के ३०वें अध्याय के अनुसार है। इस अध्याय के वर्णन में भी कवि ने नवीन उक्तियों तथा नवीन उत्प्रेक्षाओं द्वारा अपनी उर्वरा कल्पना शक्ति का परिचय दिया है। कवि की शक्तिशालिनी वर्णन शैली, उत्प्रेक्षाओं

१—'नन्ददास', 'शुक्ल', पृ० १९६, १९७।

की अनूठी सूझ और प्रभावपूर्ण मधुर पदावली इस अध्याय की मौलिकता है। 'भागवत' का आधार लुप्त होकर कवि की स्वतन्त्र मौलिकता ही स्थायी रूप धारण करती दिखाई देती है। नन्ददास ने तीर्थवासियों को कठोर प्रकृति का बताया है,[1] परन्तु भागवत में तीर्थ-वासियों के प्रति इस प्रकार का कोई कथन नहीं है। विरहाकुल गोपियाँ उन्मत्त और पागल की भाँति कृष्ण का पता वृक्षलतादि से पूछती फिरती हैं। नन्ददास ने इस स्थान पर बताया है कि विरह-प्रेम में व्याकुल जनों को जड़चेतन का भान नहीं होता।

ह्वै गई विरह विकल मन बूझति द्रुम बेली बन,
को जड़ को चैतन्य कछु न जानत विरहीजन।[2]

तृतीय अध्याय 'श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध' के ३१ वें अध्याय का भावार्थ है, परन्तु कवि ने अपनी काव्यशक्ति, ललित भाषा, और भावचित्रों से मौलिकता ला दी है, साथ ही मूल का लेशमात्र भी नाश नहीं होने दिया।[3] चौथा अध्याय दशम स्कन्ध भागवत के ३२ वें अध्याय पर अवलम्बित है जिसमें कवि ने अपनी मौलिकता की सफलतापूर्वक रक्षा करते हुए अपनी काव्यचातुरी से गोपी-कृष्ण-पुनर्मिलन का वर्णन किया है। इसमें जितने छन्द हैं उनकी प्रथम पङ्क्तियाँ 'भागवत' की पङ्क्तियों के अनुवाद हैं, और उनकी प्रत्येक द्वितीय पङ्क्ति कवि की मौलिक रचना है। इन पङ्क्तियों में कविकल्पना की सुन्दर अवतारणाएँ देखने को मिलती हैं जैसे—

कोउ नागर नगधर की गहि रहि दोउ कर पटकी,
जनु नवघन ते सटकी दामिनि दामन अटकी।
दौरि लिपटि गई ललित लाल सुख कहत न आवे,
मीन उछरि ज्यों पुलिन परे पै पानी पावे।[4]

'भागवत' के इस प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण ने गोपियो की प्रशंसा की है और उनके प्रति

१—'जमुन निकट के विटप पूछि भई निपट उदासी,
क्यों कहिहैं सखि अति कठोर ये तीरथवासी।

२—'रासपञ्चाध्यायी', नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० १६७।

३—'रासपञ्चाध्यायी' के तृतीय अध्याय में नन्ददास ने गोपी-गीत के १९ छन्द लिखे हैं। 'श्रीमद्भागवत' के ३१ वें अध्याय में भी गोपिका-गीत के १९ ही श्लोक हैं। श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी 'सुबोधिनी टीका' में इसका तात्पर्य यह कहा है कि ब्रज की गोपिकाएँ १९ प्रकार की थीं। इसीलिए उन्होंने १९ वाक्य कहे।—'रासपञ्चाध्यायी', फलप्रकरण, सुबोधिनी, गुजराती टीका पृष्ठ ५८,

४—'नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० १७३, १७४, पाठ-भेद से।

अपनी कृतज्ञता प्रकट की है, परन्तु नन्ददास ने 'रासपञ्चाध्यायी' में इस कृतज्ञता के भाव को बढ़ाते हुए कृष्ण को गोपियों का पूर्ण ऋणी बताया है। भगवान् के ऊपर भक्तों की विजय का जो भाव नन्ददास की रचना से सूचित होता है वह 'भागवत' के वर्णन से नहीं होता।

पञ्चम अध्याय 'श्रीमद्भागवत' के दशम स्कन्ध के ३३ वें अध्याय पर अवलम्बित है। इस अध्याय में नन्ददास की काव्यकला पूर्ण सफलता की सीमा तक पहुँच गई है। भाव के अनुसार उचित शब्दों का प्रयोग, शब्दों के उच्चारण में भाव का प्रकाशन और शब्दचित्रों में रासलीला का वर्णन नन्ददास की निजी छाप के द्योतक हैं। यहाँ नन्ददास के एक भी शब्द को छन्द से हटाना उनके पूरे छन्द की सुन्दरता को नष्ट करना है। इस अध्याय में 'रासपञ्चाध्यायी' के सुनने और उसका पाठ करने का माहात्म्य भी कवि ने बताया है। यहाँ कवि की धार्मिक प्रवृत्ति प्रधान है।

काव्य-समीक्षा

'रास पञ्चाध्यायी' में कृष्णलीला के केवल एक प्रसङ्ग, 'रासक्रीड़ा' का ही वर्णन है। इस में शृङ्गार-भाव का चित्रण मुख्य रूप से है। मानवी शृङ्गारिक भावों को कवि ने आश्चर्यजनक आध्यात्मिक रूप दिया है। रासलीला की सुपरिचित कथा के भीतर कवि की आत्मा की वह महती आकांक्षा, जो असीम से मिल कर अनन्त रसमग्न होना चाहती है, छिपी मिलती है। नन्ददास की यह कृति कथा प्रधान न होकर वर्णन और भाव प्रधान है। काव्य की दृष्टि से उनकी कला का दर्शन ग्रन्थ के वर्णन और भावचित्रों में ही होता है।

प्रबन्ध रचनाओं में काव्य के तीन रूपों का समावेश रहता है –१—वस्तु कथन, २—दृश्य और चरित्र वर्णन, तथा ३—भावों की व्यञ्जना। पूर्ण कथानक में आने वाले प्रसङ्ग, वर्णन की संक्षिप्त शैली में ही चित्रित हुआ करते हैं, परन्तु जब वृहत् कथा के किसी एक प्रसङ्ग को स्वतन्त्र काव्य-रूप दिया जाता है, तो कथावस्तु के अभाव में, भाव-चित्रों की विशदता और दृश्यों के विस्तृत वर्णन ही रसात्मकता की कमी की पूर्ति किया करते हैं। पाठक की कथा-श्रवण की जिज्ञासा दब जाती है और उसकी मनोवृत्ति कथा से हट कर दृश्य और भावों के चित्रों पर ही टिकने लगती है। साथ ही, जब काव्य में कथा की कमी और दृश्यवर्णन तथा भावाभिव्यक्ति की प्रचुरता होती है तब अलङ्कृत और चिताकर्षक भाषा शैली तथा भाव को व्यक्त करनेवाली उपयुक्त शब्दावली का चयन भी काव्य-सौन्दर्य का महत्वशाली अङ्ग हो जाता है। अतएव जैसा ऊपर कहा गया है, 'रासपञ्चाध्यायी' में कथा की कमी के कारण पाठक का ध्यान कथा की ओर न जाकर भावों और मनोहर दृश्यवर्णनों की ओर ही आकृष्ट होता है। अब देखना यह है कि कवि ने दृश्य-वर्णन तथा भावव्यञ्जना में कितनी काव्य-पटुता का परिचय दिया है। साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि कवि अपनी भाषा शैली को हृदयग्राही बनाने में कितना सफल हुआ है?

काव्य में वर्णन और वस्तु कथन का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है। स्वतन्त्र वर्णनों में भी कथातत्व का कुछ कुछ समावेश अवश्य रहता है। यात्रा, त्योहारों आदि के वर्णनों में कथा का अंश कम रहता है, परन्तु कथातत्व की आवश्यकता दृश्यों के सिलसिला मिलाने में पड़ ही जाती है, उधर कथानक में तो वर्णन भिन्न भिन्न प्रसङ्गों का अङ्ग ही हुआ करता है। यह आवश्यक है कि कथा-प्रधान-काव्य में वस्तुकथन की पटुता अधिक हो, वर्णनात्मक काव्य के विषय का क्षेत्र, चाहे वर्णन स्वतन्त्र रूप में हो, चाहे कथानक के अन्तर्गत उसके अङ्ग रूप में, बहुत विस्तृत है। दृश्यमान जगत, अथवा प्रकृति के समस्त पदार्थ, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि तथा उनका क्रिया-कलापी मानव जीवन में घटने वाली समस्त घटनाएँ आदि वर्णनात्मक काव्य का विषय बन सकती हैं। दूसरे शब्दों में जो वस्तु और घटना हमारे भावों का आलम्बन अथवा उद्दीपन होती हैं वे रूप वर्णनात्मक काव्य का विषय बन सकती हैं। इस प्रकार कथानक में आनेवाले वर्णन के भी दो रूप होते हैं, पहला आलम्बन-विभाव रूप और दूसरा उद्दीपन विभाव रूप। 'रासपञ्चाध्यायी' में इन दोनों रूपों में वर्णन का समावेश हुआ है। आलम्बन विभाव के अन्तर्गत गोपी और कृष्ण का रूप वर्णन तथा रासक्रीड़ा की घटनास्थली वृन्दाबन, रात्रि में शरद ऋतु की शोभा, प्रकृति का रङ्ग विरङ्गा शृङ्गार, तथा मुरली के मनोहर नाद का वर्णन है। वन्दना के रूप में श्री शुकदेव जी का नखशिख वर्णन भी रास-रस की वृद्धि में सहायक और उसकी ओर प्रेरित करनेवाला होने के कारण, उद्दीपन रूप ही है।[1]

वर्णन

श्री शुकदेव जी भागवत-धर्म के प्रसिद्ध प्रचारक हैं और भगवान् की कृपा के विशेष पात्र हैं। कवि ने पहले, उनकी वन्दना करना ही उचित समझा है। इस वन्दना में कवि ने श्री शुकदेव जी के उस रूप का वर्णन किया है जो भक्तिरस में पूर्णतया मग्न है। उनके नेत्र भगवान् की निस्सीम कृपा से विभोर हैं, वे हरि की लीला के रस में सदैव मग्न रहते हैं, उनका देदीप्यमान ललाट सूर्य के समान चमकता हुआ भक्ति के प्रतिबन्ध रूपी अन्धकार को नष्ट करता है। बड़े बड़े मुनीश्वर उनके चरण-कमलों की भ्रमरवत् सेवा करते हैं। उनके वक्षस्थल की शोभा हृदय में स्थित भगवान् कृष्ण की रूपराशि का प्रकाशन कर रही है। प्रेमरस-आसव के पान से छके और अलसाए उनके नेत्रों का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

कृष्ण रंग रस अयन नयन राजत रतनारे
कृष्ण रसासव पान अलस कछु घूमघुमारे

उद्दीपन रूप-वर्णन में कवि ने रास के पूर्व की घटना-स्थली तथा रासानुकूल वाता-

---

१—'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १५५।

वरण का चित्र अङ्कित किया है। वृन्दाबन में पुष्प खिलाकर, वृक्ष और लतादि प्रफुल्लित हो रहे हैं। लहरों के दृश्य-रूप में स्वच्छ जल-धारिणी यमुना अठखेलियाँ करती हुई अल्हड़पन से चल रही है। शरद ऋतु की सुखदायिनी विमल चाँदनी कोमल स्निग्ध पत्तियों से छन छन कर मल्लिका के पुष्पों की धवलता को परिपूर्ण कर रही है। जल-प्रपात छिटक छिटक कर शीतल जल की नन्हीं नन्हीं बूंदों के रूप में सुख की वर्षा कर रहा है। प्रत्येक वस्तु वृन्दाबन में, भविष्य में आने वाले आनन्द के पूर्वानुभव से अपनी अपनी रुचि तथा योग्यतानुसार प्रफुल्लता प्रदर्शित कर रही है।[1] शरद् की रात्रि में वृन्दाबन की शोभा और भी बढ़ गई है। इतना ही नहीं वरन् चन्द्रोदय ने रास-रस-पान की उत्सुकता को उन्मत्त बना दिया है—

जदपि सहज माधुरी विपिन सब दिन सुखदाई,
तदपि रँगीली सरद समैं मिलि अति छबि छाई।
छबि सों फूले फूल अवर अस लगी लुनाई,
मनो शरद की छपा छबीली बहसन आई।[2]
मंद मंद चलि चारु चंद्रमा अस छबि छाई,
उझकत है जनु रमारमन पिय कौतुक आई।[3]

उत्प्रेक्षा द्वारा कवि ने बड़ी सुन्दर कल्पना के चित्र खींचे हैं। कवि की यह कल्पना कि चन्द्रमा वृक्ष की पत्तियों की ओट से झाँक कर गोपी-कृष्ण-रास के कौतुक को देखने की प्रतीक्षा में है, रासरस की वृद्धि करने के अतिरिक्त पाठक को काव्यरस से भी मुग्ध करती है। ऐसी अनेक सुखद उत्प्रेक्षाओं से नन्ददास की काव्य-पटुता का परिचय मिलता है। कवि ने प्रकृति को रास की घटना-स्थली का रङ्गमञ्च बनाया है। गोपी और कृष्ण, रास आरम्भ करने के पहले यमुना के किनारे जाते हैं। वहाँ की शोभा अपूर्व है, कवि कहता है—

सुभ सरिता के तीर धीर बलबीर गये तँह,
कोमल मलय समीर छबिन की महा भीर जँह।
कुसुम धूरि धूँधरी कुञ्ज छवि पुञ्जन छाई,
गुञ्जत मंजु अलिंद वैनु जनु बजत सुहाई।
इत महकत मालती चारु चंपक चित चोरत,
उत घनसार तुसार मिलौ मंदार झकोरत।[4]

१—'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १२७।

२—'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १२६, पाठ-भेद से।

३—'नन्ददास' शुक्ल पृ० १६०, पाठ-भेद से।

४—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६५,१६६, पाठ-भेद से।

रास करते करते कृष्ण थोड़ी देर के लिए छिप जाते हैं। गोपिकाएँ उन्हें ढूँढ़ती हैं। जब वे उन्हें नहीं पातीं तो उन्मत्त हो उठती हैं। कृष्ण को ढूँढ़ते समय वे बन के वृक्ष-लता, पशु-पक्षी सभी से पूछती है, "कहीं किसी ने कृष्ण तो नहीं देखे?" इस स्थल पर प्रकृति मानव-भावों से आक्रान्त दिखाई गई है। भाव को तीव्र करने के लिए प्रायः सभी भाषाओं के कवियों ने प्रकृति को मनुष्य के भावों तथा व्यापारों से आक्रान्त और उनमें सहयोग देनेवाली दिखाया है। नन्ददास ने इस प्रकृति-सम्बोधन में भागवत का आधार लिया है।

कृष्ण समस्त सौन्दर्य तथा शोभा की खान हैं, अस्तु प्रत्येक सुन्दर वस्तु उनकी छाया मात्र है। इस सम्बन्ध के अनुसार प्रत्येक सुन्दर वस्तु कृष्ण का कुछ पता अवश्य दे सकती होगी। ऐसी ही अटपटी युक्तियों के आधार पर गोपियाँ प्रकृति की प्राणहीन वस्तुओं से आशाजनक उत्तर पाने का अनुमान करती हैं। परन्तु अन्त में एक-एक करके सबसे निराशा होती चलती है। इस आशा और निराशा के झूले में झूलती हुई गोपियों का चित्र बड़ा सुन्दर बन पड़ा है—

विरहाकुल ह्वै गई सबै पूछत बेली बन ,
को जड़ को चैतन्य कछु न जानत विरहीजन ।
हे मालति हे जात जूथिके सुनि हित दै चित ,
मानहरन मनहरन लाल गिरधरन लखे इत ।
× × ×
पूछोरी इन लतन फूलि रहीं फूलन जोई ,
सुन्दर पिय के परस बिना अस फूल न होई ।[१]
हे सखि ये मृग वधू इन्हें किन पूछहु अनुसरि ,
डहडहे इनके नैन अबहि कहुँ देखे हैं हरि ।

प्रकृति-वर्णन

हिन्दी के प्राचीन कवियों ने स्वतन्त्र प्रकृति-वर्णन की ओर कम ध्यान दिया है। प्रबन्ध-काव्यों में प्रकृति-वर्णन बहुत थोड़ा है। उद्दीपन विभाव की दृष्टि से, जैसे संयोग अथवा वियोग शृङ्गार के अन्तर्गत बारहमासा, षड्ऋतु वर्णन, कोकिल, मोर, पपीहे का बोलना आदि, अथवा घटनास्थली के चित्र रूप में, प्रकृति का वर्णन अवश्य हुआ है, और इस दृष्टि से यह वर्णन हिन्दी में प्रचुर मात्रा में है। ऐसे वर्णनों में कवियों की निरीक्षण-शक्ति (सूक्ष्मदर्शिता) का परिचय मिलता है। परन्तु कवि के हृदय में अथवा मनुष्यमात्र के हृदय में रागात्मिका वृत्ति को जाग्रत करनेवाला स्वतन्त्र वर्णन बहुत न्यून मात्रा में है। संस्कृत कवियों ने प्रकृति के भिन्न-भिन्न व्यापारों और पदार्थों के बड़े सूक्ष्म निरीक्षण के साथ मनोरम चित्र खींचे हैं। उद्दीपन-विभाव रूप में जो वर्णन हिन्दी में मिलता है, उसकी

१—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६७,१६८, कुछ पाठ-भेद से।

हिन्दी काव्य में एक परम्परा-सी बँधी दीखती है। लगभग सभी कवियों ने एक-सी प्राकृतिक वस्तुओं का वर्णन संयोग-शृङ्गार अथवा वियोग-शृङ्गार के भीतर किया है। परन्तु इस परम्परा में जड़ता नहीं है। इसी के भीतर कवियों ने अपनी काव्य-प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। नन्ददास ने भी संस्कृत-काव्य से आई प्राकृतिक वस्तुओं का प्रयोग अपने काव्य में किया है। पीछे परमानन्ददास की काव्य-समीक्षा में कहा गया है कि प्रकृति की वस्तुओं का वर्णन अलङ्कारों के प्रयोग के साथ अवर्ण्य रूप अथवा उपमान रूप में भी आता है। प्रकृति की वस्तुओं का इस प्रकार का प्रयोग दो दृष्टियों से आता है। एक स्वरूपबोध के लिए और दूसरा भाव तीव्र करने के लिए। नन्ददास ने प्रकृति का प्रयोग, घटना-स्थली रूप में, उद्दीपन रूप में तथा स्वरूपबोध और भाव तीव्र करने की दृष्टि से अलङ्कार रूप में किया है। कथानक के बीच अथवा पृथक् रूप में प्रकृति का स्वतन्त्र रागात्मक वर्णन नन्ददास ने भी नहीं किया।

रास-वर्णन

अपने काव्य का विषय 'रास-वर्णन' चुनना ही नन्ददास के लिए किंचित साहस की बात है, क्योंकि यह विषय अनेक बड़े कवियों ने चुना है। इस विषय के वर्णन और शब्द-चयन में नन्ददास किसी से पीछे नहीं रहे हैं। गोपी-कृष्ण की रास-लीला का वर्णन कवि ने बड़ा सजीव किया है। रासमण्डल में गोलाकार रूप में गोपियाँ हैं, और बीच में कृष्ण नाचते हैं। नाचने में पैरों की 'पटक', हाथों की 'मटक', और शरीर के मोड़-तोड़ से प्रदर्शित हावभाव के चित्र कवि ने ज्यों के त्यों अङ्कित कर दिये हैं। नाचने की भिन्न-भिन्न स्थितियों में जो भाव अनुदित होते हैं, प्रयुक्त शब्दों का उच्चारण उन्हीं भावों तथा ध्वनियों की ओर संकेत करता है। यह सम्पूर्ण रास-वर्णन एक विशद शब्द-चित्र बन गया है। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि गोलाकार नाचते हुए गोपी-कृष्ण मानों नव मरकत और कनक मणियों की माला हैं, जो वृन्दाबन को पहना दी गई है। फुटनोट में निम्नलिखित अवतरण इस नाच के वर्णन का परिचय देते हैं।[१] गोपी-कृष्ण इस रास में इतने उन्मत्त हैं कि एक दूसरे के वस्त्र में वस्त्र, और आभूषण में आभूषण उलझ गये हैं—

नूपुर कंकन किंकिन करतल मंजुल मुरली,
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली।
मृदुल मधुर टंकार ताल झंकार मिली धुनि,
मधुर जंत्र की तार भँवर गुंजार रली पुनि।
तैसिय मृदु पद पटकनि चटकनि कर तारन की,
लटकनि मटकनि झलकनि कल कुंडल हारन की।
साँवरे पिय के संग लसत यों ब्रज की बाला,
जनु घन मंडल मंजुल विलसित दामिनि माला।
छवि सों निरतन लटकन मटकनि मंडल डोलनि,
कोटि अमृत सम मुसकनि मंजुल ताथेई बोलनि।
—'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १७६-१७८।

हार हार में उरझि, उरझि बहियाँ में बहियाँ,
नील पीतपट उरझि उरझि बेसर नथ महियाँ।[1]

कुञ्जों का रास फिर जलक्रीड़ा में परिणत हो जाता है। इस जमुनाजल-क्रीड़ा का वर्णन भी कवि ने मनोहर और रसात्मक ढङ्ग से किया है।[2] इन सब वर्णनों को देखने से ज्ञात होता है कि नन्ददास की, वर्णन द्वारा-चित्र अङ्कित करने की शक्ति महान् थी।

भाव चित्रण

भाव-चित्रण में कवि का ध्येय वस्तुओं के वाह्य आकार का रूप अङ्कित करना नहीं होता, वरन् वस्तुओं अथवा घटनाओं के संसर्ग से जो भाव कवि के अथवा कथानक में वर्णित पात्रों के हृदय में उठते हैं, उनकी अनुभूति का रूप अङ्कित करना होता है। जिन भावों से पाठक का हृदय सहानुभूति में मग्न हो जाता है उनके भाव-चित्र काव्य की दृष्टि से सफल समझे जाते हैं। उन्हीं चित्रों में रसानुभूति भी होती है। यह अनुभूति कवि की अभिव्यक्ति के अनुसार लौकिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की होती है। वर्णन की तरह भावचित्रण भी मुक्तक रूप में होता है और कथानक के भिन्न-भिन्न भावात्मक स्थलों में भी। कृष्णभक्त कवियों की रचनाओं में और विशेष रूप से सूरदास के काव्य में इन भाव-चित्रों के आध्यात्मिक और लौकिक दोनों रूप अङ्कित हुये हैं। नन्ददास के भाव-चित्र सूरदास की तरह प्रचुर और विशद तो नहीं हैं, परन्तु फिर भी उन्हें छोटे-छोटे प्रसङ्गों के भीतर भाव के प्रभावपूर्ण चित्र खींचने में प्रशंसनीय सफलता मिली है।

'रासपञ्चाध्यायी' का मुख्य विषय प्रेमरस है, जिसके संयोग और वियोग दोनों पक्षों की कुछ दशाओं का चित्रण है। गोपियों के विरह में जो गहनता है वह लौकिक काव्य की दृष्टि से प्रसङ्ग की परिस्थिति में चाहे खटकती हो परन्तु भक्ति-भाव और वल्लभ सिद्धान्त की दृष्टि से उसमें कोई असङ्गति नहीं है। गोपियों के साथ नाचते-नाचते श्रीकृष्ण थोड़ी देर के लिए छिप जाते हैं, गोपियों को बस इतनी ही देर में पूर्ण विरह दशा आ घेरती है, और वे उन्मत्त की तरह प्रलाप करने लगती हैं। इस असङ्गति का समाधान कवि स्वयं 'रास-पञ्चाध्यायी' के द्वितीय अध्याय के आरम्भ में करता है कि प्रेम-भक्ति में जिन गोपियों को अथवा भक्तों को अपने प्रिय से एक पलमात्र का बिछुड़ना कोटि युग के समान लगता है, उनका प्रिय यदि घर की, बन की, अथवा कुञ्ज की ओट में हो जाय तो उनके दुख की गणना नहीं हो सकती—

जिनको नैन निमेष ओट कोटिन युग जाहीं,
तिनकौं घर, बन, कुञ्ज ओट दुख गनना नाहीं।[3]

1—'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १७६ कुछ पाठ-भेद से।

२—'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १८० तथा १८१।

३—'नन्ददास', शुक्ल, पृष्ठ १६७।

उनके लिए वास्तव में उत्कट विरह-दशा में ही अहङ्कार की संज्ञा छुटती है, तभी आत्मविस्मृति होती है। श्रीवल्लभाचार्य का सिद्धांत है कि कृष्ण-संयोग की लालसा इतनी उत्कट हो जाय कि प्रत्येक क्षण में विरह-दशा की अवस्था बनी रहे और इस विरह-दशा में पूर्ण आत्म-समर्पण और आत्म-विस्मृति हो जाय तभी भगवान् मिल सकते हैं। कृष्णभक्त कवियों ने जिस विरह-वेदना का वर्णन किया है वह काव्य-कथानक की परिस्थितियों के बीच देखने की वस्तु नहीं है। वास्तव में यदि काव्य की दृष्टि से देखा जाय तो, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, "सूर का (सभी कृष्णभक्त कवियों का) वियोग-वर्णन, वियोग-वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं।"[1] गोपियों का विरह लौकिक प्रेम का विरह नहीं है, उसमें विरह है जीवात्मा का परमात्मा से, इसलिए भक्ति-साधन की दृष्टि से विरह की परिस्थिति पूर्ण रूप से विद्यमान है। यही दृष्टिकोण 'श्रीमद्भागवत' में भी लिया गया है जो समस्त कृष्ण-भक्ति के काव्य का मूल स्रोत है।

नन्ददास ने रास-प्रसङ्ग के छोटे से दायरे में संयोग की उन्मत्तता और वियोग की वेदना का सुन्दर कवित्वमय वर्णन किया है। एक ओर गोपियाँ प्रेमोन्मत्त हो कृष्ण की मुरली के शब्द के सहारे कृष्ण मिलन को अभिसारिका रूप में जाती हैं, दूसरी ओर कृष्ण गोपियों की प्रतीक्षा में उत्कण्ठित खड़े हैं। कवि ने यहाँ गोपियों के अभिसारिका रूप में बलवती संयोग-इच्छा का तथा कृष्ण के उत्कण्ठित-रूप में प्रेमी की अनिश्चित भावनाओं का सफल चित्र खींचा है। मुरली का मधुर नाद गोपियों को कृष्ण मिलन के लिए अधीर कर देता है और वे कल्पना में पहले संयोग सुख का अनुभव करती हैं—

पुनि रंचक धरि ध्यान पिया परिरम्भ दियो जब ,
कोटि स्वर्ग सुख भोग छिनहि मंगल कीनो तब ।[2]

गोपियों के अभिसार में अभिसारिका का वैसा परकीया रूप नहीं है जैसा कि लुक-छिप कर जाती हुई अभिसारिका का रूप हिन्दी के शृङ्गारिक कवियों ने खींचा है। यहाँ गोपिकाएँ निर्भीक चपलता के साथ सरिता की तरह उमड़ती हुई अपने प्रिय के पास जाती हैं—

ते पुनि तिहि मग चलीं रँगीली तजि गृह संगम ,
जनु पिंजरन ते छूटे उड़े नव प्रेम विहंगम ।
चलत अधिक छबि फवित श्रवण मनि कुण्डल झलकैं ,
संकित लोचन चल ललित छबि विलुलित अलकैं ।

१—'भ्रमरगीत-सार, रामचन्द्र शुक्ल, भूमिका पृ० ७।

२—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६१।

आइ उमगि सों मिलीं रँगीली गोप-वधू जस,
नन्द सुवन सागर सुंदर सों प्रेम नदी जस।[1]

उधर कृष्ण गोपियों की प्रतीक्षा में खड़े हैं। जब उन्हें गोपियों के नूपुरों का शब्द सुनाई पड़ता है, तब उनकी सम्पूर्ण इन्द्रिय-शक्तियाँ कानों में केंद्रीभूत हो जाती हैं। और जब वे दिखाई देने लगती हैं तो कृष्ण का ध्यान सब ओर से छूट कर केवल दृष्टि से संलग्न हो जाता है। इस 'इंतज़ारे यार' की स्वाभाविक तल्लीनता का वर्णन कवि ने थोड़े से शब्दों में बड़ा सजीव किया है—

तिनके नुपूर नाद सुनत जब परम सुहाये,
तब हरि के मन नयन सिमिटि सब श्रवननि आए।
रुनुक झुनुक पुनि भली भाँति सों प्रगट भई जब,
प्रिय के अंग अंग सिमट मिले हैं रसिक नयन तब।
सब के मुख अवलोकत पिय के नैन बने यों,
स्वच्छ सुंदर ससि माँझ अरबरे द्वै चकोर यों।[2]

परन्तु संयोग का सुखद आनन्द शीघ्र ही नहीं मिलता। जब गोपियाँ कृष्ण के पास पहुँच जाती है, उस समय वे उनकी प्रेम-परीक्षा लेते हैं और उनसे अपने घर में रह कर स्त्रियों के पातिव्रतधर्म के पालन करने को कहते हैं। कृष्ण के इस उपेक्षाभाव को पहले गोपियों ने प्रणय-प्रेम का विनोद समझा—

लाल रसाल के बंक वचन सुनि चकित भई यों,
बाल मृगन की माल सघन बन भूलि परी ज्यों।
मंद परस्पर हँसी लसीं तिरछी अँखियन अस,
रूप उदधि इतराति रँगीली मीन पाँति जस।[3]

उपर्युक्त पङ्क्तियों में आपस में एक दूसरे की ओर शङ्कित भाव से तथा तिरछी आँखों से देखती हुई गोपियों के विनोद के चित्र को 'रूप उदधि इतराति रँगीली' वाली उत्प्रेक्षा ने और भी चमका दिया है। वास्तव में सफल कविता वही है जो थोड़े से चुने हुए शब्दों में आनन्द के उद्रेक के साथ बहुत सा भाव प्रकट करे। उच्च कोटि के कवियों की वर्णन शैली में वह मोहिनी शक्ति होती है जो भाव और उसके आधार, आलम्बन आदि के सजीव चित्र द्वारा, तथा बिना किसी क्लिष्ट कल्पना के, हृदय में रस उत्पन्न कर दे। भाव के अनुकूल

१—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६१, पाठ-भेद से।

२—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६२।

३—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६३।

शब्दों का प्रयोग और शब्दों द्वारा भाव का सङ्केत नन्ददास के वर्णन की विशेषता है, और वे उपर्युक्त कसौटी पर खरे उतरते हैं। जब गोपिकाओं ने कृष्ण की उपेक्षा का बढ़ा हुआ रूप देखा तो उनका प्रणय-विनोद का अनुमान शङ्का और चिन्ता में परिणत हो गया। उस समय वे संयोग का अनुभव करने लगीं—

जब पिय कह्यो घर जाउ अधिक चिंता चित बाढ़ी,
पुतरिन की सी पाँति रह गई इकटक ठाढ़ी।
दुख सों दबि छबि सींव ग्रीव नै चली नाल सी,
अलक अलिन के भार भ्रमित जनु कमल माल सी।
हिय भरि विरह हुतास उसासन संग आवत झर,
चले कछुक मुरझाय मधुभरे अधर बिंबवर।
तब बोलीं ब्रजबाल लाल मोहन अनुरागीं,
सुंदर गद गद गिरा गिरधरहिं मधुरी लागीं।[१]

इन पङ्क्तियों में स्तम्भ, वैवर्ण, स्वरभङ्ग, आदि सात्विक अनुभावों द्वारा भावी वियोग की आशङ्का से जनित चिन्ता, मलिनता, उच्छ्वास और सन्ताप की विरह-दशाओं का चित्रण किया गया है। गोपियों के दृढ़ सङ्कल्प को देखकर कृष्ण का हृदय द्रवित हो जाता है और वे गोपियों के साथ प्रेम-लीला आरम्भ कर देते हैं। इस संयोग वर्णन को यदि लौकिक दृष्टि से देखा जाय तो कहना पड़ता है कि कुछ अश्लीलता अवश्य आ गई है—

परिरंभन मुख चुंबन, कच कुच नीबी परसत,
सरसत प्रेम अनंग रंग नवघन ज्यों बरसत।

परन्तु इस वर्णन के बाद ही कवि ने इस रति-रूप को आध्यात्मिक पक्ष और धार्मिक पवित्रता की ओर मोड़ दिया है। गोपी-कृष्ण के सम्मुख कामवासना की समग्र सामग्री उपस्थित थी और रति-भाव के वाह्य शारीरिक विकार भी उपस्थित हो गये थे, परन्तु गोपी और कृष्ण ने काम को जीत लिया—

तब आयो वह काम पंचसर कर हैं जाके,
ब्रह्मादिक को जीति बढ़ि रह्यो अति मद ताके।
निरखत ब्रज बधु संग रंग भीने किशोर तन,
हरि मन्मथ को मथ्यो उलटि वा मन्मथ को मन।

१—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६३।
२—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६६, पाठ-भेद से।
३—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६६।

यह भी गोपियों की एक परीक्षा थी, मानों लौकिक वासना की अग्नि में वे अछूती पार हो गईं। 'सिद्धान्तपञ्चाध्यायी' में कवि ने इस शृङ्गार-वर्णन में लौकिक काम की विद्यमानता पर विचार प्रकट किए हैं। इस संयोग के बाद रास करते करते कृष्ण थोड़ी देर के लिए छिप जाते हैं। यह गोपियों की दूसरी प्रेम-परीक्षा थी। थोड़ी देर की विरह-दशा का वर्णन कवि ने बड़े मार्मिक शब्दों में किया है। पहले कहा जा चुका है कि काव्यदृष्टि से असङ्गत होते हुए भी यह प्रसङ्ग नन्ददास के धार्मिक सिद्धान्तों का भली प्रकार प्रतिपादन करता है। नन्ददास की "धार्मिक अनुभूति" में विरह का प्रमुख स्थान था, इसी कारण उन्होंने अपनी रचना 'विरहमञ्जरी' में विरह को प्रधानता देते हुए उसे चार प्रकार का बताया है, प्रत्यक्ष विरह, पलकान्तर विरह, बनान्तर विरह, और देशान्तर विरह। ध्यान रहे कि प्रत्येक तत्कालीन श्रेष्ठ कवि की भाँति धार्मिक अनुभूति की पूर्ण अभिव्यञ्जना ही नन्ददास की कविता का मुख्य उद्देश्य था।

रस

'रासपञ्चाध्यायी' में नव रसों में से प्रधान रस शृङ्गार है जिसके संयोग और वियोग दोनों पक्षों का संक्षेप में वर्णन है। परन्तु नन्ददास जी इस शृङ्गार कथानक को लौकिक रति का उत्पादक नहीं कहते; वे तो इसे ब्रह्म प्राप्ति की "परा विद्या" बताते हैं। कवि की दृष्टि से अथवा भक्तों की आध्यात्मिक दृष्टि से 'रासपञ्चाध्यायी' में आध्यात्मिक शृङ्गार भाव है, और माधुर्य प्रेमरस है जो अन्त में शान्त रस का उद्रेक भी करता है। परन्तु, लौकिक काव्य-समीक्षा की भाषा में इसे रतिभाव और शृङ्गार-रस ही कहना होगा। रासलीला गोपी-कृष्ण का विनोद सम्मेलन है, इसलिए इस प्रसङ्ग में हास-परिहास की भी गुञ्जाइश है, परन्तु नन्ददास ने हास्यरस का चित्रण नहीं किया है।

काव्य-रस उत्पन्न करने और उसमें मन को रमाने के लिए अद्भुतता का भाव भी आवश्यक है। काव्य में बिना वैचित्र्य के आए पाठक को अपनी वास्तविक लौकिक परिस्थिति का विस्मरण और मन का आकर्षण उस स्थिति में नहीं होता, जिस स्थिति में पहुँच कर वह काव्यनन्द का अनुभव करता है। वैचित्र्य-वर्णन काव्य के अद्भुत रस से कुछ भिन्न होता है। इसकी विलक्षणता, आनन्द का उद्दीपन हेतु बन कर, काव्य अलङ्कार की श्रेणी में गिनी जाती है। अद्भुत-रस के पूर्ण वर्णन में आश्चर्य से युक्त किसी घटना अथवा व्यापार का चित्रण आलम्बन रूप में होना आवश्यक है। वास्तविक अद्भुत घटना का वर्णन स्वतन्त्र अद्भुत-रस की गणना में किया जाता है। 'रासपञ्चाध्यायी' में ऐसे अद्भुत रस का वर्णन तो नहीं है परन्तु काव्य-चमत्कार और अद्भुत उक्तियाँ इस वर्णन में बहुत आई हैं। रास-रस इतना अधिक है कि कवि की कल्पना इस रस की सीमा तक नहीं पहुँच सकती। इस रास के आनन्द का प्रभाव भी केवल मनुष्यों तक ही परिमित नहीं है, पशु पक्षी, वृक्ष और पत्थर सभी इससे प्रभावित हो रहे हैं। पत्थर पिघल कर पानी हो गया और पानी जम कर पत्थर हो गया—

अद्भुत रस रह्यो रास गीत धुनि सुनि मोहे मुनि,
सिला सलिल है चली सलिल है रह्यो सिला पुनि।[1]

अन्त में कवि इस अद्भुत रस के वर्णन में अपने को असमर्थ पाता हैं "नैनन के नहिं बैन बैन्न के नैन नहीं अस।" पीछे कहा गया है कि रास के वर्णन में कवि की कृष्ण-भक्ति प्रधान रूप से लक्षित होती है। रास का वर्णन करते करते कवि का हृदय कृष्ण-भक्ति में मग्न परमात्मा के सामीप्य का अनुभव करने लगता है—

मोहन पिय की मुसकनि, ढलकनि मोर मुकुट की,
सदा बसो मन मेरे फरकनि पियरे पट की।[2]

ग्रन्थ का माहात्म्य बर्णन करते हुए कवि ने इस रासलीला को नित्य और आध्यात्मिक शान्ति का देनेवाला बताया है। यह रासलीला वास्तव में एक अन्योक्ति है, जिस में कृष्ण परम ब्रह्म परमात्मा हैं, गोपियाँ सिद्ध आत्माएँ हैं जो लौकिक विषयों को छोड़ कर परमात्मा के प्रेम की चरम सीमा को पहुँच चुकी हैं, और रासलीला आत्मा तथा परमात्मा का सामीप्य मिलन है। कवि ने इस भाव को अपने ग्रन्थ 'सिद्धान्तपञ्चाध्यायी' में और भी स्पष्ट किया है। 'रासपञ्चाध्यायी' में भी कवि की अनेक उक्तियाँ रास की शृङ्गारिकता को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ रही है—

निपट निकट घट में जो अन्तर्यामी आहि,
विषय विदूषित इंद्री पकरि सकै नहिं ताहि।[3]

लौकिक विषयों से विदूषित इन्द्रियाँ अन्तर्यामी परमात्मा को नहीं पहचान सकीं। कवि के सिद्धान्तानुसार यह रास नित्य है—

नित्य रास रस मत्त नित्य गोपी जन वल्लभ,
नित्य निगम जो कहत, नित्य नव तन अति दुल्लभ।

और यह

रासपञ्चाध्यायी—"*अघहरनी मनहरनी सुंदर प्रेम वितरनी।*
नन्ददास के कंठ बसो नित मंगल करनी।"

१—'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १७१।
२—'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १७७।
३—'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १८२।
१—'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १८२।

यह 'रासपञ्चाध्यायी' 'मनहरनी' है क्योंकि इस में काव्य-रस है और 'अघ हरनी' है क्योंकि इसमें आध्यात्मिक सुख देने वाला शान्त-रस है। रासलीला के आध्यात्मिक पक्ष का विवेचन 'सिद्धान्तपञ्चाध्यायी' में और भी विस्तार से हुआ है।

भँवरगीत

भँवरगीत के प्रथम अर्धभाग में गोपी-उद्धव-संवाद है और दूसरे भाग में कृष्णप्रेम में गोपियों की विरह-दशा का वर्णन है। इस रचना का ध्येय केवल गोपी-विरह-लीला का वर्णन करना ही नहीं है, वरन् गोपी-उद्धव-संवाद रूप में कवि को एक धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना भी अभीष्ट है। गोपियाँ प्रेम-भक्ति और सगुण ब्रह्म का पक्ष लेती हैं और उद्धव ज्ञान, योग और कर्म-मार्ग के साथ निर्गुण ईश्वर का। अन्त में गोपियों की विजय दिखाकर भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता की स्थापना की गई है। नन्ददास के भँवरगीत में जहाँ सगुण-निर्गुण का वाद-विवाद है वहाँ कवि के विचार प्रधान हैं तथा भावों की न्यूनता है, और जहाँ गोपियों के प्रेम और उनकी विरह-दशा का वर्णन है वहाँ कवि-हृदय की भावुकता और काव्य के मुग्धकारी रूप की प्रधानता है, विचार कम हैं। उद्धव के विचारों के खण्डन में जो तर्क गोपियों ने दिये हैं, वे पाण्डित्य पूर्ण नहीं हैं। भाव की अनुगामिनी गँवारी गोपियों के मुख से पाण्डित्यपूर्ण तर्क कवि के विचार में कदाचित् अस्वाभाविक प्रतीत होते, इसलिए गोपियों की ओर से कवि ने बहुत ही साधारण तर्कों से काम लिया है। दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में भी कवि ने सरस और काव्यमयी भाषा का सहारा लिया है। एक भँवर उनके पास उड़ता हुआ आ जाता है; गोपी-उद्धव के वार्तालाप के बीच गोपियाँ उद्धव की तरह उसे भी कृष्ण का भेजा हुआ दूत मान लेती हैं और उसे सम्बोधन कर उपालम्भ द्वारा अपने व्यथित हृदय के भाव प्रकट करती हैं। इसी से उस प्रसङ्ग का नाम 'भँवरगीत' अथवा 'भ्रमरगीत' पड़ा है।

विषय तत्व

श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत सप्तगीत प्रसिद्ध हैं, जिनमें से वेणुगीत दशम स्कन्ध के २६ वें अध्याय में, गोपीगीत दशम स्कन्ध के ३१ वें अध्याय में, युगलगीत दशम स्कन्ध के ८७ वें अध्याय में, तथा सप्तम अवधूत गीत एकादश स्कन्ध के ७, ८ और ९ वें अध्यायों में वर्णित हैं।

ग्रन्थ का मूल आधार, नन्ददास का भँवर-गीत और भागवत।

नन्ददास तथा इस विषय पर लिखनेवाले सभी कवियों ने भँवरगीत में भागवत् के कुछ प्रसङ्गों को छोड़ दिया है और कुछ प्रसङ्ग, जैसे ज्ञान, योग और भक्ति का वादविवाद, अपनी ओर से जोड़ दिये गये हैं। नन्ददास की काव्य-पटुता का परिचय उनके भागवत से लिये हुए भावानुवाद तथा मौलिक प्रसङ्ग, दोनों प्रकार की रचनाओं में मिलता है।

'श्रीमद्भागवत्' में उक्त कथानक "अध्याय ४७" के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'भागवत' में उद्धव द्वारा ज्ञानयोग का सन्देश वर्णित नहीं है। भाषा कवियों ने इस प्रसंग को विस्तार दिया है। श्रीमद्भागवत में उद्धव केवल कृष्ण का कुशल समाचार देकर नन्द-यशोदा तथा गोप-गोपियों के विरह-शोक-निवृत्ति-हेतु तथा उनका कुशल-क्षेम लेने के लिए गोकुल गये थे। भाषा के वैष्णव कवियों की रचनाओं में शुष्क ज्ञानमार्गी उद्धव को कृष्ण ने विशुद्ध प्रेमी और भक्त बनाने के लिए गोपियों के पास भेजा था। नन्ददास के भँवर गीत में भी कृष्ण और गोपियों के कुशल समाचार के परस्पर आदान प्रदान का भाव गौण है और ज्ञान और योग-मार्ग के ऊपर भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता दिखाने का भाव मुख्य है, जो गोपियों की विजय और उद्धव की पराजय में दिखाया गया है।

नन्ददास का भँवरगीत भागवत के ४७ वें अध्याय के तीसरे श्लोक से आरम्भ होता है, जिसमें गोपियों ने उद्धव को सत्कार कर बैठाया है और उद्धव के आने के कारणों का अनुमान किया है। श्रीमद्भागवत में भ्रमर का आगमन, गोपी-उद्धव के कुशल क्षेम के लेनदेन के बाद ही हो जाता है और वे अपना उपालम्भ आरम्भ कर देती हैं। नन्ददास के भँवर-गीत में उद्धव और गोपियों के वादविवाद तथा गोपी-विजय के बाद भ्रमर का आगमन होता है और तब वे अपनी विरह-दशा का प्रदर्शन करती हैं। जैसा कि पीछे कहा गया है, भागवत में दिये हुए भँवरगीत का कथानक ही नन्ददास ने कुछ नवीन प्रसङ्ग जोड़ कर और कुछ प्रसङ्गों में हेरफेर कर अपनाया है। अनेक स्थानों में कवि ने भागवत से ज्यों के त्यों भाव भी ले लिये है, परन्तु 'भागवत' के अपहृत भावों को कवि ने ऐसी सरस शब्दावली में रखा है कि उनकी व्यञ्जना में मौलिकता का सा आनन्द आता है।

'श्रीमद्भागवत' में दिये हुए भँवरगीत के कथानक का संक्षेप में यहाँ देना अनुचित न होगा। कंस के मारने के कुछ समय बाद कृष्ण का गर्गाचार्य जी के यहाँ उपनयन संस्कार हुआ। इसके बाद कृष्ण और बलराम दोनों उज्जैन में सान्दीपन नाम के एक ब्राह्मण पण्डित के यहाँ विद्याभ्यास के लिए भेजे गये। वहाँ से लौटने पर उनको ब्रज की याद आई। उन्होंने अपने मित्र उद्धव को बुलाया और उसे विरह में सन्तप्त माता-पिता तथा गोप-गोपियों को आश्वासन देने और कुशलक्षेम लेने के लिए उनके पास भेजा। उद्धवजी मित्र कृष्ण का संदेश लेकर रथ में बैठे हुए सायंकाल के समय ब्रज में (गोकुल में) पहुँच गये। नन्दराय ने उनका स्वागत किया और सत्कार के बाद वसुदेव-देवकी का कुशल समाचार पूछा और कृष्णवियोग का अपना दुख उद्धव से प्रगट किया। दूसरे दिन प्रातः नन्द के द्वार पर रथ खड़ा देखकर सब गोप-गोपियों को यह जानने की उत्सुकता हुई कि "क्या कृष्ण ब्रज वापिस आगए ?" उधर उद्धव जी यमुना तट से स्नान करके नन्द के घर लौट रहे थे। उद्धव को कृष्ण-वेष में देखकर गोपियाँ बड़े चक्कर में पड़ीं कि यह

कौन है। जब गोपियों ने जाना कि उद्धव जी, उनके प्यारे कृष्ण का सन्देश लेकर आये हैं तो उन्होंने उनका सत्कार किया और एक स्थान पर लेजाकर बैठाया। उनसे गोपियों ने कुशल-क्षेम पूछी और एक दम कृष्ण की निष्ठुरता पर ताने मारने लगीं और ताना देते देते वे कृष्ण के ध्यान में मग्न हो गईं। इसी बीच में एक भ्रमर उड़ता हुआ तथा गुनगुन करता आया। गोपियों ने उस भौंरे को भी कृष्ण का भेजा हुआ दूत माना और वे कृष्ण और भँवर पर उपालम्भ की बौछार करने लगीं और अपने हृदय की वेदना और विरह-दशा को जता कर भँवर-दूत से इस विरह-दशा के सन्देश को कृष्ण के पास ले जाने की प्रार्थना करने लगीं।

विरह-दशा को देखकर उद्धव का हृदय भी द्रवित हो गया और वह गोपियों से कहने लगे—"हे महाभागाओं! मैंने ब्रज में आकर तुम्हारे इस अपूर्व भागवत-प्रेम का सुख पाया। मैं कृष्ण का कुछ सन्देश लाया हूँ उसे सुनो। कृष्ण ने कहा है—'मैं देहधारियों की आत्मा होने के कारण सदा तुम्हारे पास ही रहता हूँ। मैं पञ्चतत्व, इन्द्रियों और त्रिगुण स्वरूपिनी अपनी माया के प्रभाव से अपने ही द्वारा, अपने को अपने में उत्पन्न करता, पालन करता तथा लीन करता हूँ। आत्मा शुद्ध है और माया से भिन्न है। जैसे सोते से उठा हुआ व्यक्ति देखे हुए मिथ्या स्वप्न का चिन्तन करता है वैसे ही इन्द्रियों के विषय-चिन्तन से इन्द्रियों की उपलब्धि होती है। इसलिए मन का दमन करना ही परम कर्तव्य है। तुम सब वासनाओं से शून्य होकर शुद्ध मन को मुझमें लगाओ और मेरा निरन्तर ध्यान करो, ऐसा करने से तुम शीघ्र ही मुझे पाओगी।'"[1] ब्रज-बालाएँ इस प्रकार उद्धव के मुख से प्रियतम की आज्ञा सुन कर बहुत प्रसन्न हुईं और उन्हें भगवान् का सन्देश सुनकर शुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ। इस उपदेश को सुनने के बाद वे कृष्ण को सम्बोधन कर उनके प्रति विनय करने लगीं। श्रीकृष्ण का सन्देश सुनकर गोपियों का विरहताप शान्त होगया। उद्धव ने कई महीने ब्रज में निवास किया। श्रीकृष्ण में गोपियों के आसक्त चित्रों की विरह-विह्वलता देखकर उद्धवजी आनन्दित हुये और गोपियों को प्रणाम कर मन में कहने लगे—"भगवद्भक्त, कोई भी जाति का हो, वह सर्वोत्तम और पूजनीय है। देखो, कहाँ व्यभिचारी दोष से पूर्ण गँवारी ब्रजनारियाँ और कहाँ श्रीकृष्ण! अज्ञव्यक्ति भी यदि ईश्वर का भजन करे तो उसका कल्याण ही होता है"।[2] जब उद्धव जी मधुपुरी को जाने लगे तब गोप-गोपी, नन्द-यशोदा, सभी ब्रजवासियों ने उद्धव से कृष्ण के लिए यह सन्देश भेजा—"हमारी यही कामना है कि हमारा मन सब प्रकार से कृष्ण के चरणारविन्दों में लगा रहे। हमारी वाणी सदा उनके नामों का कीर्तन करे। हमारी काया उनको प्रणाम करे और उनकी सेवा में लगी रहे। कर्मों के कारण हमें कोई भी योनि मिले, हमारी मति श्रीकृष्ण में ही लगी रहे। हमारे कर्मों का केवल यही फल

१—श्रीमद्भागवत, दशमस्कंध, अ० ४७, श्लोक २७-३१।

२—श्रीमद्भागवत, दशमस्कंध, अ० ४७, श्लोक ५६।

हो कि ईश्वर-स्वरूप कृष्ण की अनन्य भक्ति हमें प्राप्त हो।[1]" पश्चात्, उद्धवजी कृष्ण के पास पहुँचे और उन्होंने नन्द के दिये हुए उपहार कृष्ण, बलराम तथा राजा उग्रसेन को दिये।

इस कथानक का नन्ददास के भँवरगीत के साथ मिलान करने पर ज्ञात होगा कि इसमें न तो ज्ञान, योग और भक्ति का वादविवाद है और न गोपियों की विरह-दशा का सजीव वर्णन। भागवत में उद्धव केवल कृष्ण का भेजा हुआ मनोनिग्रह का उपदेश गोपियों को सुना देते हैं। इस सन्देश में निर्गुन ईश्वर तथा ज्ञान और योग के मण्डन और भक्ति के खण्डन का कोई भाव नहीं हैं। मन के निग्रह के आदेश के साथ मन को वश में करने का उपाय कृष्ण ने नहीं बताया, केवल शुद्ध मन को अपने में लगाने का आदेश दिया है। इससे यही प्रतीत होता है कि भागवत के कृष्ण ने गोपियों को ज्ञानपूर्वक भक्ति करने का ही आदेश दिया था, जिसको सुनकर गोपियाँ बहुत प्रसन्न हुई थीं। नन्ददास के भँवरगीत में उद्धव अपनी ओर से ज्ञानयोग का उपदेश देते हैं, ज्ञानपूर्वक भक्ति का नहीं। वे भक्ति का खण्डन कर स्पष्ट ज्ञान-मार्ग की स्थापना करते हैं। इस ज्ञान उपदेश को सुनकर गोपियों को अपार वेदना होती है, यहाँ तक कि वे उद्धव से मुँह फेर कर बैठ जाती हैं और तर्क छोड़ कृष्ण के प्रेम और ध्यान में मग्न हो जाती हैं। नन्ददास के भँवरगीत में जिस भक्ति का वर्णन है वह सखण्ड[2] ज्ञानपूर्वक भक्ति नहीं है, वह ज्ञान को पीछे छोड़कर पूर्ण प्रेम और पूर्ण आत्म-समर्पण की निस्साधन भक्ति है। इस ग्रन्थ में उद्धव एक ऐसे व्यक्ति माने गये हैं जो सखण्ड ज्ञान और योग मार्गों को ग्रहण कर निर्गुण-ईश्वर-प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। गोपियों ने ज्ञान मार्ग का खण्डन नहीं किया वरन् अपने जैसी प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों के लिए उस मार्ग की अनुपयुक्तता दिखाई है। सूरदास के भँवरगीत में गोपियाँ स्पष्ट शब्दों में उद्धव से कहती हैं—"तुम्हारा ज्ञान और योग का मार्ग बहुत अच्छा है जिससे निर्गुण ईश्वर का अनुभव हो सकता है, परन्तु जो ज्ञान और योग के अधिकारी जन हैं, उनको यह मार्ग बताइये। यहाँ तो हमारे लायक हमारी सामर्थ्य को देख कर सीख दीजिये।"—

ऊधौ हम लायक सिख दीजै,
यह उपदेश अगिनि ते तातो, कहो कौन विधि कीजै।[3]

१—श्रीमद्भागवत 'दशमस्कन्ध,' अध्याय ४७ श्लोक ६६, ६७।

२—वल्लभ मतानुसार ज्ञान दो प्रकार का है—एक, सखण्ड ज्ञान; दूसरा, अखण्ड ज्ञान। जहाँ एक व्यक्ति से व्यष्टि-दृष्टि रख कर 'अहं ब्रह्मास्मि' इस भाव से ज्ञानलाभ होना कहा गया है वहाँ सखण्डज्ञान है और जहाँ एक व्यक्ति द्वारा समष्टि दृष्टि से 'सर्वं ब्रह्मास्ति' यह भाव रख कर ज्ञान लाभ किया जाता है वह अखण्ड ज्ञान है। वल्लभ-मत में सखण्ड ज्ञान का खण्डन है और अखण्ड ज्ञान ग्राह्य है। साथ में इस मत में भक्ति, ज्ञान का साधन नहीं है, वरन् ज्ञान, भक्ति-प्राप्ति का साधन है।

३—भ्रमरगीत-सार, रामचन्द्र शुक्ल, प्रथम संस्करण, पृ० ९२।

ऊधौ कौन आहि अधिकारी,
लै न जाहु यह जोग आपनो कत तुम होत दुखारी।
यह तो वेद उपनिषद मत है महापुरुष व्रतधारी,
हम अहीरि अबला ब्रज बासिनि नाहिंन परत संभारी।[१]

इसी प्रकार का भाव नन्ददास ने 'भँवरगीत की निम्नलिखित पङ्क्तियों में दिया है—

ताहि बतावहु जोग जोग ऊधौ जेहि पावौ,
प्रेम सहित हम पास नंद नंदन गुन गावौ।[२]

वास्तव में गँवारी गोपियाँ, उस साधारण जनता की अनुरूपा हैं जिसमें तर्क-बुद्धि का विकास कम और कष्ट-साधना की सामर्थ्य न्यून थी। श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी भक्ति-पद्धति में स्थूल-मूर्ति-पूजा की अपेक्षा मानसिक-प्रेम-भक्ति पर अधिक जोर दिया है, परन्तु बहुत मोटी बुद्धिवालों को भक्ति का पहिला पाठ यही दिया है कि पहले लोक में अभ्यस्त भाव को भगवान् के स्वरूप[३] में लगाओ, फिर धीरे धीरे अभ्यास से उसे मानसिक सेवा में परिणत करो। नन्ददास और सूरदास के समय में महात्मा तुलसीदास ने भी समय की आवश्यकता का ध्यान रख कर सगुण ईश्वर और भक्ति का पक्ष लिया था, उनके मत से भी ज्ञान, योग और भक्ति तीनों मार्ग एक ही लक्ष्य तक पहुँचानेवाले हैं।[४] परन्तु ज्ञान और योग-मार्ग कठिन हैं।[५] संसार से दुख छुटाकर परमानन्द देनेवाला अथवा संसार में रहते हुए ही सुख-समृद्धि देनेवाला अपेक्षाकृत सरल उपाय भक्ति का ही है।

नन्ददास के भँवरगीत के पूर्वार्द्ध में जो गोपी-उद्धव-संवाद ज्ञान, योग और भक्ति के विषय में दिया हुआ है, उसमें दोनों ओर की तर्क और मत की स्थापना निम्नलिखित प्रकार से हुई है। यह वाद-विवाद कवि ने गोपी-उद्धव के उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में लिखा है। लेखक ने, यहाँ, उद्धव के वक्तव्य को एक स्थान पर और गोपियों के कथन को अलग

गोपी-उद्धव-संवाद

१—भ्रमरगीत-सार, रामचन्द्र शुक्ल, प्रथम संस्करण, पृ० ४७।

२—भ्रमरगीत, 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १२६।

३—जिसमें भाव का प्रवेश हो ऐसी मूर्ति।

४—'भगतहिं ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव संभव खेदा'।
—'रामचरितमानस', उत्तरकांड, श्यामसुन्दरदास, पृ० १०७८।

५—'कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन विवेक,
होइ घुनाच्छर न्याय जो पुनि प्रत्यूह अनेक।
ज्ञान पंथ कृपान कै धारा, परत खगेश होइ नहिं बारा।'
—'रामचरितमानस', उत्तरकाण्ड, श्यामसुन्दरदास, पृ० १०८४।

दूसरे स्थान पर दिया है। कुशल-क्षेम पूछने के बाद उद्धव गोपियों से कहते हैं—"हे गोपियो! तुम जिस ब्रह्म को कृष्ण मान रही हो वह ब्रह्म वास्तव में कृष्ण नहीं है। ब्रह्म के तो न कोई माता है और न पिता।[१] वह तो अव्यक्त है। वह तो सम्पूर्ण विश्व में, लोह, काष्ठ, पत्थर आदि सभी पदार्थों में व्याप्त है। अखिल विश्व ही ब्रह्म रूप है। वह ज्योतिर्मय है। उसका प्रकाश सचराचर सभी में प्रकाशमान है।[२] ब्रह्म का वास्तविक रूप निर्गुण है, सगुण रूप 'सोपाधि' अथवा माया-शबल है। वेद-उपनिषद माया-प्रच्छन्न सगुण को छोड़ निर्गुण को ही बताते हैं। वह निर्विकार, निर्लिप्त, निराकार और त्रिगुणातीत है।[३] वही अच्युत ज्योति अखिल विश्व का प्राण है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी में लय हो जाते हैं, जो गुण इस जगत में दीख रहे हैं वे ईश्वर के नहीं हैं, माया के हैं और नश्वर हैं।[४]"

१—'जाहि कहत तुम श्याम ताहि कोउ पिता न माता।
अखिल अंड ब्रह्माण्ड बिस्व उनही में जाता।'
—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १२६, पाठ-भेद से।

२—वे तुमते नहिं दूरि ग्यान की आँखिन देखौ,
अखिल विस्व भर पूरि ब्रह्म सब रूप बिसेखौ।
लोह दारु पाषान में जल थल महि आकास,
सचर अचर बरतत सबै ज्योतिहि रूप प्रकास।
सुनो ब्रजनागरी।
—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १२४, पाठ-भेद से।

३—यह सब सगुन उपाधि, रूप निर्गुन है उनको,
निरविकार, निरलेप, लगति नहिं तीनों गुन को।
हाथ न पाँउ न नासिका नैन बैन नहिं कान,
अच्युत ज्योति प्रकास है सकल विश्व को प्रान।
सुनो ब्रजनागरी।
—'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १२६।

माया के गुन और और हरि के गुन जानो,
उन गुन कों इन माहिं आन काहे को सानो।
जाके गुन अरु रूप को जान न पायो भेद,
ताते निर्गुण रूप कों कहत उपनिषद वेद।
सुनो ब्रजनागरी।
—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १२८, पाठ-भेद से।

४—जो गुण आवैं दृष्टि माँझ नस्वर हैं सारे,
इन सबहिन तें बासुदेव अच्युत हैं न्यारे।
इन्द्री दृष्टि विकार तें रहत अधोक्षज जोति
सुद्ध सरूपी जान जिय तृप्ति जु ताते होति।
सुनो ब्रजनागरी।
—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १२६।

"ईश्वर निर्गुण और निरूप है। इसलिए वह केवल ज्ञान से अथवा योग से प्राप्त होता है।[1] ज्ञान-योग, योग-योग अथवा ज्ञान-पूर्वक-कर्मयोग[2] द्वारा प्रतिबिम्ब-रूप आत्मा निर्गुण ब्रह्म की ज्योति में लीन हो सकती है। हमारी इन्द्रियाँ और स्थूल दृष्टि ब्रह्म के सत्य स्वरूप को नहीं पहचान सकतीं। योगी लोग योगाभ्यास में पद्मासन आदि साधनों से इन्द्रिय विकारों को मारते हैं और तप की ब्रह्माग्नि में अपने 'अहं' को जलाकर शुद्ध बनते हैं, और समाधि में लीन हो सायुज्य[3] मुक्ति को प्राप्त होते हैं।[4] इसलिए यदि तुम ईश्वर का ही संयोग चाहती हो तो योगाभ्यास द्वारा ज्ञान प्राप्त करो, मन का निग्रह करो और उस शुद्ध ज्ञान से उस अच्युत को अपने आप में ही पाओ।" उद्धव के इस वाद में शङ्कर के केवलाद्वैत, अव्यक्त ब्रह्म, और माया का मत तथा शङ्कर वेदान्त को लेकर योगाभ्यास करनेवाले ज्ञानी पन्थों के सिद्धान्तों को बताया गया है।

उद्धव के इस उपदेश का गोपियाँ इस प्रकार उत्तर देती हैं—"हे उद्धवजी! ईश्वर के निर्गुण और सगुण दो रूप हैं।[5] योगी निर्गुण ज्योति को भजते हैं और भक्त उसके

१—जोग जुगत ही पाइए परब्रह्म परधाम।
सुनो ब्रजनागरी।
—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १२५।

२—कर्महि निंदौ कहा, कर्म तें सद्गति होई,
कर्म रूप ते बली नाहिं त्रिभुवन में कोई।
कर्महिं ते उतपत्ति है, कर्महि ते है नास,
कर्म किये तें मुक्ति है परब्रह्म पुरवास।
सुनौ ब्रजनागरी।
—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १२६।

३—पीछे कहा गया है कि शंकर-मत में प्रवेशात्मक सायुज्य मुक्ति नहीं मानी गई है।

४—कर्म बुरे जो होहिं जोग काहे को धारैं,
पद्मासन सब द्वार रोकि इन्द्रिन को मारैं।
ब्रह्म अगिन जरि सुद्ध ह्वै सिद्धि समाधि लगाइ,
लीन होय सायुज्य में जोतहि जोति समाइ।
सुनौ ब्रजनागरी।
—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १२७, कुछ पाठ भेद से।

५—जोगी जोतिहि भजैं भक्त निज रूपै जानैं,
प्रेम पियूषै प्रगट श्याम सुंदर उर आनैं।
निर्गुन गुन जो पाइये, लोग कहैं यह नाहिं,
घर आयो नाग न पूजहीं बांबी पूजन जाहिं।
सखा सुन श्याम के।
—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १२७।

'निजरूप', सगुण को। यदि ईश्वर केवल निर्गुण है तो ये जगत में व्यक्त गुण कहाँ से आये[1] ? केवल निर्गुण ज्योति का सङ्केत करना सूर्य को छोड़कर सूर्य के प्रकाश को दिखाना है।[2] जैसे सूर्य आकाश में अपने तेज में छिपा है उसी प्रकार ज्योतिर्मय ब्रह्म के साथ उसका सगुण स्वरूप भी छिपा है और जैसे सूर्य को देखकर दृष्टि चकाचौंध हो जाती है, केवल प्रकाश ही दिखाई देता है, उसी प्रकार दिव्य दृष्टि बिना ब्रह्म का सगुण-साकार रूप उसके तेज में नहीं दीखता। कृष्ण भगवान् स्वयं ईश्वर हैं और उन्होंने अपने सगुण रूप से गायें चराई, गोवर्द्धन उठाकर भक्तों की रक्षा की और अपने मुरली मनोहर रूप से ब्रज-जनों को आनन्दित किया।[3] योगी योगाभ्यास से ज्योति को पाते हैं और भक्त-लोग प्रेम से उस ज्योति के मूल स्रोत साकार रूप को पाते हैं। प्रेम-भक्ति से सगुण रूप को पाकर निर्गुण, निराकार

१—जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते,
बीज बिना तरु जमैं मोहि तुम कहो कहाँ ते।
वा गुन की परछाँहरी माया दर्पन बीच,
गुनते गुन न्यारे भये अमल वारि मिलि कीच।
सखा सुन श्याम के।
—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १२८।

२—नास्तिक जे हैं लोग कहा जाने निजरूपै,
प्रकट भानु को छाँड़ि गहैं परछाँही धूपै।
हमकों बिन वा रूप के और न कछू सुहाय,
ज्यों करतल आमलक के कोटिक ब्रह्म दिखाय।
सखा सुन श्याम के।
—'नन्ददास', शुक्ल, १३० पृ०, पाठ-भेद से।

तरनि अकाश प्रकास तेज मय रह्यो दुराई,
दिव्य दृष्टि बिनु कहौ कौन पै देख्यो जाई।
जिनकी वे आँखें नहीं क्यों देखैं वह रूप,
तिन्हें सांच क्यों ऊपजे परे कर्म के कूप।
सखा सुन श्याम के।
—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १२०, पाठ-भेद से।

३—जो मुख नाहिन हतो कहो किन माखन खायौ,
पायन बिन गो संग कहो बन बन को धायौ।
आंखिन में अंजन दयौ गोवर्धन लयौ हाथ,
नन्द यशोदा पूत है कुंवर कान्ह ब्रजनाथ।
सखा सुन श्याम के।
—नन्ददास', शुक्ल, पृ० १२५, पाठ-भेद से।

की ओर दौड़ना, पास आये हुए साँप को छोड़कर उसे उसके बिल पर ढूँढ़ने का प्रयत्न करना है। हम तो भगवान् के सगुण रूप की उपासिका हैं। हमें सगुण मिल गया अब निर्गुण को कौन टटोले? "और रहा उसके पाने का साधन, सो हमारा तो प्रेम का मार्ग सीधा है।[१] योग के अधिकारी योग की बातें जानें, हम तो अपने को इस योग के योग्य नहीं समझतीं।[२] हमारे लिए भक्ति अमृत है, कर्म और योग धूल हैं। प्रेम-भक्ति में सभी विधि और निषिद्ध कर्म छूट जाते हैं।[३] भगवान् के हृदय-वास से सम्पूर्ण कर्म के बन्धनों से जीव छूट जाता है। पुण्य कर्म स्वर्ग देते हैं और पाप कर्म लोक का बन्धन। हैं दोनों ही बन्धन; एक, सोने की बेड़ी है; दूसरी लोहे की।[४] इसलिए कर्म के बन्धन को छोड़ भगवान् की शरण में जाने से सब संसार-दुःख छूट जाते है और भगवान् के साक्षात्कार का पूर्णानन्द मिल जाता है।"

सगुण भक्ति-पक्ष में जो बात गोपियों ने नन्ददास और सूरदास के काव्य में कही है, उसी प्रकार का भाव भक्ति और सगुण ईश्वर का पक्ष लेकर महात्मा तुलसीदास जी ने

१—कौन ब्रह्म की ज्योति ग्यान कासों कहु ऊधो,
हमरे सुन्दर श्याम प्रेम को मारग सूधौ।
—'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १२५।

२—ताहि बतावहु जोग जोग ऊधो जेहि पावौ,
प्रेम-सहित हम पास नंद नंदन गुन गावौ।
नैन बैन मन प्रान में मोहन गुन भर पूरि,
प्रेम पियूषै छाँड़ि कै कौन समेटै धूरि।
सखा सुन श्याम के।
—'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १२६।

३—कर्म धर्म की बात कर्म अधिकारी जानैं,
कर्म धूरि कौं आनि प्रेम अमृत में सानैं।
तब ही लौं सब कर्म हैं जब लगि हरिउर नाहिं,
कर्म बंध सब विश्व के जीव विमुख ह्वै जाहिं।
सखा सुन श्याम के।
—'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १२६।

४—कर्म पाप अरु पुन्य लोह सोने की वेरी,
पायन बंधन दोउ कोउ मानों बहुतेरी।
ऊँच कर्म ते स्वर्ग है नीच कर्म ते भोग,
प्रेम बिना सब पचि मरैं विषय वासना रोग।
सखा सुन श्याम के।
—'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १२७।

'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड में व्यक्त किया है—"जो लोग ब्रह्म को अजन्मा, अद्वैत केवल अनुभव से गम्य और मन से परे जान कर उसका ध्यान करते हैं, वे ऐसा करें और कहें, हमें उनसे तर्क नहीं करना, हम तो भगवान् के सगुण रूप के उपासक हैं और उस सद्गुणाकर से यही वर माँगते हैं कि हम सब विकार छोड़कर उसके चरणों से ही प्रेम भक्ति करें।"[1] इस निर्गुण और सगुण तथा ज्ञान, योग और भक्ति के वादविवाद में नन्ददास और महात्मा तुलसीदास के तर्क बहुत अंश में एक से हैं, वैसे उनकी भक्ति-पद्धति और भगवान् के इष्ट-स्वरूपों में विभिन्नता है ही।

इसी वादविवाद में गोपियाँ कृष्ण-स्वरूप का ध्यान करती हैं और वे अपने सम्मुख साक्षात् कृष्ण को देखने लगती हैं। उन्होंने सब ओर से मुख मोड़ लिया, उद्धव से पीठ फेर ली और भाव-जगत में पहुँच अपने प्रिय कृष्ण से वार्तालाप करने लगीं। गोपिकाओं के उद्धव की ओर से मुख मोड़कर बैठने के भाव में, उद्धव के प्रति उनका घृणा का भाव दर्शित नहीं है। इसमें उस एकान्तिक और अनन्याश्रय-पूर्ण-भक्ति का रूप लक्षित है जिसमें भक्त तर्कबुद्धि के विकार को छोड़ तथा लोक से मुँह मोड़कर केवल एक रूप अपने इष्ट को ही देखता है और उसके समक्ष आत्मसमर्पण करता है। गोपियों ने अपना तर्क समाप्त कर दिया और अपनी विरह दशा एक दूसरे पर प्रकट करने लगीं। इस स्थान से 'भँवरगीत' का भावात्मक स्थल आरम्भ होता है। कभी वे दैन्य भाव से कृष्ण को सम्बोधन कर उनसे विनय और प्रार्थना करती हैं, कभी अपनी परवशता, कभी दीनता और कभी अपनी अकिंञ्चनता प्रकट करती हैं। कृष्ण की निष्ठुरता पर उपालम्भ देने के बाद गोपियाँ प्रेम में विह्वल हो जाती हैं। प्रेम-रस-मन्दाकिनी की बाढ़ उद्धव के योग और 'नेम' को बहा ले जाती है और वे भी प्रेमानन्द-वारि में डुबकियाँ लगाने लगते हैं। उद्धव ने अपनी हार मानली और वे गोपियों की सगुण प्रेम-भक्ति के अनुगामी बन गये। ज्ञान और योग के साधनों पर भक्ति-साधन तथा प्रेम की विजय हुई। गोपी-उद्धव-वादविवाद के विषय और गोपियों की अथवा वल्लभ-भक्तों की प्रेम-पद्धति का परिचय कवि ने संक्षेप में उद्धव के मुख से इस प्रकार कराया है—

हौं कहों निज मरजाद को ज्ञान कर्म लों रोपि,
वे सब प्रेमासक्ति हैं कुल लज्जा करि लोपि।
धन्य ये गोपिका।[2]
जो ऐसे मरजाद मेंटि मोहन कौं ध्यावैं,
क्यों नहिं परमानन्द प्रेम-पद पी को पावैं।

१—'रामचरितमानस', उत्तर काण्ड, श्यामसुन्दर दास, पृ० ६७१।
२—'भँवरगीत', 'नंददास', शुक्ल, पृ० १३८।

ज्ञान योग सब कर्म तैं प्रेम परे है सांच ,
हौं यहि पटतर देत हौं हीरा आगे कांच ।
विषमता बुद्धि की ।[1]

(मर्यादा-भक्ति में भक्त, संसार के लोक-संग्रह और वेद-मर्यादा को साथ लेकर चलता है। वल्लभाचार्य जी ने अपनी पुष्टि अथवा अनुग्रह-भक्ति की पूर्ण अवस्था में लोक-लाज को कोई स्थान नहीं दिया, और कहा है कि रस-रूप भगवान् के सहवास का पूर्ण रस, लोक को छोड़कर ही मिलता है। उन्होंने ज्ञान, योग और कर्म से बढ़कर भगवान् के प्रति प्रेम और उनके अनुग्रह के मार्ग को उत्कृष्ट बताया है। नन्ददास ने अपनी भक्ति में लोक की मर्यादा से मुक्त उस प्रेम को, जिसे समाज कुत्सित कहता है, जैसे 'जार भाव' अथवा 'उपपति प्रेम', लोक-मर्यादा और लोक-धर्म से बँधे प्रेम की अपेक्षा अधिक उच्च स्थान दिया है)।

काव्य-समीक्षा

यह पहिले ही कहा जा चुका है कि तर्क की यथेष्ट मात्रा होते हुये भी भँवरगीत में ऐसे भावात्मक स्थलों की कमी नहीं है जो काव्य-दृष्टि से मुग्धकारी कहे जा सकते हैं। ग्रन्थ के उत्तरार्ध में गोपी-प्रेम की विरह-दशा का वर्णन है। बीच में वियोग की एक दशा, 'वियोग में संयोग' अवस्था, का भी चित्रण हुआ है। गोपियों के हृदय-गत भावों का जो प्रकाशन अब तक उद्धव के साथ तर्क-वाणी द्वारा हो रहा था, अब उनकी व्यञ्जना, भावमयी भाषा, तथा 'सात्विक अनुभावों' द्वारा होने लगती है। उद्धव के तर्कों से गोपियों की विरह पीर कसक उठी। उसी समय उनके हृदय में निरन्तर निवास करनेवाली कृष्ण की मनोहर मूर्ति अपने निष्ठुर रूप में उनके स्मृति-नेत्रों के सामने आ खड़ी हुई। इस अवस्था में गोपियाँ अपनी सज्ञानता भूल जाती हैं और 'वियोग में संयोग' अवस्था का भाव अनुभव करने लगती हैं। प्रतीक्षा की वेदना के बाद जब किसी प्रेमी को उसका प्रिय मिलता है तो पहले विरह-दुख, संयोग-सुख को दबाकर अश्रु आदि वाह्य चेष्टाओं द्वारा मूकभाव से निकलने का प्रयत्न करता है। ठीक यही दशा कृष्ण के काल्पनिक संयोग में गोपियों की हो गई, मुख पर प्रेम की आभा और नेत्रों में विरह की खीज से सने प्रेमाश्रु। इस दृश्य का चित्रण करते हुए कवि कहता है—"बिछुड़े हुये संयोग को पाकर अश्रु ही प्रेमरस की तर्क पूर्ण भाषा बनते हैं।"[2] वास्तव में बुद्धि को तुष्ट करनेवाली ज्ञान की तर्कें, भाषा में प्रकट हो जाती हैं, परन्तु हृदय के भाव शब्दों में पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं होते, उनकी तो प्रभावशालिनी भाषा, मुखाकृति और अश्रु आदि अनुभाव ही हुआ करते हैं। गोपियों ने भी अपने प्रेम की शिकायतें 'चुचाते हुए' नेत्रों द्वारा प्रकट कीं। यथा—

१—'भँवरगीत', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १२६।

२—'प्रेम अमृत मुख ते श्रवत, अम्बुज नैन चुचात। तरक रसरीति की'।
—'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १२०।

ऐसे में नन्दलाल रूप नैनन के आगे,
आइ गए छवि छाय बने पियरे अस बागे।
ऊधौ सौं मुख मोरि कैं कहि कछु उनते बात,
प्रेम अमृत मुखते श्रवत, अम्बुज नैन चुचात।
तरक रस रीति की।[1]

जब आँसुओं ने अपना 'गुबार' निकाल लिया, तब वाणी को जगह मिली। गोपियाँ कृष्ण को सम्बोधन कर आर्तनाद से विनय करने लगीं—"हे नाथ, आप हमें भूल गए तो भूल जायँ, परन्तु इन गायों और गोपों की दुख दशा की ओर तो देखिये और अपने संयोग का इन्हें तो सुख दीजिये। ये दुख के सागर में डूबी जा रही हैं।"[2] यहाँ पर कवि ने गोपियों के कथन में आत्मदीनता, प्रेम में विवशता और प्रिय की निष्ठुरता पर प्रेमी की खीज और उपालम्भ के भावों को बड़े सुन्दर शब्दों में प्रकट किया है। प्रिय की निष्ठुरता के अनुमान से प्रेरित वेदना में, विरह की गहनता, प्रिय के प्रति उपालम्भ का रूप धारण कर लेती है। इस उपालम्भ से प्रेमी के हृदय की सच्ची आसक्ति में कोई कमी नहीं आती वरन् वह और भी अधिक दृढ़ होती जाती है। इन मानव-अनुभूत-भावों की सत्यता को, गोपी-विरह-दशा के अन्तर्गत, अङ्कित किया गया है। नन्ददास की गोपियाँ भी अपने प्रिय कृष्ण की निष्ठुरता पर कृष्ण को खरा खोटा कह कर ताने दे रहीं हैं।[3] "हे कृष्ण, यदि तुम हमें इस प्रकार विरह में डाल कर मारना ही चाहते हो तो तुमने गोवर्धन धारण कर हमारी क्यों रक्षा की? दावानल की ज्वालाओं से तुमने क्यों हमें बचाया? और अब, हमारा चित्त चुराने के बाद हँस हँस कर हमें विरह की अग्नि में जला रहे हो।" इस प्रकार गोपियाँ प्रेम

१—'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १३०, कुछ पाठ-भेद से।

२—अहो नाथ अहो रमानाथ, यदुनाथ गुसाईं,
नंदनंदन बिडराति फिरति तुम बिन बन गाईं।
काहेन फेरि कृपाल ह्वै गोग्वालन सुख देहु,
दुख जलनिधि में बूड़हीं कर अवलम्बन देहु।
निठुर ह्वै कहँ रहे।
—भँवरगीत, 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १३०।

३—कोऊ कहै अहो श्याम चहत मारन जो ऐसे,
गिरि गोवर्धन धारि करी रक्षा तुम कैसे।
व्याल अनल अरु ज्वाल तें राखि लये सब ठौर,
अब विरहानल दहत हौ हँसि हँसि नन्दकिशोर।
चोरि चित लै गये।
—भँवरगीत, 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १३१, पाठ-भेद से।

के आवेश से और भी अधिक भर जाती हैं। स्मृति की विरह दशा में वे अपने रोम रोम में कृष्ण रूप की व्याप्ति का अनुमान करने लगती हैं।[१] इस विरह दशा में गोपियों के प्रेम-भाव का उद्धव के ऊपर इतना प्रभाव पड़ता है[२] कि वह अपने ज्ञान-मार्ग को छोड़ कर प्रेम-मार्ग का अनुयायी हो जाता है। काव्य की दृष्टि से नन्ददास का यह विरह-वर्णन रसोत्पादक है, साथ ही प्रेमभक्ति में वाञ्छनीय, उस आध्यात्मिक विरह-दशा का भी परिचय कराता है जिसका रसिक भक्त नन्ददास को भी पूर्ण अनुभव था।

इसी समय एक भ्रमर उड़ता हुआ आता है और गोपियों के बीच गुञ्जार करने लगता है।[३] वह गोपियों के अरुण चरणों को लाल कमल जान कर भ्रम से उनके ऊपर बैठने का प्रयत्न करता है। गोपियाँ उस भौंरे को श्रीकृष्ण का दूत मान लेती हैं। वे मुख फेरे बैठी थीं, अब फिर वे भृङ्ग के ऊपर ढालकर उद्धव और श्रीकृष्ण दोनों पर व्यंग्य कसने लगीं—

१—इहि विधि ह्वै आवेस परम प्रेमी अनुरागी,
और रूप प्रिय चरित तहां ते देखन लागीं।
रोम रोम हरि व्यापि के मोहन जिनके आय,
जिनको भूत भविस्य कौं जानत कौन दुराय।
रँगीली प्रेम की।
—भँवरगीत, 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १३३, पाठ-भेद से।

२—देखत उनको प्रेम नेम ऊधौ कौ भाज्यो,
तिमिर भाउ आवेस बहुत अपने मन लाज्यौ।
× × ×
कबहूँ कहै गुण गाइ स्याम के इनहिं रिझाऊँ,
ताते प्रेमाभक्ति श्याम सुन्दर की पाऊँ।
जिहि विधि मोपै रीझ हीं सो विधि करौं बनाय,
ताते मो मन शुद्ध ह्वै दुबिधा ज्ञान मिटाय।
पाइ रस प्रेम कौ।
—भँवरगीत, 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १३३-१३४ पाठ-भेद से।

३—ताही छिन इक भँवर कहूँ ते उड़ि तहँ आयौ,
ब्रज बनितन के पुञ्ज माहिं गुंजत छबि छायौ,
बैठ्यो चाहत पाउँ पै अरुन कमल दल जानि,
मनौं मधुकर ऊधौ भयौ प्रथमहि प्रगट्यो आनि।
मधुप को भेष धरि।
—भँवरगीत, 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १३४।

यह विधि सुमिरि गोविन्द कहत ऊधौ प्रति गोपी ,
भृङ्ग संज्ञा करि कहत सकल कुल लज्जा लोपी ।[1]

भ्रमर पर ढालकर उद्धव और कृष्ण के प्रति कहे हुए व्यंग्य के उद्‌गारों में गोपियों ने ख़ूब कोसा है—उद्धव को उनके कहे हुए अनपेक्षित ज्ञानोपदेश पर, और कृष्ण को उनकी निष्ठुरता पर। कृष्ण के क्रूर व्यवहार पर लक्ष्य कर भौंरे के काले बेष के विषय में एक गोपी कहती है—"हे सखी, जितने काले होते हैं वे सब खोटे होते हैं, इनके हृदय में दया भाव नहीं होता। कृष्ण काले, ज्ञानोपदेश का काला सर्प लानेवाले उद्धव काले, और यह भौंरा, जो मानों अपनी गुञ्जार में उद्धव के ही उपदेश को दुहरा रहा है, काला है। एक श्याम के अङ्ग-स्पर्श से तो आज तक अङ्ग जल रहा है इस पर यह दूसरा श्याम भौंरा योग के काले भुजङ्ग को लेकर और हमारे चरणों को स्पर्श कर हमें और भी व्यथित बना रहा है।"[2]

इसी उपालम्भ और खीज में गोपियाँ भ्रमर के क्रूर पापों को गिनाती है—"हे भ्रमर, तू बड़ा पापी है। तेरा मधुकर नाम तेरे व्यवहार से सार्थक नहीं होता है। तू वास्तव में मधु का करनेवाला नहीं है। तू चोर गँठकटा है। पुष्पों का ख़ून चूसकर तूने पाप कमाया है। अब इतने पाप के बाद ब्रज में किसका घात करने आया है? तू यहाँ से अलग हो जा।"[3] भ्रमर के प्रति गोपियों की इस उक्ति में मुग्धकारी काव्य-रस का अनुभव होता है। "रुधिर पान कियौ बहुत कै"—इस कथन में कवि ने भौंरे द्वारा पुष्पों का रस चूसे जाने का भाव बताया है। परन्तु रस पान के स्थान पर 'रुधिर पान' शब्दों का प्रयोग पुष्पों को वनस्पति जगत से उठाकर मानव जगत में ले आता है। शब्दों के ऐसे ही भाव-भरे

१—'नन्ददास', शुक्ल, १३८ कुछ पाठ-भेद से।

२—कोऊ कहै री विस्व माँझ जेते हैं कारे,
कपटी कुटिल कठोर परम मानस मसिहारे।
एक स्याम तन परसि के जरत आज लौं अङ्ग,
ता पाछे फिरि मधुप यह लायो जोग भुजङ्ग,
कहाँ इनको दया।
—भँवरगीत, 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १३४।

३—कोऊ कहै रे, मधुप, कौन तुम कहै मधुकारी,
लिये फिरत विष जोग गाँठ काटत बेकारी।
रुधिर पान कियो बहुत कै अरुण अधर रंग रात,
अब ब्रज में आये कहा, करन कौन कौ घात।
जात किन पातकी।
—भँवरगीत, 'नन्ददास', शुक्ल पृ० १३६, कुछ पाठ-भेद से।

प्रयोगों से नन्ददास की उर्वरा-कल्पना-शक्ति का तथा प्रकृति-संवेदना का परिचय मिलता है। इस प्रकार व्यंग्य भरे उपालम्भों के बीच गोपियों की वेदना भी अधिक बढ़ जाती है और उनका यह थोड़ी देर का साहस और विनोद, अधीरता में परिणत हो जाता है। वे एक साथ आर्तनाद में रुदन करने लगती हैं और अपने विरह-विदारित हृदय से "हा करुणामय ! हा केशव !!" आदि सम्बोधनों से कृष्ण को पुकारने लगती हैं—

ता पाछे इक बार ही रुदित सकल ब्रजनारि,
हा करुणामय नाथ हा, केशव कृष्ण मुरारि।
फाटि हियरो चल्यो।[1]

गोपियों के इस आत्मनिवेदन और दीनता के स्वर में कवि के हृदय की पुकार भी अपना सहयोग दे रही है। इस स्थल पर गोपियों के इस अनन्य प्रेम का, जो प्रभाव उद्धव के ऊपर पड़ा उसको कवि ने बड़े सुन्दर शब्दों में प्रकट किया है—

उमग्यौ जो कोऊ सलिल सिन्धु अँसुवन की धारनि,
भींजत अम्बुज नीर कंचुकी बहुगुन हारनि।
ताही प्रेम प्रवाह में ऊधव चले बहाय,
भली ज्ञान की मेंड़ हो ब्रज में दीनी आय।
सकल कुल तरि गयो।[2]

प्रेम-सलिल से पूर्ण गोपियों का हृदय-सागर उमगने लगा। शरीर के सात्विक अनुभाव मानों प्रेम सलिल की उमङ्ग-लहरों की प्रवाह-धारा को प्रकट करते थे। इस सलिल में गोपियाँ सराबोर हो गईं और उनके कमल-नेत्र आदि अङ्ग, कञ्चुकी आदि वस्त्र तथा हार आदि आभूषण सब भीज गये। इसी प्रेम के प्रवाह में उद्धव जी भी बहने लगे।

आगे प्रेम-प्रभावित उद्धव के बचनों में कवि ने प्रेम-भक्ति की श्रेष्ठता तथा भक्त-स्वरूपा गोपियों के सत्सङ्ग का पुण्य प्रभाव दिखाया है। गोपियों के सत्सङ्ग से पावन-भूत उद्धव की उत्कट आकांक्षाओं के अङ्कन में कवि ने अपने भी हृदयगत भक्ति-भावों को भावात्मक काव्य-रूप देकर व्यक्त किया है। इस वर्णन में भक्तों को आनन्द मग्न करनेवाली प्रभावोत्पादकता तो है ही, साथ में काव्य-प्रेमियों के लिए भी रसानुभव की यथेष्ट सामग्री उपस्थित है। उद्धव जी कामना करते हैं—"मैं ब्रज की रज बन जाऊँ, जिससे गोपियों के पवित्र चरण मेरे ऊपर पड़ें, अथवा मैं ब्रजबन के वृक्ष लतादि ही हो जाऊँ जिससे इन गोपियों की परछाईं मेरे ऊपर पड़ती रहे। मेरे यह वश की बात नहीं है, यदि वश में होता तो मैंने

१—भँवरगीत, 'नन्ददास, 'शुक्ल, पृ० १३८, कुछ पाठ-भेद से।
२—भँवरगीत, 'नन्ददास, 'शुक्ल, पृ० १३८ कुछ पाठ-भेद से।

कभी का इन वस्तुओं का रूप धारण कर लिया होता। मैं भगवान् से यही वर माँगूँगा।"[1]

उद्धव और गोपियों के भावों का एकीकरण हो गया। उद्धव जी गोपियों के अनुगामी बन गये। उनको गोपियों के संसर्ग का प्रभाव इतना सुखद प्रतीत होने लगा कि उन्हें गोपियों के सम्बन्ध की अथवा उनसे सम्पर्क रखनेवाली प्रत्येक वस्तु आनन्द देनेवाली दीखने लगी। यहाँ तक कि वे (उद्धव जी) वह वस्तु ही बन कर उनके संसर्ग की कामना करने लगे। उद्धव की इस कामना में प्रगाढ़-कृष्ण-भक्त के हृदय की उत्कट आकांक्षा का चित्र अङ्कित है। कृष्ण के लीला-धाम ब्रज की प्राकृतिक वस्तुओं के साथ एक होने की चाह में जो भावाभिव्यक्ति कृष्ण-भक्त कवियों ने की है वह केवल भक्तजनों को ही प्रेम विभोर करनेवाली नहीं है; प्रत्युत सभी भावुक हृदयों को व्यावहारिक जीवन की सज्ञानता से अलग कर, प्राकृतिक रूपों के साथ तादात्म्य की अवस्था के सुखद काल्पनिक जगत में पहुँचाने वाली है। कविवर नन्ददास में भी मानव भावों के आँकने की क्षमता तो है ही, उनमें निष्प्राण प्रकृति में प्रवेश करने और उसे प्राणदान करने की भी शक्ति है। भक्त कवि रसखान भी नन्ददास के इस सुर में स्वर मिलाकर कहते हैं—

मानुस हों तो वही रसखान बसौं नित गोकुल गाँव के ग्वारन,
जो पशु हों तों कहा बसु मेरौ चरौं नित नन्द की धेनु मझारन।
पाहन हों तो वही गिरि कौ जो धर्यो करछत्र पुरन्दर कारन,
जो खग हों तो बसेरौ करौं मिलि कालन्दी कूल कंदब की डारन।[2]

उद्धव जी ने मथुरा वापिस जाकर कृष्ण से गोपियों की प्रेम दशा का वर्णन किया। सखा उद्धव द्वारा गोपियों के विरह-प्रेम की कथा सुनकर जो अवस्था कृष्ण की हुई उसका भी, कवि ने, थोड़े से कविता-पूर्ण शब्दों में मार्मिक वर्णन किया है। उस समय कृष्ण, प्रेम

१—अब रहि हौं ब्रज भूमि की ह्वै मारग की धूरि,
विचरत पद मोपै परै सब सुख जीवन मूरि।
मुनिन हूँ दुर्लभै।
—भँवरगीत, 'नन्ददास, 'शुक्ल, पृ० १३९।

कैधौं होंहु द्रुमलता बेलि बल्ली बन माँही,
आवत जात सुभाय परै मोपै परछाँहीं।
सोऊ मेरे बस नहीं जो कछु करौं उपाय,
मोहन होंहि प्रसन्न जो यह बर मांगों जाय।
कृपा कर दीजिये।
—भँवरगीत, नन्ददास, 'शुक्ल' पृ० १४०, पाठ-भेद से।

२—रसखान-पदावली, हिन्दी प्रेस, पृ० १९।

के आवेश में विभोर हो गये, और गोपियों की याद में अपने को भूल गये। प्रिय और प्रेमी एक प्राण, एक देह बन गये, मानों रोम रोम में गोपियाँ व्याप्त हो गईं। कवि कहता है कि उस समय कृष्ण कल्प-वृक्ष बन गये और गोपियाँ उसके अङ्ग अङ्ग से उमँग कर निकलती हुई पत्तियाँ।

सुनत सखा के बैन नैनि भरि आए दोऊ,
बिवस प्रेम आवेष रही नाहीं सुधि कोऊ।
रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै रहिं साँवरे गात,
कल्प तरोरुह साँवरो ब्रज वनिता भईं पात।
उलहि अंग अंग-ते।[1]

फिर उद्धव से कृष्ण कहने लगे—

मोमें उनमें अन्तरौ एकौ छिन भरि नाहिं,
ज्यों देखों मो माहिं वे तो मैं उनही माहि।
तरंगिनि वारि ज्यों।[2]

इन पङ्क्तियों में उपास्य और उपासक की एकता प्रकट की गई है। 'तरंगिनि वारि' के उदाहरण में कवि ने वल्लभ सम्प्रदाय के अविकृत परिणामवाद और शुद्धाद्वैत सिद्धान्त की ओर सङ्केत किया है।

नन्ददास और सूरदास के भँवरगीतों की तुलना

पीछे कहा गया है कि सूरदास जी ने पदों के अतिरिक्त रोला दोहा के सम्मिश्रण वाले छन्द में भी भँवरगीत की कथा का संक्षेप में वर्णन किया है। छन्दों में गाये हुए सूर के भँवर-गीत में कथा का उतना विस्तार नहीं है जितना कि पदों में गाये हुए भँवरगीत का है। नन्ददास का भँवरगीत सूरदास के छन्दशैली वाले भँवरगीत की तरह ही आरम्भ होता है। इन दोनों भँवरगीतों में कथा, गोपी-उद्धव के मिलन से आरम्भ होती है। पहली पङ्क्ति में उद्धव गोपियों से वार्तालाप करते दिखाई देते हैं—

'ऊधौ कौ उपदेस सुनो ब्रजनागरी।'

यह नन्ददास के भँवरगीत की प्रथम पंक्ति है और

'ऊधौ कौ उपदेस सुनौ किन कान दै।'

यह सूरदास के दोहा रोला छन्द शैली वाले भँवरगीत की प्रथम पंक्ति है।

१—'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १४१ पाठ-भेद से।
२—नन्ददास' शुक्ल, पृ० १४१ पाठ-भेद से।

सूरदास का पदों में लिखा हुआ भँवरगीत एक वृहत् रचना है। यद्यपि उसमें कथा-प्रसङ्गों की पुनरुक्ति अनेक पदों में हुई है फिर भी उसमें भागवत के भँवरगीत की पूरी कथा का समावेश होगया है। मथुरा में, कृष्ण का गोकुल की याद करना, उद्धव जी को सन्देशा देकर भेजना, उद्धव का गोकुल में आना, उनके आने पर नन्द द्वारा उनका स्वागत तथा उद्धव के रथ को देखकर गोपियों का कुतूहल आदि कथा-प्रसङ्ग, पदों में कथित भँवरगीत के आरम्भ में सूरदास जी ने दे दिये हैं। ब्रज में उद्धव के आगमन पर गोपियाँ कृष्ण वेषधारी उद्धव को दूर से देखकर कृष्ण ही समझती हैं। इस स्थल पर प्रिय से मिलन की आतुरता का जैसा भावपूर्ण चित्र सूरदास ने अपने पदवाले 'भँवरगीत' के आरम्भ में अङ्कित किया है वैसा नन्ददास ने नहीं किया। ईस आरम्भिक कथा को उन्होंने छोड़ दिया है जैसा कि सूरदास जी ने भी अपने रोला दोहा वाले कथानक में किया है। सूरदास जी की रचना नन्ददास से पहले की है। दोनों कवियों के 'भँवरगीतों' के तुलनात्मक अध्ययन से मालूम होता है कि नन्ददास पर सूर की रचना का कई अंशों में प्रभाव पड़ा है। 'भँवरगीत' का छन्द तो उन्होंने सूर की रचना से लिया ही है, कुछ स्थानों पर सूर के भावों की भी छाया है।

सूरदास के पद-वाले 'भँवरगीत' में हृदय-पक्ष प्रधान है और नन्ददास के 'भँवरगीत' में बुद्धि पक्ष। सूर की गोपियाँ अपनी विरह-दशा तथा कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भक्ति प्रकट करके ज्ञान और योग मार्गों के पक्षपाती उद्धव को प्रेम-भक्ति की ओर खींचती हैं। नन्ददास के 'भँवरगीत' में गोपियाँ अपने तर्कपूर्ण वादविवाद से उद्धव को हराती हैं। गोपियों की विरह-दशा का जो मार्मिक वर्णन नन्ददास ने किया है वह बहुत थोड़े से छन्दों में ही किया है। सूर ने इस प्रसङ्ग पर अनेक पद लिखे हैं। सम्भव है, नन्ददास जी ने भी इस विषय पर पद रचे हों, परन्तु वे उपलब्ध नहीं है। कीर्तन-संग्रहों के आधार पर नन्ददास जी के जितने पदों का वृहत् संग्रह मथुरा के श्री पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी जी ने किया है और जो पद 'नन्ददास' ग्रन्थ में श्री उमाशङ्कर शुक्ल ने दिये हैं उनमें भी गोपी-विरह-दशा के और 'भँवरगीत' के पद अधिक संख्या में लेखक के देखने में नहीं आये। सूरदास का 'भँवरगीत' मुक्तक शैली में रचा गया है। इसीसे उसमें कथा प्रसङ्गों की पुनरुक्ति है। नन्ददास का 'भँवरगीत' एक प्रबन्ध के रूप में है, इसलिए उसमें पुनरुक्तियाँ नहीं हैं। सूरदास का रोला-दोहावाला 'भँवरगीत' बहुत ही छोटा है, उसमें भाव-चित्रण बहुत न्यून है। भाषा का लालित्य नन्ददास के 'भँवरगीत' में सूर की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है।

सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी।

'रास पञ्चाध्यायी' के विवेचन में कहा गया है कि कृष्ण की रासलीला वर्णन में

नन्ददास की धार्मिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टि प्रधान है। 'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी' का विषय भी कृष्ण की रास-लीला ही है। इस ग्रन्थ में कवि ने कृष्ण, वृन्दावन, वेणु, गोपी और रास की आध्यात्मिक व्याख्या की है। रास का कवितामय चित्र खड़ा करने की ओर कवि का ध्यान नहीं है। श्रीधरस्वामी से लेकर 'श्रीमद्भागवत' के सभी टीकाकारों ने गोपी-कृष्ण रास को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा है और उसे लौकिक काम-त्याग का साधन माना है। इसी भाव को नन्ददास जी ने अपने साम्प्रदायिक विचारों से रँग कर 'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' में, विशद रूप से व्यक्त किया है।

विषय-प्रवेश

ग्रन्थ के शीर्षक से अनुमान होता है कि इसमें पाँच अध्याय होंगे, परन्तु ग्रन्थ के अवलोकन से ज्ञात होता है कि विषय अध्यायों में नहीं बाँटा गया, जैसा कि 'श्रीमद्भागवत' और नन्ददास की दूसरी कृति 'रासपञ्चाध्यायी' में दिया गया है। ग्रन्थ का आरम्भ श्रीकृष्ण की स्तुति से होता है। कृष्ण का स्वरूप क्या और कैसा है, यह विषय बीस रोला छन्द तक दिया गया है। इसके बाद 'रासपञ्चाध्यायी' के अनुसार तथा उसी की शब्दावली में शरद-रात्रि की शोभा का वर्णन है। रास के वातावरण का वर्णन यहाँ विस्तार से नहीं दिया गया। कृष्ण अपनी 'शब्द ब्रह्ममय' बंसी बजाते हैं और गोपियों को रास के लिए प्रेरित करते हैं। गोपियाँ अपने गृह-बन्धनों को त्याग कर कृष्ण के पास जाती हैं। इस स्थान पर कवि ने ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा प्रेम-भक्ति के मार्ग को अधिक सुगम बताया है। गोपियाँ इसी मार्ग को ग्रहण करती हैं और वे सफल होकर आध्यात्मिक साधकों के लिए आदर्श बनती हैं, यहाँ कवि ने उन्हें भक्ति-मार्ग की आचार्या बताया है। आगे कवि ने कहा है—"कृष्ण-रास-लीला में लौकिक शृङ्गार भाव नहीं है इसमें तो निवृत्ति का साधन वर्णित है।" कवि ने रास के अनेक प्रसङ्गों का वर्णन बहुत ही संक्षेप में किया है। अन्त में कवि ने 'रासपञ्चाध्यायी' की तरह रास-लीला का माहात्म्य वर्णन किया है।

नन्ददास ने गोपी-कृष्ण-रास के मनन और अनुकरण को लौकिक प्रवृत्ति का कारण न बताकर निवृत्ति का साधन बताया है। रासपञ्चाध्यायी में कवि ने श्री शुकदेव जी की स्तुति की है और सिद्धान्तपञ्चाध्यायी में, श्रीकृष्ण की। एक में रास-रस लेनेवाले अधिकारी भक्त का रूप दिखाया गया है और दूसरे में स्वयं रस-रूप पूर्ण पुरुषोत्तम कृष्ण का। 'रास-पञ्चाध्यायी में श्री शुकदेव जी के वर्णन के अन्तर्गत रास-रस के अधिकारी भक्त के गुणों का परिचय दिया गया है। यह भक्त सदा हरि की लीला के रस में विभोर रहता है। उसकी आँखें और बाह्य आकृति भगवान् की कृपा के रङ्ग से प्रफुल्लित रहती हैं। उसके कान कृष्ण की रसवती लीला के सुनने में ही संलग्न रहते हैं और हृदय में स्थित, प्रेमानन्द की सूचक मधुर मुस्कान उसके ओष्ठों पर खेलती रहती है। वह विकार रहित होता है और अपनी साधना में शुद्ध

'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' में रास का आध्यात्मिक रूप और उसकी निर्दोषिता

ज्योतिमय हो जाता है।[1] 'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी' और 'रास पञ्चाध्यायी', दोनों ग्रन्थों में नन्ददास ने रास-वर्णन से पहले कृष्ण के स्वरूप को बताया है कि कृष्ण नर नहीं हैं, नारायण हैं। ग्रन्थ के आदि में इस भाव को स्पष्ट करने का ध्येय यही है कि लोग कृष्ण-लीला में नर-चरित्र का भाव न देखने लगें। 'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' में कवि कृष्ण की स्तुति करते हुए कहता है—

"कृष्ण के अपार रूप हैं, अपार गुण हैं और अपार कर्म हैं। यह जगत[2] भगवान् की माया का बनाया हुआ है। पञ्च महाभूत, पञ्च तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, अहङ्कार, मन आदि सब उसी भगवान् की शक्ति-रूपा माया के सृजन किए हुए हैं। वह माया पूर्ण रूप से कृष्ण के अधीन रहती हैं। वही भगवान् की वशवर्तिनी माया विश्व का सृजन पालन और संहार करती है। कृष्ण का स्वरूप जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से परे की तुरीय-अवस्था में प्रकाशित होता है। वही कृष्ण नारायण हैं और वही इस जगत में अनेक अवतार धारण करते हैं। जो कुछ भी इस जगत में विद्यमान है उस सबके आश्रय भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं।[3]" एक और स्थान पर इसी ग्रन्थ में कवि ने कृष्ण के स्वरूप को स्पष्ट किया है—

नहि कछु इन्द्रिय गामी कामी कामिन के बस,
सब घट अंतरजामी स्वामी परम एक रस।
नित्य आत्मानंद अखंड सरूप उदारा,
केवल प्रेम सुगम्य अगम्य अवर परकारा।
× × ×
जैसेई कृष्ण अखंड रूप चिदरूप उदारा,
तैसोइ उज्वल रस अखंड तिनकर परिवारा।

१—'रास पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १२१।

२—वल्लभ-सम्प्रदाय में जगत और संसार में भेद माना गया है। माया भी दो प्रकार की मानी गई है—एक, विद्या माया; दूसरी, अविद्या माया। भगवान् की शक्ति स्वरूपा विद्यामाया से जगत की उत्पत्ति है और अविद्या-माया से संसार की।

३—जै जै जै श्री कृष्ण रूप गुन कर्म अपारा,
परम धाम जग धाम परम अभिराम उदारा।
आगम निगम पुरान स्मृति गन जे इतिहासा,
अवर सकल विद्या विनोद जिहि प्रभु की उसासा।
रूप गंध रस शब्द स्पर्श जे पंच विषय वर,
महा भूत पुनि पंच पवन पानी अम्बर धर।
दश इन्द्रिय अरु अहंकार महतत्व त्रिगुन मन,
यह सब माया कर विकार कहें परम हंस गन।
सो माया जिनके अधीन नित रहत मृगी जस,
विश्व-प्रभव प्रतिपाल प्रलय कारक आयुस बस।

इन उपर्युक्त पङ्क्तियों में कवि ने स्पष्ट कह दिया है कि 'कृष्ण नित्य आत्मानन्द, सदा एक रस, अखण्ड और घट घट में निवास करनेवाले अन्तर्यामी हैं। वे मनुष्य नहीं हैं; न वे काम के वश में हैं और न कामिनी के। वे नित्य रस-रूप में रहने वाले परब्रह्म हैं। उनका नैकट्य केवल प्रेम से मिल सकता है अन्य प्रकार से नहीं, जैसे उनका स्वरूप उज्ज्वल है उसी प्रकार से उनका रस-परिवार (रास मण्डल) भी उज्वल है।'[1] इस प्रकार नन्ददास ने कृष्ण-चरित्र और कृष्ण के रास की लीलाओं की निर्दोषिता की ओर पाठक का ध्यान घुमाया है। 'रास पञ्चाध्यायी' में भी कवि ने कृष्ण के स्वरूप का वर्णन उन्हें ब्रह्म-रूप में देखते हुए ही किया है—

मोहन अद्भुत रूप कहि न आवे छवि ताकी,
अखिल अंड व्यापी जु ब्रह्म आभा है जाकी।
परमातम परब्रह्म सबन के अंतर जामी,
नारायन भगवान धरम कर सब के स्वामी।[2]

"कृष्ण परमात्मा, परब्रह्म और सब के अन्तर्यामी हैं, वे ही नारायण भगवान् हैं और धर्म के नियामक तथा सब के स्वामी हैं। उन्हीं कृष्ण-ब्रह्म की आभा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है।"

'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' में कृष्ण-स्वरूप को स्पष्ट करने के बाद कवि ने भगवान् और सांसारिक जीव का अन्तर भी बताया है—

काल कर्म माया अधीन ते जीव बखाने,
विधि निषेध अरु पाप पुन्य तिन में सब साने।
परम धरम ब्रह्मन्य ज्ञान विज्ञान प्रकासी,
ते क्यों कहिये जीव सदृश श्रुति शिखर निवासी।[3]

"श्री कृष्ण जीव सदृश नहीं हैं। वे काल, कर्म और माया के बन्धन से परे हैं।

जागृत स्वप्न सुषुप्ति धाम परब्रह्म प्रकासैं,
इन्द्रिय गन मन प्रान इनहिं परमातम भासैं।
षटगुन अरु अवतार धरन नारायन जोई,
सबको आश्रय अवधि भूत नन्द नन्दन सोई।
—'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी, 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १८३।

१—'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी, 'नन्ददास, 'शुक्ल, पृ० १८१।
२—'रास-पञ्चाध्यायी,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १२८,१२९।
३—'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १८४।

जीव, काल, कर्म और माया के अधीन हैं और वे विधि-निषेध, पाप-पुण्य आदि विकारों से सने हुये हैं।" जो जीव भगवान् की कृपा के अधिकारी हो जाते हैं वे भगवान् के रस-रूप को प्राप्त करते हैं। कृष्ण ने अपने रस-रूप से अवतार क्यों लिया, इसका कारण कवि नीचे की पङ्क्तियों में देता है—

बहे जात संसार धार जिय फंदे फंदन,
परम तरुन करूना करि प्रकटे श्री नंद नन्दन।[1]

'जीव संसार के माया मोह की धारा में बह कर दुःख के भँवर में पड़े हुये थे, भगवान् नन्द-नन्दन ने उन्हें दुःख से छुटाने और उन्हें शुद्धआनन्द देने को रस-रूप में अवतार लिया।' नन्ददास जैसे वल्लभ-भक्तों का मत है कि कृष्ण ने अपने अनेक अवतारों में से चतुर्व्यूहात्मक रूप धारण कर लोकहित के तथा धर्मसंस्थापन के कार्य किये, दुष्टों के संहार से उन्होंने लोक का दुःख हटा कर उसे सुख-समृद्धि दी, उधर अपनी रसवती बाल और तरुण लीलाओं से लोक को आनन्द-रस में विभोर किया।

रास की घटना-स्थली वृन्दाबन को भी कवि दिव्य रूप में ही देखता है। कवि 'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' में लिखता है—

श्री वृन्दाबन चिद्घन, छन छन घन छवि पावै,
नन्द सुवन करे नित्य सदन श्रुति गन जिहिं गावै।[2]

"श्री वृन्दाबन भगवान् का नित्य सदन है। पुरुषोत्तम कृष्ण का चिद्स्वरूप यह चैतन्य बन घनश्याम की घनी आभा से प्रत्येक क्षण प्रकाशित रहता है, श्रुतियाँ भी इसके गुणों का गान करती हैं।" 'रास पञ्चाध्यायी' में भी कवि ने वृन्दाबन की शोभा को नित्य कहा है और बताया है कि वहाँ के खग, मृग आदि जीव काल और गुण के प्रभाव से मुक्त हैं। पीछे कहा गया है कि वृन्दाबन अथवा गोलोक के दो रूप हैं, एक भगवान् का नित्य अक्षर-ब्रह्म-स्वरूप दिव्य लीला-धाम है जहाँ व्यापक रूप से नित्य लीलाएँ होती रहती हैं, और दूसरा उसी नित्य धाम का अवतारित अनुरूप ब्रज का स्थल वृन्दाबन धाम है। इस लोक में स्थित वृन्दाबन धाम भौतिक है और दूसरा अभौतिक। दोनों का महत्व एक ही है। जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण मायिक जगत में अवतरित होकर माया से अलग रहते है, उसी प्रकार भगवद्धाम-गोलोक-ब्रज का बृन्दाबन भी पृथ्वी पर अवतरित होकर मायिक गुणों से अलग रहता है। 'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' में नन्ददास जी रास-रस के वातावरण तथा उसकी घटना-स्थली वृन्दाबन का दिव्य रूप दिखाते हुए वास्तव में रास की दिव्यता की ओर ही

१—'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १८४।

२—'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १८४।

पाठक के मन को अकृष्ट करते हैं। वृन्दाबन की दिव्यता की और उसके सच्चे स्वरूप के विषय में कवि ने 'रास पञ्चाध्यायी' में कहा है—

बिनु अधिकारी भएँ नाहिं वृंदाबन सूझै,
रेनु कहाँ तै सूझै जब लगि वस्तु न बूझै।
निपट निकट घट में जो अंतरजामी आही,
विषै विदूषित इन्द्री पकरि सकै नहिं ताही।[1]

शरद ऋतु की उज्ज्वल चाँदनी, रात्रि की प्रगाढ़ निस्तब्धा तथा प्रफुल्लित वृन्दाबन की शोभा के बीच कृष्ण ने गोपियों को आमन्त्रित करते हुए वंशीनाद किया। भक्तलोग इस रास का रूपक बाँधते हुए कहते हैं कि माया से मुक्त चित्त वृन्दाबन है, जहाँ मन की शुद्धता शरद-ऋतु की उज्ज्वलता है। रात्रि का समय, चित्त की शान्ति पूर्ण स्थिति है। और वंशी नाद शुद्ध अन्तःकरण से उठने वाली वह प्रेरणा है जो अन्तर्यामी भगवान् की ओर खींचती है। वंशी के शब्द के विषय में नन्ददास जी 'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी' में कहते हैं—

शब्द ब्रह्ममय बेनु बजाय सबै जन मोहे,
सुर नर गन गंधर्व कछु न जाने हम कोहे।[2]

पवित्र आत्मा गोपियों ने इस ब्रह्मनाद को पहचान लिया और वे परमात्मा-मिलन की ओर प्रेरित हुईं। इस वंशीनाद का वर्णन कवि ने 'रास पञ्चाध्यायी' में भी आध्यात्मिक पुट देते हुए ही किया है।[3]

कवि के विचार से गोपियों का प्रेम-मार्ग एक अद्भुत मार्ग है। 'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी' में कवि कहता है कि योगी लोग अष्टाङ्ग-योग-साधन द्वारा शब्द-ब्रह्म तक पहुंचते हैं, परन्तु गोपिकाओं ने उस शब्द-ब्रह्म को प्रेम की तल्लीनता द्वारा ही पहचान लिया। वे इस शब्द-ब्रह्म

१—'रासपञ्चाध्यायी', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १८२।

२—'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' 'नन्ददास' शुक्ल पृ० १८५।

३—तब लीनी कर कमल योग माया सी मुरली,
अघटित घटना चतुर बहुरि अधरन सुर जुरली।
जाकी धुनि ते निगम अगम प्रगटत बड़ नागर,
नाद ब्रह्म की जननि मोहिनी सब सुख सागर।
× × ×
सुनि सब चलीं ब्रजबधू गीत धुनि को मारग गहि,
भवन भीत द्रुम कुंज पुंज कितहूँ अटकी नहि।
—'रास पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६०।

के सहारे ब्रह्म के इस रूप के आगे भगवान् के चिद्रूप लीलाधाम में पहुँच गई। कवि ने शब्द-ब्रह्म-रूप वंशीनाद के श्रवण तथा माधुर्य-भाव के प्रेम के मार्गों को मोक्ष का मार्ग बताया है। जो मोक्ष ज्ञानादि साधनों से मिलती है वही इस प्रेम के 'रँगीले' मार्ग से मिल जाती है।

ज्ञान बिना नहि मुकति यहै पंडित गन गायो,
गोपिन अपनो प्रेम पंथ न्यारौई दिखरायो।[1]

कवि ने यह भी कहा है कि इस विचित्र अमृत-नाद के रसीले रास्ते पर केवल वे ही जा सकते हैं, जिन्होंने गोपियों की तरह अपने को अधिकारी बना लिया है, क्योंकि प्रेम का मार्ग सुखकारक होते हुए भी बड़ा कठिन और सङ्कीर्ण है, इस मार्ग से लोक-वासना के गहरे गर्त में गिरते देर नहीं लगती।

श्रीकृष्ण के साथ रास करने वाली गोपियाँ कैसी आत्माएँ थीं, इसकी व्याख्या भी कवि ने 'रास पञ्चाध्यायी' और 'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी' दोनों ग्रन्थों में की है। 'रास पञ्चाध्यायी' में कवि गोपियों का परिचय देता है—

सुद्ध प्रेम मय रूप पंच भूतन तें न्यारी,
तिनहि कहा कोउ कहै ज्योति सी जग उजियारी।[2]

"भगवान् के लीलाधाम में प्रवेश पाने वाली ये आत्माएँ पञ्च महाभूतों के प्रभाव से मुक्त हो चुकी थीं। उनकी काया शुद्ध प्रेम मय हो गई थी। उन्होंने, लोक वेद की सुदृढ़ शृङ्खला तृणसम तोरी थी।" 'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' में कवि गोपियों के विषय में कहता है—

धरम अरथ, अरु काम कर्म ये निगम निदेसा,
सब परिहरि हरि भजत भई करि बड़ उपदेसा।[3]

ब्रज की सभी गोपियों ने एक समान न तो मुरली नाद को सुना, न उसे समझा और न सबने उसे सुनकर एकसा व्यवहार ही किया—

मोहन मुरली नाद श्रवन कीनो सब किन हूँ,
यथा यथा विधि रूप तथा विधि परस्यो नितहूँ।[4]

कुछ ने तो इस नाद को सुना-अनसुना कर दिया। जैसे सूर्य की किरणें मणि और पत्थर सभी पर पड़ती हैं, परन्तु किरणों को छूकर आग केवल सूरज-कान्ति-मणि, 'आतिशी शीशे' में ही निकलती है। उसी प्रकार भगवद्-कृपा की अधिकारिणी गोपियों को ही

१—'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १०६।
२—'रास पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६०।
३—'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १८५।
४—'रासपञ्चाध्यायी,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १६०, पाठ-भेद से।

भगवद्-मिलन की प्रेरणा हुई। इसी प्रकार भगवान् के प्रेम के जिज्ञासु भक्तों में से, वही इस प्रेरणा की ओर उन्मुख होते हैं, जिनकी जिज्ञासा बहुत आगे बढ़ी होती है—

तरनि किरन ज्यों मनि पखान सबहिन कौं परसै,
सुरज कान्ति मनि बिना नहीं कहुँ पावक दरसै।[1]

जिन गोपियों ने इस नाद को और ईश्वरीय प्रेरणा को पहचान लिया उनमें से भी कुछ कुलकान और लोक लज्जावश कृष्ण के पास न जा पाईं, परन्तु उनको कृष्ण-मिलन की आकुलता बराबर सालती रही। कवि ने ऐसी आत्माओं को अपने साधन में कच्चा बताया है। ऐसी आत्माएँ पुण्य और पाप से बने शरीर में बँधी हुई थीं, इसीलिए वे भगवान् के इस प्रेमरस को पचाने में असमर्थ रहीं—

जे रुकि गईं घर अति अधीर गुनमय शरीर बस,
पुण्य पाप प्रारब्ध रच्यो तन नाहिं पच्यो रस।[2]

इस ग्रन्थ में कवि ने, कृष्ण-रास में प्रवेश पानेवाली गोपियों के परिचय को और भी अधिक स्पष्ट किया है। ये गोपियाँ लोक-लाज और लोकबंधन से छुट चुकी हैं। उन्होंने काम को जीत लिया है। कामोद्दीपन की सामग्री और उसके अनुकूल वातावरण रहते हुए भी वे काम रहित हैं। वे आप्त-काम हैं। उनका प्रेम ससीम से निस्सीम हो गया है। गोपियों का स्वरूप उस समय और भी स्पष्ट होता है, जब कृष्ण ने उन्हें स्त्री-धर्म का उपदेश देकर अपने पति-पुत्रों के पास वापिस जाने को कहा। तब वे उत्तर देती हैं—"हे प्रिय, हम आपका नैकट्य पा चुकीं। अब हमें धर्म की आवश्यकता नहीं है। धर्म के आचरण से मन और बुद्धि शुद्ध होते हैं। शुद्ध बुद्धि से सत्य ज्ञान उत्पन्न होता है। उस सत्य ज्ञान से आत्मा को आनन्द प्राप्त होता है और तब आपके प्रति दृढ़ प्रेम-भक्ति उत्पन्न होती है। प्रेम-भक्ति ही आपका नैकट्य प्रदान करती है। हम इन सब अवस्थाओं को पार कर चुकी हैं। तब आप क्यों हमें स्त्री-धर्म का आचार सिखाते हैं? आप तो स्वयं इन सब साधनों के फल

१—'रासपञ्चाध्यायी,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १६०, पाठ-भेद से।

२—'रासपञ्चाध्यायी,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १६०, पाठ-भेद से।

नोटः—'श्री सुबोधिनी भागवत टीका' में श्री वल्लभाचार्य ने भागवतकार के शब्दों में ही कहा है कि गोपियाँ कृष्ण के पास गृह-बन्धनों के कारण न जा सकीं। उनके शरीर पाप और पुण्य से निर्मित थे, परन्तु उन्होंने मानसिक भावना में ही कृष्ण के संयोग और वियोग का अनुभव किया। उनकी विरहानुभूति की अपार दुःखाग्नि में उनके पापों का क्षय हुआ तथा मानसिक संयोग सुखानुभूति में उनके पुण्य कर्मों का क्षय हुआ। इस प्रकार वे कर्म बन्धन से मुक्त होगईं।
—'श्री सुबोधिनी टीका' अध्याय २६, श्लोक १०।

स्वरूप हैं। हमें फल मिल गया। अब हम केवल आपके अनुरूप बना चाहती हैं। लौकिक-व्यवहार, धर्म, स्त्री, पुत्र, घर, पति आदि के संसर्ग से सच्चा सुख नहीं मिलता। ये तो वस्तुतः संसार-दुःख के ही कारण हैं।"[1] इस उत्तर में गोपियों ने कृष्ण के प्रेम को पाने का दावा किया। परन्तु कृष्ण ने उन्हें उसी समय अङ्गीकार किया जब उनकी पूर्ण परीक्षा ले ली। उन्होंने एक परीक्षा गोपियों के विषय-वासना से मुक्त होने की और दूसरी उनके अहङ्कार-नाश की ली। प्रथम परीक्षा में जैसा कि पीछे कहा गया है, काम की समस्त सामग्री उपस्थित होते हुए भी वे अनङ्ग गोपियाँ निष्काम कृष्ण के संसर्ग में काम रहित बनी रहीं—

लटकि लटकि जब ब्रजबाला लाला उर झूलीं,
उलटि अनंग अनंग दह्यो, तब सब सुधि भूलीं।[2]

गोपियों के अहङ्कार-नाश की परीक्षा कृष्ण ने उन्हें थोड़ी देर के लिए विरह में डाल, कर ली। रास में उन्हें उन्मत्त बनाकर कृष्ण छिप गये। थोड़ी देर गोपियों ने कृष्ण को ढूढ़ने का प्रयास किया, अपनी शक्ति-सामर्थ्य का भरोसा किया। उन्होंने अहम्भाव से प्रेरित होकर कृष्ण को खरा खोटा भी कहा; परन्तु जब सब उपाय निष्फल हो गये, तब विरह-वेदना, दीनता और करुणा में बदल गई। फिर वेदना का भी विस्मरण हो गया। सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त कृष्ण की मधुर मुसकान की आभा उन्हें प्रफुल्लित बनाने लगी। उन्होंने देखा मानो सम्पूर्ण प्रकृति उस अखण्ड रस-रूप-घनश्याम की रस-वर्षा से ही सिञ्चित होकर फूल रही है, तथा सर्वत्र उसी का स्पर्श है—

१—धरम करों दृढ़ ताकौ जो धर्महि रति होई,
जा धरमहि आचरत समझ मन निर्मल होई।
मन निर्मल भये सुबुधि तहाँ विग्यान प्रकासै,
सत्य ज्ञान आनन्द आतमा तब आभासै।
तब तुम्हरी निज प्रेम भगति रति अति है आवै,
तौ कहुँ तुम्हरे चरन कमल को निकटहि पावै।
तिन कहुँ हो तुम प्राणनाथ फिरि धर्म सिखावौ,
समझि कहौ पिय बात चतुर सिर मौर कहावौ।
दारगार सुत पति इन करि कहु कवन आहि सुख,
बढ़ै रोग सम दिन दिन छिन छिन देहि महादुख।
—'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास' शुक्ल पृ० १८८।

'रास पञ्चाध्यायी' की पंक्तियों में भी गोपी कहती हैं—
धरम नेम जप तप संयम सब फलहि बतावै,
यह कहुँ नाहिंन सुनी जो फल फिर धर्म सिखावै।
—'रास पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास', शुक्ल, पृष्ठ १६४।

२—'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६४, पाठ-भेद से।

पूछहु री इन लतन फूलि रहीं फूलन जोई
सुन्दर पिय के परस बिना अस फूल न होई

अब निस्साधन-अवस्था में केवल कृष्ण कृपा के भरोसे वे उनका गुण गान करने लगीं। गान-कीर्तन में उनको इतना आत्मविस्मरण हुआ कि उनका 'अहं' बिलकुल मिट गया। कवि कहता है कि कृष्ण का विरह वास्तव में प्रेम के उत्कर्ष को बढ़ानेवाला है, इस विरह में जो सुख और आनन्द है उसके सामने अन्य सब प्रकार के आनन्द हेच हैं।

कृष्ण विरह नहिं विरह प्रेम उच्छलन कहावे,
निपट परम सुख रूप इतर सब रस बिसरावै।[२]

प्रेम-भक्ति करनेवाले महात्माओं का सिद्धान्त भी यही है कि भगवान् के विरह में रहे बिना अहङ्कार नहीं मिटता और अहङ्कार के मिटे बिना भगवान् नहीं मिलते। भक्त-लोग भगवान् के संयोग का आनन्द तभी पाते हैं जब वे सांसारिक काम-वासनाओं को जीत लेते हैं और अहङ्कार को मिटा कर भगवान् का अनन्याश्रय ग्रहण करते हैं। थोड़ी देर के विरह के बाद जब गोपियों को कृष्ण का संयोग मिलता है, 'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी' में उस समय के वर्णन में नन्ददास जी ने उत्प्रेक्षाएँ अधिकतर 'श्रीमद्भागवत' से ही ली हैं; परन्तु यह वर्णन भी गोपी-रास में गोपी-कृष्ण के संयोग को लौकिक शृङ्गार की परिधि से निकाल कर आध्यात्म के विस्तृत क्षेत्र में ले जाता है—

साँवरे प्रिय कर परस पाइ सब सुखित भई यों,
परम हंस भागवत मिलत संसारी जन यों।
जैसे जागत स्वप्न सुषुप्ति अवस्था में सब,
तुरिय अवस्था पाइ जाइ सब भूलि गई तब।

× × ×

पुनि ब्रजसुन्दरि सँग मिलि सोहत सुंदर वरयों,
सक्ति अनेक करि आवृत सोहत परमातम ज्यों।[३]

कृष्ण-मिलन में गोपियों की तुरीय-अवस्था की दशा हो गई, जहाँ कामनाओं का शमन और मनोरथों का अन्त है। उस समय कृष्ण इस प्रकार शोभित थे जैसे अनेक शक्तियों से युक्त परमात्मा। वल्लभ-सम्प्रदाय में भी यही मान्य है कि कृष्ण परब्रह्म परमात्मा हैं और गोपी उनकी आनन्द-प्रसारिणी शक्तियाँ। रास-लीला को सुनते सुनते राजा परीक्षित श्री शुकदेव जी से एक प्रश्न पूछते हैं—"हे मुनि, इस बात का समाधान कीजिये कि जो कृष्ण को ब्रह्म-रूप न समझ कर, यार, अथवा पति-रूप मानते हैं वे भगवान् हरि को कैसे पाते हैं?"

१—'रास-पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६८।

२—'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १८६।

३—'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १९२।

इसका उत्तर श्री शुकदेव जी ने यह दिया—"हे राजन्, भगवान् तो सभी भावों से प्राप्त हो सकते हैं, केवल हृदय में उनका ध्यान सतत होना चाहिए। कृष्ण के द्रोही शिशुपाल ने द्रोह से उनका सतत ध्यान किया और फिर उसने मुक्ति पाई।" 'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' में नन्ददास ने यही भाव प्रकट किया है।[1]

जो निःसीम आनन्द गोपियों को कृष्णरास में मिला अथवा जो सुख माधुर्य-भाव से भजनेवाले भक्त पाते हैं, भक्तों का कहना है कि वह आनन्द लौकिक सादृश्य और लौकिक भावों के प्रतीकों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से प्रकट ही नहीं किया जा सकता। इसीलिए इस प्रकार के माधुर्य-भक्ति पूर्ण आध्यात्मिक भाव के चित्रण में लौकिक शृङ्गार का रूप सामने आता है, वास्तव में इसकी तह में छिपा रहता है अलौकिक भाव ही। कवि ने इस लोक से हटे हुए रास का, विराटमय रूप 'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' में इस प्रकार अङ्कित किया है—"इस रास का विस्तार निस्सीम है। काल-चक्र भी रास के विस्तार के साथ नहीं चल पाता। इस रहस्यमय रास को समझने में समय के साथ चलनेवाली बुद्धि असमर्थ और थकित है; इस रास का रस (आनन्द) लोकानन्द से परे एक अद्भुत आनन्द है जो सतत है और शेष के सहस्र मुख भी जिसका वर्णन करने में शक्तिहीन हैं।"[2] कवि ने रास की स्थिति काल से

१—येन केन परकार होइ अति कृष्ण मगन मन,
अनाकर्न चैतन्य कछु न चितवै साधन तन।
महाद्वेष करि महाशुद्ध शिशुपाल भयो जब,
मुक्त होत वह दुष्टपनौ कछु संग न गयौ तब।
ज्ञानकांड में परमेश्वर विज्ञान परम सुख,
बिसरि गयो सब काम्य कर्म अज्ञान महादुख।
तैसेइ गोपी प्रथम काम अभिराम रसीं रस,
पुनि पाछे निःसीम प्रेम जिहि कृष्ण भये बस।
—'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास', 'शुक्ल', पृ० १६२-१६३।

२—रीझि शरद् की रजनी, न जनी केतिक बाढ़ी,
बिरहत सजनी स्याम यथारुचि अति रति बाढ़ी।
थके उड़प अरु उड़गन उनकी कौन चलावै,
काल चक्र पुनि चकित थकित भयो मरम न पावै।
अद्भुत रस रह्यो रास कहत कछु कहि नहिं आवे,
सेस सहस मुख गावै अजहूं अन्त न पावै।
—'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास, शुक्ल, पृ० १६५।

'रास पञ्चाध्यायी' में कवि रास के आध्यात्मिक-भाव को प्रकट करते हुए कहता है—
नित्य रास रस मत्त नित्य गोपी जन वल्लभ,
नित्य निगम जो कहत नित्य नव तन अति दुर्लभ।
—'रास पञ्चाध्यायी,' 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १८१, पाठ-भेद से।

भी अतिक्रान्त बताई है। गोपी-कृष्ण का यह रास नित्य (Eternal) है जिसमें गोपी, कृष्ण, और रास का रस ये सब नित्य हैं। 'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी' में रास-रस के विषय में कवि कहता है कि यह रास-रस सब रसों का सार-रस है।

अवधि भूत गुन रूप नाद तरजन जहँ सोई।
सब रस को निर्यास रास रस कहिए होई।[1]

प्रस्तुत ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय के अन्तर्गत 'रास-प्रकरण' में पीछे 'रास की निर्दोषिता' पर भागवत्कार तथा श्रीवल्लभाचार्यजी के इस विषय में विचार देते हुए, कुछ विचार प्रकट किये गए हैं। रासलीला पर जो अश्लीलता और अमर्यादा का दोषारोपण है वह वस्तुतः केवल लोक-दृष्टि को लेकर ही है। नन्ददास ने इन आक्षेपों के परिहार के लिए तथा लोक-दृष्टि को छोड़ कर आध्यात्मिक दृष्टि से रास की दिव्यता समझाने को इस ग्रन्थ की रचना की है। सब से बड़ा तर्क जो बहुधा सभी भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने इस पक्ष में दिया है और जिस पर नन्ददास ने भी इस ग्रन्थ में जोर दिया है वह यही है कि कृष्ण ईश्वर हैं और गोपी लौकिक आत्माएँ नहीं हैं, वे सिद्ध आत्माएँ हैं। उनके विश्वासानुसार यह आत्मा और परमात्मा का, गोपी और कृष्ण का 'आनन्दास्वाद' रूप 'रास' नित्य है। रास की निर्दोषिता दिखाते हुए कवि कहता है कि भक्त और भगवान् दोनों एक रङ्ग में रँगे हुये हैं, कृष्ण इन्द्रियगामी कामी पुरुष नहीं है, और भगवान् के भक्त भी, भगवान् की तरह, काम से रहित होते हैं।[2] रास-कथा में व्यक्त हुए शृङ्गार भाव के विषय में कवि इसी ग्रन्थ में कहता है—

नाहिंन कछु शृंगार कथा इहि पञ्चाध्याई,
सुन्दर अति निरवृत्ति परातैं इती बड़ाई।
जिन गोपिन को प्रेम निरखि सुक भये अनुरागी,
ब्रह्मानन्द मगन ते निकसे ह्वै बैरागी।
× × ×
जे पंडित शृंगार ग्रन्थ मत यामें सानैं,
ते कछु भेद न जाने हरि कों विषई मानैं।
अनाकृष्ट मन कृष्ण दुष्ट मद हरन पियारे,
जहं जहं उज्वल परम धरम ताके रखवारे।[3]

१—'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १८४, पाठ-भेद से।

२—सघन सच्चिदानन्द नन्दनन्दन ईश्वर जस,
तैसेई तिनके भगत जगत में भये भरे रस।
नहिं कछु इन्द्रियगामी कामी कामिनि के बस,
सब घट अन्तर्यामी स्वामी परम एकरस।
—'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास,' 'शुक्ल,' पृ० १८४ तथा १९१

३—'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास', शुक्ल पृ० १८६, १८७।

"जो लोग इसमें श्रृङ्गार-कथा का आरोप करते हैं, वे वास्तव में कृष्ण के स्वरूप को तथा कृष्ण-भक्ति में माधुर्य-भाव के रहस्य को नहीं जानते। यह कथा निवृत्ति की पराविद्या है।"

'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी' में नन्ददास ने लोगों को सावधान किया है कि वे कृष्ण-लीला के श्रृङ्गारमय काव्य को लौकिक बुद्धि हटाकर पढ़ें, अन्यथा न पढ़ें। यदि राधाकृष्ण के सम्बन्ध को लौकिक रूप देकर वर्णन किया जाय और उसमें किसी आध्यात्मिक भाव के आरोप की ओर कवि सङ्केत न करे तो वास्तव में साधारण मनुष्य की अधोगामिनी प्रवृत्ति इस वर्णन में लौकिक विषयों की उत्तेजना का ही प्रभाव पायेगी। इस ग्रन्थ में कवि पाठकों से प्रार्थना करता है—"हे प्रेमरस के रसिक सज्जनों! आप इस कथा को भावुक (सरस) मन से सुनें और इसके सुनने से जो आनन्द मिले, उस आनन्द और रास के भाव पर भली भाँति विचार करें"—

हो सज्जन सब रसिक सरस मन कै यह सुनियो,
सुनि सुनि पुनि आनन्द हृदै ह्वै नीके गुनियो।[1]

'रास पञ्चाध्यायी' के अन्त में भी कवि ने कहा है—"यह उज्ज्वलरस का वर्णन मेरे श्रवण, कीर्तन, ध्यान, सुमिरण आदि भक्ति के साधनों का फल है और इसमें मैंने अपने ज्ञान का अनुभूत सार व्यक्त किया है। इसे सावधान होकर धारण करो।"[2] कवि ने सावधान इसीलिए किया है कि कहीं लोग रास के भाव को लौकिक श्रृङ्गार का उद्दीपन न बना लें और लौकिक वासना से निवृत्त होने के स्थान पर उसमें और भी न फंस जायँ।

अन्त में कवि 'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी' में कहता है कि जो लोग इस रास-रूपी कमल-रस के भ्रमर बन गये हैं उन्हें सांसारिक विलास और विषय नीरस, और घृणापूर्ण प्रतीत होने लगे हैं—

सकल रास मंडल रस के जे भँवर भये हैं,
नीरस विषै विलास छिया करि छाँड़ि दिये हैं।[3]

पीछे कहा जा चुका है कि 'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' में कवि का ध्यान उतना काव्य-रस-संचार की ओर नहीं है जितना कि 'रास पञ्चाध्यायी' के ऊपर होनेवाले आक्षेपों के परिहार की ओर है। फिर भी कवि ने अपने तर्कपूर्ण विषय को उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कार और कोमल-पदावली के प्रयोग से सरस बनाया है।

१— सिद्धान्त पञ्चाध्यायी', नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६५, पाठ-भेद से।
२—'रास पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १८२।
३—'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६५।

नन्ददास-पदावली

वल्लभसम्प्रदायी कीर्तन-संग्रह, और 'नन्ददास' ग्रन्थ में प्रकाशित तथा हस्त-लिखित रूप में उपलब्ध, नन्ददास के पदों के अध्ययन के आधार पर नन्ददास द्वारा वर्णित मुख्यतः निम्नलिखित विषय हैं—

१—गुरु स्तुति। श्री वल्लभाचार्य, गोस्वामी विट्ठलनाथ तथा उनके कुल के सम्बन्ध के पद।

२—यमुना-स्तुति।
३—लीला-पद—कृष्णजन्म-बधाई।
४—लीला-पद—पालना, बालरूप।
५— ,, ,, —गोचारण।
६—लीला पद—गोदोहन।
७— ,, ,, —पनघट।
८— ,, ,, —दान-लीला।
९— ,, ,, —हिंडोला।
१०— ,, ,, राधाकृष्ण-अनुराग, केलि।
११—कृष्ण-रूप-वर्णन।
१२—राधा-रूप-वर्णन।
१३—राधाकृष्ण का विवाह-वर्णन।
१४—रास।
१५—राधा-मान।
१६—होली, फूल मण्डली, बसन्त।
१७—खण्डिता।
१८—मल्हार, वर्षा।
१९—दीपमालिका, अक्षय तृतीया आदि त्योहार।

उक्त विषय सूची के देखने से पता चलता है कि नन्ददास ने निम्नलिखित उन विषयों पर पद रचना नहीं की, जिन पर सूर ने बहुत पद लिखे हैं—

१—ईश्वर वन्दना, आत्मप्रबोध, विनय आदि।
२—कृष्ण की असुर-संहार लीलाएँ।
३—विरह के तथा भ्रमरगीत के पद।

ऊपर कहे विषयों पर जो पद कवि ने लिखे हैं उनमें से कुछ पद तो काव्य की दृष्टि से बहुत सुन्दर रचनाएँ हैं। उन पदों में भाषा और भाव, दोनों की दृष्टि से कवि एक कलाकार के रूप में हमारे सामने आता है। कुछ ऐसे भी पद हैं जो बहुत साधारण कोटि के हैं, जैसे बाललीला के पद। इन पदों में बाल-स्वभाव और बाल-चेष्टाओं का वैसा सूक्ष्म और मोहक चित्रण नहीं है जैसा सूरदास और परमानन्ददास की रचनाओं में मिलता है। इसी प्रकार जैसा सुन्दर और आदर्श रास का चित्रण नन्ददास ने अपनी 'रास पञ्चाध्यायी' में कियाहै वैसा भाव और भाषा की दृष्टि से सजीव चित्रण उनके पदों में नहीं है। जिन विषयों पर, लेखक के विचार से, उनके पद सुन्दर, सरस और भाषा की दृष्टि से आकर्षक बन पड़े हैं वे कृष्ण-जन्म-बधाई, हिंडोला, खण्डिता-भाव, रूप-वर्णन, मल्हार तथा बसन्त होली के हैं। होली-बसन्त के वर्णन में कवि ने राधा और कृष्ण की होली तथा उनकी संयोग-लीला के

चित्रण बहुत तल्लीनता के साथ किये हैं। इन विषयों के पद, वास्तव में, भाव, वर्णन और भाषा की दृष्टि से काव्यमय हैं।

कृष्ण-जन्म बधाई पर नन्ददास के निम्नलिखित पद में उस समय के उत्सव का कवितामय वर्णन हुआ है। पद की भाषा में भावमयता, आलङ्कारिकता, सजीवता तथा लय है। वर्णन विशद है और अवसर के अनुकूल है। इस पद में नन्ददास की 'रास-पञ्चाध्यायी' की पदावली का सा सौष्ठव है—

जुरि चली हैं बधावन नंद महर घर सुन्दर ब्रज की बाला।[1]

इसी प्रकार की राधा और कृष्ण-जन्म की कवि द्वारा लिखित अनेक बधाइयाँ वर्षोत्सव कीर्तन-संग्रहों में उपलब्ध हैं।

हिंडोला

इस प्रसङ्ग के कुछ पदों में नन्ददास ने वर्षा ऋतु के हिंडोले के शब्द-चित्र अच्छे दिये हैं। सभी पद एक समान सुन्दर नहीं हैं। नीचे लिखे पद में, विषय साधारण है, परन्तु भाषा मधुर है—

१—जुरि चली हैं बधावन नन्द महर घर सुन्दर ब्रज की बाला,
कंचन थार हार चंचल, छबि कहि न परत तेहि काला।
डह डहे मुख कुमकुम रंग रञ्जित राजत रस के ऐना,
कंजन पर खेलत मनों खंजन अञ्जन युत बने नैंना।
दमकत कण्ठ पदिक मनि कुण्डल नवल प्रेम रङ्ग बोरी,
आतुर गति मानों चन्द उदे भयो धावत त्रिषित चकोरी।
खसि खसि परत सुमन सीसन ते उपमा कहा बखानों,
चरन चलन पर रीझि चिकुर वर बरखत फूलन मानों।
गावत गीत पुनीत करत जग जसुमति मन्दिर आइ,
बदन बिलोकि बलैयां लै लै देत असीस सुहाइ।
मङ्गल कलश निकट दीपावलि ठांव ठांव देखि मन भूल्यो,
मानों आनन्द नन्दसुवन के सुवन फूल ब्रज फूल्यो।
ता पाछें गन गोप ओप सों आये अति से सोहैं,
परमानन्द कन्द रस भीने निकर पुरन्दर को हैं।
आनन्दघन ज्यों गाजत राजत बाजत दुन्दुभी भेरी,
राग रागिनी गावत हरखत बरखत सुख की ढेरी।
परमधाम जगधाम श्याम अभिराम श्री गोकुल आये,
मिटि गये द्वन्द्व नन्ददासन के भये मनोरथ भाये।

—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० ३२८ तथा कीर्तन-संग्रह भाग १,
वर्षोत्सव-कीर्तन, देसाई, पृ० २४।

हिंडोरे माई झूलत गिरिधर लाल ,
संग राजत वृषभानु नंदिनी अंग अंग रूप रसाल ।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल उर मुक्ता बनमाल ,
रमकि रमकि झूलत पिय प्यारी सुख बरसत तिहि काल ।
हँसत परस्पर इत उत चितवत चंचल नैंन विसाल ,
नन्ददास प्रभु की छवि निरखत बिबस भई ब्रजबाल ।

खण्डिता-भाव के विषय पर अष्टछाप के सभी कवियों ने पद लिखे हैं और अधिक संख्या में लिखे हैं। प्रिय की 'बेवफाई' की शिकायतों में प्रेमियों को एक प्रकार का कसक-भरा सुख मिला करता है। इन उपालम्भों से प्रेम का बन्धन ढीला नहीं होता, प्रत्युत कसता ही जाता है। इसीलिए प्रेमी-भक्तों ने भी अपने प्रिय भगवान् के ऊपर उसकी कल्पित निष्ठुरता तथा 'बेवफ़ाई' पर ताने दिये हैं। नन्ददास ने भी गोपियों के खण्डिता भाव को अनेक पदों में अङ्कित किया है। इस प्रसङ्ग के पदों में वर्णित विषय तथा गोपियों की शिकायत के साथ, रात्रि को अन्यत्र जागे हुए कृष्ण के उनींदे नेत्र, अटपटी चाल, मरगजे वस्त्र तथा विकृत वेष-भूषा का वर्णन आया है। इस विषय पर भी नन्ददास के कुछ सुन्दर पद हैं, जिनके उदाहरण यहाँ फ़ुटनोट में दिये हुए हैं।[2]

खण्डिता-भाव

१—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० ३३५।

२— राग विभास

ढीले ढीले पग धरत, ढीली पाग ढरकि रही,
ढये से हि फिरत ऐसें कोन पें जु ढहे हो।
गाढे तो हीय के पीय ऐसी गाढी कोन त्रीय,
गाढे गाढे भुजन बीच गाढे कर गहे हो।
लाल लाल लोयन में उनींदे लाग लाग जात,
साँची कहो प्राणपति में तो लाल लहे हो।
नन्ददास प्रभु पिय निश के उनींदे आये,
भये प्रात कहो बात रात कहाँ रहे हो।

—'नन्ददास', शुक्ल, पृ० ४०१।

जागे हो रैन तुम सब, नयना अरुण हमारे,
तुम कियो मधुपान घूमत हमारो मन काहे ते जु नन्द दुलारे।
उर नख चिन्ह तुम्हारें, पीर हमारे कारण कोन पियारे,
नंददास प्रभु न्याय स्यामघन बरषे अनिनत जाय हम पर झूम झूमारे।

—'नन्ददास' शुक्ल, पृ० ४०१।

इस पद में, कारण कहीं और कार्य कहीं अन्यत्र, भाव को दिखाकर 'विभावना' द्वारा उपालम्भ-भाव की सुकुमारता को कवि ने बढ़ा दिया है।

रूपमाधुरी विषय पर भी अष्टछाप के सभी कवियों ने अनेक पद लिखे हैं। इस प्रसङ्ग में कृष्ण के रूप-वर्णन के साथ, गोपियों के मन पर पड़नेवाली इस रूपकी माधुरी और ठगोरी का भी मुग्धकारी वर्णन हुआ है। कृष्ण के रूप और उसकी मोहिनी का वर्णन दो प्रसङ्गों में विशेष रूप से आया है— एक, गोचारण के बाद कृष्ण के रूप की माधुरी; दूसरे, पनघट अथवा यों ही रास्ते चलते उसके रूप का प्रभाव। नन्ददास ने इन दोनों अवसरों पर कृष्ण-रूप का वर्णन किया है। छैलछबीला कृष्ण गाएँ चराकर लौट रहा है। गायों को हाँकते हुए, वह अटारियों पर बैठी और उसकी शोभा पर रीझी हुई गोपियों से भी इशारों से बातें करता जाता है। इस सम्पूर्ण चित्र को नन्ददास ने सुन्दर भाषा में अङ्कित किया है। चित्र का भाव चाहे जैसा हो, परन्तु द्रष्टव्य विषय इस पद में कवि की चटकीली भाषा है—

रूप-माधुरी

हाँके हटक हटक गाय ठठक ठठक रहीं,
गोकुल की गली सब साँकरी।
जारी अटारी झरोखन मोखन झाँकत,
दुर दुर ठोर ठोर ते परत काँकरी।
चंपकली कुंदकली बरखत रस भरी,
तामें पुन देखियत लिखे हैं आँकरी।
नंददास प्रभु जहीं जहीं द्वारे ठाढे होत तहीं तहीं बचन माँगत,
लटक लटक जात काहूसों हाँकरी काहू सों नाकरी।

इसी प्रसङ्ग का नीचे फुटनोट में दिया हुआ पद[2], भाव और भाषा दोनों प्रकार के लालित्य से पूर्ण है।

पनघट पर पानी भरने जाती अथवा आती हुई गोपियाँ रास्ते में कृष्ण-रूप पर रीझ जाती हैं। कवि ने इस समय के कृष्ण-रूप तथा गोपियों की आसक्त-अवस्था का बहुत ही

१—'नन्ददास,' 'शुक्ल, पृ० ४१०।

२—देखन देत न बैरिन पलकें,
निरखत बदन-लाल गिरिधर को बीच परत मानों बज्र की सलकें।
बनतें आवत बेणु बजावत गोरज मंडित राजत अलकें,
माथे मुकुट श्रवण मणि कुंडल ललित कपोलन झाईं झलकें।
ऐसे मुख देखन कों सजनी कहा कियो यह पूत कमल कें,
नंददास सब जड़न की यह गति मीन मरत भायें नहिं जल कें।

—'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० ४१२।

मनोहर वर्णन किया है। नीचे पद में कृष्ण-रूप पर मोही हुई एक ग्वालिन का चित्र सराहनीय है—

गोकुल की पनिहारी, पनियाँ भरन चली ,
बड़े बड़े नयना तामें खुभि रह्यो कजरा ।
पहिरे कुसुंभी सारी अंग अंग छबि भारी ,
गोरी गोरी बहियन में मोतिन के गजरा ।
सखी संग लिये जात हँस हँस बूझत बात ,
तनहुँ की सुधि भूली सीस धरे गगरा ।
नंददास बलिहारी बीच मिले गिरिधारी ,
नयन की सेन में भूलि गई डगरा ।[1]

कोई गोपी जमुना से जल भर कर आरही थी, सुन्दर श्याम-रूप का किसी का लड़का उसे मिल गया। देखते ही उसे चेटक सा लग गया। उस दिन से उसका मन उस मोहन-रूप में इस तरह विलीन हो गया जैसे समुद्र में डाला हुआ पानी। इस भाव को कवि नीचे फुटनोट में लिखे पद में देता है[2]।

राधा के रूप का भी निम्नलिखित पद में कवि ने सुन्दर वर्णन किया है। इस पद आए हुए उत्प्रेक्षा अलङ्कार ने राधा के शृङ्गार को सजा दिया है—

चिबुक कूप पिय मन पर्‌यो अधर सुधा रस आस ,
कुटिल अलक लटकत काढ़न को कंटक डार्‌यो (बाँध) प्रेम के पास ।
चंचल लोचन ऊपर ठाढ़े हैं अंचन को मानो मधु हास ।
नंददास प्रभु प्यारी छबि देखें बढ़िहै अधिक पियास ।[3]

१—'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० ४०९ ।

२—आवति ही यमुना भरे पानी ,
स्याम रूप काहू को ढोटा बाँकी चितवनि मेरी गैल भुलानी ।
मोहन कह्यो तुमको या ब्रज में हमें नाहिं पहिचानी
ठगी सी रही चेटक सो लाग्यो तब व्याकुल मुख फुरत न बानी ।
जादिन ते चितये री मोतन तादिन ते हरि हाथ बिकानी ।
नंददास प्रभु यों मन मिलियो ज्यों सागर में पानी ।
—नन्ददास, शुक्ल पृ० ४०८ ।

३—नन्ददास, शुक्ल, पृ० ४१४ ।

जैसाकि पीछे कहा गया है, नन्ददास ने होली, बसन्त पर बहुत पद लिखे हैं। ब्रज में, झाँझ और डफ़ लेकर मण्डली में बैठनेवाले 'हुरियारों' का समूह उन्मत्त होकर अब भी होली के दिनों में लम्बे-लम्बे होली के गीत गाता हुआ मिलता है। ग्राउज़ महोदय ने 'मथुरा मेमोयर' में ब्रज की होली की बड़ी प्रशंसा की है। नन्ददास के समय में भी रसिया लोग प्रेमोन्मत्त होकर होली गाते रहे होंगे। नन्ददास के होली के लम्बे-लम्बे गीत झाँझ, मजीरा और डफ़ के साथ रात भर बैठकर होली गानेवालों के लिए ही हैं। इस विषय के उनके छोटे गीत भी हैं। भाषा का सौष्ठव दोनों प्रकार के पदों में है। नीचे फ़ुटनोट में दिये हुए एक पद में होली का सजीव वर्णन है।[1] तथा निम्नलिखित होली के पद में नन्ददास की अनुप्रास-प्रियता का नमूना मिलेगा। विषय का वर्णन भी सुन्दर है—

होली

राग ललित

कुंज कुटीर मिलि यमुना तीर खेलत होरी रस भरे अहीर,
एक ओर बलबीर धीर हरि एक ओर युवतिन की भीर।

१— राग बसन्त

चली भरन गिरिधरन लाल कों बनि बनि अनगन गोपी,
उवटी उपटन नवल चपल तन मानों दामिनि ओपी।
पहरे वसन विविध रंग भूषण करन कनक पिचकाई,
चंचल चपल बड़ेरी अखियाँ मानों अरग लगाई।
छिरकत चलीं गली गोकुल की कही न परत छबि भारी,
उड़ि उड़ि केसरि बूका वंदन अटि गये अटा अटारी।
सखन सहित सजि साँवरे सुंदर सुनत ही सन्मुख आये,
मनु अंबुज वनबास विवस ह्वै अलि लंपट उठि धाये।
पहले कान्ह कुँवर पिचकाई भरि भरि त्रियन कों मेली,
मानों सोम सुधाकर सींचत नवल प्रेम की बेली।
पिय के अंग त्रियन के लोचन लपटे हैं छबि की ओभा,
मानों हरि कमलन कर पूजे बनी हैं अनूपम सोभा।
दुरि मुरि भरन बचावनि छबिसों आवनि उलटनि सोहै,
घुमड़्यो अबीर गुलाल गगन में जो देखे सो मोहै।
बिच बिच छुटत कटाछ कुटिल सर उचटि हूल को लागी,
मुरझि परयो लखि मैन महाभट रति भुजभरि लै भागी।
कहा लों कहों कहत नहिं आवै छबि बाढ़ी तिहिं काला,
नंददास प्रभु सुख चिरंजीवो बाल नंद के लाला।

—कीर्तन-संग्रह, बसंत और धमार, पृ० ७।

केकी कीर गुन गंभीर पिक डफ मृदंग धुनि करत मँजीर ,
पग मँजीर कर ले अबीर केसरि के नीर छिरकत हैं चीर ।
भये अधीर रति पति के तीर आनंद समीर परसत सरीर ,
नन्ददास प्रभु पहरे हीर नग मिटत पीर गह्यो सुख को सीर ।[1]

राधा की संयोगलीला और उनकी युगल-केलि का, नन्ददास ने बहुत वर्णन किया है। ऐसे वर्णन लौकिक विषयोन्मत्त रसिकों को तथा पहुँचे हुए रसिक भक्तों को सुखकारी अवश्य हैं; परन्तु लौकिक सदाचार की दृष्टि से इन पदों की कामुकता उपेक्षनीय है। वस्तुतः सभी पद ऐसे नहीं हैं। वर्षाकालीन प्राकृतिक शोभा तथा उसके बीच राधाकृष्ण का हिंडोला झूलना अथवा बन में उनका विचरण इन विषयों के अनेक पद भाव और भाषा की दृष्टि से कवित्व पूर्ण हैं। नीचे लिखे पद में कवि ने वर्षागमन और एक राजा की सवारी निकलने का रूपक बाँधा है—

मल्हार

आयो आगम नरेश देश देश में आनंद भयो, मनमथ अपनी सहाय कूँ बुलायो ,
मोरन की टेर सुन कोकिला कुलाहल, तैसोई दादुर हिलमिल सुर गायो ।
चढ्यो घन मत्त हाथी पवन महावत साथी, अंकुस वंकुश देदे चपला चलायो ,
दामिनी ध्वजा पताका फहरात सोभा बाढ़ी, गरज गरज धों धों दमामा बजायो ।
आगें आगें धाय धाय बादर वर्षत आय, व्यारन की बहुकन ठोर ठोर छिरकायो ,
हरी हरी भूमि पर बूँदन की शोभा बाढ़ी, वरण रंग को बिछोना बिछायो ।,
बाँधे है बिरही चोर कीनी हे जतन रोर, संजोगी साधन सों मिल अति सचु पायो
नन्ददास प्रभु नंदनंदन को आज्ञाकारी, अति सुखकारी व्रजवासी मन भायो ।[2]

श्रावण मास में वर्षा की शोभा की झलक निम्नलिखित पद में भी अवलोकनीय है—

मल्हार

जहँ तहँ बोलत मोर सुहाए ,
साँवन रमन भवन वृन्दाबन घुमड़ि घुमड़ि घन आए ।
नेन्हीं नेन्हीं बुंदन बरषन लागे, ब्रज मंडल पै छाए ।
नंददास प्रभु सखा संग लिये मुरली कुंज बजाए ।[3]

१—'नन्ददास,' शुक्ल, पृष्ठ ३८१।
२—'नन्ददास' शुक्ल ३८२। तथा 'कीर्तन-संग्रह वर्षोत्सव,' भाग २, पृ० २६३।
३—'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० ३८१, पाठ-भेद से था लेखक के निजी, नन्ददास-पद-संग्रह से।

नन्ददास के काव्य की भाषा

नन्ददास के सम्पूर्ण ग्रन्थ ब्रजभाषा में ही लिखे हुये हैं; परन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थों की भाषा में वह प्रौढ़ता तथा माधुर्य नहीं है जो उनके कुछ चुने हुए ग्रन्थों में हैं। नन्ददास ने अपने ग्रन्थों में बहुधा शृङ्गार रस का ही चित्रण किया है इसलिये उनकी भाषा में माधुर्य और प्रसाद गुणों का ही समावेश हुआ है, ओज तथा परुषावृत्ति के शब्दचयन को अवसर नहीं है। भाषा की शक्ति, भाव के अनुसार शब्द-चयन पर बहुत निर्भर रहती है। नन्ददास की भी भाषा में भाव के अनुसार शब्दों के प्रयोग का एक भारी गुण है, जिससे भाव का एक चित्र पाठक के सामने आ जाता है। इस गुण की द्योतक 'रास पञ्चाध्यायी' की नीचे लिखी कुछ पङ्क्तियाँ देखी जा सकती हैं—

गोपियाँ मुरली नाद के सहारे कृष्ण के पास जा रही हैं। कृष्ण ने उनके नुपुरों की झङ्कार सुनी और फिर एक-एक कर आती हुईं गोपियों को उन्होंने देखा। उस समय कृष्ण की भावमग्नता के चित्र को अङ्कित करने में नन्ददास की मधुर भाषा पूर्ण समर्थ हुई है—

तिनके नूपुरनाद सुने जब परम सुहाये,
तब हरि के मन नैन सिमिटि सब श्रवनन आये।
रुनुक झुनुक पुनि भली भाँति सों, प्रगट भई जब,
पिय के अंग अंग सिमिटि मिले हैं रसिक नैन तब।[1]

इन पंक्तियों की सम्पूर्ण शब्दावली तो भावद्योतक है ही; परन्तु 'केन्द्रीभूत' के अर्थ में प्रयुक्त 'सिमिट' शब्द पर इन पंक्तियों का सौन्दर्य वास्तव में सिमिटा हुआ है। इसी प्रकार, कृष्ण के अटपटे वाक्यों को सुनकर गोपियाँ एक दूसरी पर मूक भाव से अपना भाव प्रकट करती हुईं तथा एक दूसरी का भाव-चयन करती हुईं किस प्रकार की स्थिति में हुईं, इसका पूरा चित्र कवि ने नीचे की शब्दावली में खींचा है—

मन्द परस्पर हँसीं लसीं तिरछी अँखियन अस,
रूप उदधि इतराति रँगीली मीन पाँति जस।[2]

इस पद्य में एक-एक शब्द इस प्रकार चुन-चुनकर रखा गया है कि प्रत्येक शब्द प्रसङ्ग के अनुकूल भाव को प्रकट कर रहा है। यहाँ 'इतराना' शब्द बहुत अर्थ-गर्भित है। गोपियों के संयोग-सुख-पूर्ण हृदय की उमङ्ग, कृष्ण के प्रेम की दृढ़ प्रतीति और उनकी वक्रोक्ति पर गोपियों का विनोदभाव, इस एक शब्द से प्रकट हो रहे हैं। इसी प्रकार के

१—'रासपञ्चाध्यायी' उदयनारायण तिवारी, पृ० २१।

२—'रासपञ्चाध्यायी', उदयनारायण तिवारी पृ० २३।

उदाहरण 'रासपञ्चाध्यायी' के अनेक स्थलों पर मिलेंगे। रास-क्रीड़ा में भी गायन-वादन, तथा नृत्य-भाव के द्योतक तथा रास के उल्लास भाव के परिचायक शब्दों का सुखद प्रयोग हुआ है जैसे—

नूपुर कंकन किंकिनि करतल मंजुल मुरली,
ताल मृदंग उपंग चंग एकहि सुर जुरली।
मृदुल मुरज टंकार, ताल झंकार मिली धुनि,
मधुर जंत्र की तार भँवर गुंजार रली पुनि।
तैसिय मृदु पद पटकनि चटकनि करतारन की,
लटकनि मटकनि झलकनि कल कुंडल हारन की।[1]

इसी प्रकार का गुण नन्ददास के 'भँवरगीत' की भाषा में है। जिस स्थल पर गोपी-विरह का वर्णन है वहाँ भाषा बहुत प्रभाव-प्रसारिणी, और भाववाहिनी है, जहाँ तक पूर्ण स्थल है वहाँ भाषा तर्क तथा पाण्डित्यपूर्ण है और वहाँ गोपियों के उपालम्भ के वाक्य हैं, वहाँ भाषा की व्यञ्जना-शक्ति का परिचय मिलता है।

नन्ददास की भाषा का दूसरा गुण है—मधुर और परिचित शब्दावलि का प्रयोग। इस प्रकार के प्रयोग से भाव-स्पष्टता का गुण इनके ग्रन्थों में विशेष रूप से आ गया है। इस गुण को काव्य-समीक्षा की भाषा में प्रसाद गुण कहते हैं। उन्मत्त नेत्रों के लिए, 'अलस कुछ घूम घुमारे'।[2] सजावट और शोभा के लिए 'बानक'[3] लावण्य के लिए 'लुनाई'[4] आदि शब्दों के घरेलू और सरल प्रयोगों ने भाषा को भावपूर्ण प्रसादता का गुण दे दिया है। नन्ददास की शब्दावली में संस्कृत भाषा के शब्दों का बहुत प्रयोग है, परन्तु वे शब्द बहुधा ब्रजभाषा के साँचे में ढले हुए हैं और ब्रज के उच्चारण के रङ्ग में रँगे हैं, जैसे—'योग' के लिए 'जोग', 'क्षुधित' के लिए 'छुदित', 'सूक्ष्म' के लिए 'सुच्छम', 'परिक्रिया' के लिए 'परिकला' आदि। ब्रजभाषा की ठेठ शब्दावली के बीच में कहीं-कहीं प्रचलित पूर्वी हिन्दी के दो-चार रूपों तथा फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग भी नन्ददास के सभी ग्रन्थों की भाषा में देखने को मिलते हैं। इनमें से कुछ शब्द नीचे दिए जाते हैं—

ब्रजभाषा पूर्वी हिन्दी—

नाहिं नाहिंन, नहिन *'हौं लजाई मुरि रही अबोली, बहुत करीपै नाहिंन बोली'*।[1]

१—'रासपञ्चाध्यायी', उदयनारायण तिवारी, पृ० ६६-६७।

२—'रासपञ्चाध्यायी', उदयनारायण तिवारी, पृ० ४।

३—'रासपञ्चाध्यायी', उदयनारायण तिवारी, पृ० १।

४—'रासपञ्चाध्यायी', उदयनारायण तिवारी, पृ० १३।

१—'रूपमञ्जरी', 'नन्ददास', शुक्ल, पृष्ठ ११।

या ग्या, जा	इह	'इह बन दुर्लभ आइबो, इन्दुगती सुनि बात'।[१]
है, हतु है	आही, आहि	'परम प्रेम पद्धति इक आही, नन्द यथामति बरनत ताही'।[२]
		'सठ कठपुतरि दुसंग दुर, सो एकौ सुख आहि'।[३]
ऐसो	अस	'मूरति एक अनेक देखि, अद्भुत सोभा अस।[४]
संग, साथ	गोहन	'देखि रूप घन छाया करहीं, पशु पंछी सब गोहन फिरहीं'।[५]
तुम्हारी	तुम्हरी, रावरे	'कहाँ हमारी प्रीति, कहाँ तुम्हरी निठुराई।[६]
		'जल बिन कहौं कैसे जिये, पराधीन जो मीन। विचारौ रावरे'।
लाइकें	आनि	'कर्म घूरि कौं आनि, प्रेम अमृत में साने।
अच्छी	नीकी	नीकी-राधे कुंवरि स्याम मेरो अति नीकौ।'

अरबी, फारसी शब्द

गरज़ (अरबी) 'जाकी रंचक रज गरज, अजसें मरि पचिजात

लायक (फ़ारसी) 'अहो विप्र धन लोभ न कीजे, या लायक नायक कूं दीजे।[१]

अरदास—बहुत भाँति बंदन कही बहुतहि कर अरदास, कृपा करि दीजिये।'[१२]

मुहावरों, कहावतों, तथा ब्रज भाषा के ठेठ शब्दों के प्रयोग के कारण नन्ददास की भाषा में सरलता तथा सजीवता के गुण आ गए हैं। कवि की भाषा में प्रयुक्त कुछ ब्रज बोली के ठेठ शब्द तथा मुहावरे नीचे दिये जाते हैं।

ब्रज बोली के घरेलू शब्द

बीर—अरी बीर! चलि जाउ कहौ यह विनती मेरी।[१३]

१—'रूपमञ्जरी', पञ्च मञ्जरी'; बलदेवदास करसनदास छन्द नं० ५६१।

२—'रूपमञ्जरी', 'नददास', शुक्ल, पृष्ठ १।

३—'रूपमञ्जरी', 'नन्ददस', शुक्ल, पृष्ठ २।

४—रासपञ्चाध्यायी, नन्ददास', शुक्ल, पृष्ठ १७६।

५—रूपमञ्जरी, 'नन्ददास', शुक्ल, पृष्ठ ४।

६—रासपञ्चाध्यायी, 'नन्ददास', शुक्ल, पृष्ठ १७२।

७—भँवरगीत, 'नन्ददास', शुक्ल, पृष्ठ १३१।

८—भँवरगीत, 'नन्ददास', शुक्ल, पृष्ठ १२६।

९—स्यामसगाई, 'नन्ददास', शुक्ल, पृष्ठ ११६।

१०—'रूपमञ्जरी', 'पञ्चमञ्जरी', बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ५६१।

११—रूपमञ्जरी, पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ८३।

१२—'श्यामसगाई', 'नन्ददास', शुक्ल, पृष्ठ ११५।

१३—'स्यामसगाई', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० ११६, पंक्ति नं० ७६।

लरिका—कहत सुनत लज्जा नहीं करै और ते और, कि लरिका अचपलौ ।[1]
पूत—मैया लाल सों कहै, पूत हौं नीके आई ।[2]
बेगि—बेगि पठै नंदलाल कौं जीव दान दै मोहिं ।[3]
द्यौस—मिलि है थोरे द्यौस में, जिनि जिय होहु अधीर ।[4]
रूख—बन उपबन के रूख भूख भाजै तिहिं देखैं ।[5]
रूसि—किधौं चंद सों रूसि चंद्रिका रहि गई पाछे।[6]

भाषा के मुहावरे तथा शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग

वे तुमतैं नहिं दूरि "ग्यान की आँखिन देखौं" ।[7]
हमरे सुंदर स्याम "प्रेम कौ मारग" सूधौ ।[8]
प्रेम बिना सब "पचि मरे", विषय वासना रोग ।[9]
पद्मासन सब द्वार रोकि "इन्द्रिन कौं मारें" ।[10]
उन गुन कौं इन माहिं आनि काहे "को सानों" ।[11]
प्रेम अमृत मुख तैं श्रवत अंबुज "नैंन चुचात" ।[12]
दुरि दुरि बन की ओट कहा "हिय लौन लगावौ" ।[13]
बहुत पाइ कै रावरे, "प्रीति न डारौ तोरि" ।[14]
विरह अनल अब दहत हौ हँसि हँसि नंद किसोर,
"चोर चित लै गए" ।[15]

१—'स्यामसगाई', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० ११६, पंक्ति नं० २५ ।
२—'स्यामसगाई', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० ११६, पंक्ति नं० ३१ ।
३—'स्यामसगाई', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० ११६, पंक्ति नं० ७१ ।
४—'भँवरगीत', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १२४, पंक्ति नं० २४ ।
५—'रुक्मिणी मङ्गल' 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १४४, पंक्ति नं० ५७ ।
६—'रास पञ्चाध्यायी' 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १७०, पंक्ति नं० ३४२ ।
७—'भँवरगीत' 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १२४ पंक्ति नं० ३१ ।
८—'भँवरगीत' 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १२५, पंक्ति नं० ३७ ।
९—'भँवरगीत' 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १२७, पंक्ति नं० ७१ ।
१०—'भँवरगीत' 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १२७, पंक्ति नं० ८२ ।
११—'भँवरगीत' 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० १२८, पंक्ति नं० १०२, पाठ-भेद से ।
१२—'भँवरगीत,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १६०, पंक्ति नं० १४४
१३—'भँवरगीत,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १३० पंक्ति नं० १५२
१४—'भँवरगीत,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १३० पंक्ति नं० १५४
१५—'भँवरगीत,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १३१ पंक्ति नं० १७०

इनके निर्दय रूप में नाहिन कोऊ चित्र,
"बिलग कहा मानिये"।[1]
इन छल करि दुलही करी "छुधित ग्रास मुख काढ़ि"।[2]
अब जदुकुल पावन भयो दासी जूठन खाइ,
"मरत यह बोल कौं"।[3]
इत सब प्रेमी लोग हैं "गाहक तुमरे नाहिं"।[4]
मोहन निर्गुन क्यों न होंहिं, तुम साधुन कौं भेंटि,
"गांठि की खोइ कै"।[5]
हा करुनामय नाथ हा! केसव कृष्ण मुरारि,
"फाटि हियरौ चल्यौ"।[6]
तबही लौं लहै लाख "जबहिं लौं बाँधी मूठी"।[7]
सुनत सखा के बैन "नैन भरि आये दोऊ"।[8]
भरि भरि संूडन डारत पानी, मारत मोहिं "करत नकबानी"।

कहावतें

घर आयो नागन पूजहीं बाँबी पूजन जाहिं।[10]
दाधे पर जिमिं लागत लोंन।[11]
बातन बिंजन कोंन अघाये, काके हाथ मरोरथ आये।[12]
मृग तृष्णा कब पानी भई, काकी भूख मन लड्डुवन गई।[13]

नन्ददास की पदावली तथा उनके ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कवि का ब्रजभाषा पर पूरा अधिकार है। जिन ग्रन्थों में उनकी भाषा का रूप प्रौढ़ है उसमें शब्दों-

---

१—'भँवरगीत,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १३२ पंक्ति नं० २००
२—'भँवरगीत,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १३३ पंक्ति नं० २०४
३—'भँवरगीन,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १३७ पंक्ति नं० २८०
४—'भँवरगीत,' 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १३७ पंक्ति नं० २८४, पाठ-भेद से
५—'भँवरगीत,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १३७ पंक्ति नं० २९०
६—'भँवरगीत,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १३८ पंक्ति नं० ३००
७—'भँवरगीत,' 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १४० पंक्ति नं० ३५२
८—'भँवरगीत,' 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १४१, पंक्ति नं० ३६१।
९—'विरह-मञ्जरी,' 'पञ्च मञ्जरी, बलदेवदास करसनदास छन्द नं० ८९।
१०—'भँवरगीत,' 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १२७, पंक्ति नं० ८९।
११—'विरहमंजरी,' 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० ३७ पंक्ति नं० १७१।
१२—'रूपमञ्जरी,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० ११, पंक्ति नं० २३६।
१३—'रूपमञ्जरी,' 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० पंक्ति नं० २३७।

में प्रवाह और सङ्गीतात्मकता भी है। नन्ददास गान-विद्या में निपुण थे, उनकी काव्य-उक्तियों को उनकी सङ्गीतमयी भाषा ने और भी मुग्धकारी रूप दे दिया है। भाषा में प्रवाह और सङ्गीत का श्रुति-मधुर गुण उनकी रासपञ्चाध्यायी' 'रुक्मिणी मङ्गल' तथा 'भँवरगीत' में सबसे अधिक है। वास्तव में नन्ददास की भाषा का रूप उनके सब ग्रन्थों में तथा उनके द्वारा प्रयुक्त सभी छन्दों में एकसा नहीं है। 'रासपञ्चाध्यायी' में तो एक एक शब्द इस प्रकार काव्य-पटुता के साथ चुन-चुन कर छन्द की लड़ियों में पिरोया गया है कि जिह्वा एक शब्द से दूसरे शब्द पर सहज ही में सरकती चलती है। स्वाभाविक अनुप्रासों के प्रयोग ने उनकी भाषा में नाद-सौन्दर्य भर दिया है।

उक्त तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त कवि के 'पञ्चमञ्जरी' ग्रन्थ, दशम स्कन्ध' तथा अन्य पीछे प्रामाणिक माने हुए ग्रन्थों में भाषा का सर्वत्र सुव्यवस्थित तथा मँजा हुआ रूप नहीं है। इन ग्रन्थों में भाषा शिथिल और अनेक शब्दों का रूप विकृत सा है, जैसे 'विरहमञ्जरी' की निम्नलिखित पंक्तियों में भाषा का यह रूप है 'नन्द सुवन की लीला जिती, मथुरा द्वारावती बहुभंती'।[1] इस पंक्ति में कवि ने 'बहु भाँति' के स्थान पर 'बहु भंती' शब्दों का प्रयोग किया है जो ब्रजभाषा का विकृत रूप ही कहा जायगा। शब्दों को श्रुति-मधुर बनाने के लिए कवि ने उनको तोड़ा-मरोड़ा भी है। यह स्वच्छन्दता हिन्दी भाषा के सभी कवियों ने ली है। यद्यपि बहुत अंश में छन्द-पूर्ति अथवा तुकान्त के लिए मूल भाषा के प्रचलित शब्दों को तोड़ना भाषा के प्रयोग का एक अवगुण ही होता है, परन्तु नन्ददास ने इस बात का ध्यान रक्खा है कि उन तोड़े हुए शब्दों की मधुरता तथा प्रसादता के गुण नष्ट न हों।

नन्ददास के चौपई या चौपाईवाले ग्रन्थों की भाषा बहुधा शिथिल है। रोला तथा रोला दोहा छन्दवाले ग्रन्थों में शब्द, भाव से भरे और छन्द में तुले हुए हैं। चौपाईवाले सब ग्रन्थों में भी दोहों और सोरठों की भाषा जैसी व्यवस्थित, भावपूर्ण और मधुर है वैसी चौपाइयों की भाषा नहीं है, मानों कवि की कवित्व-शक्ति और भाषा-लालित्य के प्रस्फुटन करने में चौथाई छन्द असमर्थ हैं। यह बात सूर के ग्रन्थों में भी पाठक को मिलती है। कुछ विद्वानों का कहना है कि चौपाई और बरवा छन्द, जितने अवधी भाषा में खुलते हैं उतने ब्रजभाषा में नहीं। इस विषय में, लेखक के विचार से, कोई नियम तो निर्धारित नहीं किया जा सकता, परन्तु अवधी भाषा के तुलसी, जायसी जैसे कवियों द्वारा चौपाई छन्द में रचित रचनाओं की तुलना करने पर यह बात अवश्य यथार्थ-सी दीखने लगती है। नन्ददास के ग्रन्थों में एक बात यह भी ज्ञात होती है कि कवि के भाव-गाम्भीर्य, रोचक-उत्प्रेक्षा से पूर्ण उसकी सूक्ति तथा अनुप्रासों ने भाषा की शिथिलतावाली कमी की पूर्ति में बहुत सहायता दी है।

भाषा के कुछ दोष रहते हुए भी नन्ददास भाषा-लालित्य के लिए प्रसिद्ध हैं।

१—'विरहमञ्जरी', पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसनदास छन्द नं० २१।

सूरदास, परमानन्ददास, तथा नन्ददास की भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से, हम, इन तीनों कवियों की बहुअंशी समानता के साथ उनकी भाषा की कुछ व्यक्तिगत-विलक्षणता-प्रकाशिनी बातों की ओर फिर से ध्यान दे लें। सूर की भाषा बहुरूपिणी है। उसका मुख्य रूप ब्रजभाषा का होते हुए भी, उसमें अवधी और फ़ारसी शब्दों का मेल, अन्य अष्टछाप कवियों की अपेक्षा अधिक, मात्रा में, है। बाललीला, गोचारण तथा विरह के अधिक संख्या में लिखे पदों को छोड़कर उनकी भाषा में संस्कृत-शब्दावली का बहुत प्रयोग है। उनके छन्दों में लिखी भाषा में शिथिलता है तथा भावात्मकता, प्रवाह और काल्पनिक चित्रमत्ता की कमी है। उनकी भाषा का मधुर और प्रौढ़ रूप केवल पदों में ही है। लेकिन यह बात भी अवश्य ध्यान देने की है, कि भाषा का जितना शब्द-कोष अन्धे सूर के पास है उतना अष्टछाप के किसी भी कवि के पास नहीं है। नन्ददास की भाषा का आदर्श-रूप केवल 'रासपञ्चाध्यायी' में ही है। पीछे कहा जा चुका है कि उन्होंने जिस कथा-प्रसङ्ग को रोला छन्द में लिखा है, उसकी भाषा में लय और प्रवाह, सब कवियों से अधिक है। उनकी 'मञ्जरी' नामक रचनाओं में वैसा सुमधुर और काव्याङ्गपूर्ण भाषा का रूप नहीं है। नन्ददास के पदों की भाषा में भी सजीवता भावात्मकता, अलङ्कारिता, तथा चित्रमत्ता के गुण विद्यमान हैं, परन्तु उनमें ये गुण उतनी मात्रा में नहीं है, जितनी सूर और परमानन्ददास के पदों में है। परमानन्ददास की भाषा में कोई आदर्श-गुण तो नहीं है, जो सूर और नन्ददास की भाषाओं में न हो, परन्तु यह बात अवश्य उल्लेखनीय है कि परमानन्ददास की भाषा में एकरसता सर्वत्र है। उनकी भाषा में सरलता है और अवधी और फ़ारसी-अरबी शब्दों के बहुत कम प्रयोग हैं। सूर द्वारा प्रयुक्त कुछ फारसी अरबी शब्द नीचे दिये जाते हैं—

सूरदास, परमानन्ददास तथा नन्ददास की भाषाओं की तुलना

तीनों पन भरि ओर निबाह्यो तऊ न आयो "बाज़"।[१]
नई न करन कहत प्रभु तुम सों सदा "गरीबनिवाज़"।[२]
प्रभु जू मैं ऐसो 'अमल' कमायो।
"साबिक़" "जमा" हुती जो जोरी "मिनजालिक" तल लायो।[३]
इन पापिन ते क्योंहु न उबरोगे "दामनगीर" तिहारे।[४]
तादिन सूर "शहर" सब चक्रत।[५]

१—'सूरसागर' बें० प्रे०, पृ० ५।
२—'सूरसागर' बें० प्रे० पृ० ६।
३—'सूरसागर' बें० प्रे० पृ० १४।
४—'सूरसागर' बें० प्रे० पृ० ३३।
५—'सूरसागर,' बें० प्रे०, पृ० ७४।

बाँह पकरि तू ल्याई काको अति "बेशरम" गवाँर ।[1]
आज कहा ब्रज "शोर" मचायो ।[2]
सूरदास तहाँ श्याम सबनि को देखियत है "सिरताज" ।[3]

इसी प्रकार 'सूरसागर,' पृष्ठ २१२ से आगे के पदों में गुलाम, सरमान, शक, अबसोस आदि अनेक फ़ारसी शब्दों का प्रयोग हुआ है, परमानन्ददास और नन्ददास की भाषा में विदेशी शब्दों का प्रयोग बहुत ही अल्प है। अष्टछाप के प्रत्येक कवि की पद-रचना में एक दूसरे की छाप बदल कर यदि हम देखें तो, इस सम्पूर्ण काव्य में थोड़े से ही पद ऐसे निकलेंगे जिनको हम भाषा की दृष्टि से किसी विशेष कवि की ही कृति होने का पता लगा सकें। ऐसे कुछ पदों का पता फारसी शब्दों के प्रयोग और शब्दावली की लय थे आधार पर लगाया जा सकता है। नन्ददास को कुछ शब्द और वाक्य-खण्ड बहुत प्रिय है, उनका प्रयोग उन्होंने बहुधा अपने समस्त ग्रन्थों में तथा पदों में किया है। नन्ददास की कृति ऐसे कुछ शब्दों के सहारे अवश्य छाँटी जा सकती है।

नन्ददास के ग्रन्थों में प्रयुक्त छन्द

नन्ददास ने अपना काव्य सूर की तरह छन्द तथा पद दोनों शैलियों में लिखा है, और इन्होंने अपने ग्रन्थों में कई छन्दों का प्रयोग किया है। चौपाई छन्द में 'सुदामाचरित' तथा गोवर्धन-लीला' ग्रन्थ लिखे गये हैं। दोहा छन्द में 'अनेकार्थ मञ्जरी' तथा 'मानमञ्जरी' हैं। दोहा और चौपाई छन्दों में 'विरह मञ्जरी,' 'रूप-मञ्जरी,' 'रसमञ्जरी' तथा 'दशम स्कन्ध भागवत भाषा' ग्रन्थ हैं। रोला छन्द का प्रयोग, 'रूक्मिणी मङ्गल,' 'रास पञ्चाध्यायी' तथा 'सिद्धान्त-पञ्चाध्यायी' में किया गया है और कवि ने रोला-दोहा के मिश्रित छन्द के साथ दस मात्रा की अन्त में टेक लगे छन्द में 'श्याम-सगाई' और 'भँवरगीत' ग्रन्थ लिखे हैं।

नन्ददास गान-विद्या में निपुण थे। इस निपुणता का प्रकाशन उनके पदों में तो हुआ ही है किन्तु उनकी छन्द-रचना में भी सङ्गीत का अपूर्व माधुर्य है जिसका सबसे अधिक उत्कर्ष उनके रोला छन्द में प्रस्फुटित हुआ है। पीछे कहा जा चुका है कि कवि के रोला छन्द को पढ़ने से, विशेष रूप से रास-पञ्चाध्यायी में, ज्ञात होता है कि कवि की उक्ति में अपूर्व कवित्व है, वाणी में प्रौढ़ता है और भाषा में लोच और लय है। यह बात उनके रोलादोहा से मिश्रित छन्द में भी बड़ी मात्रा में है, परन्तु अन्य छन्दों में यह गुण अनुभूत नहीं होता। 'रास-पञ्चाध्यायी' की छपी तथा कुछ हस्तलिखित प्रतियों में रोला छन्दों के बीच कुछ दोहे भी मिलते हैं, जैसे प्रथम अध्याय में नीचे लिखे दोहे हैं—

१—'सूरसागर,' बें० प्रे०, पृ० १२७।
२—'सूरसागर,' बें० प्रे०, पृ० १७३।
३—'सूरसागर,' बें० प्रे०, पृ० २१२।

श्री सुक रूप अनूप को क्यों बरने कवि नंद ,
अब वृन्दाबन बरनि हौं जहँ वृन्दाबन चंद ।
श्री वृन्दाबन चंद बन कछु छवि बरनि न जाय ,
कृष्ण ललित लीला निमित धारि रह्यो जड़ताय ।[१]

इस प्रकार के दोहे 'रासपञ्चाध्यायी' के प्रथम अध्याय में दो स्थानों पर, दूसरे अध्याय में भी दो स्थानों पर और पाँचवें अध्याय में एक स्थान पर मिलते हैं। लेखक के विचार से ये दोहे प्रक्षिप्त हैं। इन दोहों का रोलाओं के बीच कोई क्रम नहीं है। 'रास-पञ्चाध्यायी' के जिस प्रसङ्ग का ये वर्णन करते हैं उसमें ये पुनरुक्ति-कारक हैं, उदाहरणस्वरूप नीचे के दोहे और रोला में एक ही भाव वर्णित है—

श्री सुक रूप अनूप को क्यों बरने कवि नंद ,
अब वृन्दाबन बरनिहौं जहँ वृन्दाबन चंद ।
अब सुन्दर श्री वृन्दाबन को गाय सुनाऊँ ,
सकल सिद्धिदायक पै सब ही सब विधि पाऊँ ।

'रासपञ्चाध्यायी' की बहुत सी हस्तलिखित प्रतियों में ये दोहे नहीं मिलते। भाषा के विचार से इन दोहों के प्रक्षिप्त होने का अनुमान लगाना कठिन अवश्य है, फिर भी दोहों की भाषा में वह पदलालित्य नहीं है जो रोला छन्दों की भाषा में है। इन दोहों में कुछ दोहे ऐसे भी हैं जो अन्य कवियों की रचनाओं में भी मिलते हैं। श्री ब्रजमोहनलाल द्वारा सम्पादित 'रासपञ्चाध्यायी' के प्रथम अध्याय में निम्नलिखित एक दोहा है—

सो हँसि हँसि एसे कह्यो सुंदर सब को राउ ,
हमरो दरश तुम्हें भयो अपने घर को जाउ ।

यही दोहा अष्टछापी कृष्णदास अधिकारी की 'रासपञ्चाध्यायी' में इस प्रकार दिया गया है—

गोपिन सों हरि हँसि कह्यो सुंदर सबको राव ,
हमरों दरश तुम्हें भयो अपने घर को जाउ ।[३]

और भी नन्ददास की 'रासपञ्चाध्यायी' के दूसरे अध्याय में निम्नलिखित दोहा है---

---

१—'रासपञ्चाध्यायी,' पहला अध्याय, श्री ब्रजमोहनलाल पृ० ३ ।

२—'रासपञ्चाध्यायी,' नन्ददास, 'शुक्ल', पृ० १२७ ।

३—'वर्षोत्सव-कीर्तन' देसाई, पृ० ३११ ।

पिया सँग एकांत रस विलसति राधा नारि,
कँध चढ़न हरि सों कह्यो यातें तजो मुरारि।

यही दोहा कृष्णदास की 'पञ्चाध्यायी' में निम्नलिखित रूप में मिलता है—

पिया सङ्ग एकान्त रस विलसे राधा नारि,
कंध चढ़न प्रभु सों कह्यो याते तजी मुरारि।[1]

इन कारणों से ज्ञात होता है कि 'रासपञ्चाध्यायी' में आए हुए दोहे नन्ददास की कृति नहीं है। बलदेवदास करसनदास कीर्तनिया द्वारा प्रकाशित 'विरहमञ्जरी' में १८ दोहे, १२ सोरठे और १४६ चौपाई और चौपाइयों की अर्द्धालियाँ[2] हैं। चौपाई छन्दों का प्रयोग चौपाइयों के बीच बीच में ही हुआ है। ब्रजभाषा के कवियों ने चौपाई छन्द अधिक लिखे हैं। सूरदास ने इस छन्द का बहुत प्रयोग किया है। नन्ददास की कृतियों में चौपाई और चौपई, दोनों छन्दों का एक नाम चौपाई ही दिया हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि कवि ने इन दो छन्दों में कोई भेद नहीं किया। कवि के ग्रन्थों में जगह-जगह पर १५ मात्रा का चौपाई छन्द आया है। चौपाइयों की किसी नियत संख्या के बाद दोहे अथवा सोरठे के आने का अथवा चौपाइयों में प्रयोग का क्रम नहीं है। कहीं ६ और कहीं ६ अर्द्धालियों के बाद, दोहा लाया गया है।

ठाकुरदास सूरदास द्वारा प्रकाशित तथा बलदेवदास करसनदास कीर्तनियाँ द्वारा प्रकाशित 'रूपमञ्जरी' की प्रतियों में छन्दों की गणना अर्द्धाली से ही की गई है। बलदेवदास करसनदास वाली प्रति में ५८६ छन्द हैं और सूरदास ठाकुरदास वाली प्रति में छन्द संख्या ५२६ है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि ठाकुरदास सूरदास वाली प्रति में 'रूपमञ्जरी' के स्वप्न-संयोग के बाद समाप्त हो जाती है और बलदेवदास करसनदास वाली प्रति में कवि ने 'रूपमञ्जरी' को, द्वितीय स्वप्न-दर्शन के बाद वृन्दावन भिजवाकर कृष्ण के नित्य-रास में उसका, उसकी सखी सहित प्रवेश कराया है। लेखक को बलदेवदास करसनदास वाली छन्द संख्या सही जँचती है। 'रूपमञ्जरी' के द्वतीय स्वप्न में कथा के कार्य के फलस्वरूप उसका संयोग हो जाता है, उस स्थान पर कवि ने कहा है—"कलियुग में कृष्ण का दर्शन प्रत्यक्ष नहीं होता, स्वप्न की ओट अथवा भावना में ही होता है।" इसी दृष्टि से ज्ञात होता है, ठाकुरदास सूरदास ने कथा को द्वितीय स्वप्न पर ही समाप्त कर दिया है। परन्तु ग्रन्थ को आरम्भ से पढ़ने पर ज्ञात होता है कि कवि ने कथानक के कार्य का फल केवल रूपमञ्जरी का कृष्ण से काल्पनिक संयोग कराना ही नहीं रक्खा, वरन्

१—वर्षोत्सव-कीर्तन, 'देसाई, पृ० ३१२।

२—चौपाई मात्रिक छन्द है जिसमें चार पाद होते हैं, चौपाई के दो पाद अर्द्धाली कहलाते हैं।

रूपमञ्जरी और उसकी सखी इन्दुमती, दोनों का निस्तार कराकर नित्य आनन्ददायक नायक श्रीकृष्ण के पास उन्हें पहुंचाना भी है। इस ध्येय की पूर्ति रूपमञ्जरी और उसकी सखी इन्दुमती के नित्य रास में पहुँचने से ही होती है। सिद्धान्त और भाषा-शैली की दृष्टि से बलदेवदास करसनदास वाली प्रति के अधिक छन्द प्रक्षिप्त प्रतीत नहीं होते।

पीछे कहा गया है कि 'भँवरगीत' की रचना मिश्रित छन्द में हुई है। इसमें प्रयुक्त छन्दों का कवि ने कोई नाम नहीं दिया है। ग्रंथ का पहला छन्द 'तिलोकी' और 'दोहे' के मेल से बना है। दो चरण तिलोकी के हैं[1] और चार चरण दोहे[2] के। अन्त में दस मात्रा की टेक है। भँवरगीत के शेष छन्दों में रोला और दोहा का सम्मिश्रण है। दो चरण रोला के, उसके बाद एक दोहा और नीचे दस मात्रा की टेक है। हिन्दी के बहुत से विद्वानों ने रोला-दोहा और दस मात्रा की टेक वाले छन्द को जो नन्ददास के भँवरगीत में प्रयुक्त हुआ है, सर्वप्रथम प्रयोग में लाने का श्रेय नन्ददास जी को ही दिया है।[3] परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। नन्ददास से पहले सूरदास जी ने इसी छन्द का— 'रोला', 'दोहा', और दस मात्रा की 'टेक' सहित छन्द, प्रयोग सूरसागर के दशमस्कन्ध में दान-लीला के वर्णन में किया है।[4]

नन्ददास के ग्रन्थों में छन्द-भङ्ग दोष भी कई स्थानों पर दिखाई देता है। 'रूपमञ्जरी' के चौपाई छन्द के पद के अन्त में (ऽ।) गुरु लघु नहीं आने चाहिए। नन्ददास के कई चौपाई छन्दों में पद के अन्त में (ऽ।) गुरु-लघु आये हैं, जैसे—

राग के मग ह्वै पिय पै जाय (ऽ।), कोउ जाने यह बैठी गाय (ऽ।)।
सुंदर सुमन सुसेज बिछाय (ऽ।), अरगजे मरगजे बसन दुराय (ऽ।)।
चंदन पर चंदन चरचाय (ऽ।), मंद सुगंध समीर ढुलाय (ऽ।)।
पिक गवाय केकी कुहकाय (ऽ।), पपैया पै पिउ पिउ बुलवाय (ऽ।)।
मधुर मधुर अरु बीन बजाय (ऽ।), मोहन नंद सुवन गुन गाय (ऽ।)।[5]

१—'छन्दप्रभाकर', 'भानु' पृ० ४७ तथा ५८।
२—'भँवरगीत की भूमिका', श्री ब्रजमोहनलाल, पृ० २५।
३—'भँवरगीत की भूमिका,' श्री विश्वम्भरनाथ मेहरोत्रा, पृ० ३५।
४—अविगत अगम अपार आदि नाहीं अविनासी,
परम पुरुष अवतार माया जिनकी है दासी।
तुमहि मिले ओछे भए कहा रही करि मौन,
तुम्हरे आगे न्याव है दुई में ओछो कौन।
कहत ब्रजनारी। ३६।
—'सूरसागर,' दशमस्कन्ध, वे० प्रे०, सं० १६६१ संस्करण, पृष्ठ २२।
५—'रूपमञ्जरी,' 'पञ्चमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ५२२, ४७२४७८।

कहीं कहीं चौपाई के प्रथम चरण में १६ और द्वितीय चरण में केवल १४ मात्राएँ ही हैं। जैसे—

नींद न आवे तब कहे दई, नींदहुँ मानों सोय गई।[1]

कहीं चौपाई में १७ मात्राएँ हो गई हैं। कुछ दोहों में भी छन्द-भङ्ग दोष है। इसी प्रकार 'विरह-मञ्जरी' और 'गोवर्धन-लीला' ग्रन्थों में अन्य ग्रन्थों की तरह छन्द-भङ्ग दोष मिलते हैं। लेखक का विचार है कि कुछ तो प्रतिलिपिकारों की भूल और सम्पादकों की असावधानी के कारण ये दोष हैं, कुछ सम्भव है, कवि से ही हुए हों। नन्ददास संस्कृत के विद्वान् थे। काव्य-लक्षण-ग्रन्थ भी उन्होंने पढ़े थे। 'रस मञ्जरी' आदि ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं। इसी प्रकार उन्होंने हिन्दी के परम्परागत छन्दों के शास्त्र पर भी ध्यान दिया होगा। फिर भी छन्दभङ्ग-दोष ग्रन्थ में विद्यमान हैं। इन दोषों तथा भाषा की शिथिलता को देखकर कहा जा सकता है कि नन्दास के कुछ ग्रन्थ शैली-दृष्टि से प्रौढ़ रचनाएँ नहीं है, ये रचनाएँ कवि के आरम्भिक काव्य-जीवन की कृतियाँ हो सकती हैं।

नन्ददास के काव्य में प्रयुक्त अलङ्कार

नन्ददास ने अपने काव्य में शब्द और अर्थ दोनों प्रकार के अलङ्कारों का प्रयोग किया है। शब्दालङ्कारों में से अनुप्रास के स्वाभाविक प्रयोग ने उनकी भाषा को बहुत श्रुति-मधुर बनाया है। अलङ्कारों के प्रयोग में कवि की अनोखी सूझ और काव्य में अर्थ-गम्भीरता लाने की कुशलता का परिचय मिलता है। नन्ददास चमत्कारवादी कवि नहीं थे, उनके काव्य-अलङ्कारों का प्रयोग भाव और भाषा को सजीव और चित्ताकर्षक बनाने के लिए ही हुआ है। उनके प्रयुक्त अर्थालङ्कारों में से उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा सन्देह, स्मरण, प्रतीप, उदाहरण, दृष्टान्त, अतिशयोक्ति, विभावना और असङ्गति विशेष उल्लेखनीय हैं। रूप-वर्णन में स्वरूप-बोध कराने तथा भाव-चित्रण में भावोत्कर्ष लाने के लिए कवि ने उत्प्रेक्षा से विशेष काम लिया है। नन्ददास की उत्प्रेक्षाओं की कल्पना बड़ी मार्मिक और प्रभावशालिनी होती है, उनमें मौलिकता रहती है, बेसिर-पैर की उड़ान और शब्दों की 'कलाबाजी' नहीं है। 'रूपमञ्जरी' में अनेक सूक्तियाँ मुग्धकारिणी बन पड़ी हैं। 'विरह-मञ्जरी' में विरहभाव की गहन वेदना के परिचय के लिए अत्युक्ति का अधिक सहारा लिया गया है। 'सुदामा चरित्र,' 'श्यामसगाई' तथा 'गोवर्द्धन-लीला' ग्रन्थों में उक्ति की विचित्रता बहुत अल्प है। कवि के सम्पूर्ण काव्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि काव्य-कला का सर्वोच्च उत्कर्ष तो उनकी 'रासपञ्चाध्यायी' में ही है। 'मानमञ्जरी' यद्यपि कोष-ग्रन्थ है, परन्तु राधा के मान-मनावन के वर्णन में अलङ्कार-सौष्ठव ने वर्णन की रोचकता को आकर्षक बना दिया है। कवि द्वारा प्रयुक्त कुछ अलङ्कारों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

१—'रूपमञ्जरी,' 'पञ्चमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ३२८।

उपमा—तब लीनी कर कमल योगमाया सी मुरली।[1]

या बन की बर बानक या बन ही बनि आवै।[2]

खंजन प्रकट भये दुख देना, संजोगिनि तिय के से नैना।[3]

अगहन गहन समान, गहियत भार सरीर ससि।[4]

उत्प्रेक्षा—मीठी धुनि सुनि यह मन आवै, मैन मनो चटसार पढ़ावै।[5]

कंज कंज प्रति पुंज अलि, गुंजत इम परभात।
जनु रवि डर तम त्यज भयो, रोवत ताके तात।[6]

बाल बये को रुप जनु दीप जग्यो जग ऐन
उड़ि उड़ि परत पतंग जिमि नरनारिन के नैन।[7]

नवला निकसति तीर जब नीर चुवत वर चीर।
जनु रोवत असुवन वसन तन बिछुरन की पीर।[8]

द्रुमन सों लपटित प्रफुलित बेली, जनु मोहि हँसति हैं, देखि अकेली।[9]

भरि आये जल नैन प्रेम रस ऐन सुहाये।
जनु सुंदर अरविंद अलिन दल बैठि हलाये।[10]

कोऊ इक नैननि अटकि गए ह्वै लोभ लुभारे।
भरे भवन के चोर भये बदलत ही हारे।[11]

१—'रासपञ्चाध्यायी,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ०, १६०, पङ्क्ति नं० १०६।
२—'रासपञ्चाध्यायी,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ०, १५७, पङ्क्ति नं० ५७।
३—'विरह मञ्जरी' 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० ३५. पङ्क्ति नं० २४।
४—'विरह मञ्जरी', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० ३५, पङ्क्ति नं० ४७।
५—'रूपमञ्जरी', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० ३, पङ्क्ति नं० ४६।
६—'रूपमञ्जरी', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० ३, पङ्क्ति नं० ७५ तथा ५८।
७—'रूपमञ्जरी', पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसन दास, छन्द नं० ७८।
८—'रूपमञ्जरी', पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसन दास, छन्द नं० १०२।
९—'विरह-मञ्जरी', पञ्चमञ्जरी, बलदेवदास करसन दास, छन्द नं० ६०।
१०—'रुक्मिणी-मङ्गल', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १४२, पंक्ति नं० १०।
११—'रुक्मिणी-मङ्गल', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १५०, पंक्ति नं० १८३ तथा १८४, कुछ पाठ-भेद से।

गम्योत्प्रेक्षा—बालपने पग चंचलताई, अब चलि छबिलै नैनन आई।[1]

इतउत चलत चहत अनुरागे, बात करन कानन सों लागे।[2]

रूपक— ज्यों ज्यों शैशव जल थरवा[illegible] त्यों त्यों नैन मीन इतराने।[3]

लोचन तृषित चकोरन के चित चोंप चैढ़ावत।[4]

इहि विधि बल बैसाख यह बीत्यो सुख दुख लाग,
सँड़सी भई लुहार की छिन पानी छिन आग।[5]

रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै रहीं सांवरे गात,
कल्पतरोवर सांवरौ ब्रज बनिता भई पात।
उलहि अंग अंग ते।

प्रतीप— गौर बरन तनु शोभित तीको, औटे कंचन कौ रँग फीको।[7]

मृगज लजे खंजन लजे कंज लजे छबि हीन,
दृगन देखि दुख छीन ह्वै मीन भये जललीन।[8]

दमकत लसत दसन की जोती, को है दामिनि को है मोती।[9]

उदाहरण—फलन के भार नमित द्रुम ऐसे, सम्पति पाइ बड़े जन जैसे।[10]

१—'रूपमञ्जरी', 'पद्ममञ्जरी', बलदेवदास करसन दास, छन्द नं० ११२ तथा नन्द-दास,' शुक्ल. पृ० ६ पङि्क्त नं० २२।

२—'रूपमञ्जरी,' 'पद्ममञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ११३।

३—'रूपमञ्जरी,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० ५, पङि्क्त नं० १०३।

४—'रासपञ्चाध्यायी', 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १६५, पङि्क्त नं० २३०।

५—'विरहमञ्जरी,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० ३१, पङि्क्त नं० ७३ तथा ७४।

६—'भँवरगीत,' 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १४७ पङि्क्त नं० ३६३।

७—'रूपमञ्जरी,' 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० ६ पङि्क्त नं० ११४।

८—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ११५।

९—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ११६।

१०—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ४५।

अवगुन जो हैं मित्र में मित्र न चित धरंत ,
केतकि रस बस मधुप जिमि, कंटक दुख न गनंत ।

मित्र जो अवगुन मित्र के, अनत नाहिं भाखंत
कूप छाँह जिमि आपनी, हिये मध्य राखंत ।

रूपमंजरी छवि कहन, इंदुमती मति कोन ,
ज्यों निर्मल निशिनाथ को हाथ पसारे बोन ।[६]

दृष्टान्त— प्रेम एक इक चित्त सों, एकहिं संग लगाय ,
गाँधी कौ सौदा नहीं जन जन हाथ विकाय ।

अतिशयोक्ति—ऊँची अटा घटा बतराहीं, तिन पर केकी केलि कराहीं ।

औरहिं भाँतिं भ्रमर रव बाजें, ठौर ठौर कछु यन्त्र से गाजें ।

सेस महेस गनेस सुरेसहु पार न पावें ।[७]

अत्युक्ति—उपजि विरह दुख दवा आँवा तन ताप तये हैं ,
कोउ कोउ हार के मुतिया तचि तचि लाल भये हैं ।[८]

हार के मुतिया उरझर माहीं, तचि तचि तरकि रवा ह्वै जाह

कहियो उड़प उदार सुंदर नंदकुमार सौं ,
अति कृश कीनी क्वार हार भार तें डार दिय ।[१०]

१—'विरहमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ४१ ।
२—'विरहमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ११८ ।
३—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास कनसनदास, छन्द नं० १४८ ।
४—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ३२० ।
५—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ३८ ।
६—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ११२ ।
७—'रासपञ्चाध्यायी,' 'नन्ददास,' शुक्र, पृ० १२७, पङ्क्ति नं० ५८ ।
८—'रुक्मिणी मङ्गल,' 'नन्ददास,' शुक्र, पृ० १४३, पंक्ति नं० ३५ तथा ३६ ।
९—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ४६९ तथा
'नन्ददास', शुक्र, पृ० २४, पंक्ति नं० ५१३ ।
१०—'विरहमञ्जरी,' 'नन्ददास,' शुक्र, पृ० ३४, पङ्क्ति नं० १२२, १२३ ।

विभावना—ज्यों चंदन चंद्रमा तपन सब सीतल करहीं,
पिय विरही जे लोग तिनहिं लगि आगि वितरहीं।[1]

पर जर उठत सरीर सब चोबा चंदन लाग।[2]

दिन अरु रजनी परे तुषार, सीत महा अग्नि की झार।[3]

ता भूपति के भवन को, उदय न बारे साँज,
बिन ही दीपक दीप जनु, दिये कुँवरि घर माँज।[4]

कवन समय आयो यह सजनी, इंदु अनल बरसे सब रजनी।[5]

मुरली हाथ सुहाई भाई, बिनहिं बजाये राग चुचाई।[6]

दीपक—भादों अति दुख ऐन, कहियो चंद, गोविद सों,
घन अरु धन के नैन, होइ न बरसत रैन दिन।[7]

असङ्गति—जब पसु चारन चलत चरन कोमल धरि बन में,
सिल तृन कंटक अटकत कसकत हमरे मन में।[8]

गति बिपरीत रची इन मैना, गरजें घन, बरसें तिय नैना।[9]

मोहियत दृगन के अचरज भारे, चलहिं आनतन आनहि मारे।[10]

संन्देह—जनु घन तैं बिछुरी बिजुरी मानिनि तनु काछे,
किधौं चंद सों रूसि चंद्रिका रहि गई पाछे।[11]

१—'रासपञ्चाध्यायी'।

२—'विरहमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द पृ० १२८।

३—'विरहमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द पृ० १२०।

४—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द पृ० ६५।

५—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द पृ० ३४७।

६—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द पृ० २४१।

७—'विरहमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० ६२।

८—'रासपञ्चाध्यायी,' नन्ददास, शुक्ल, पृ० १७२, पङ्क्ति नं० २६९, २७० पाठ-भेद से।

९—'विरहमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास छन्द नं० ६३।

१०—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास छन्द नं० ११४।

११—'रास पञ्चाध्यायी' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १७०, पंक्ति नं० ३४१, ३४२।

अर्थान्तरन्यास—पुनि कहे उत्तम साधु संग नित ही है भाई ,
पारस परसे लोह तुरत कंचन ह्वै जाई ।[1]

सम—मदन त्रिभंगी आपु हैं करी त्रिभंगी नारि ।[2]

कोउ कहै रे मधुप होहिं तुमसे जो संगी ,
क्यों न होहि तब स्याम सकल बातन चतुरंगी ।[3]

विषम—कहाँ हमारी प्रीति कहाँ तुम्हारी निठुराई ।[4]

कहाँ हो कुटिल कुचालि हिये की, कहाँ यह दया साँवरे प्रिय की ।[5]

स्मरण—सुधि आवत वा मोहन मुख की, कुटिल अलक युत सीमा सुख की ।[6]

मोरन नूतन चँदवा डारे, देखि देखि दृग होत दुखारे ।[7]

वा छबि बिन ये नैन हमारे, जरत हैं महा विरह के जारे ।[8]

अनुप्रास—ललित लवंग लतन की छाँहीं, हँसि बोलो डोलो गलबाहीं ।[9]

स्वास रहे घट लपटि के, बदन चहन के नेह ।[10]

थलज जलज झलमलत, ललित बहु भँवर उड़ावै ,
उड़ि उड़ि परत पराग कछू छबि कहत न आवै ।[11]

१—'भँवरगीत,' मेहरोत्रा तथा 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १३६, पंक्ति नं० ३२६, पाठ-भेद से
२—'भँवरगीत,' 'नन्ददास, 'शुक्ल, पृ० १३७, पङ्क्ति नं० २३४ ।
३—'भँवरगीत,' 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १३७, पङ्क्ति नं० २३१, २३२ ।
४—'रास-पञ्चाध्यायी,' 'नन्ददास,' शुक्ल, १७२, पङ्क्ति नं० ३७३ ।
५—'रूपमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० २४५ ।
६—'विरहमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास छन्द नं० ११२ ।
७—'विरहमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास छन्द नं० ११३ ।
८—'विरहमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास छन्द नं० ११६ ।
९—'विरहमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास छन्द नं० ५६ ।
१०—'विरहमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास छन्द नं० १५८ ।
११—'रास पञ्चाध्यायी,' 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १५८ पंक्ति नं० ७१, ७२ ।

नूपुर कंकन किंकिनि, करतल मंजुल मुरली ,
ताल मृदंग उपंग चंग एकहि सुर जुरली ।[1]

छिरकत है छबि छैल जमुन जल अंजुलि भरि भरि ।[2]

यमक—*माह मास के कदन करं, मास रह्यो नहि देह ,*
स्वास रहे घट लपटि के बदन चहन के नेहँ ।[3]

रीझि सरद की रजनी न जनी केतिक बाढ़ी ,
विलसत सजनी स्याम जथा रुचि अति रति बाढ़ी ।[4]

काव्य-समीक्षा का सिंहावलोकन

पीछे, नन्ददास के छन्दों में लिखे हुए ग्रन्थ और पदों का विवेचन काव्य और भाषा की दृष्टि से, अलग अलग रूप में, किया गया है । यहाँ संक्षेप में कवि के काव्य की विवेचना करते हुए कहा जा सकता है कि नन्ददास की प्रौढ़ काव्य-भाषा, सरस, प्रवाह-पूर्ण भाव और दृश्य-चित्रण में पूर्ण समर्थ और श्रुतिमधुर है । इनकी भाषा में प्रयुक्त अनुप्रास और कोमल-कान्त-पदावली जो सर्वत्र नहीं हैं, व्यक्त-भाव के सहायक हैं, मारक नहीं हैं । 'रासपञ्चाध्यायी' में भाव चित्रण तथा भाषा-माधुर्य की जैसी सफलता नन्ददास को मिली है वैसी परमानन्ददास को तो मिली ही नहीं है, कदाचित् सूरदास और तुलसीदास को भी अपनी कुछ ही पङ्क्तियों में मिली हो । इनकी भाषा के गुण-अवगुण पीछे बताए जा चुके हैं । वहाँ देखा गया था कि, इनके चौपाई-दोहा छन्दों में लिखे कथानकों में भाषा सरल होते हुए भी शिथिल है और भाव-प्रधान प्रसङ्गों से पूर्ण ग्रन्थों में भाषा में प्रौढ़ता, शब्द-गठन, सुखद-आलङ्कारिकता तथा ब्रजभाषा के साँचे में ढली संस्कृत शब्दावली है । इसी भाव तथा सङ्गीतमयी भाषा के लालित्य के लिए "नन्ददास जड़िया और सब गढ़िया" कहावत प्रसिद्ध है ।

नन्ददास 'यौवन' के कवि हैं । उनकी रचना में शृङ्गार रति की उमङ्ग रूप-सौन्दर्य की उन्मत्तता तथा युगल-रस की सरस धारा प्रवाहित हो रही है । 'रूपमञ्जरी', 'विरहमञ्जरी',

---

१—'रास पञ्चाध्यायी,' 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १७६ पंक्ति नं० ४६५ ।
२—'रास पञ्चाध्यायी,' 'नन्ददास', शुक्ल, पृ० १८० पंक्ति नं० ५४६ ।
३—'विरहमञ्जरी,' बलदेवदास करसनदास, छन्द नं० १५८ ।
४—'रासपञ्चाध्यायी,' 'नन्ददास,' शुक्ल, पृ० १७६, पंक्ति नं० ५३५ ।

'भँवरगीत', तथा 'रासपञ्चाध्यायी' में उन्होंने विरह-वेदना का करुण राग उठाया है अवश्य, परन्तु उन विरह के वर्णनों में वह समवेदनात्मक कसक-भरा प्रवाह नहीं है जो सूरदास और परमानन्ददास के विरह के पदों में है। उन्होंने बाललीला पर भी पद लिखे हैं, परन्तु बाल-भाव की जैसी निष्काम और निस्पृह भक्ति तथा विनोदकारी बाल-चरित्र की सजीव चित्रावली सूर और परमानन्द के पदों में व्यक्त हुई है वैसी इनके पदों में नहीं हुई। प्रेम के विभिन्न स्वरूपों में स्त्री-पुरुष की कामवासनामयी रति ने जितना नन्ददास के हृदय को पकड़ा है उतना अष्टछाप में कृष्णदास तथा गोविन्दस्वामी को छोड़कर अष्टछाप के अन्य किसी कवि के हृदय को नहीं पकड़ा। आध्यात्मिक दृष्टि से इस प्रकार की यौवनमयी रति, इन भक्तों की मधुर-भक्ति का स्वरूप है जो जनसाधारण की समझ और अनुभूति में नहीं आती। नन्ददास सौन्दर्योपासक प्राणी थे, इसी लिए उन्होंने सुन्दर रूप, सुन्दर शृङ्गार, बसन्त (होली) और वर्षा (मल्हार) जैसी सुन्दर ऋतुओं का सुन्दर वर्णन किया है। काव्य-सौष्ठव, व्रजभाषा की स्वाभाविक मधुरिमा तथा समान-चित्र-कला की पटुता जहाँ नन्ददास के नीचे लिखे पद (अ) के समान उनके पदों में व्यक्त है वहाँ उनकी भाषा की शिथिलता भाव की अपूर्णता तथा छन्द की पंगुता भी नीचे लिखे पद्य (ब) के समान उनके कुछ पद्यों में प्रकट होती है।

पद (अ) *चित्र सराहति, चितवति मुरि मुरि गोपी बहुत सयानी,*
टकझक में झुकि बदन निहारति, अलक सँवारति,
पलक न मारति, जानि गई नन्दरानी।
परि गये परदा ललित तिवारी, कंचन थार जब आनी,
नन्ददास प्रभु भोजन घर में, उर पर कर धर्यो, वे उतते मुसिकानी।[1]

पद्य (ब) चौपाई—*विचरत निरभै भगत तिहारे, तुमसे प्रभु जिनके रखवारे।*
ते वे तुम्हरे चरन सरोज, या अवनी पर परिहै खोज।
ठौर ठौर तिन कौं देखिहैं, जीवन जन्म सफल लेखिहैं।
तब देवकि आस्वासित करी, तुम सी को है भागन भरी।
जाकी कूख विषै भगवान, जो साच्छात पुरान पुमान।
आयौ रच्छक जदुबंस कौ, धुंसक असुर बंस कंस कौ।
पुनि बंदन करि भरे अनंद, चले घरन वृन्दारकवृंद।[2]

इन उद्धरणों की प्रथम पंक्ति में १६ मात्रा की गणना से चौपाई छन्द है, आगे की पंक्तियों में १५ मात्रा की गणना से चौपई छन्द है। वर्णन और भाव की कमी पद्य के पढ़ने से ही पाठक को ज्ञात होने लगती है।

१—लेखक के निजी नन्ददास-पद-संग्रह से, तथा कुछ पाठ-भेद से, 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० ४०६

२—'दशम स्कन्ध', अध्याय ३, 'नन्ददास' शुक्ल, पृ० २०१।

नन्ददास एक विद्वान् व्यक्ति थे। वार्ताकार ने भी इनकी विद्वत्ता की प्रशंसा की है, इनकी बहुज्ञता तथा पाण्डित्य का परिचय इनकी रचनाओं से प्रकट है। ये काव्य-शास्त्र के ज्ञाता, संस्कृत-भाषा के पण्डित तथा साम्प्रदायिक सिद्धान्त के आचार्य थे। इस बात का प्रमाण भी इनकी रचनाओं से मिलता है। यदि हम भक्तिभाव की गहनता और सर्वहितकारी प्रभाव, इन दो दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर, सूरदास, परमानन्ददास तथा नन्ददास, इन तीन कवियों की उपलब्ध रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करें तो हम सर्वप्रथम स्थान सूर को, द्वितीय स्थान परमानन्ददास को और तृतीय स्थान नन्ददास को देंगे। भाव और भाषा की सम्मिलित दृष्टि को लेकर के हम उक्त क्रम ही में इन कवियों का नामोल्लेख करेंगे। परन्तु केवल पद-लालित्य और भाषा-माधुर्य की दृष्टि रक्खी जाय तो नन्ददास अपने कुछ चुने हुए ग्रन्थों की भाषा के कारण प्रथम स्थान और परमानन्ददास, तृतीय स्थान पर रक्खे जायँगे। रचना के विस्तार की दृष्टि, और उस विस्तार में कितना उच्च कोटि का काव्य है, इस दृष्टि को लेने पर फिर नन्ददास इन तीनों कवियों में तृतीय और सूरदास प्रथम होंगे।

परिशिष्ट

सोरों में प्राप्त, नन्ददास के जीवन-वृत्त-विषयक, सामग्री

जून, सन् १६३६ ई० के 'विशाल भारत' पत्र में कासगञ्ज के पण्डित रामदत्त भारद्वाज का एक लेख 'महाकवि नन्ददास' के नाम से निकला था। इसमें भारद्वाज जी ने नन्ददास और तुलसीदास के जीवन-सम्बन्ध की सोरों ज़िला एटा में पाई जाने वाली कुछ नवीन सामग्री की सूचना दी थी। जिन ग्रन्थों की उन्होंने सूचना दी थी वे, मुरलीधर चतुर्वेदी-कृत 'रत्नावली-चरित्र,' कृष्णदास-कृत 'सूकर-क्षेत्र-माहात्म्य' और 'रामचरित-मानस' की संवत् १६४३ वि० की एक खण्डित प्रति हैं। उक्त लेख नवीन सामग्री को प्रकाश में लाने की केवल सूचना-मात्र था। अगस्त, सन् १६३६ में उक्त लेख से प्रेरित होकर प्रस्तुत ग्रन्थ का लेखक सोरों और कासगञ्ज गया। वहाँ उसने उक्त ग्रन्थों के साथ-साथ दो और ग्रन्थों का, एक कृष्ण-दास-कृत 'वर्षफल' तथा दूसरा, 'रत्नावली-दोहा-संग्रह,' अवलोकन किया। उसी समय इस सामग्री पर लेखक ने हिन्दुस्तानी में कुछ लेख भी लिखे।

उक्त सामग्री की जाँच प्रयाग विश्वविद्यालय के डा० माता प्रसाद गुप्त ने भी की, तथा उन्होंने सम्मेलन-पत्रिका (श्रावण भाद्रपद, सं० १६६७) में 'सोरों में प्राप्त गोस्वामी तुलसीदास केजीवनवृत्त से सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री की 'बहिरङ्ग परीक्षा' नामक एक लेख भी लिखा। उस लेख में उन्होंने इस सामग्री को कुछ अंशों में प्रामाणिक और कुछ अंशों में अप्रमाणिक सिद्ध किया। डा० गुप्त ने बाद को प्रकाशित हुए अपने ग्रन्थ 'तुलसीदास' में इस सम्पूर्ण सामग्री को सन्देह की दृष्टि से देखा। सोरों में प्राप्त ग्रन्थों में

जो नन्ददास के जीवन-चरित्र-सम्बन्धी कथन हैं उनका विवरण यहाँ इस परिशिष्ट भाग में दिया जाता है। जैसाकि पीछे प्रस्तुत ग्रन्थ में कहा जा चुका है; लेखक ने इस सामग्री की प्रामाणिकता पर पूरा विचार नहीं किया। इस सामग्री पर समय समय पर पत्रों में निकली हुई असम सम्मतियों के बीच में, सोरों के उक्त ग्रन्थों की बिना फिर से जाँच किये, निश्चयात्मक विवेचन करना तथा निर्णय-सूचक विचार देना, लेखक ने उचित नहीं समझा है। लेखक के प्रयत्न करने पर भी सोरों की नन्ददास और तुलसीदास विषयक सामग्री फिर से जाँच के लिए उसे नहीं मिल सकी है।

अक्टूबर, सन् १९४२ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय के रिसर्च स्कॉलर श्री उमाशङ्कर शुक्ल ने नन्ददास के ग्रन्थों का 'नन्ददास' नामक पुस्तक रूप में सम्पादन किया। इस ग्रन्थ की भूमिका में शुक्ल जी ने नन्ददास का संक्षिप्त जीवन-वृत्त, कविकृत प्रसिद्ध ग्रन्थ, सम्पादित ग्रन्थों का आधार, सम्पादन-विधि, विषय, तथा संक्षेप में नन्ददास की कविता की समीक्षा से सम्बन्धित लेख दिये हैं। जिन सूत्रों से प्राप्त नन्ददास के ग्रन्थों का अध्ययन लेखक ने किया था, प्रायः उन्हीं सूत्रों से एकत्र कर शुक्ल जी ने कवि के ग्रन्थों का सम्पादन किया है। कवि के जीवन-चरित्र भाग में श्री शुक्ल जी ने भी सोरों वाली सामग्री पर कोई निश्चयात्मक मत प्रकट नहीं किया।

'रत्नावली चरित्र' मुरलीधर-कृत

मुरलीधर चतुर्वेदी के सोरों, ज़िला एटा में दो ग्रन्थ मिले हैं। एक, रत्नावली चरित; और दूसरा, 'बारहसेनी जाति वृत्त'। 'रत्नावली-चरित' का रचनाकाल मुरलीधर ने संवत् १८२६ दिया है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने जिस मुरलीधर कवि का वृत्तान्त दिया है, उनसे यह भिन्न हैं। साहित्य के इतिहासों में दिए हुए कवि मुरलीधर अथवा श्रीधर का समय संवत् १७६७ है, और निवासस्थान प्रयाग है। उसके द्वारा रचित ग्रंथों का विषय नायिकाभेद, कृष्णलीला-गान आदि हैं। इस ग्रन्थ के रचयिता कहे जाने मुरलीधर का उल्लेख हिन्दी साहित्य के इतिहास में नहीं हुआ है। 'रत्नावली चरित' की एक प्रतिलिपि तथा एक मूल प्रति, स्वयं मुरलीधर के हाथ की लिखी कही जाने वाली, पण्डित गोविन्दवल्लभ भट्ट सोरों के पास है। प्रतिलिपि संवत् १८६४ विक्रमी की है और मुरलीधर के शिष्य रामवल्लभ मिश्र ने उसकी नक़ल की है, जो मुरलीधर मिश्र के हाथ की लिखी है, वह संवत् १८२६ विक्रमी की है। कवि ने ग्रन्थरचना-काल यानी १८२६ संवत् में अपनी आयु ८० वर्ष की दी है। 'रत्नावली-चरित' और 'बारह सेनी जातिवृत्त' में कवि मुरलीधर ने अपना परिचय दिया है। इसमें कवि मुरलीधर कहता है—

चतुरवेद मुरलीधर सुनाम, संतति सनाढ्य तव वेद धाम।
हौं रहहुँ सु सूकर खेत गाम, प्रभु बराह पद पावन ललाम।

कवि ने इस ग्रन्थ की सामग्री का आधार जनश्रुति माना है। वह कहता है—

नवकर बसु भू विक्रमीय, सूकर तीरथ वंदनीय।
साध्वी रतनावलि कहानि, बिरधनुमुख जस परी जानि।
दुज मुरलीधर चतुरवेद, लिखिप्रगटो जगहित सभेद।

'रत्नावली-चरित्र' में रत्नावली और उसके पति महात्मा तुलसीदास के चरित्रों का वर्णन है। तुलसीदास के वैराग्य लेने के बाद का चरित्र इसमें नहीं है; बीच बीच में नन्ददास जी के बारे में भी उल्लेख है। इस ग्रन्थ में तुलसीदास और नन्ददास के विषय में निम्नलिखित चरित्र दिया हुआ है—

गोस्वामी तुलसीदास सोरों ज़िला एटा के निवासी पण्डित आत्माराम के पुत्र थे। वे जाति के शुक्ल आस्पदधारी सनाढ्य ब्राह्मण थे। नन्ददास उनके चचेरे भाई थे। तुलसीदास और नन्ददास दोनों नृसिंह जी से विद्या पढ़ा करते थे। गुरु नृसिंह जी उनके सजातीय स्मार्त वैष्णव थे, जिनकी सोरों में चक्रतीर्थ के निकट पाठशाला थी। तुलसी की माता का नाम हुलसी था। तुलसीदास के माता-पिता उनकी बहुत छोटी अवस्था में ही परलोकवासी हो गये थे उनकी दादी ने उन्हें बड़े कष्ट और ग़रीबी में पाला। उनके चचेरे भाई नन्ददास और चन्द्रहास सोरों के निकट रामपुर गाँव में रहते थे। आगे इस ग्रन्थ में रत्नावली और तुलसीदास का चरित्र लिखा है। तुलसीदास के वैराग्य लेने पर रत्नावली कभी अपने मायके में रहती थी और कभी नन्ददास के घर रहती थी। इस ग्रन्थ से यह भी पता चलता है कि नन्ददास के पिता का भी देहान्त उनके पढ़ते समय सोरों में ही हो गया था, क्यों कि रत्नावलीचरितकार ने लिखा है कि तुलसीदास दादी के मरने के बाद सोरों में ही रहते रहे, परन्तु नन्ददास और उनके छोटे भाई चन्द्रहास अपनी माता के पास रामपुर में रहते थे। कवि ने यह नहीं कहा कि वे अपने पिता के पास रामपुर में रहते थे। नन्ददास की जीवनी से सम्बन्ध रखने वाले अंश यहाँ फुटनोट में उद्धृत किये जाते हैं[1]। रत्नावली के पिता दीनबन्धु पाठक, रत्नावली के लिए वर की

१—तीरथ सूकरखेत नाम, भयो विदित जग मुकति धाम।
बहु तीरथ जहँ रहे राजि, सेवत अघगन जात भाजि।
× × ×
जहँ सुरसरि की बहत धार, जनु बराह पद रहि पखार।
बहुरि विप्र जहँ करत वास, रहे वेद धरमहिं प्रकास।
× × ×
तबै मीत इक दई आस, गुरु नृसिंह के जाहु पास।
स्मारत वैष्णव सो पुनीत, अखिल वेद आगम अधीत।

खोज में थे। उनके किसी मित्र ने उन्हें बताया कि पण्डित नृसिंह जी की पाठशाला में रामपुर के सनाढ्य ब्राह्मणों के दो लड़के पढ़ते हैं। इसी प्रसङ्ग में नन्ददास का परिचय दिया हुआ है।

रत्नावली और तुलसीदास का विवाह हो गया—

रत्नावली सी नारि पाइ, तुलसी घर सुख गयो छाय।
पितामहा बहु दुख उठाइ, पोषे तुलसी उँर लगाइ।
दंपति सेवा सों सिहाय, सुरग गई कछु दिन बिताय।
नन्ददास और चन्द्रहास, रहहिं रामपुर मात पास।
दंपति बस बाराह धाम, लहत मोद आठोहु याम।

तुलसीदास ने वैराग्य ले लियां और वियोगिनी रत्नावली, पति-वियोग के दुःख में समय व्यतीत करने लगी, तथा संवत् १६५१ में उसका देहान्त हो गया।

कँबहुँ रामपुर बसति जाइ, कबहुँ बदरिका रहति आइ।

× × ×

पति वियोग में साधि जोग, त्याग दिये सब जगत भोग।
भू[१] सर[५] रस[६] भू[१] बरस पूरि, सुरग गई लहि सुजस भूरि।

रत्नावली दोहासंग्रह—इस ग्रन्थ में नन्ददास का बहुत थोड़ा उल्लेख है। एक स्थान पर तुलसीदास की वियोगिनी पत्नी रत्नावली एक दोहे में कहती है—

मोइ दीनों सन्देश पिय, अनुज नन्द के हाथ,
रतन समुझि जनि पृथक मोइ, जो सुमिरत रघुनाथ।

इस दोहे में कहा गया है कि तुलसीदास ने अपने छोटे भाई नन्ददास अथवा छोटे भाई के नन्द (पुत्र) के हाथ रत्नावली के पास सन्देशा भेजा कि रत्नावली जो तू रघुनाथ का भजन करती है, तो तू मुझ से अलग नहीं है।' सोंरो में, इस प्रसङ्ग पर एक जनश्रुति भी लेखक ने सुनी थी कि एक बार नन्ददास के पुत्र और तुलसीदास जी के भतीजे कृष्ण-

---

चक्रतीर्थ ढिग पाठशाल, तहीं पढ़ावत विपुल बाल।
तहाँ रामपुर के सनाढ्य, शुकुल वंश घर द्वै गुनाढ्य।
तुलसीदास अरु नंददास, पढ़त करत विद्या विलास।
एक पितामह पौत्र दोउ, चंद्रहास लघु अपर सोउ।
तुलसी आत्माराम पूत, उदर हुलासी के प्रसूत।
गए दोउ ते अमर लोक, दादी पोतहिं करि ससोक।
बसत जोग मारग समीप, विप्र बंस कर दिव्य दीप।

दास तुलसीदास जी को काशी से सोरों लाने के लिए गये थे, उससमय यह सन्देश भेजा गया था। रत्नावली ने तुलसीदास के वैराग्य लेने का संवत् और अपनी आयु के विषय में इस प्रकार कहा है—

बैस बारहीं कर गह्यो, सोरहिं गौन कराय,
सत्ताइस लागत करी नाथ, रतन असहाय।
सागर[४] ष[०]रस[६]ससी[१]रतन, संवत भो दुषदाय,
पिय वियोग जननी मरन, करन न भूल्यो जाय।

उक्त छन्द के आधार से संवत् १६०४ में जब रत्नावली की आयु २७ वर्ष की थी, तुलसीदास ने वैराग्य लिया था।

सूकरक्षेत्र माहात्म्य[१]

नन्ददास की जीवनी के आधारभूत ग्रन्थों में नन्ददास की किसी सन्तान का नाम कहीं नहीं आया। 'सूकरक्षेत्र माहात्म्य' और संवत् १६४३ की कही जाने वाली 'रामचरितमानस' की प्रति में यह उल्लेख मिलता है कि कृष्णदास नन्ददास के पुत्र थे। इन्हीं कृष्णदास द्वारा रचित दो ग्रन्थ सोरों में पण्डित गोविन्दवल्लभ भट्ट को प्राप्त हुए हैं—एक, 'सूकरक्षेत्रमाहात्म्य'; दूसरा, 'वर्ष फल'। 'सूकरक्षेत्रमाहात्म्य' सं० १६७० का लिखा हुआ है। कृष्णदास ने इस ग्रन्थ के अन्त में अपनी वंशावली दी है जो तुलसीदास और नन्ददास के जीवन-चरितों को एक नया रूप देती है। आरम्भ में कवि ने वन्दना रूप में अपनी माता अर्थात् कवि नन्ददास की पत्नी, तथा अपने ताऊ तुलसीदास की पत्नी रत्नावली के नाम भी दिए हैं। छन्दों में दिया हुआ यह परिचय[२] और ग्रन्थ के अन्त में जो कृष्णदास

१—एटा से यह पुस्तक छप चुकी है।

सोरठा

२—गणपति गिरा गिरीस, गिरजा गंगा गुरु चरन,
बंदहुँ पुनि जगदीश, छबि बराह महि उद्धरन।
बंदहुँ तुलसीदास, पितु बड़ भ्राता पद जलज,
जिन निज बुद्धि विलास, रामचरितमानस रच्यो।
सानुज श्री नन्ददास, पितु की बंदहुँ चरन रज,
कीनो सुजस प्रकाश, रास पंच अध्यायि भनि।
बंदहुँ कृपानिकेत, पितु गुरु श्री नरसिंह पद,
बंदहुँ शिष्य समेत, वल्लभ आचारज सुपद।
बंदहुँ कमला मात, बंदहुँ पद रत्नावली,
जासु चरन जल जात, सुमिरि लहहिं तिय सुरथली।

की वंशावली[1] दी हुई है, वे नीचे फुटनोट में लिखे उदाहरणों से ज्ञात होंगे।

इस वंशावली के अनुसार तुलसीदास और नन्ददास चचेरे भाई ठहरते हैं। ग्रन्थ को समाप्त करते हुए कृष्णदास ने उसका रचनाकाल भी दिया है, और अपने पिता नंददास द्वारा अपने निवास-स्थान रामपुर का श्यामपुर नाम रखे जाने का उल्लेख भी किया है—

सोरह सौ सत्तर प्रमित, सम्वत सितदल माँह,
कृष्णदास पूरन कर्‌यो, छेत्र महात्म बराह।
तीरथ वर सौकर निकर, गाम रामपुर बास,
सोइ रामपुर श्यामपुर, कर्‌यो पिता नन्ददास।

सुकुल बंस दुज मूल, पितरन पद सरसिज नमहुँ,
रहहिं सदा अनुकूल, कृष्णदास निज बंस गनि।
महि बराह संवाद, सूकरछेत्र महात्म कर,
हों धरि उर आह्लाद, कृष्णदास भाषा करहुँ।

1—खेत बराह समीप सुचि, गाम रामपुर एक,
तहँ पंडित मंडित बसत, सुकुल बंश सविवेक।
पंडित नारायन सुकुल, तासु पुरुष परधान,
धारयो सत्य सनाढ्य पद, ह्वै तप वेद निधान।
शस्त्र-शास्त्र विद्या कुशल, भे गुरु द्रोन समान,
ब्रह्मरंध्र निज भेदि जिन, पायो पद निर्वान।
तेहि सुत गुरु ज्ञानी भये, भक्त पिता अनुहारि,
पण्डित श्रीधर शेषधर, सनक सनातन चारि।
भये सनातन देव सुत, पण्डित परमानन्द,
व्यास सरिस वक्ता तनय, जासु सच्चितानन्द।
तेहि सुत आत्माराम बुध, निगमागम परवीन,
लघु सुत जीवाराम भे, पण्डित धरम धुरीन।
पुत्र आत्माराम के पण्डित तुलसीदास,
तिमि सुत जीवाराम के, नन्ददास चन्दहास।
मथि मथि वेद पुरान सब, काव्य शास्त्र इतिहास,
रामचरितमानस रच्यो, पण्डित तुलसीदास।
वल्लभ कुल वल्लभ भये, तासु अनुज नन्ददास,
धरि वल्लभ आचार जिन, रच्यो भागवत रास।
नन्ददास सुत हों भयो, कृष्णदास मतिमन्द,
चन्द्रहास बुध सुत अहै, चिरजीवी ब्रजचन्द।

उपर्युक्त ग्रन्थ से नन्ददास के जीवन-सम्बन्धी निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं—

नन्ददासजी सूकरक्षेत्र के निकट रामपुर स्थान के रहनेवाले थे। उनकी जाति सुकुल आस्पदधारी सनाढ्य ब्राह्मण थी। 'रामचरितमानस' के रचयिता तुलसीदास उनके चचेरे भाई थे। नन्ददास के पूर्वजों में एक नारायण शुक्ल हुए जो सनाढ्य ब्राह्मण थे। उनके चार पुत्र हुए, पण्डित श्रीधर, शेषधर, सनक और सनातन। सनातनदेव के पुत्र पण्डित परमानन्द हुए। परमानन्द के पुत्र पण्डित सच्चिदानन्द हुए। इनके दो पुत्र हुए, बड़े आत्माराम और छोटे जीवाराम। आत्माराम के पुत्र पण्डित तुलसीदास जिन्होंने 'रामचरितमानस' की रचना की और जीवाराम के पुत्र नन्ददास और चन्द्रहास हुए। नन्ददास के पुत्र कृष्णदास और चन्द्रहास के पुत्र व्रजचन्द्र हुए। कृष्णदास से व्रजचन्द्र छोटे थे, क्योंकि कृष्णदास ने व्रजचन्द्र को चिरंजीवी कहा है। इस वंशावली में तुलसीदास की किसी संतान का उल्लेख नहीं है। 'रत्नावलीचरित' से ज्ञात होता है कि तुलसीदास के एक पुत्र हुआ था, परन्तु वह जीवित नहीं रहा।

नन्ददास वल्लभसम्प्रदायी थे। वे कवि थे, और उन्होंने 'रासपञ्चाध्यायी' की रचना की, इनकी प्रसिद्धि उनके जीवन-काल में ही हो गई थी। उनकी धर्मपत्नी का नाम कमला था। नन्ददास के बड़े भाई तुलसीदास की पत्नी का नाम रत्नावली था। इस ग्रन्थ से यह भी ज्ञात होता है कि नन्ददास ने कृष्णभक्त होने के बाद अपने गाँव रामपुर का नाम श्यामपुर रख दिया था। नन्ददास के पुत्र कृष्णदास भी एक कवि थे। इस ग्रन्थ से यह भी पता लगता है कि नन्ददास और तुलसीदास दोनों के शिक्षा-गुरु कोई नृसिंह पण्डित थे।

श्यामपुर गाँव आजकल, श्यामपुर और रामपुर दोनों नामों से प्रसिद्ध है। इस गाँव में एक श्यामसर नामक तालाब भी है, जहाँ बलदेव छठ के दिन प्रत्येक वर्ष मेला लगता है। कहा जाता है कि यह तालाब भी नन्ददास ही ने बनवाया था। पटवारियों के सरकारी कागज़ों में इस गाँव का नाम श्यामसर लिखा जाता है। आजकल यह गाँव लगभग पचास घरों की बस्ती है। यहाँ ब्राह्मणों के दो-एक ही घर हैं, परन्तु वे अपने को नन्ददास अथवा चन्दहास का वंशज नहीं कहते। कहा जाता है कि नन्ददास के वंशज सोरों ही में रहते हैं। लेखक जब सोरों गया तो उसने नन्ददास के वंशधरों का पता लगाया। उसे एक ब्राह्मण-घर बताया गया जो अपने को तुलसीदास और नन्ददास का वंशज बताता था। सोरों के आसपास के गाँवों में सनाढ्य ब्राह्मण ही रहते हैं; अन्य प्रकार के ब्राह्मण जैसे सरयूपारी अथवा कान्यकुब्ज वहाँ नहीं हैं।

कवि कृष्णदास कृत वर्षफल—नन्ददास के पुत्र कृष्णदास का यह दूसरा ग्रन्थ बताया जाता है। यह ज्योतिष ग्रन्थ है, इसमें इसका रचनाकाल सं० १६५७ लिखा है। पुस्तक में कुल १७ पृष्ठ हैं। इसमें सूर्य से लेकर राहु तक आठों ग्रहों का फल कहा गया है। इन के अतिरिक्त 'अरिष्ट योग,' 'अरिष्ट भङ्ग योग,' 'राजयोग,' 'राजभङ्ग' आदि योगफल भी कहे हैं। इस ग्रन्थ के अंन्तिम दोहों से नन्ददास के जीवन पर प्रकाश पड़ता है और 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य' के कथन की पुष्टि होती है। ग्रन्थ का आरम्भ इस प्रकार होता है—

कवित्त—गनपति गिरीस गंग गौरी गुरु गीरवान
गोपवेस गोकुलेस गोपगुन गाइके।
भूमि देव देव दिवि गामधाम देवी देव
तात मात पाद कंज मन्जु सीस नाइके।
सूर सोम भौम सौम, देवगुरु दैत्यगुरु
शुक्र शान राहु केतु खेट मन लाइके।
बालबधि आस कविदास दास कृष्णदास
भाषतु हों वर्षफल वर्षग्रन्थ ध्याइके।

ग्रन्थ के अन्तिम छन्द जिन से नन्ददास के जीवन पर प्रकाश पर पड़ता है, तथा ग्रन्थ की पुष्पिका, इस प्रकार हैं—

दोहा—तात अनुज चन्दहास बुध, बर निरदेसहि धारि,
लिख्यो जथामति वर्षफल, बालबोध संचारि।

कवित्त—कीरति की मूरति जहाँ राजै भागीरथ की,
तीरथ बराह भूमि वेदनु जे गाई है
जाई धाम रामपुर स्यामपुर कीनी तात,
स्यामायन स्यामपुर बास सुषदाई है।
सुकुल विप्र बंस में विग्य तहाँ जीवाराम,
तासु पुत्र नन्ददास कीरति कवि पाई है।
ता सुत हों कृष्णदास वर्षफल भाषा रच्यो,
चूक होइ सोंधै मम जानि लघुताई है॥
सोरह सौ सत्तामनि, विक्रम के वर्ष माँझि,
भई अति कोप दृष्टि विस्व के विधाता की।
बीतत असाढ़ बाढ़ लाई बड़ देव धुनि,
बूढ़ा जल जन्म भूमि रत्नावलि माता की।
नारी नर बूढ़े कछु सेस बड़ भाग रहे,
चिन्ह मिटे बदरी के दुखद कथा ताकी।
आजु नभ कृष्ण मास तेरस शनि कृष्णदास,
वर्षफल पूर्यो भई दया बोध दाता की॥

पुष्पिका— इति श्री कृष्णदास विरचितम् भाषा वर्षफलम् सम्पूर्णम्। संवत् १६७२ मार्गसिर कृष्णा त्रतियां गुरु वासरे, सहसवान नगरे शुभम्, शुभम्, शुभम्।

इस ग्रन्थ से निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं—

नन्ददास सुकुल विप्र-वंश के थे। इनके पिता का नाम जीवाराम था जो भागीरथी

गङ्गा के निकट वाराह-भूमि तीर्थ के निकट रामपुर गाँव के रहनेवाले थे। कृष्णदास कवि उनके पुत्र थे। उन के छोटे भाई चन्द्रहास थे जिनकी आज्ञा से उनके भतीजे कृष्णदास ने इस 'वर्षफल' की रचना की थी। नन्ददास ने अपनी जन्मभूमि रामपुर गाँव का नाम रामपुर से श्यामपुर रख दिया था। नन्ददास के वंशज कृष्णदास आदि इसी गाँव श्यामसर या सोरों में रहा करते थे। नन्ददास जी प्रसिद्ध कवि थे। संवत् १६५७ में ईश्वरीय कोप हुआ, जिससे अति वृष्टि हुई और गङ्गा में बाढ़ आ गई, जिस से 'रत्नावलि माता' की जन्मभूमि 'बदरिया' जल में डूब गई। रत्नावलि को कवि ने माता शब्द से सम्बोधित किया है। यह ग्रन्थ भी पिछले ग्रन्थों के वृत्तान्तों का समर्थन करता है।

रामचरितमानस की एक हस्तलिखित प्रति

सोरों में पं० गोविन्द बल्लभ भट्ट जी के पास रामचरितमानस की एक खण्डित प्रति है। इस प्रति के लेख से इस बात की पुष्टि होती है कि 'रामचरितमानस' के रचयिता महात्मा तुलसीदास नन्ददास के चचेरे भाई थे, तथा कृष्णदास नन्ददास के पुत्र का नाम था। वे सोरों (सूकरक्षेत्र) के रहनेवाले थे। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की यह प्रति काशी में अपने शिष्यों से नक़ल करा कर कृष्णदास को दी थी, और कृष्णदास उसे सोरों लाए थे। यहाँ इस प्रति का कुछ ब्योरा देना उचित जान पड़ता है।

सोरों ज़िला एटा के पण्डित गोविन्दवल्लभ शास्त्री काव्यतीर्थ के पास संवत् १६४३ वि० के लिखे हुए 'रामचरितमानस' के तीन काण्डों—बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड और अरण्यकाण्ड—की खण्डित प्रतियाँ हैं। अयोध्याकाण्ड का अन्तिम पृष्ठ नष्ट हो गया है। बाल तथा अरण्य काण्डों में भी बहुत से पृष्ठ नष्ट हो गये हैं। बचे पृष्ठ भी किनारे से जले हुए हैं। उन में से दो काण्डों में उनकी प्रतिलिपि का संवत् १६४३ दिया हुआ है। अरण्य काण्ड के प्रतिलिपिकार का नाम लछिमनदास दिया हुआ है, और बालकाण्ड के प्रतिलिपिकार का नाम रघुनाथदास। अरण्यकाण्ड की पुष्पिका इस प्रकार है—

इति श्री रामायने सकल कलिकलुषविध्वंसने विमल वैराग्य सम्पादिनी षट सुजन सम्वादे रामवन चरित्र वर्ननो नाम तृतीय सोपानआरण्य काण्ड समाप्त ॥३॥ श्री तुलसीदास गुरु की आज्ञा सों उनके भ्राता सुत कृष्णदास सोरों क्षेत्र निवासी हेत लिखितं लछिमनदास काशी जी मध्ये सम्वत् १६४३ आषाढ़ शुद्ध ४ शुक्र इति। और बालकाण्ड की पुष्पिका इस प्रकार है—

इति श्री रामचरितमानसे सकल कलिकलुषविध्वंसने विमल वैराग्य सम्पादिनी नाम १ सोपान समाप्तः सम्वत् १६४३ शाके १५०८ ... (आगे कुछ अक्षर नष्ट हो गये हैं) **नन्ददास पुत्र कृष्णदास हेतु लिषी रघुनाथदास ने काशीपुरी में।**

रामचरितमानस की इस प्रति के अन्तिम लेख से, पीछे कहे हुए, कुछ कथनों का समर्थन होता है।

सहायक ग्रन्थों की सूची

हिन्दी

प्रकाशित ग्रन्थ

ग्रन्थ	विशेष विवरण
अष्टछाप :	सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा। प्रकाशक रामनारायण लाल बुकसेलर, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
अष्टछाप :	प्रकाशक विद्या-विभाग, काँकरौली, संस्करण सं० १९९८ विभाग।
इतिहास-प्रवेश :	लेखक जयचंद्र विद्यालङ्कार, प्रकाशक सरस्वती पब्लिशिंग हाउस इलाहाबाद, संस्करण १९३९ ई०
इम्पीरियल फ़रमान्स :	सम्पादक के. एम्. झावेरी, बम्बई. मुद्रक मणिलाल इच्छाराम देसाई, न्यूज़ प्रिंटिंग प्रेस बम्बई. १९२८ ई० संस्करण. प्रकाशक, विद्या विभाग नाथद्वार
काँकरौली का इतिहास :	ले० कण्ठमणि शास्त्री। प्रकाशक, विद्याविभाग काँकरौली, संस्करण संवत् १९९६ वि०
काव्य-कल्पद्रुम :	ले० कन्हैयालाल पोद्दार। प्रकाशक गङ्गा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ. संस्करण संवत् १९९१ वि०
कीर्तन-संग्रह :	प्रकाशक लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद संस्क० १९९३ वि०
कीर्तन-संग्रह :	प्रकाशक ठाकुरदास सूरदास। बम्बई, संस्करण सं० १९८० वि०.
गीता-रहस्य :	लेखक लोकमान्य तिलक। हिन्दी अनुवादक माधव राव सप्रे, प्रकाशक, तिलक बन्धु, बम्बई, संस्करण सन् १९२८ ई०
गोवर्धनवासी :	लेखक चतुर्भुजदास, प्रकाशक मनोहर पुस्तकालय, मथुरा।
चौरासी वैष्णवन की वार्ता :	प्रकाशक वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, संस्करण सं० १९८५ वि०
दशम स्कन्ध भाषा :	ले० नन्ददास, सम्पादक कर्मचंद गुग्गुलानी अमृतसर।
दान-लीला (लीथो में) :	ले० नंददास, प्रकाशक मुंशी कन्हैयालाल मथुरा, संस्करण १८७३ ई०
दान-लीला :	ले० कुम्भनदास, प्रकाशक मनसुखलाल शिवलाल श्यामघाट मथुरा।
दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता :	प्रकाशक वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, संस्करण सं० १९८८ वि०
दोहा-रत्नावली :	सम्पादक, प्रभुदयाल शर्मा, इटावा, प्रथम संस्करण

ग्रन्थ	विशेष विवरण
नन्ददास—दो भाग :	सम्पादक उमाशङ्कर शुक्ल, प्रकाशक प्रयाग विश्व विद्यालय, प्रथम संस्करण। सन् १९४२ ई०
नवरस :	लेखक गुलाबराय, प्रकाशक आरा नागरी प्रचारिणी सभा आरा बिहार संस्करण सन् १९३४ ई०
नाममाला :	लेखक नन्ददास, प्रकाशक लहरी प्रेस, बनारस।
नागर-समुच्चय :	ले० नागरीदास, सम्पादक पं० शिवलाल, ज्ञान सागर छापाखाना बम्बई संस्करण सं० १९५५ वि०
निजवार्ता, घरूवार्ता तथा चौरासी बैठकन के चरित्र :	प्रकाशक लल्लूभाई छगनलाल देसाई अहमदाबाद, संस्करण संवत् १९९० वि०
नित्य कीर्तन संग्रह :	प्रकाशक लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद।
पञ्चमञ्जरी—रसमञ्जरी, अनेकार्थमञ्जरी, मानमञ्जरी या नाममाला, विरह मञ्जरी तथा रूपमञ्जरी :	प्रकाशक बलदेवदास करसनदास कीर्त्तनियाँ, सरस्वतीप्रेस बंबई, संस्करण संवत् १९७३ वि०
परिषद् निबंधावली :	सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, प्रयाग विश्व विद्यालय प्रयाग।
पाँचे मुअरीओ :	ले० नन्ददास, प्रकाशक ठाकुरदास सूरदास, बंबई संस्क० १९४५ सं०
पुष्टिमार्गीय पद संग्रह :	संग्रहकर्ता ठाकुरदास सूरदास, प्रकाशक ठाकुरदास सूरदास, बंबई, संस्करण संवत् १९८० वि०
पुष्टिमार्गीयोपदेशिका :	ले० चिमनलाल हरिशङ्कर, अनुवादक तथा प्र०, श्रीमाधव शर्मा काशी
प्रभुचरित्र चिन्तामणि :	लेखक देवकीनन्दन।
बसन्त धमार, कीर्तन संग्रह, भाग २ :	प्रकाशक लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद, संस्करण संवत् १९८४ वि०
ब्रज की झाँकी :	प्रकाशक गीता प्रेस, गोरखपुर संस्करण सं० १९९८ वि०
ब्रह्मवाद :	ले० रमानाथ शास्त्री, प्रकाशक पुष्टिमार्ग कार्यालय, नाथद्वार, संस्क० सं० १९९२ वि०
ब्रह्म-सम्बन्ध :	ले० भट्ट बलभद्रप्रसाद शर्मा, प्रकाशक श्री वल्लभाधीश, विद्या मन्दिर सतीबुर्ज मथुरा।
भक्तनामावली :	टीकाकार भारतेन्दु हरिश्चंद्र।
भक्तमाल टीका, भक्तिरस बोधिनी :	टीकाकार प्रियादास। प्रकाशक वेंकटेश्वर प्रेस बंबई, संस्करण संवत् १९६७ वि०
भक्तमाल, भक्त कल्पद्रुम टीका :	टीकाकार श्री प्रतापसिंह। प्रकाशक नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, संस्करण सन् १९२२ ई०.
भक्तमाल; भक्तविनोद :	टीकाकार कवि मियाँ सिंह।

ग्रन्थ	विशेष विवरण
भक्तमाल, भक्ति सुधास्वाद तिलक :	टीकाकार, श्री सीतारामशरण भगवानदास रूपकला, प्रकाशक नवलकिशोर प्रेस लखनऊ संस्करण १९३७ ई०
भक्तमाल राम रसिकावली :	टीकाकार महाराज रघुराज सिंह, प्रकाशक, वेंकटेश्वरस्टीम् प्रेस बम्बई, संस्करण, संवत् १९७१ वि०
भक्ति और प्रपत्ति का स्वरूपगत भेद :	ले० भट्ट रमानाथ शर्मा, प्रकाशक दे० ब्रजनाथ शास्त्री, नाथद्वार।
भक्ति योग :	प्रकाशक गीताप्रेस गोरखपुर, ले० चौधरी रघुनन्दनप्रसादसिंह संस्करण संवत् १९९३ वि०
भँवर गीत :	ले० नन्ददास, सम्पादक विश्वम्भर नाथ मेहरोत्रा, प्रकाशक रामनारायणलाल बुकसेलर. इलाहाबाद संस्क० १९४२ ई०
भाव सिंधु :	ले० गोस्वामी गोकुलनाथ, प्रकाशक लल्लूभाई छगनलाल देसाई अहमदाबाद, संस्करण सं० १९७८ वि०
भ्रमरगीत :	ले० नन्ददास, सम्पादक मोतीलाल मनोहरदास मथुरा।
भ्रमरगीत :	ले० नन्ददास, प्रकाशक नत्थीलाल शर्मा, मथुरा।
भ्रमरगीत-सार :	सम्पादक पं० रामचन्द्र शुक्ल, साहित्य सेवासदन काशी, संस्करण संवत् १९८३ वि०
मिश्र बन्धु विनोद :	ले० मिश्रबन्धु, प्रकाशक गङ्गा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ संस्करण संवत् १९९४ वि०
मूलगोसाँई चरित्र :	ले० वेणीमाधवदास, प्रकाशक गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० १९९३ वि०
यमुनाजी के पद :	प्रकाशक, लल्लूभाई छगनलाल देसाई अहमदाबाद।
रत्नावली :	सम्पादक, श्री नाहरसिंह सोलंकी, कासगंज।
रसखान पदावली :	प्रकाशक, हिन्दी प्रेस, प्रयाग।
राग कल्पद्रुम :	सम्पादक, कृष्णानन्द व्यास। प्रकाशक बंगीय साहित्य परिषद् मंदिर, कलकत्ता।
रामचरित मानस :	ले० तुलसीदास, सम्पादक डा० श्यामसुन्दरदास इण्डियन प्रेस, प्रयाग।
रामचरित मानस :	ले० तुलसीदास सम्पा० रामनरेश त्रिपाठी प्रका०, हिन्दी मंदिर प्रयाग।
रास पञ्चाध्यायी :	ले० नन्ददास, सम्पादक उदयनारायण तिवारी, प्रकाशक, लक्ष्मी आर्टप्रेस दारागंज प्रयाग, संस्क० सम्वत् १९९३ वि०
रास पञ्चाध्यायी :	लेखक नन्ददास, सम्पादक ब्रजमोहनलाल विशारद, प्रकाशक, परीक्षित सिंह मेरठ, संस्करण सन् १९१८ ई०
रास पञ्चाध्यायी और भँवर गीत :	लेखक नन्ददास, सम्पादक बालमुकुन्द गुप्त।

विशेष विवरण

ग्रन्थ

रुक्मिणी मङ्गल एवं श्याम सगाई : लेखक नन्ददास, सम्पादक विश्वम्भरनाथ मेहरोत्रा, प्रकाशक रामनरायणलाल बुकसेलर, इलाहाबाद।

वल्लभ पुष्टिप्रकाश प्रकाशक मुखिया जी रघुनाथ जी शिवाजी, बेंक्टेश्वर प्रेस बम्बई।

व्यासवाणी प्रकाशक राधाकिशोर गोस्वामी वृन्दाबन संस्करण १९९४ वि०

शिवसिंह-सरोज लेखक शिवसिंह सेंगर, प्रकाशक नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सातवाँ संस्करण सन् १९२६ ई०

शुकोक्ति सुधासागर श्रीमद्भागवत भाषा : अनुवादक रूपनारायण पाण्डेय, प्रकाशक पाण्डुरङ्ग जावजी निर्णय सागर यन्त्रालय बम्बई, संस्करण सम्वत् १९८७ वि०

शुद्धाद्वैत दर्शन भाग १, २ तथा ३ : लेखक तथा प्रकाशक भट्ट रमानाथ शर्मा शास्त्री बड़ा मन्दिर, भोई बाड़ा बम्बई।

श्याम सगाई : लेखक नन्ददास, प्रकाशक मनोहर कार्यालय, मथुरा।

श्री काका श्री वल्लभजीमहाराज के बावन बचनामृत ; प्रकाशक लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद, संस्करण सम्वत् १९८० वि०

श्री गिरिधरलाल जी महाराज के एक सौ चौबीस बचनामृत : प्रकाशक लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद।

श्री गोर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता : श्री गोवर्द्धननाथ जी, सम्पादक तथा प्रकाशक मोहन लाल विष्णुलाल पाण्ड्या, बेंक्टेश्वर प्रेस बम्बई।

श्री तुकाराम चरित्र : प्रकाशक, गीता प्रेस, गोरखपुर, संस्करण सम्वत् १९९१ वि०

श्री द्वारिकानाथ के प्राकट्य की वार्ता : प्रकाशक लल्लूभाई छगनलाल देसाई अहमदाबाद, संस्करण संवत् १९८० वि०

श्री ब्रजमण्डल : लेखक तथा प्रकाशक श्री नरसिंहदास जी भाणजी भाई, ब्रह्मभट्ट, काठियावाड़।

श्री मध्वाचार्य चरित्र : लेखक शास्त्री माधव जी, प्रकाशक बा० वृन्दाबनदास वैष्णव मुद्रक विद्या विलास प्रेस, बनारस।

श्रीमद् वल्लभाचार्य : ले० भट्ट रमानाथ शर्मा, प्रका० मणिलाल इच्छाराम देसाई, बम्बई।

श्री युगल सर्वस्व : लेखक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रकाशक खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर।

सङ्गीत राग रत्नाकर : प्रकाशक, खेमराज श्रीकृष्णदास बेंक्टेश्वर प्रेस, बम्बई, संस्करण सम्वत् १९३८ वि०

संस्कृत साहित्य का इतिहास : लेखक कन्हैयालाल पोद्दार, प्रकाशक श्री रामविलास पोद्दार स्मारक ग्रन्थमाला समिति नवलगढ़, प्रथमावृत्ति सन् १९३८ ई०

संक्षिप्त पद्मावत : सम्पादक डा० श्यामसुन्दर दास, प्रकाशक इण्डियन प्रेस, प्रयाग संस्करण सन् १९२६ ई०

ग्रन्थ	विशेष विवरण
सम्प्रदाय कल्पद्रुम :	लेखक विट्ठलनाथ भट्ट ।
साहित्यालोचन :	लेखक डा० श्यामसुन्दरदास, नवीन संस्करण, प्रकाशक इण्डियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग, संस्करण सम्वत् १९९४ वि० ।
साहित्य लहरी :	संग्रहकर्ता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रकाशक खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर सम्पादक रामदीनसिंह, संस्करण सन् १८९२ ई०
सूकरक्षेत्र माहात्म्य :	प्रकाशक श्यामस्वरूप मिश्र, कासगञ्ज ।
सूरदास का जीवनचरित्र :	लेखक मुंशी देवीप्रसाद ।
सूरदास का दृष्टकूट :	टीकाकार सरदार कवि, प्रकाशक नवलकिशोर प्रेस लखनऊ संस्करण १९२६ ई०
सूर पचीसी :	प्रकाशक मनोहर पुस्तकालय, मथुरा, संस्करण सम्वत् १९८७ वि०
सूरपचीसी, सूरसाठी, वैराग्य शतक	प्रकाशक मनसुखलाल शिवलाल कण्ठीवाले, मथुरा ।
सूरसागर :	प्रकाशक नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ ।
सूरसागर :	प्रकाशक नागरी-प्रचारिणी सभा काशी ।
सूरसागर :	प्रकाशक वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, संस्करण सम्वत् १९६४ वि०
सूर-साहित्य :	लेखक हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक मध्यभारत हिन्दी-साहित्य समिति इन्दौर, संस्करण सम्वत् १९९३ वि०
हस्तलिखित-हिन्दी पुस्तकों की खोज रिपोर्ट :	प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण :	सम्पादक श्यामसुन्दरदास बी० ए० प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा काशी, संस्करण सम्वत् १९८० वि०
हिन्दी नवरत्न :	लेखक मिश्रबन्धु, प्रकाशक गङ्गापुस्तकमाला कार्यालय लखनऊ ।
हिन्दी भाषा और साहित्य :	लेखक डा० श्यामसुन्दरदास; प्रकाशक इण्डियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग, संस्करण सम्वत् १९९४ वि०
हिन्दी रस गङ्गाधर :	लेखक पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, प्रकाशक इण्डियन प्रेस प्रयाग ।
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास :	लेखक डा० रामकुमार वर्मा, प्रकाशक रामनारायण लाल बुकसेलर, इलाहाबाद, संस्करण सन् १९३८ ई०
हिन्दी साहित्य का इतिहास :	लेखक पं० रामचन्द्र शुक्ल, प्रकाशक इण्डियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग, संस्करण सम्वत् १९९७ वि०

हिन्दी

अप्रकाशित तथा हस्तलिखित ग्रन्थ

ग्रन्थ	विशेष विवरण
अष्ट सखान की वार्ता :	लेखक के निजी संग्रहालय में ।
अहिल्लवरण लीला :	लेखक, उदय-राम, मयाशंकर याज्ञिक संग्रहालय ।
गुरुप्रताप महिमा :	स्टेट लाइब्रेरी, दतिया ।
गोवर्धन लीला : नन्ददास :	लेखक के निजी संग्रहालय में, मूलप्रति पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी मथुरा, तथा बाबू ब्रजरत्नदास, काशी ।
गोवर्धन लीला, सूरदास :	निज पुस्तकालय, नाथद्वार ।
चीरहरण लीला :	लेखक, उदयराम, मयाशङ्कर याज्ञिक-संग्रहालय ।
चौरासी भक्त नाममाला :	लेखक, सन्तदास, निज पुस्तकालय, नाथद्वार ।
चौरासी वैष्णवन की वार्ता, श्री हरिराय कृत भावना :	लेखक के निजी संग्रहालय में तथा मोरवाले मन्दिर गोकुल में ।
जोग-लीला :	लेखक, उदयराम, मयाशङ्कर याज्ञिक-संग्रहालय ।
दानलीला, सूरदास :	विद्या-विभाग, काँकरौली ।
दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता तथा निज वार्ता :	विद्या-विभाग काँकरौली तथा मदनमोहन जी का मन्दिर, मथुरा ।
ध्रुवचरित्र :	लेखक मदन गोपाल, स्टेट लाइब्रेरी, दतिया ।
नन्ददास पदावली :	लेखक का निजी संग्रह तथा पण्डित जवाहरलाल चतुर्वेदी, मथुरा और विद्याविभाग, काँकरौली ।
नन्ददास पदावली :	बाबू ब्रजरत्नदास, काशी ।
पदसंग्रह, कुम्भनदास :	लेखक का निजी संग्रह, मूलप्रति विद्याविभाग काँकरौली तथा निज पुस्तकालय, नाथद्वार ।
पदसंग्रह, कृष्णदास :	लेखक का निजी संग्रह, मूलप्रति विद्याविभाग काँकरौली तथा निज पुस्तकालय, नाथद्वार ।
पदसंग्रह, गोविन्दस्वामी :	लेखक का निजी संग्रह, मूलप्रति विद्याविभाग काँकरौली तथा निज पुस्तकालय, नाथद्वार ।
पदसंग्रह, चतुर्भुजदास :	लेखक का निजी संग्रह, मूलप्रति विद्याविभाग काँकरौली तथा निज पुस्तकालय, नाथद्वार ।
पदसंग्रह, छीतस्वामी :	लेखक का निजी संग्रह, मूलप्रति विद्याविभाग काँकरौली तथा निज पुस्तकालय, नाथद्वार ।

ग्रन्थ	विशेष विवरण
पदसंग्रह, नन्ददास :	लेखक का निजी संग्रह, मूलप्रति विद्याविभाग काँकरौली तथा निज पुस्तकालय, नाथद्वार।
पदसंग्रह परमानन्ददास :	लेखक का निजी संग्रह, मूलप्रति विद्याविभाग काँकरौली तथा निज पुस्तकालय, नाथद्वार।
पञ्चमञ्जरी, नन्ददास :	निज पुस्तकालय, नाथद्वार।
परमानन्द सागर :	विद्या-विभाग काँकरौली तथा निज पुस्तकालय, नाथद्वार।
भक्ति-प्रताप चतुर्भुजदास हित :	स्टेट लाइब्रेरी दतिया।
भागवत दशमस्कन्ध नन्ददास :	विद्या-विभाग, काँकरौली।
भागवत भाषा :	लेखक लालचदास कृत, याज्ञिक-संग्रहालय।
माधवानल कामकन्दला आलम कृत :	मयाशङ्कर याज्ञिक-संग्रहालय।
यमुना मङ्गल, हित परमानन्द :	स्टेट लाइब्रेरी दतिया।
रत्नावली चरित्र :	पण्डित गोविन्द वल्लभ भट्ट, सोरों ज़िला एटा।
रत्नावली दोहा संग्रह :	पण्डित गोविन्द वल्लभ भट्ट, सोरों ज़िला एटा।
रामकरुणा नाटक :	लेखक उदयराम, मयाशङ्कर याज्ञिक-संग्रहालय।
रुक्मिणी मङ्गल नन्ददास :	लेखक के निजी संग्रहालय तथा विद्याविभाग काँकरौली में।
वर्षफल :	पण्डित गोविन्द वल्लभ भट्ट, सोरों ज़िला एटा।
श्री गोसाईं जी के सेवकन की वार्ता :	विद्याविभाग, काँकरौली।
सिद्धान्त पञ्चाध्यायी नन्ददास :	लेखक के निजी संग्रहालय में, तथा मूलप्रति बाबू ब्रजरत्नदास, काशी,।
सुदामा चरित, नन्ददास :	लेखक के निजी संग्रहालय में, तथा मूल प्रति पण्डित जवाहरलाल चतुर्वेदी, मथुरा, तथा बाबू ब्रजरत्नदास, काशी।
सूरशतक :	विद्याविभाग, काँकरौली।
सेवाफल, सूरदास :	लेखक के निजी संग्रहालय में तथा मूलप्रति विद्याविभाग काँकरौली और निज पुस्तकालय नाथद्वार।
हनुमन्नाटक दीपिका परमानन्द तैलङ्ग भट्ट :	स्टेट लाइब्रेरी, टीकमगढ़।
हनुमान नाटक :	लेखक उदयराम, मयाशङ्कर याज्ञिक-संग्रहालय।

संस्कृत-ग्रन्थ

अणुभाष्य भाग १ तथा २ :	बनारस संस्कृत सिरीज़, १९०७ ई० प्रकाशक ब्रजवासी दास एण्ड कम्पनी बनारस.
अन्तःकरण प्रबोध :	षोडश ग्रन्थ, लेखक श्री वल्लभाचार्य, सम्पादक भट्ट रमानाथ शर्मा। मुद्रक, निर्णय सागर प्रेस बम्बई संस्करण सं० १९७९ विभाग।
उज्ज्वल नीलमणि :	

ग्रन्थ	विशेष विवरण
काव्य प्रकाश :	लेखक, आचार्य मम्मट, प्रकाशक आनंदाश्रम मुद्रणालय, पूना।
कृष्णाश्रय :	षोडश ग्रंथ, ले० श्री वल्लभाचार्य, सम्पादक भट्ट रमानाथ शर्मा। मुद्रक निर्णय सागर प्रेस बम्बई संस्करण सं० १६७६ वि०.
चतुःश्लोकी :	षोडश ग्रंथ, लेखक श्रीवल्लभाचार्य, संपादक भट्ट रमानाथ शर्मा, मुद्रक, निर्णयसागर प्रेस बम्बई संस्करण सं० १६७६ वि०
जलभेद :	षोडश ग्रंथ, लेखक श्री वल्लभाचार्य, संपादक भट्ट रमापाथ शर्मा, मुद्रक, निर्णय सागर प्रेस बम्बई संस्करण सं० १६७६ वि०

तत्वार्थदीप आवरण भंग टीका शास्त्रार्थ प्रकरण तथा सर्व निर्णय प्रकरण : प्रकाशक, रत्न गोपाल भट्ट बनारस।

तत्वदीप निबंध, शास्त्रार्थ प्रकरण फलप्रकरण, भागवतार्थ प्रकरण : लेखक, श्री वल्लभाचार्य। सम्पादक नंदकिशोर रमेश भट्ट, प्रकाशक निर्णय सागर प्रेस बम्बई।

तत्वार्थदीप निबंध शास्त्रार्थ प्रकरण : ले० श्रीमद् वल्लभाचार्य, प्रकाशक, पं० श्रीधर शिवलाल जी ज्ञानसागर यन्त्रालय बम्बई, संस्करण संवत् १६६१ वि०।

नवरत्न :	षोडश ग्रंथ, ले० श्री वल्लभाचार्य, सम्पादक भट्ट रमानाथ शर्मा, मुद्रक, निर्णय सागर प्रेस बम्बई संस्करण सं० १६७६ वि०।
नाट्य शास्त्र :	ले०, महामुनि भरत, सम्पादक एम० रामकृष्ण कवि, प्रकाशक सेंट्रल लाइब्रेरी बरौदा, संस्करण १६२६ ई०.
नारद भक्ति सूत्र :	प्रकाशक, गीता प्रेस, गोरखपुर।

निम्बादित्य दशश्लोकी सिद्धान्त कुसुमाञ्जलि भाष्य : श्री हरि व्यासदेव प्रणीत, प्रकाशक निर्णयसागर प्रेस, बम्बई संस्करण संवत् १६८१ वि०

निरोध लक्षण :	षोडश ग्रन्थ, ले० श्री वल्लभाचार्य, सम्पादक भट्ट रमानाथ शर्मा, मुद्रक, निर्णय सागर प्रेस बम्बई संस्करण सं० ११७६ वि०
पञ्च पद्य :	षोडश ग्रन्थ, ले० श्री वल्लभाचार्य, सम्पादक भट्ट रमानाथ शर्मा, मुद्रक, निर्णय सागर प्रेस बम्बई संस्करण १६७६ वि०
पुष्टिप्रवाह मर्यादा :	षोडश ग्रन्थ, ले० श्री वल्लभाचार्य, सम्पादक भट्ट रमानाथ शर्मा, मुद्रक, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, संस्करण सं० १६७६ वि०
बाल-बोध :	षोडश ग्रन्थ, ले० श्री वल्लभाचार्य, सम्पादक भट्ट रमानाथ शर्मा, मुद्रक, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, संस्करण सं० १६७६ वि०
ब्रह्मवाद संग्रह :	प्रकाशक, हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, चौखम्भा संस्कृत सिरीज़, संस्क० सं० १६८५ वि० बनारस।
भक्तिवर्धिनी :	षोडश ग्रंथ, ले० श्री वल्लभाचार्य, सम्पादक भट्ट रमानाथ शर्मा, मुद्रक, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, संस्करण सं० १६७६ वि०

विशेष विवरण

भक्ति हंस : लेखक गोस्वामी विट्ठलनाथ जी, प्रकाशक शुद्धाद्वैत सिद्धान्त कार्यालय, बम्बई, संस्करण सं० १९७१ वि०

भगवन्नामकौमुदी : लेखक लक्ष्मीधर, प्रकाशक गीता प्रेस, गोरखपुर।

यमुनाष्टक : षोडश ग्रंथ, ले० श्री वल्लभाचार्य, सम्पादक भट्ट रमानाथ शर्मा, मुद्रक, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, संस्करण सं० १९७९ वि०

लघुभागवतामृत : लेखक श्री रूप गोस्वामी, प्रकाशक खेमराज श्रीकृष्णदास वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, संस्करण सं० १९५९ वि०

वल्लभ-दिग्विजय : ले० गोस्वामी यदुनाथजी, अनुवादक पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, नाथद्वार विद्याविभाग से प्रकाशित, संस्करण सं० १९७५ वि०

वल्लभाष्टक : षोडश ग्रन्थ, ले० श्री वल्लभाचार्य, सम्पादक भट्ट रमानाथ शर्मा, मुद्रक, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, संस्करण सं० १९७९ वि०

विवेकधैर्याश्रय : षोडश ग्रन्थ, ले० श्री वल्लभाचार्य सम्पादक भट्ट रमानाथ शर्मा, मुद्रक, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, संस्करण सं० १९७९ वि०

शांडिल्य भक्ति-सूत्र-व्याख्या, भक्ति-चन्द्रिका : सम्पादक महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज, गवर्नमेंट संस्कृत कालिज बनारस, मुद्रक जयकृष्णदास गुप्त, विद्याविलास प्रेस बनारस।

शुद्धाद्वैत मार्तण्ड : लेखक, गोस्वामी गिरिधर जी, प्रकाशक रतनगोपाल भट्ट, बनारस।

शृङ्गार मण्डन : लेखक, श्री विट्ठलेश्वर, सम्पादक एम्. टी. तेलीवाला, बम्बई।

श्रीमद्भगवद्गीता : प्रकाशक गीताप्रेस, गोरखपुर।

श्रीमद्भागवत : प्रकाशक गीताप्रेस, गोरखपुर।

श्रीमद् वल्लभाचार्य चरितम् : लेखक मुरलीधरदास, प्रका० वाडीलाल नगीनदास शाह, बम्बई।

श्रीहरिरायवाङ्मुक्तावली : प्रकाशक पुष्टिमार्गीय पुस्तकालय, नडियाद, संस्करण सं० १९९३ वि०

सन्यासनिर्णय : षोडश ग्रन्थ, ले० श्री वल्लभाचार्य, सम्पादक भट्ट रमानाथ शर्मा, मुद्रक निर्णय सागर प्रेस बम्बई; संस्क० सं० १९७९ वि०

सम्प्रदाय प्रदीप : लेखक गदाधरप्रसाद, प्रकाशक विद्या-विभाग, कांकरौली।

साहित्य-दर्पण : लेखक विश्वनाथ, टीकाकार शालिग्राम शास्त्री, प्रकाशक श्री श्याम सुंदर शर्मा भिषग्रत्न, श्री मृत्युञ्जय औषधालय, लखनऊ, संस्करण सं० १९७८ वि०

सिद्धान्तमुक्तावली : षोडश ग्रंथ, ले० श्री वल्लभाचार्य, सम्पादक भट्ट रमानाथ शर्मा, मुद्रक निर्णय सागर प्रेस बम्बई, संस्क० सं० १९७९ वि०

सिद्धान्तरहस्य : षोडश ग्रन्थ, ले० श्री वल्लभाचार्य, संपादक भट्ट रमानाथ शर्मा, मुद्रक निर्णय सागर प्रेस बम्बई संस्क० सं० १९७९ वि०

ग्रन्थ	विशेष विवरण
सिद्धान्तलेश :	लेखक अप्पय दीक्षित, प्रकाशक अच्युत ग्रन्थमाला, काशी ।
सेवाफल :	षोडशग्रन्थ, ले० श्री वल्लभाचार्य, संपादक भट्ट रमानाथ शर्मा, मुद्रक, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, संस्क० सं० १९७९ वि०
स्वामिनी-स्तोत्र :	लेखक गोस्वामी विट्ठलनाथ, बृहत्स्तोत्र, सरित्सागर भाग निर्णयसागर प्रेस बम्बई ।
स्वामिन्यष्टक :	लेखक गो० विट्ठलनाथ, बृहत्स्तोत्र सरित्सागर भाग २, निर्णयसागर प्रेस बम्बई ।

हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु : लेखक श्री रूप गोस्वामी, प्रकाशक अच्युत ग्रन्थ माला, काशी ।

अँग्रेज़ी

अकबर दी ग्रेट मुगल : लेखक विन्सेंट स्मिथ, संस्करण सन् १९१७ ई०

अकबर नामा : अनुवादक बेवरिज आमर्स, प्रकाशक-एशियाटिक सोसायटी, संस्करण सन् १९१२ ई०

आइन-ए-अकबरी : अनुवादक एच, ब्लाकमैन ।

ऐन्साइक्लोपीडिया आव् रेलिजन एण्ड इथिक्स : लेखक जेम्स हेस्टिंग्ज़ ।

ए ग्रैमर आव् अणुभाष्य : लेखक जेठालाल गोवर्धनलाल शाह, प्रकाशक मोहन लाल लल्लू-भाई, नडियाद ।

ए बर्ड्स आई व्यू आव् पुष्टिमार्ग : ले० नटवरलाल गोकुलदास शाह, प्रकाशक लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद ।

ए शार्टबायोग्राफिकल स्केच आव् श्रीमद्वल्लभाचार्य जीज़ लाइफ़ : ले० नटवरलाल गोकुल-दास शाह, प्रकाशक लल्लूभाई छगनलालदेसाई, अहमदाबाद ।

केटेलोगस कैटेलोगरम :

गज़ेटियर आव् दि एटा डिस्ट्रिक्ट : गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद, १९११ ई०

गज़ेटियर आव् दी मथुरा डिस्ट्रिक्ट : गवर्नमेंट प्रेस इलाहाबाद, १९११ ई०

गज़ेटियर आव् दि अलीगढ़ डिस्ट्रिक्ट : गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद, १९११ ई०

गज़ेटियर आव् दि आगरा डिस्ट्रिक्ट : गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद, १९११ ई०

गज़ेटियर आव् दि गुड़गांव डिस्ट्रिक्ट : गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद, १९११ ई०

चैतन्य ऐण्ड हिज़ कम्पैनियन्स : लेखक डा० दिनेशचन्द्र सेन ।

तत्वदीपनिबंध शास्त्रार्थप्रकरण : ले० श्री वल्लभाचार्य, सम्पादक जे. जी. शाह, प्रकाशक लल्लूभाई छगनलाल देसाई अहमदाबाद, संस्क० सन् १९२६ ई०

दि कल्चरल हेरिटेज आव् इंडिया सिरीज़ : सम्पादक सर एस० राधाकृष्णन्

दि केम्ब्रिज हिस्ट्री आव् इन्डिया वाल्यूम, ३,

ग्रन्थ विशेष विवरण

दि ज्योग्रफिकल हिस्ट्री आव् ऐन्सेंट ऐन्ड मेडिवियल इन्डिया : लेखक नन्दलाल डे, संस्करण १८९९ ई०

दि म्यूज़िक आव् इन्डिया : लेखक एच. ए. पापले।

दि वैष्णव लिटरेचर आव् मेडिवियल बंगाली : लेखक दिनेशचन्द्र सेन।

दीन इलाही : लेखक राय चौधरी, संस्करण १९४१ ई०

फ़िलासफ़ी आव् लव : लेखक हनुमानप्रसाद पोद्दार, प्रकाशक गीताप्रेस, गोरखपुर।

मथुरा मेमोअर : लेखक ग्राउज़।

मॉडर्न वरनाकुलर लिटरेचर आव् हिन्दुस्तान : लेखक जार्ज ए० ग्रियर्सन।

मैटीरियल्स फ़ार दी स्टडी आव् पुष्टिमार्ग : लेखक गुरुप्रसाद टण्डन, प्रयाग विश्वविद्यालय

वैष्णविज्म शैविज्म ऐन्ड माइनर रैलिजस् सिस्टम्स : लेखक सर आर. जी. भण्डारकर, संस्करण सन् १९१३ ई०

सूरदास : लेखक डा० जनार्दन मिश्र प्रकाशक यूनाइटेड प्रेस लिमिटेड पटना संस्करण सन् १९३५ ई०

हिस्ट्री आव् इंडियन फ़िलासफ़ी : लेखक सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त।

हिस्ट्री आव् ऐंसेन्ट इन्डिया : लेखक डा० रामशङ्कर त्रिपाठी।

हिस्ट्री आव् मेडिवियल इन्डिया : लेखक डा० ईश्वरीप्रसाद।

गुजराती

पुष्टिमार्गनो इतिहास : प्रकाशक बसंतराम, हरीकृष्ण शास्त्री अहमदाबाद, संस्करण १९३३ ई०

रसेश श्रीकृष्ण : लेखक जे.जी शाह, प्रकाशक लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद।

श्री गोकुलनाथजी ना हास्य प्रसंगो भाग १ : प्रकाशक दीन किङ्कर, अहमदाबाद, श्री देवकी नंदन निवास अहमदाबाद।

श्री गोस्वामी हरिराय जी महाप्रभुजी ना चौरासी बचनामृत अने अष्ट सखानो भाव : प्रकाशक, ठा० जादव जी एण्ड ठा० मकन जी जुठाभाई नाथद्वार, संस्क० सं० १९८१ वि०

श्री सूरदासजी नूं जीवन-चरित : ले० नरसिंहदास भाणजी भाई ब्रह्मभट्ट, प्रकाशक लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद।

बँगला

गौड़ीय दशम खंड : (साप्ताहिक पत्र) प्रकाशक गौड़ीय मठ, कलकत्ता।

चैतन्य-चरितामृत :

अन्य भाषाओं के ग्रन्थ

ग्रन्थ	विशेष विवरण
इस्त्वार दे ला लितेरात्यूर एन्दु ए एन्दुस्तानी :	लेखक गार्सां द तासी, संस्करण सं० १८३६, (फ्रैंच)
ला लांगे ब्रज :	लेखक डा० धीरेन्द्र वर्मा (फ्रैंच)

पत्र पत्रिकाएं

'उत्तरा' बँगला मासिक पत्र :	
कल्याण, साधनाङ्क :	प्रकाशक गीताप्रेस, गोरखपुर।
नागरी प्रचारणी पत्रिका :	काशी,
नाम-माहात्म्य ब्रजाङ्क :	वृन्दावन।
ब्रज-भारती :	ब्रजभारती कार्यालय मथुरा।
साहित्य-समालोचक :	ज़िला सीतापुर
हिन्दुस्तानी :	प्रयाग।

नामानुक्रमणिका

ग

घ

च

छ

ज

स

ह